UGHY-01/CSSHY-01

इतिहास

आधुनिक भारत

1857–1964

खंड

1

साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद

इकाई 1

साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद 7

इकाई 2

साम्राज्यवाद तथा उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव 16

इकाई 3

उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय चेतना का उद्भव और विकास 27

इकाई 4

1857 का विद्रोह 36

इकाई 5

उपनिवेशवाद तथा प्रशासनिक व्यवस्था का विकास 48

इकाई 6

भारत में अंग्रेजी राज का सुदृढ़ होना 5[illegible]

विशेषज्ञ समिति

प्रो॰ रवीन्द्र कुमार (अध्यक्ष)
निदेशक
नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
नयी दिल्ली

प्रो॰ एस॰ गोपाल
निदेशक
नेहरू स्मारक कोष
नयी दिल्ली

प्रो॰ सतीश चन्द्र (सी॰ एच॰ एस॰)
प्रो॰ रोमिला थापर (सी॰ एच॰ एस॰)
डा॰ मुज़फ्फर आलम (सी॰ एच॰ एस॰)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

प्रो॰ सरोजनी रेगानी
इतिहास विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो॰ बी॰ कानूनगो
इतिहास विभाग
बनारस हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो॰ पी॰ एल॰ मेहरा
डा॰ आर॰ आई॰ मल्होत्रा
इतिहास विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

प्रो॰ बी॰ एस॰ शर्मा
समकुलपति (शैक्षिक)

प्रो॰ बख्शीश सिंह (संयोजक)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

पाठ लेखक

प्रो॰ बिपन चंद्र (सी॰ एच॰ एस॰)
प्रो॰ एस॰ भट्टाचार्य (सी॰ एच॰ एस॰)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

डॉ॰ मेघा मलिक
जीसस एवं मेरी कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ॰ देवी सिरोही
इतिहास विभाग
बंबई विश्वविद्यालय

डॉ॰ एस॰ के॰ बजाज
इतिहास विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
पटियाला

प्रो॰ वी॰ एन॰ दत्त (पाठ संपादक)
इतिहास विभाग
कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरूक्षेत्र

प्रो॰ एस॰ भट्टाचार्य (सी॰ एच॰ एस॰)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

प्रो॰ ओ॰ पी॰ ग्रेवाल (भाषा संपादक)
अंग्रेजी विभाग
कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरूक्षेत्र

संकाय सदस्य इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

डॉ॰ कपिल कुमार
डॉ॰ ए॰ आर॰ खान
श्री अजय माहुरकर
श्री सलिल मिश्र
सुश्री संगीता जोशी

प्रो॰ बी॰ एन॰ कौल (संरचना संपादक)
निदेशक
दूरस्थ शिक्षा विभाग

अनुवाद

चित्रा चौधरी
संजय चौहान
प्रो॰ महेन्द्र चतुर्वेदी
अजय कुमार
सुशीला डोभाल

संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो॰ वी॰ ए॰ जगन्नाथन
डॉ॰ शत्रुघ्न कुमार

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

मई, 1998 (पुन मुद्रित)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1990

ISBN-81-7091-221-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. कपिल कुमार निदेशक (सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से डॉ. अरूण कुमार गुप्ता कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2019

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्र0लि0 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड प्रयागराज 211002

UGHY-01/CSSHY-01(1)/2
[FIFA-155]

इतिहास ऐच्छिक 1 आधुनिक भारत

इतिहास महज अतीत का ही अध्ययन नहीं है, बल्कि वह वर्तमान तथा भविष्य पर भी प्रकाश डालता है। अगर सच में देखा जाये तो इससे हमें समकालीन सामाजिक सच्चाई को समझने में सहायता मिलती है क्योंकि वर्तमान, अतीत की घटनाओं का ही क्रमिक विकास है। इसी तरह अतीत के अनुभव वर्तमान के संबंध में हमें भविष्य में होने वाली घटनाओं, विकासक्रमों में पथ प्रदर्शन करते हैं। इसी संदर्भ में हमने इतिहास के ऐच्छिक पाठ्यक्रम 1 में आधुनिक भारत को शामिल किया है। यह उन विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य ऐच्छिक पाठ्यक्रम के रूप में शुरू किया गया है, जिन्होंने "इतिहास" विषय का चयन किया है।

आपने स्कूल या कालेज में अध्ययन करते समय या आधुनिक भारत के इतिहास के संबंध में सामान्य अध्ययनों, पुस्तकों तथा निबंधों में पढ़ा होगा, तब आपने अनुभव किया होगा कि विभिन्न लेखकों और पुस्तकों की व्याख्याएँ अलग-अलग हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि घटनाओं के महत्व, उसके कारणों तथा प्रभावों के बारे में विभिन्न मतों और इतिहास की प्रक्रियाओं आदि के बारे में मतभेद हैं। व्याख्याओं के इन मतभेदों को हम अपने दैनिक जीवन के ज्ञान अथवा विभिन्न समाचारपत्रों में एक ही समाचार की विभिन्न व्याख्या में पा सकते हैं। अगर आप इतिहास संबंधी लेखन का अध्ययन करेंगे (अध्ययन की एक धारा जिसे "इतिहास लेखन" कहा जाता है) तो आप पायेंगे कि व्याख्याओं की भिन्नताओं ने "इतिहास की विभिन्न धाराओं" को जन्म दिया है। ये धाराएँ इतिहास की व्याख्या अलग-अलग ढंग से करती हैं।

आधुनिक भारतीय इतिहास में, 19वीं सदी के अंत तथा 20वीं सदी के शुरुआत में इतिहास लेखन की जो धारा या परंपरा प्रभावशाली थी, वह थी, साम्राज्यवादी इतिहास लेखन। इस परंपरा पर बहुत से बौद्धिक प्रभाव भी थे। जैसे, 19वीं सदी के आरंभ में इस पर ईसाई धर्मोपदेशकों के मत का प्रभाव था, जो यह समझते थे कि अंग्रेज़ सरकार इस देश को अंधेरे से ईसाईयत और यूरोपीय सभ्यता के प्रकाश की ओर ले जाएगी। उस पर उपयोगितावाद का प्रभाव भी था जो यह मानता था कि भारतीय जनता के कल्याण के लिए अंग्रेज़ों का यह कर्तव्य है कि वह इस देश में यूरोपीय सभ्यता के नियमों एवं विचारों को लाएँ। इस तरह के विचार आज भी नवसाम्राज्यवादी लेखन में देखे जा सकते हैं। साम्राज्यवाद के विचारकों के रूप में 19वीं सदी के ब्रिटिश इतिहासकारों (जिनमें से कई अंग्रेज़ सरकार की सिविल सेवा में थे) ने राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया को उभारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

यह प्रतिक्रिया इतिहास लेखन में राष्ट्रवादी दृष्टि के रूप में सामने आयी। इस दृष्टि का एक महत्वपूर्ण तत्व राष्ट्रीय आत्मसम्मान और भारत के अतीत के गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयास था। दूसरा तत्व भारत में ब्रिटिश शासन के कारण आर्थिक क्षेत्र की जर्जर स्थिति का चित्रण करते हुए आर्थिक राष्ट्रवाद का प्रचार करना था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन से आधुनिक भारतीय मानस के लिए भारत की पुनर्खोज की और भारत में राष्ट्र निर्माण के लिए राजनीतिक एकता और साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाओं को प्रोत्साहित किया। इतिहास की राष्ट्रवादी धारा को इतिहास लेखन के आरंभिक साम्राज्यवादी पूर्वाग्रहों से ही नहीं संघर्ष करना पड़ा बल्कि इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या से भी संघर्ष करना पड़ा जो शताब्दी के आरंभिक दशकों में ही अपना प्रभाव डालने लगी थी।

राष्ट्रवादी इतिहास लेखन ने स्वतंत्रता संघर्ष को वैचारिक आधार प्रदान करने और साम्राज्यवाद के आर्थिक नतीजों का विश्लेषण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी (देखिए खंड 1)। हालांकि राष्ट्रवाद ने अपना ध्यान बाह्य पक्ष अर्थात् भारत के साम्राज्यवादी शोषण पर ही केंद्रित किया और आतंरिक पक्ष अर्थात् भारतीय समाज में विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संघर्ष और वर्ग शोषण पर कम ध्यान दिया। इस दूसरे पक्ष पर अपनी दृष्टि को केंद्रित करने का कार्य मार्क्सवादी दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ और यह 1940 के दशक के बाद लगातार बढ़ता गया। इस नयी दृष्टि ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक राष्ट्रीय समीक्षा को ही शामिल नहीं किया बल्कि इस समीक्षा को भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को विश्व पूँजीवाद व्यवस्था के ढाँचागत विश्लेषण के अंतर्गत रखकर विकसित भी किया गया।

इतिहास लेखन की उपर्युक्त सभी परंपराओं का प्रभाव आज भी इतिहास लेखन पर देखा जा सकता है। आधुनिक भारत के इतिहास के अध्ययन के दौरान अगर आप इन बातों को ध्यान में रखें तो आपको लाभ होगा।

इतिहास की यह अवधि (1857-1964) जटिलताओं से भरी है और उस पर विचार करना आसान कार्य नहीं है। फिर भी, हमने कोशिश की है कि आप इस अवधि के सभी महत्वपूर्ण मुद्दों से परिचित हो जाएँ।

पाठ्यक्रम का आरंभ साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की सैद्धांतिक समझ से किया गया है। इसके बाद भारत में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन पर पड़ने वाले इनके प्रभावों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। औपनिवेशिक शोषण का ही परिणाम है कि भारतीयों में मज़बूत राष्ट्रीय भावना उभरी। असंगठित असंतोष ने जल्दी ही अखिल भारतीय स्तर पर संगठित प्रतिरोध का रूप ले लिया। इसे ही हम भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन कहते हैं जो 15 अगस्त 1947 को भारत की आज़ादी में पराकाष्ठा पर पहुँचा। आज़ादी सिर्फ़ भारत के लिए ही उपलब्धि नहीं थी बल्कि विदेशी शासन से स्वतंत्रता की इच्छा रखने वाले दुनिया के सभी उत्पीड़ित लोगों के लिए महत्वपूर्ण मोड़ था। भारतीय स्वतंत्रता ने विश्व पैमाने पर उत्पीड़क औपनिवेशिक व्यवस्था को कमज़ोर किया। (इसी संदर्भ में) भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का अंतर्राष्ट्रीय महत्व है।

इस पूरे पाठ्यक्रम को आठ खंडों में विभाजित किया गया है। विश्वव्यापी फिनोमिना के रूप में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य पर खंड 1 में विचार किया गया है। इस खंड में 1857 के विद्रोह, राष्ट्रीय चेतना के उदय, ब्रिटिश राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था और भारत में अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिए अंग्रेज़ों द्वारा अपनायी गयी नीतियों की भी चर्चा की गयी है।

खंड 2 में 19वीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हुए लोकप्रिय आंदोलनों तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को लिया गया है। कांग्रेस ने ही राष्ट्रवादी ताकतों को संगठित दिशा दी। इस खंड में समाज सुधारकों के कार्यों पर भी विचार किया गया है जिन्होंने विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ़ ही नहीं बल्कि भारतीय समाज में मौजूद सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध भी जागरुकता पैदा करने का कार्य किया। इस खंड में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विकास, बंगाल का विभाजन और स्वदेशी आंदोलन पर भी विचार किया गया है।

राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उभरी कुछ मूलगामी प्रवृत्तियों तथा प्रथम विश्वयुद्ध और रूसी क्रांति जैसी अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भी राष्ट्रीय संघर्ष पर अपना प्रभाव डाला। इस अवधि में ही भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर महात्मा गांधी का उदय हुआ और उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन को नयी दिशा दी। इस पाठ्यक्रम के खंड 3 में इन्हीं पहलुओं पर विचार किया गया है।

खंड 4,5 एवं 6 में कांग्रेस द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर शुरू किये गये जन आंदोलनों और क्षेत्रीय स्तर पर हुए उनके प्रभावों के अध्ययन पर बल दिया गया है। अकाली आंदोलन और गैर ब्राह्मण आंदोलन जैसे कुछ अन्य आंदोलनों पर भी विचार किया गया है जो यद्यपि कांग्रेस द्वारा शुरू किये गये आंदोलनों से सीधे नहीं जुड़े थे। स्वराजवादी और रचनात्मक कार्य, संवैधानिक सुधारों और 1937 के चुनाव तथा कांग्रेस मंत्रिमंडलों जैसे विषयों को भी शामिल किया गया है। इस खंड में आपको समाजवादी विचारों के उदय, किसान और मज़दूर आंदोलनों तथा रियासतों में लोकप्रिय आंदोलनों से भी परिचित कराया गया है।

खंड 7 में उन घटनाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है जिनके कारण भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई और भारत में लोकतांत्रिक राज्य की सथापना हुई। खंड 8 पाठ्यक्रम का अंतिम खंड है। इसमें समकालीन इतिहास से संबंधित विभिन्न विषयों को लिया गया है जिनमें 1947-1964 के बीच स्वतंत्र भारत के नियोजन और विकास, भूमि सुधार, धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत और व्यवहार तथा विदेश नीति को लिया गया है।

इस पाठ्यक्रम के लिए कुछ वीडियो तथा ऑडियो कार्यक्रम भी तैयार किये गये हैं। इनके कैसेट आपको विश्वविद्यालय के विभिन्न अध्ययन केंद्रों पर उपलब्ध होंगे।

खंड 1 साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद

करीब दो सौ वर्षों तक भारतीय लोगों को अंग्रेजों के हाथों साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक शोषण का सामना करना पड़ा। यह कैसे हुआ? इसका क्या प्रभाव हुआ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका कि आधुनिक भारतीय इतिहासकारों को जवाब देना है। भारत के उपनिवेश में परिवर्तन की सही जानकारी पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हमें साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की विश्वव्यापी घटनाओं की रूपरेखा का स्पष्ट ज्ञान हो। साथ ही साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि हम इस बात का विश्लेषण करें कि ये घटनाएँ हमारे देश में एक निश्चित स्थितियों में कैसे घटी। इस खंड में आधुनिक भारतीय इतिहास से संबंधित इन दो, महत्वपूर्ण पहलुओं पर बल दिया गया है।

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विभिन्न सैद्धान्तिक मतों की समीक्षा इस खंड की पहली दो इकाइयों में की गयी है। इनमें इस विषय पर यूरोपियन और भारतीय दोनों ही विद्वानों के विचारों के लेखे-जोखे का ब्योरा दिया गया है। इकाई-1 में उपनिवेशवाद के स्वरूप एवं विभिन्न चरणों का भी ब्योरा दिया गया है। इकाई-2 में साम्राज्यवाद के सैद्धान्तिक आधारों की चर्चा करने के क्रम में इसके भारतीय अर्थ, समाज और राजनीति पर पड़े प्रभाव का भी उल्लेख किया गया है। ब्रिटिश नीतियों के विरोध में 19वीं सदी में राष्ट्रीय जागरण का प्रादुर्भाव हुआ।

इकाई-3 में विभिन्न कारणों का उल्लेख है जिन्होंने जागरण के विकास में योगदान दिया। ब्रिटिश शासन के खिलाफ हमेशा विरोध रहा लेकिन 1957 में राष्ट्रीय स्तर पर ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने का सामूहिक प्रयास किया गया। इकाई-4 में 1957 के विद्रोह से संबंधित विभिन्न पहलुओं का उल्लेख है जिसने ब्रिटिश शासन की बुनियाद को हिला दिया। इकाई-5 में इस बात का भी प्रयास किया है कि आपको भारत पर उपनिवेशिक शासन के तहत दी गई प्रशासनिक व्यवस्था से परिचित कराया जाये। प्रशासनिक व्यवस्था को औपनिवेशिक हित के अनुरूप तैयार किया गया और 1857 के विद्रोह के बाद औपनिवेशिक पकड़ को कुछ नई कार्यवाही के द्वारा मजबूत बना दिया गया। इकाई-6 में आप देखेंगे कि भारत साम्राज्यवादी व्यवस्था का जिसका कि एशिया के मुख्य भागों पर प्रभुत्व था, कैसे केन्द्र बिंदु बन गया। इस इकाई में ब्रिटिश राज के द्वारा एशिया में अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए प्रतिपादित सीमांत और विदेश नीतियों की चर्चा की गयी है। ये नीतियाँ वास्तव में ब्रिटिश सामाज्यवाद के व्यापक हित में थी।

इस मुद्रित सामग्री के अलावा हमारे पास आपके लिए दो वीडियो तथा एक ऑडियो कार्यक्रम भी हैं जिनका शीर्षक क्रमशः "इतिहास की खोज में", "इतिहासांकन एवं लेखन" और "धन का निष्कासन" है। ये कार्यक्रम विश्वविद्यालय के विभिन्न केन्द्रों पर उपलब्ध है।

आभार

राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित कुछ चित्रों को उपलब्ध कराने के लिए हम **नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, नयी दिल्ली** के आभारी हैं।

इकाई 1 साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद : सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 उपनिवेशवाद : विभिन्न दृष्टिकोण
  1.2.1 उपनिवेशवाद की प्रकृति
  1.2.2 उपनिवेश पर प्रभाव
1.3 उपनिवेशवाद की अवस्थाएँ
  1.3.1 प्रथम अवस्था
  1.3.2 द्वितीय अवस्था
  1.3.3 तृतीय अवस्था
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के स्वरूप पर विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गयी है। साथ ही यह प्रयत्न किया गया है कि यह चर्चा दो सौ सालों के ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत के ऐतिहासिक विकास की मूलभूत विशेषताओं को समझने में किस प्रकार सहायक हो सकती है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे :

- उपनिवेशवाद इसकी प्रकृति व विभिन्न अवस्थाएँ क्या हैं?
- उपनिवेशवाद तथा विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के मध्य संबंध क्या हैं; और
- उपनिवेशवाद में किस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था तथा समाज पूर्णतया ब्रिटिश अर्थव्यवस्था व राजनीतिक नियंत्रण के अधीन थे।

1.1 प्रस्तावना

साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास की उस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है, जो संसार के पूर्व-पूंजीवादी देशों पर विजय प्राप्त करने और उन पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए पूंजीवादी देशों को प्रेरित करती है। इस भाग में हम विकसित पूंजीवादी देशों में पूंजीवाद के विकास, उनके पारस्परिक संबंध, तथा पूंजीवादी देश द्वारा पूर्व-पूंजीवादी देशों के दमन पर विचार करेंगे। (इसे यहाँ महानगरी या महानगरीय देश भी कहा गया है) संक्षेप में साम्राज्यवाद शब्द का प्रयोग महानगर देश तथा अधीनस्था देश के बीच राजनीतिक व आर्थिक प्रभुत्व के संबंधों को बताने के लिए किया गया है।

वह देश जो महानगरीय पूंजीवादी देश के अधीन हो उपनिवेश कहा जाता है, और उपनिवेश में जो घटित होता है वह उपनिवेशवाद कहलाता है। एक पूर्व-पूंजीवादी देश पर पूर्ण रूप से साम्राज्यवादी प्रभुत्व ही उपनिवेशवाद है। साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का अध्ययन परस्पर संबंधित है और आगे हम दोनों पर चर्चा करेंगे। परन्तु यहाँ हम उपनिवेशवाद के अध्ययन पर अधिक ध्यान केंद्रित करेंगे तथा पूंजीवाद के विकास के अध्ययन में साम्राज्यवाद के मुख्य पहलुओं पर ध्यान देंगे।

1.2 उपनिवेशवाद : विभिन्न दृष्टिकोण

उपनिवेशवाद का क्या अर्थ है? क्या यह एक देश द्वारा दूसरे देश पर केवल राजनीतिक नियंत्रण है, या यह एक देश द्वारा दूसरे देश के आर्थिक दमन की प्रक्रिया को भी निर्दिष्ट करता है? उपनिवेशवाद की व्याख्या विभिन्न विद्वान भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। इस भाग में हम उपनिवेशवाद के विभिन्न दृष्टिकोणों तथा साथ ही अन्य संबंधित पहलुओं से आपका परिचय करायेंगे।

i) बड़ी संख्या में समाजशास्त्रियों, राजनीतिक वैज्ञानिकों व अर्थशास्त्रियों द्वारा यह विचार प्रस्तुत किया जाता है कि औपनिवेशिक समाज मूल रूप से एक परंपरागत समाज था या दूसरे शब्दों में, उपनिवेशवाद ने पूर्व-औपनिवेशिक समाज के मूल सामाजिक-आर्थिक तत्वों तथा संरचनाओं को बनाए रखा। उत्तर-औपनिवेशिक समाज परंपरागत

सामाजिक-आर्थिक ढाँचे से आधुनिकीकरण की तरफ बढ़ने लगा। अन्य कुछ उपनिवेशवाद को एक ऐसे परिवर्ती समाज के रूप में देखते हैं जो कि आर्थिक, सामाजिक, व राजनीतिक रूप से एक परंपरागत व पूर्व-औपनिवेशिक समाज से आधुनिक पूंजीवादी समाज में परिवर्तित हो रहा था।

ii) तथापि अन्य कई लेखकों का मानना है कि उपनिवेशवाद एक दोहरा समाज प्रस्तुत करता है जिसमें एक क्षेत्र आधुनिक व पूंजीवादी है, जबकि दूसरा क्षेत्र परंपरागत व पूर्व-पूंजीवादी। दोनों क्षेत्र साथ-साथ विद्यमान रहते हैं तथा दोनों ही इतने मजबूत नहीं होते कि एक दूसरे को दबा सकें या हटा सकें। कुछ लेखकों ने दोहरे स्वरूप की अधिक उग्रवादी व्याख्या का अनुसरण किया है। उनके अनुसार उपनिवेशवाद आधुनिकीकरण का कार्य प्रारंभ करता है, परंतु बीच मार्ग में ही छोड़ देने के कारण इसे पूरा करने में असफल होता है। यह औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था व समाज के "अवरूद्ध विकास" का कारण बनता है। इसीलिए कृषि की अर्द्ध-सामन्तवादी विशेषताएँ पूर्व-औपनिवेशिक काल की अवशेष मानी जाती हैं। उपनिवेशवाद इन अर्द्ध-सामन्तवादी लक्षणों को पोषित करने या कम से कम उनको उखाड़ फेंकने में असफल होने का दोषी पाया जाता है।

iii) बहुत से लेखक उपनिवेशवाद को राजनीतिक प्रभुत्व अथवा विदेशी राजनीतिक शासन से अधिक कुछ नहीं मानते। व्यक्तिगत औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा अनुसरण की गयी नीतियों की कमजोरियाँ ही उपनिवेशवाद की कमजोरियाँ जानी जाती हैं।

1.2.1 उपनिवेशवाद की प्रकृति

उपनिवेशवाद ने एक ऐसे समाज को जन्म दिया जो कि न तो ब्रिटेन की तरह पूंजीवादी था और न ही पूर्व-औपनिवेशिक अथवा पूर्व-पूंजीवादी। इसलिए उदाहरण स्वरूप ब्रिटिश शासन में भारत न तो पूंजीवादी ब्रिटेन के समान था और न ही मूल रूप से मुगल भारत के समान था। भारत, मिस्र व इण्डोनेशिया उपनिवेशों में कृषिक संबंधों का विकास इस पक्ष को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश भारत के जमींदारी व रैयतवारी दोनों क्षेत्रों में जमींदारी व्यवस्था एक नयी चीज थी जो कि मुगल भारत में विद्यमान नहीं थी। ये ब्रिटिश शासन की देन थी। ये औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारतीय कृषि को परिवर्तित करने के प्रयासों का ही परिणाम था। भारतीय कृषि पूंजीवादी नहीं थी परंतु इसमें बहुत से पूंजीवादी तत्व थे। उदाहरण के लिए संपत्ति संबंध पूंजीवादी थे, जमीन अब व्यक्तिगत संपत्ति थी, जो बड़े पैमाने पर स्वतंत्र रूप से खरीदी व बेची जाती थी।

वस्तुतः हम कह सकते हैं कि उपनिवेशवाद में औपनिवेशिक समाज आधारभूत रूप में परिवर्तित हो गया। वह विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का अभिन्न अंग बन गया। उदाहरण के लिए भारत में उपनिवेशवाद उतनी ही आधुनिक घटना थी जितना कि ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजीवाद — 18वीं शताब्दी के मध्य में दोनों एक साथ विकसित हुए थे। पूंजीवाद अपनी प्रकृति से विश्व व्यवस्था थी — जिसे संपूर्ण विश्व पर छा जाना चाहिए था परंतु यह इस तरह से संपूर्ण विश्व को आच्छादित नहीं करता; इसका एक रूप महानगरीय में तथा दूसरा उपनिवेश में रहता है। यह मैट्रोपोलिस (महानगरीय) को एक आधुनिक औद्योगिक देश के रूप में विकसित करता है और उपनिवेशों को अविकसित करता है।

वही पूंजीवादी प्रक्रिया जिसने महानगर में आर्थिक विकास को बढ़ाया और उसे विकसित पूंजीवादी देश बनाती है, उपनिवेशों में विकास को रोके रखती है तथा उन्हें औपनिवेशिक समाज में परिवर्तित करती है। उपनिवेशवाद पुराने समाज व अर्थव्यवस्था को नष्ट करता है, परंतु नया औपनिवेशिक समाज व अर्थव्यवस्था आधुनिक आर्थिक विकास के लिए उतनी ही बड़ी बाधा है जितना कि पुरानी पूर्व-पूंजीवादी अर्थव्यवस्था व समाज। उपनिवेश विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का एक अभिन्न हिस्सा या अंग बन जाता है। परन्तु उसकी पूंजीवादी उत्पादन के विकास तथा औद्योगिक क्रांति में कोई भूमिका नहीं होती। वास्तव में, उपनिवेशवाद उपनिवेश में आधुनिक पूंजीवाद के विकास को रोकता है।

1.2.2 उपनिवेश पर प्रभाव

आप उपनिवेशवाद की महत्वपूर्ण विशेषताओं को जानना चाहेंगे: मुख्य रूप से उपनिवेशवाद की दो विशेषताएँ हैं।

i) एक मैट्रोपोलिस (महानगरीय) अथवा साम्राज्यवादी शक्ति की आवश्यकताओं के अनुसार उपनिवेश का अधीनस्थ होना तथा

ii) दूसरा उपनिवेश का आर्थिक शोषण अथवा महानगर द्वारा उपनिवेश के आर्थिक अतिरेक का विनियोग।

उपनिवेश में आर्थिक अतिरेक विभिन्न तरीकों से उत्पन्न किया जाता है, परंपरागत कृषि से आधुनिक खान व फैक्ट्री उत्पादन स्थापित आदि करके। परन्तु साम्राज्यवादी देश के विभिन्न वर्गों द्वारा इस अतिरेक का विनियोग ही उपनिवेशवाद का मूल है। अधीनस्थ होने का अर्थ है उपनिवेश के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक विकास के मूल विषय उपनिवेश की स्वयं की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित न होकर महानगरीय अर्थव्यवस्था व महानगरीय पूंजीवादी वर्ग की आवश्यकताओं व इच्छाओं के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं।

इस प्रकार उपनिवेशवाद सिर्फ राजनीतिक नियंत्रण व औपनिवेशिक नीतियाँ ही नहीं हैं बल्कि कुछ और भी है। इससे संरचना के रूप में माना जाता है। औपनिवेशिक हित व नीतियाँ, औपनिवेशिक राज्य व प्रशासकीय संस्थाएँ, औपनिवेशिक संस्कृति व समाज, औपनिवेशिक विचार व विचारधाराएँ, ये सभी औपनिवेशिक ढाँचे के भीतर ही कार्य करते हैं।

बोध प्रश्न 1

1 निम्नलिखित कथनों पर सही (√) या गलत पर (×) का चिह्न लगाइए।

i) ब्रिटिश शासन में भारत पूंजीवादी ब्रिटेन के समान था।

ii) अपनी प्रकृति से पूंजीवाद का स्वरूप स्थानीय है।

iii) उपनिवेशवाद उपनिवेश के आर्थिक विकास में बाधा डालता है।

iv) भारत के उपनिवेश बनने से पहले भारतीय कृषि में कुछ पूंजीवादी तत्व विद्यमान थे।

2 लगभग दस पंक्तियों में उपनिवेशवाद की मुख्य विशेषताओं के बारे में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.3 उपनिवेशवाद की अवस्थाएँ

उपनिवेशवाद एक अविच्छिन्न या एकीकृत ढाँचा नहीं है। उपनिवेशवाद विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है। औपनिवेशिक देश का दमन व शोषण स्थिर रहता है, परंतु एक अवस्था से दूसरी अवस्था में दमन व शोषण के रूप बदलते रहते हैं। ये परिवर्तन विभिन्न कारकों से संबंधित हैं उदाहरणार्थ :

- पूंजीवाद का विश्व व्यवस्था के रूप में ऐतिहासिक विकास
- व्यक्तिगत महानगरीय (या साम्राज्यवादी) देश के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक विकास के बदलते प्रतिमान।
- विश्व व्यवस्था में इसकी बदलती हुई स्थिति
- और उपनिवेश का अपना ऐतिहासिक विकास

उपनिवेशवाद को तीन अलग अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है, जो शोषण या अतिरेक विनियोग के विभिन्न रूपों से संबंधित है। फलतः प्रत्येक अवस्था ने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था, समाज व राज्य व्यवस्था के दमन के भिन्न प्रतिमानों को निरूपित किया और इसलिए औपनिवेशिक नीतियाँ, राजनीतिक व प्रशासकीय संस्थाएँ, विचारधाराएँ व प्रभाव भिन्न थे तथा औपनिवेशिक जनता की प्रतिक्रियाएँ भी भिन्न थीं।

यह आवश्यक नहीं कि विभिन्न उपनिवेशों के लिए उपनिवेशवाद की अवस्थाएँ समान हों, एक स्तरीय हों। अलग-अलग समय में अलग-अलग उपनिवेशों में अलग-अलग अवस्थाएँ पायी जाती हैं। अलग-अलग देशों में अलग-अलग समय में भिन्न अवस्थाएँ विद्यमान होती हैं। परंतु एक अवस्था की विषय वस्तु मोटे तौर पर समान रहती है चाहे वह जहाँ भी, जिस समय पाई जाएँ। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उपनिवेशवाद की अवस्था शुद्ध रूप में नहीं पायी जाती है और न ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था के बीच सुस्पष्ट व पूर्ण विच्छेद होता है। अतिरेक विनियोग व शोषण के रूप तथा उपनिवेशवाद के अन्य लक्षण प्रारंभिक अवस्था से उत्तरकालीन अवस्था में भी बने रहते हैं। तथापि विभिन्न अवस्थाएँ विशिष्ट प्रमुख विशेषताओं द्वारा निर्दिष्ट की गई हैं — एक अवस्था से दूसरी अवस्था में गुणात्मक परिवर्तन होता है।

आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद के इतिहास से उपनिवेशवाद की आधारभूत विशेषताएँ तथा इसकी विभिन्न अवस्थाएँ स्पष्ट की जा सकती हैं क्योंकि इतिहासकार भारत को एक आदर्श उपनिवेश के उदाहरण के रूप में मानने के लिए एकमत हैं। करीब 200 साल के अपने लम्बे इतिहास में ब्रिटिश शासन का मूल स्वरूप एक सा नहीं रहा है। विकासशील विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में ब्रिटिश स्थिति के बदलते प्रतिमान ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की प्रकृति में परिवर्तन किए जैसे शोषण के रूपों व औपनिवेशिक नीतियों, उनके प्रभावों व भारतीय प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन। अन्तिम दो पहलुओं — भारत पर उपनिवेशवाद का प्रभाव तथा भारतीय जनता की प्रतिक्रिया, पर अन्य इकाइयों में चर्चा की जाएगी। औपनिवेशिक नीतियों पर भी अन्य इकाइयों में बाद में विस्तृत चर्चा की जाएगी। परंतु अभी हम भारत में विभिन्न अवस्थाओं में उपनिवेशवाद की मूल विशेषताओं के साथ ही उपनिवेशवाद की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन के कारणों पर भी चर्चा करेंगे।

1.3.1 प्रथम अवस्था

यह एकाधिपत्य व्यापार तथा प्रत्यक्ष विनियोग का काल कहलाता है (अथवा ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन काल, 1757-1813)। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत एक एकाधिपत्य व्यापारिक निगम — ईस्ट इंडिया कंपनी — द्वारा अपने अधीन कर लिया गया। इस अवस्था में कंपनी के दो मुख्य लक्ष्य थे।

i) पहला, लक्ष्य था भारत के साथ व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करना। इसका अर्थ था कि अन्य अंग्रेजी व यूरोपियन व्यापारीयों व व्यापारिक कंपनियाँ भारतीय माल को खरीदने व बेचने में मुकाबला न कर सकें। और न ही भारतीय व्यापारी ऐसा कर सकें। इससे ईस्ट इंडिया कंपनी जितना सस्ता संभव हो सके उतना सस्ते में भारतीय माल खरीद सकेगी और जितने अधिक दामों में संभव हो सके विश्व बाजार में बेच सकेगी। इस प्रकार भारतीय आर्थिक अतिरेक एकाधिकार व्यापार द्वारा विनियुक्त होता था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने ब्रिटिश सरकार को मजबूर किया कि वह उन्हें राजकीय अधिकार पत्र के द्वारा भारत व पूर्व के साथ व्यापार में एकाधिकार प्रदान करे तथा इस प्रकार अंग्रेज प्रतियोगियों को इस व्यापार में हिस्सेदार नहीं बनने दिया। यूरोपीय प्रतिद्वन्दियों के खिलाफ कंपनी ने जमीन तथा समुद्र पर लंबे तथा भीषण युद्ध लड़े। भारतीय व्यापारियों के ऊपर एकाधिकार प्राप्त करने व भारतीय शासकों को अपने व्यापार में हस्तक्षेप से रोकने के लिए तथा बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभुत्व और देश के विभिन्न भागों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए कंपनी ने मुगल साम्राज्य के विघटन का लाभ उठाया। राजनीतिक विजय के बाद कम्पनी ने भारतीय बुनकरों को रोजगार दिया। उस स्थिति में वे बाजार की कीमत से कम भाव में कपड़ा तैयार करने के लिए बाध्य किये गये।

ii) इस अवस्था में उपनिवेशवाद का दूसरा मुख्य लक्ष्य राज्य सत्ता पर नियंत्रण द्वारा सरकारी राजस्व को प्रत्यक्ष रूप से विनियुक्त करना था। ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत में समुद्र पर तथा यूरोपीय प्रतिद्वन्दियों व भारतीय शासकों के खिलाफ युद्ध करने के लिए एवं नौ सैनिक शक्तियों, किलों, व सेना को अपने व्यापारिक स्थानों के चारों तरफ बनाये रखने आदि के लिए प्रचुर आर्थिक साधन की आवश्यकता थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के पास ऐसे साधन नहीं थे तथा ब्रिटिश सरकार के पास भी ऐसे स्रोत नहीं थे और न ही कंपनी के हितों को बढ़ाने के लिए उन्हें प्रयोग करने की इच्छुक थी। इसलिए अत्याधिक आवश्यक आर्थिक साधन भारत में भारतीय लोगों द्वारा जुटाए जाने थे। इसने भारत में विभिन्न क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी।

भारत में आर्थिक साधन किसी और कारण से जुटाने थे। भारतीय माल को खरीदने के लिए भारतीय धन की आवश्यकता थी। यह ब्रिटिश माल को भारत में बेचकर या सोने और चांदी का भारत में निर्यात द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। पहले तरीके का प्रयोग नहीं किया गया, क्योंकि ब्रिटिश ऐसा माल नहीं बना सके जिसे भारत में भारतीय उत्पादनों की प्रतिस्पर्धा में बेच सके। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादन भारतीय हस्तशिल्प उत्पादन के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर सका। ब्रिटिश सरकार जो वाणिज्यवाद के सिद्धांतों से अत्यधिक प्रभावित थी, ब्रिटेन से सोने व चाँदी के निर्यात पर प्रसन्न नहीं थी। सरकारी आय का विनियोग निश्चित रूप से ईस्ट इंडिया कंपनी के लाभ तथा इसके हिस्सेदारों के लाभांश को बढ़ायेगा।

दोनों लक्ष्य व्यापार पर एकाधिकार तथा सरकारी राजस्व का विनियोग पहले बंगाल व दक्षिण भारत के भागों और फिर शेष वर्षों में सम्पूर्ण भारत पर विजय के साथ बड़ी तीव्र गति से पूरे किये गये थे। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय व्यापार व हस्तशिल्प उत्पादन पर एकाधिकारिक नियंत्रण प्राप्त करने के लिए अब अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया। भारतीय व्यापारियों को धीरे-धीरे प्रतिस्थापित तथा बरबाद कर दिया गया, जबकि बुनकर व अन्य शिल्पकार अपना माल कम मूल्यों पर बेचने के लिए या कंपनी के लिए कम वेतन पर काम करने के लिए बाध्य किये गये थे। यह ध्यान देने योग्य है कि इस अवस्था में ब्रिटिश उत्पादन का भारत में बड़े पैमाने पर आयात नहीं था, बल्कि इसका उल्टा हुआ, जैसे भारतीय वस्त्र के निर्यात में बढ़ोत्तरी हुई आदि। उदाहरणार्थ बुनकर इस अवस्था में ब्रिटिश आयात द्वारा बर्बाद नहीं हुए बल्कि कंपनी के एकाधिकार के कारण तथा घाटे में कंपनी के लिए उत्पादन करने के लिए बाध्य किये जाने से उनका शोषण हुआ।

राजनीतिक विजय के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय राज्यों के राजस्व पर प्रत्यक्ष नियंत्रण प्राप्त कर लिया। इसके अतिरिक्त कंपनी तथा उसके कर्मचारियों ने भारतीय व्यापारियों, अधिकारियों, अभिजात शासक वर्ग, शासकों व जमींदारों से अवैध रूप से असीम धन खींच लिया। असल में उपनिवेशवाद की प्रथम अवस्था में लूटने व अतिरेक पर प्रत्यक्ष कब्जा करने का तत्व बहुत मजबूत था। धीरे-धीरे बड़ी मात्रा में अधिक वेतन पाने वाले अधिकारी भारत में नियुक्त किए गए तथा उनके वेतन व पेंशन अतिरेक विनियोग का एक रूप बन गये। भारत में की जाने वाली ब्रिटिश नियुक्तियों के लिए ब्रिटेन में और विशेष रूप से कुलीन वर्ग और उच्च कुलीन भूपति वर्ग में तीव्र संघर्ष था।

इस काल में उपनिवेशवाद की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उपनिवेश में प्रशासन, न्यायिक व्यवस्था, परिवहन तथा संचार, कृषि का औद्योगिक उत्पादन के ढंग, व्यापार प्रबंध व आर्थिक संगठन के रूपों में (बंगाल में स्थायी व्यवस्था को छोड़कर जो वास्तव में उपनिवेशवाद की दूसरी अवस्था से संबंधित थी) कोई मूल परिवर्तन नहीं किये गए थे। और न ही शिक्षा व बुद्धिजीवी क्षेत्र तथा सांस्कृतिक व सामाजिक संगठन में कोई परिवर्तन किये गए थे। केवल दो नयी शैक्षिक संस्थाएँ प्रारंभ की गयी थीं — एक बनारस में संस्कृत सीखने के लिए तथा दूसरी कलकत्ता में फारसी व अरबी सीखने के लिए। यहाँ तक कि क्रिश्चन मिशनरी ब्रिटिश पूंजीपति जो कि आधुनिक पश्चिमी विचारों के प्रसार में एक माध्यम का कार्य कर सकते थे भारत में ब्रिटिश आधिपत्य के क्षेत्र से बाहर रखे गए। केवल

i) मिलट्री संगठन व तकनीक जोकि समकालीन स्वतंत्र भारतीय शासक भी अपनी सशस्त्र सेनाओं से सन्निविष्ट कर रहे थे तथा

ii) प्रशासन में राजस्व एकत्र करने के ढाँचे में ऊपरी पद पर ही परिवर्तन किए गए थे जिससे कि इसे कंपनी के लिए अधिक उपयुक्त व लाभकारी बनाया जा सके।

इस अवस्था में ब्रिटिश शासन परंपरागत भारतीय साम्राज्यों से बहुत अधिक भिन्न नहीं था क्योंकि वे भी भूमि राजस्व एकत्रीकरण में आस्था रखते थे।

ऐसा क्यों था? इतने कम परिवर्तन क्यों किए गए थे? क्योंकि इस अवस्था में उपनिवेशवाद के दोनों मूल लक्ष्यों को भारत में मूल सामाजिक-आर्थिक-प्रशासनिक परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं थी। प्रथम अवस्था थी — उपनिवेशवाद उसके विद्यमान आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक व राजनीतिक ढाँचे पर अध्यारोपित किया जा सकता था। ब्रिटिश शासकों ने अपने देशी भारतीय पूर्वाधिकारियों से अधिक गहराई से गाँवों में प्रवेश करने की आवश्यकता महसूस नहीं की जब तक कि उनको भूराजस्व एकत्र करने पर आय परंपरागत मशीनरी द्वारा सफलतापूर्वक मिलती रहती थी। इसलिए भारत के विद्यमान आर्थिक व राजनीतिक ढाँचे और प्रशासनिक व सामाजिक संगठन तथा सांस्कृतिक व वैचारिक गठन को अस्त-व्यस्त करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

यह परिवर्तन का अभाव प्रशासकों की विचारधारा में भी प्रतिबिम्बित था। परंपरागत भारतीय सभ्यता, धर्म, कानून, जाति-प्रथा, पारिवारिक संरचना आदि की आलोचना करने की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी क्योंकि औपनिवेशिक शोषण की उस अवस्था में वे बाधाओं के रूप में नहीं देखे गये थे। उनको सहानुभूतिपूर्वक समझने की आवश्यकता थी ताकि राजनीतिक नियंत्रण व आर्थिक शोषण भारतीयों की धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विचारों का विरोध किए बिना सरलता से आगे बढ़ सकें।

इस काल ने बड़ी मात्रा में भारत से धन निष्कासन को प्रभावित किया। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति के लिए धन की व्यवस्था करने में इस धन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उस समय भारत से निष्कासित धन ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का 2 से 3 प्रतिशत भाग था।

बोध प्रश्न 2

1 ईस्ट इंडिया कंपनी के दो मुख्य लक्ष्यों पर करीब दस पंक्तियों में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित कथनों में सही (√) या गलत (×) का चिह्न लगाकर बताइए।

i) शोषण के रूपों में बिना किसी परिवर्तन के उपनिवेशवाद एक अविच्छिन्न स्वरूप है।

ii) उपनिवेशवाद के विभिन्न अवस्थाएँ सभी उपनिवेशों में साथ-साथ एक ही समय में विकसित हुईं।

iii) ईस्ट इंडिया कंपनी के हितों की उन्नति के लिए ब्रिटिश सरकार अपने साधनों का प्रयोग नहीं करना चाहती थी।

iv) कंपनी के कर्मचारियों ने भारतीय व्यापारियों से असीम धन ऐंठ लिया।

3 भारत में उपनिवेशवाद की एकाधिकार व्यापार अवस्था के मुख्य लक्षणों को सूचीबद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.3.2 द्वितीय अवस्था

यह व्यापार के द्वारा शोषण का काल था और इसे 19वीं शताब्दी में मुक्त व्यापार का उपनिवेशवाद भी कहा गया है। भारत के अधिकांश भागों पर ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन स्थापित होने के तुरन्त बाद ब्रिटेन में यह निर्धारित करने के लिए कि यह नया उपनिवेश किसके हितों की पूर्ति करेगा, तीव्र संघर्ष शुरू हो गया। सन् 1750 के बाद से ब्रिटेन औद्योगिक क्रान्ति के दौर से गुजर रहा था। नवविकसित औद्योगिक पूंजीपतियों ने ईस्ट इंडिया कंपनी तथा इसके भारत के शोषण के रूपों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने मांग की कि भारत में औपनिवेशिक प्रशासन व नीति को अब उनके हितों की पूर्ति करनी चाहिए जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी के हितों से बहुत भिन्न थे। उन्हें भारतीय माल में एकाधिकार व्यापार तथा भारतीय आमदनियों पर कम्पनी के नियंत्रण से कुछ अधिक प्राप्त नहीं हुआ। वे चाहते थे कि भारत उनके यहाँ के निर्मित माल विशेष रूप से कपड़े के बढ़ते हुए उत्पादन के लिए एक बाजार के रूप में कार्य करे। उन्हें भारत से कच्चे माल और विशेष रूप से, कपास व खाद्यान्न की भी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भारत अधिक ब्रिटिश माल तभी खरीद सकता था जब वह अपना निर्यात बढ़ाकर विदेशी मुद्रा प्राप्त करे। ईस्ट इंडिया कम्पनी के लाभांशों को ताकत के बल पर प्राप्त करने के लिए तथा ब्रिटिश व्यापारियों के लाभों एवं ब्रिटिश अधिकारियों की कमाई और पेंशन ब्रिटेन को हस्तान्तरित करने के लिए भी अधिक निर्यात की आवश्यकता थी।

परन्तु भारत क्या निर्यात कर सकता था? वर्षों से अंग्रेज भारतीय वस्त्र को ब्रिटेन में आयात होने के इच्छुक नहीं थे और बाद में उनका निर्यात लाभकारी नहीं था। भारत से इन निर्यातों में केवल कृषि का कच्चा माल तथा अन्य अनिर्मित कच्चा माल था। दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश औद्योगिक पूंजीपतियों की सुविधा के अनुकूल होने के लिए भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को अपनी दूसरी अवस्था में प्रवेश करना चाहिए। भारत को ब्रिटेन का अधीनस्थ व्यापारिक भागीदार बनना चाहिए एक ऐसे बाजार के रूप में जिसका शोषण हो सके तथा एक ऐसे आधीन उपनिवेश के रूप में जो ब्रिटेन की आवश्यकतानुसार कच्चा माल व खाद्य पदार्थ भेजे व बनाया करे। भारत की आर्थिक बचत ऐसे व्यापार के माध्यम से विनियोग होनी थी जो असमानता पर आधारित था। परिणामस्वरूप ब्रिटेन ने ऐसा माल बनाया व निर्यात किया जो कि कारखानों में विकसित तकनीक व कम श्रम शक्ति का प्रयोग करके बनाया गया था इसमें उत्पादकता व वेतन का स्तर बहुत ऊँचा था। दूसरी तरफ भारत ने उत्पादन के पिछड़े हुए तरीकों से अत्यधिक श्रम शक्ति का प्रयोग करते हुए कृषि सम्बंधी कच्चा माल बनाया जो कि कम उत्पादकता व कम वेतन का कारण बना। श्रम का यह अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन भारत के लिए न केवल अत्यन्त प्रतिकूल था बल्कि अप्राकृतिक व बनावटी भी था तथा औपनिवेशिक शासन द्वारा बल पूर्वक प्रारम्भ व कायम रखा गया था। परिवर्तन की शुरुआत सन् 1763 के रेगुलेटिंग एक्ट तथा सन् 1784 के पिट्स इंडिया एक्ट के पास होने के साथ हुई जो कि ब्रिटिश शासक वर्गों में प्रारम्भिक रूप से तीव्र संघर्ष का परिणाम थे। सन् 1789 के बाद फ्रेंच क्रान्तिकारी युद्धों ने ईस्ट इंडिया कंपनी को कुछ राहत और सुरक्षा प्रदान की। परन्तु कंपनी धीरे-धीरे आधार खोने लगी। सन् 1813 में जब दूसरा चार्टर एक्ट पास किया गया तब कंपनी भारत में अपनी अधिकतर राजनीतिक व आर्थिक शक्ति खो चुकी थी, अब वास्तविक शक्ति ब्रिटिश सरकार के पास थी जिसने ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के सामूहिक हितों के लिए भारत पर शासन किया।

भारत अपनी विद्यमान आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में नये तरीके से शोषित नहीं किया जा सकता था इसलिए इस व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना तथा पूर्ण रूप से बदलना था। ब्रिटिश भारतीय सरकार ने 1813 के बाद ऐसा करना प्रारंभ किया। आर्थिक क्षेत्र में इसका अर्थ भारत की औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था को ब्रिटिश व विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ना था। इसका मुख्य यंत्र मुक्त व्यापार को प्रारंभ करना था। भारत में सभी आयात कर या तो पूर्ण रूप से हटा दिये गए या बहुत कम कर दिए गए। इस प्रकार ब्रिटिश उत्पादों के भारत प्रवेश पर कोई रोक-टोक नहीं रह गयी। भारत में चाय, कॉफी, तथा नील के बागानों, व्यापार, परिवहन, खान व आधुनिक उद्योग-धंधे विकसित करने के लिए ब्रिटिश पूँजीपतियों को बिना रोक-टोक प्रवेश की अनुमति दी गयी थी। ब्रिटिश भारतीय सरकार ने इन पूंजीपतियों को सक्रिय राज्य सहायता दी।

स्थायी तथा रैयतवारी बंदोबस्त व्यवस्थाओं के माध्यम से भारत के कृषि संबंधी ढाँचे को पूँजीवादी दिशा में परिवर्तित करने के लिए कोशिश की गयी थी। बड़ी मात्रा में आयात व उनके आंतरिक विक्रय के लिए तथा और अधिक मात्रा में कच्चे माल का निर्यात करने एवं देश में लंबी दूरी के बंदरगाहों पर उनके संग्रह के लिए परिवहन और संचार के लिए एक सस्ती व आसान व्यवस्था की आवश्यकता थी। ऐसी व्यवस्था के बिना भारत बड़ी मात्रा में विदेशी व्यापार के लिए नहीं खोला जा सकता था इसलिए सरकार ने नदियों व नहरों का विकास किया, नदियों में वाष्प-चालित जहाज चलाने के लिए उत्साहित किया और सड़कें बढ़ायी। इन सबसे अधिक 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसने भारत के बड़े शहरों व बाजारों को बंदरगाहों से जोड़ने वाली रेलवे लाइन बिछाने के लिए प्रोत्साहित किया और आर्थिक सहायता दी। 1905 तक करीब 45,000 किलोमीटर रेलवे लाइन बन चुकी थी। इसी प्रकार आर्थिक लेन-देन को आसान बनाने के लिए आधुनिक डाक व टेलीग्राफ व्यवस्था को अधिक विकसित किया गया।

प्रशासनिक क्षेत्र में अब बहुत से परिवर्तन लाए गए। प्रशासन अधिक विस्तृत व व्यापक बनाया गया अब यह देश के गाँवों व दूरस्थ क्षेत्रों तक पहुँचा जिससे ब्रिटिश माल इसके भीतरी व दूरस्थ गाँवों में पहुँच सके और वहाँ से भी कृषि-उत्पादन प्राप्त किया जा सके। पूंजीवादी व्यापारिक संबंधों को बढ़ाने के लिए तथा कानून व व्यवस्था बनाये रखने के लिए भारत के कानूनी व न्यायिक ढाँचे में परिवर्तन किए गए। फिर भी अपराधी कानून, अनुबंध कानून व कानूनी प्रक्रियाएँ, पर्सनल लॉ जिसमें विवाह व उत्तराधिकार से संबंधित कानूनों से संबंधित परिवर्तन अधिकांश रूप में अछूते ही छोड़ दिए गये क्योंकि अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक परिवर्तन को यह किसी भी रूप में प्रभावित नहीं कर रहे थे।

इसके अतिरिक्त 1830 व 1840 में भारत में अंग्रेजी ने फारसी के स्थान पर राजभाषा का स्थान ले लिया था। 6 मार्च 1835 के लार्ड विलियम बैंटिक के प्रस्ताव में कहा गया "शिक्षा के लिए विनियुक्त कोष केवल अंग्रेजी शिक्षा में अच्छी तरह से प्रयोग किया जाएगा।"

आधुनिक शिक्षा अब मौलिक रूप से नयी, विस्तृत रूप से फैली हुई प्रशासनिक मशीनरी बनाने के लक्ष्य से प्रारंभ की गयी थी। परन्तु भारत के समाज और संस्कृति को बदलने में इससे सहायता की भी आशा की गयी थी। इस परिवर्तन की दो कारणों से आवश्यकता थी। इससे आशा की गयी :

i) परिवर्तन व विकास का वातावरण बनाने की

ii) शासकों के प्रति वफादारी की संस्कृति पैदा करने की।

यह ध्यान देने योग्य है कि इसी काल के लगभग अनेक भारतीय बुद्धिजीवियों जैसे राजा राममोहन राय ने विभिन्न कारणों से और मुख्य रूप से राष्ट्रीय पुर्नरूत्थान के लिए सामाजिक व सांस्कृतिक आधुनिकीकरण के लिए कार्य करना प्रारंभ किया।

उपनिवेशवाद की दूसरी अवस्था ने अनेक ब्रिटिश राजनेताओं व प्रशासकों के मध्य उदार साम्राज्यवादी विचारधारा को जन्म दिया। भारतीय लोगों को प्रजातंत्र व स्वशासन की कलाओं में प्रशिक्षण देने के लिए उन्होंने विचार किया। इस समय ब्रिटेन संसार की कार्यशाला था — तीव्रगति से औद्योगीकृत देश केवल यही था। परिणामस्वरूप ब्रिटेन में बहुतों का यह विश्वास था कि भारत के साथ इस रूप में व्यापार बनाये रखा जा सकता है, चाहे ब्रिटेन भारत पर अपना प्रत्यक्ष राजनीतिक व प्रशासकीय नियंत्रण हटा ले, जब तक वहाँ कानून व व्यवस्था, मुक्त व्यापार तथा व्यापार अनुबंध सुरक्षित बने हुए हैं। यहाँ तक कि उदार साम्राज्यवादियों ने भी विश्वास किया कि इन गुणों को प्राप्त करने में भारतीयों को सौ या अधिक वर्ष लगेंगे और इसलिए आने वाली शताब्दियों के लिए ब्रिटिश शासन बनाये रखा जाना चाहिए और उसे मजबूत बनाया जाना चाहिए।

यदि भारत के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को मूलतः परिवर्तित करना था तो इसकी विद्यमान संस्कृति व सामाजिक संगठन को अनुपयुक्त व पतनशील घोषित करना था।

भारतीय संस्कृति व समाज अब तीव्र आलोचना के विषय थे। तथापि इस आलोचना में कोई नस्लवाद सम्मिलित नहीं था क्योंकि साथ-साथ यह भी माना गया था कि भारतीय धीरे-धीरे यूरोपीय स्तर तक उठाए जा सकते हैं।

इस अवस्था में अतिरेक धन की निकासी के प्रारंभिक रूप बने रहे। यही नहीं बल्कि महंगा प्रशासन और आर्थिक परिवर्तन के लिए प्रयत्न भी करारोपण में मनमानी बढ़ोत्तरी किसानों पर बोझ का कारण बनी। सैनिक तथा नागरिक प्रशासन को बनाए रखने के लिए तथा रेलवे निर्माण के लिए धन की कमी के कारण और भूमि करों की अपनी सीमाओं के कारण औपनिवेशिक शासन निरंतर आर्थिक अभाव में रहा। फलतः अन्य क्षेत्रों में आधुनिकीकरण का रूप अंशतः अनुपात में कम कर दिया गया।

इस अवस्था में ब्रिटिश पूंजीवाद के विकास में भारत ने निर्णायक भूमिका अदा की। ब्रिटिश उद्योग-धंधे विशेष रूप से वस्त्र निर्यात पर बहुत निर्भर थे। 1860-80 के दौरान भारत ने ब्रिटिश निर्यात का 10 से 12 प्रतिशत और ब्रिटेन के वस्त्र निर्यात का करीब 20 प्रतिशत आत्मसात कर लिया। 1850 के बाद भारत भी इंजन, डिब्बों, रेल लाइनों तथा अन्य रेलवे सामानों का एक मुख्य आयातकर्त्ता था। इसके अतिरिक्त एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश उपनिवेशवाद फैलाने में भारतीय सेना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस अवस्था में शुरू से अंत तक भारतीय धन व पूंजी का ब्रिटेन द्वारा निष्कासन जारी रहा।

1.3.3 तृतीय अवस्था

यह उपनिवेशों के लिए विदेशी लागत और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का युग कहा जाता है। लगभग 1860 से भारत में उपनिवेशवाद की एक नयी अवस्था प्रारंभ की गयी थी। यह विश्व अर्थव्यवस्था में अनेक मुख्य परिवर्तनों का परिणाम था :

i) यूरोप के अनेक देशों जैसे अमेरिका व जापान में औद्योगीकरण के प्रसार के साथ संसार में ब्रिटेन की औद्योगिक सर्वोच्चता का अंत आ गया।

ii) उद्योग के लिए वैज्ञानिक ज्ञान के प्रयोग के परिणामस्वरूप औद्योगीकरण का तीव्रीकरण हुआ। आधुनिक रासायनिक उद्योग-धंधे, आंतरिक दहन इंजन के लिए पैट्रोलियम का इंधन के रूप में प्रयोग तथा औद्योगिक उद्देश्यों के लिए बिजली का प्रयोग इस काल में विकसित हुए।

iii) अंतर्राष्ट्रीय परिवहन के साधनों में क्रांति के कारण विश्व बाजार का और अधिक एकीकरण हुआ।

अनेक औद्योगीकृत देशों में नये उद्योग-धंधों ने विशाल मात्रा में कच्चा माल उपभोग किया। तीव्र औद्योगिक विकास की शहरी जनसंख्या के निरंतर विकास का कारण बना जिसे अधिक से अधिक भोजन की आवश्यकता थी। अब वहाँ नये सुरक्षित व विशिष्ट बाजारों तथा कृषक व खनिज कच्चे माल के स्रोतों और खाद्य पदार्थों के लिए तीव्र संघर्ष शुरू हो गया।

इसके अतिरिक्त आंतरिक व्यापार तथा उद्योग के विकास और उपनिवेशों व अर्द्ध-उपनिवेशों के विस्तृत शोषण ने पूंजीवादी देशों में बड़ी मात्रा में पूंजी का संचयन किया। साथ ही पूंजी का केन्द्रीकरण तथा बैंकिंग (साहूकारी) पूंजी का औद्योगिक पूंजी के साथ विलय कम से कम निगमों, व्यापार संघों व उत्पादक संघों में हुआ। इस पूंजी के लिए बाजारों की खोज करनी थी। इसने बड़ी मात्रा में पूंजी के निर्यात को प्रेरित किया। एक बार फिर विकसित पूंजीवादी देशों ने उन क्षेत्रों के लिए खोज व प्रतिस्पर्धा प्रारंभ कर दी जहाँ वे अपनी अतिरिक्त पूंजी को लगाने का एकमात्र अधिकार प्राप्त कर सकें।

इस प्रकार पूंजी निवेश के लिए बाजार, कच्चा माल और क्षेत्रों की अपनी खोज में पूंजीवादी देशों ने अपने बीच विश्व का विभाजन व पुर्नविभाजन प्रारंभ कर दिया।

इस अवस्था में उपनिवेशवाद ने भी मैट्रोपॉलिस (साम्राज्यवादी देश) में महत्वपूर्ण राजनीतिक व वैचारिक उद्देश्यों को पूरा किया। साम्राज्य के गुणगान पर आधारित अंध देश भक्ति व आक्रामक राष्ट्रवाद का प्रयोग देश में सामान्य हितों पर जोर डालकर सामाजिक विभाजनों को कम करने के लिए किया जा सकता था। उदाहरणार्थ उन श्रमिकों के मध्य गर्व व संतोष का भाव फैलाने के लिए जिनके गंदे घरों में वास्तविक जीवन में बिरले ही सूर्य निकलता था, ब्रिटेनवासियों ने "ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता" का नारा लगाया। फ्रांसीसियों ने अपने "सिविलाइजिंग मिशन" पर जबकि जापान ने अखिल एशियावाद (पैन-एशियनिज्म) पर चर्चा की और एशियाई लोगों का समर्थक होने का दावा किया।

इस अवस्था के दौरान संसार में ब्रिटेन की स्थिति को प्रतिद्वन्दी पूंजीवादी देशों द्वारा लगातार चुनौती दी गयी थी तथा कमजोर की गयी थी। भारत पर अपना नियंत्रण दृढ़ करने के लिए अब इसने सशक्त प्रयत्न किए। उदार साम्राज्यवादी नीतियाँ अब प्रतिक्रियात्मक साम्राज्यवादी नीतियों में बदल गयीं। यह लिटन, डफरिन, लांसडाउन तथा कर्जन के वायसराय काल में प्रतिबिम्बित हुआ। प्रतिद्वन्दियों को बाहर रखने के लिए ब्रिटिश पूंजी को भारत में आकृष्ट करने के लिए तथा इसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए भारत में औपनिवेशिक शासन मजबूत करना आवश्यक था। 1850 के बाद ब्रिटिश पूंजी की बहुत बड़ी रकम भारत में रेलवे, भारतीय सरकार के ऋण, व्यापार व कुछ हद तक बागान, कोयला खान, जूट कारखाने, जहाजरानी (शिपिंग) तथा बैंकिंग में लगाई गयी थी।

भारत ने भी ब्रिटेन के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। संसार के विभाजन और पुनर्विभाजन के संघर्ष में ब्रिटेन के प्रतिद्वन्दियों से लड़ने के लिए इसकी सेना-लोग व आर्थिक स्रोत प्रयोग किए जा सकते थे। असल में अफ्रीका और एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा, विस्तार और दृढ़ीकरण के लिए भारतीय सेना मुख्य यंत्र थी। परिणाम था एक महँगी व स्थायी सेना जिसने 1904 में भारतीय उत्पादन का 52 प्रतिशत समाविष्ट कर लिया।

राजनीतिक व प्रशासनिक रूप से उपनिवेशवाद की तृतीय अवस्था का अर्थ था भारत पर नवीकृत तथा अधिक तीव्र नियंत्रण। इसके अतिरिक्त पहले की अपेक्षा अब यह अधिक महत्वपूर्ण था कि औपनिवेशिक शासन भारत के हर स्थान और कोने में पहुँचना चाहिए। प्रशासन पहले की अपेक्षा अब नौकरशाही के रूप में अधिक मजबूत, कार्यकुशल व व्यापक हो गया। रेलमार्ग भी अब बहुत तेजी से बनाये गये।

उपनिवेशवाद की विचारधारा में अब एक मुख्य परिवर्तन आ गया। भारतीय लोगों को स्वशासन के लिए प्रशिक्षण देने की सभी बातें समाप्त हो गयीं (भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दबाव के परिणामस्वरूप 1918 के बाद 20वीं शताब्दी में यह दोहराया गया) इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारतीय लोगों पर स्थायी प्रशासन घोषित कर दिया गया था। भारतीय जनता स्थायी रूप से अपरिपक्व या अव्यवस्थित जनता घोषित कर दी गयी थी जिसे ब्रिटिश नियंत्रण या न्यायिता की आवश्यकता थी। भूगोल, "जाति", वातावरण, इतिहास, धर्म, संस्कृति व सामाजिक संगठन ऐसे तर्कों के रूप में उद्धृत किए गए थे जिन्होंने स्वशासन व प्रजातंत्र के लिए भारतीयों को स्थायी रूप से अनुपयुक्त बना दिया। इसलिए ब्रिटेन को उन पर आने वाले शताब्दियों के लिए सद्भावनापूर्ण तानाशाही का प्रयोग करना था।

इस काल में भारत के परिवर्तन के प्रयास यद्यपि एक बार फिर छुटपुट परिणामों के साथ जारी रहे। यह आंशिक रूप से पहले चर्चित आर्थिक अभाव और राष्ट्रीय आंदोलन के उदय के कारण था। फिर भी इन सीमित परिवर्तनों ने बुद्धिजीवी वर्ग को जन्म दिया जिसने उपनिवेशवाद का विरोध करना प्रारंभ कर दिया तथा औपनिवेशिक शोषण के तंत्र का विश्लेषण किया। परिवर्तन के किसी भी प्रयास में सम्मिलित इसे एक गंभीर संकट के रूप में देखा गया था। ब्रिटिश प्रशासक सामाजिक व सांस्कृतिक प्रश्नों पर तटस्थ बने रहे, और फिर सामाजिक व आर्थिक प्रतिक्रियावादियों को देशी संस्थाओं को सुरक्षित रखने के नाम पर सहायता देना शुरू कर दिया।

बोध प्रश्न 3

1 भारत में उपनिवेशवाद की द्वितीय व तृतीय अवस्था के दौरान अतिरिक्त बचत निष्कर्षण व शोषण के रूपों पर करीब सौ शब्दों में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित कथनों में सही (√) या गलत (×) का चिह्न लगाकर बताइये।

i) भारत में उपनिवेशवाद की मुक्त व्यापार अवस्था के दौरान आयात कर बढ़ा दिये गये थे।

ii) रेल मार्गों ने बाजारों के विस्तार में योगदान दिया।

iii) ब्रिटिश औद्योगिक सर्वोच्चता को नयी चुनौतियों के कारण इसकी औपनिवेशिक नीति बदल गयी।

iv) ब्रिटेनवासियों ने दावा किया कि "ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता"।

3 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश शासन द्वारा भारत में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए किये गये प्रयत्नों पर करीब दस पंक्तियों में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.4 सारांश

उपनिवेशवाद में भारतीय अर्थव्यवस्था तथा समाज पूर्ण रूप से ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन थे। परिणाम यह हुआ कि सन् 1760 के तुरन्त बाद के वर्षों में जब ब्रिटेन संसार के प्रमुख पूंजीवादी देश के रूप में विकसित हो रहा था उस समय भारत के विकास की गति बहुत धीमी रही और अंत में वह एक पिछड़े हुए उपनिवेश के रूप में परिवर्तित हो गया।

1.5 शब्दावली

पूँजीवाद: पूँजी या धन पर आधारित वह शाब्दिक एवं राजनीतिक व्यवस्था जिसमें संपत्ति का व्यापार तथा उद्योग निजी संपत्ति हो और जहाँ अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार प्रतियोगिता हो।

बुद्धिजीवी वर्ग: समाज का वह वर्ग जो समाज में जागृति लाने के लिए प्रगतिशील विचारों को जन्म देने एवं फैलाने में मुख्य भूमिका निभाता है। इस वर्ग में शिक्षक, वकील, राजनेता तथा कलाकार हो सकते हैं।

भूस्वामी वर्ग: बेहतर एवं उच्च परिस्थिति वाले उन लोगों का वर्ग जिनके पास जरूरत से बहुत ज्यादा भूसंपत्ति थी जैसे जमींदार, ताल्लुकेदार।

महानगर: विशेष रूप से पूँजीवादी प्रगति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये उस नगर के लिए प्रयुक्त शब्द जो व्यापार या प्रौद्योगिक उन्नति का केन्द्र बना। जैसे दिल्ली, कलकत्ता, बंबई, मद्रास।

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 i) × ii) × iii) √ iv) √

2 उपभाग 1.2.2 देखें

बोध प्रश्न 2

1 भाग 1.3.1 देखें

2 i) × ii) × iii) √ iv) √

3 उपभाग 1.3 देखें

बोध प्रश्न 3

1 भाग 1.3.2 और 1.3.3 देखें

2 i) × ii) √ iii) √ iv) √

3 उपभाग 1.3.3 देखें

इकाई 2 साम्राज्यवाद और उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 उपनिवेशवाद के सिद्धांत
  2.2.1 यूरोपीय दृष्टिकोण
  2.2.2 भारतीय राष्ट्रवादी दृष्टिकोण
2.3 उपनिवेशवाद के प्रभाव
  2.3.1 अनौद्योगीकरण
  2.3.2 औपनिवेशिक भारत में अकाल
  2.3.3 कृषि का व्यावसायीकरण
  2.3.4 व्यावसायीकरण का ग्रामीण समाज पर प्रभाव
2.4 आधुनिक उद्योग और भारतीय पूँजीपति वर्ग
2.5 औपनिवेशिक शासन
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम भारतीय समाज पर उपनिवेशवाद के प्रभाव के विस्तृत अध्ययन के साथ भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रभावों की भी चर्चा करेंगे। यह इकाई यह दर्शाती है कि औपनिवेशिक शासन बनाये रखने का एक उपकरण यह औपनिवेशिक अवस्था थी न कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था और समाज के आधुनिकीकरण का एक उपकरण। यह इकाई पढ़ने के बाद आप इन बातों को समझने में सक्षम होंगे :

- यूरोपीय तथा भारतीय राष्ट्रीयतावादियों द्वारा प्रतिपादित उपनिवेशवाद के विभिन्न सिद्धांत
- अनौद्योगीकरण तथा कृषि के व्यावसायीकरण के संदर्भ में उपनिवेशवाद का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव
- भारत में आधुनिक उद्योगों का उदय तथा भारतीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका
- औपनिवेशिक प्रक्रिया के कुछ राजनैतिक पहलू

2.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवाद की प्रकृति तथा भारत पर इसके आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव को समझने के लिए यह जरूरी है कि उपनिवेशवाद को विश्व प्रपरिप्रेक्ष्य में समझा जाये। यदि हम इसको सिर्फ भारत के परिप्रेक्ष्य में देखेंगे तो हम साम्राज्यवाद की संरचना के तर्क को समझ नहीं पायेंगे। इससे हमें यही लगेगा कि यह सब कुछ उन चंद व्यक्तियों के कारण हुआ जो भारत में ब्रिटिश शासक और योजना निर्माता थे। इस संदर्भ में पहले भी इन बातों की ऐतिहासिक आलोचना हो चुकी है कि कैसे एक उद्देश्यहीन गवर्नर जनरल या एक बुरे प्रबंधक या इंग्लैंड की जनता की नकारात्मक राय के कारण भारतीय जनता के लिए बुरी परिस्थितियों का निर्माण हुआ, ब्रिटिश साम्राज्य के समर्थकों ने भी कई बार इन्हीं अच्छी-बुरी नीतियों पर ही अपने विचार व्यक्त किये। यहाँ तक कि प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेता साम्राज्य के बारे में इस सतही धारणा से पूरी तरह मुक्त नहीं थे। वे ब्रिटिश शासन के शोषक और दमनशील रूप को समझाने में तो समर्थ रहे किंतु उसे विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देख नहीं सके, जिसे बाद के आलोचकों ने, मार्क्सवाद से प्रभावित आलोचकों को मिलाकर, पूंजीवादी साम्राज्यवाद या पूंजीवादी विश्व व्यवस्था के संदर्भ में उपनिवेशवाद को देखा। और इस प्रकार भारतीय साम्राज्य के ऐतिहासिक विकास को इन विभिन्न पहलुओं के साथ समझने में हमारी मदद की है। औपनिवेशिक विस्तार की इस घटना के प्रति समझ की इस दूसरी प्रक्रिया की जड़ें बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक आलोचकों—हॉब्सन, हिलफर्डिंग, रोजा लक्जेमबर्ग और लेनिन, के यहाँ देखी जा सकती हैं। भारत में यह प्रक्रिया या पद्धति कई विद्वानों के अलावा एम० एन० राय, जवाहरलाल नेहरू और आर० पी० दत्त द्वारा विकसित की गयी।

2.2. उपनिवेशवाद के सिद्धांत

आइए उपनिवेशवाद से संबंधित यूरोपीय एवं भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तुत सिद्धांतों को जाँचे।

2.2.1 यूरोपीय दृष्टिकोण

अब हम उपनिवेशवाद के संदर्भ में यूरोपीय विद्वानों के साथ ही भारतीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों का परीक्षण करेंगे।

मार्क्सवाद से बहुत अलग हॉब्सन, रीतिबद्ध ब्रिटिश लेबर पार्टी का एक विद्वान था, जिसने औपनिवेशिक साम्राज्य निर्माण का सिद्धांत प्रतिपादित किया। (उसका प्रमुख कार्य इंपीरियलिज्म (Imperialism) 1902 में प्रकाशित हुआ था। उसका विचार था कि पूंजीवाद का विस्तार या साम्राज्यवाद में परिवर्तित होना एक नियति है। उसने बताया कि पूंजीवाद प्रणाली का अर्थ है — आय का बहुत अधिक असमान वितरण। पूंजीवादियों के हाथ में लाभ का बहुत बड़ा हिस्सा पहुँच जाता है और श्रमिकों की मजदूरी बहुत कम होती है। इस प्रकार कामगारों की इतनी बड़ी संख्या में आय का स्तर बहुत कम रहता है। इसका परिणाम क्या होता है? "कम खपत" के कारण सभी औद्योगिक उत्पाद जिनका उत्पादन किया जाता है, वे देश के भीतर नहीं बेचे जा सकते, क्योंकि वहाँ, कोई खरीदार ही नहीं है। उन परिस्थितियों में पूंजीवादी क्या करें? वह कोशिश करता है कि इस अतिरिक्त उत्पाद को, जिसे देश के बाजारों में नहीं बेचा जा सकता है उसे विदेशी बाजारों में बेचा जाय। यदि सभी पूंजीवादी देश इस नीति को अपनाने लगें तो उपनिवेश के रूप में विजित बाजार तथा विजित बाजारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष होगा। इस प्रकार हॉब्सन के अनुसार औपनिवेशिक विस्तार और विभिन्न देशों के पूंजीपतियों के बीच संघर्ष पूंजीवादी प्रणाली का अवश्यंभावी परिणाम था। आगे उपरोक्त "कम खपत" की बाधा के कारण लंबे समय के लिए पूंजीपति के लिए पूँजी निवेश के अवसर सीमित हो जाते हैं। दूसरी ओर आय बढ़ती जाती है और बचत निवेश होने का इंतजार करती रहती है। यह वह है जिसे हॉब्सन ने "अतिरिक्त बचत" कहा है, जो पूंजीपति को औपनिवेशिक विस्तार के लिए उकसाती है..... उपनिवेशों की प्राप्ति से अतिरिक्त पूंजी का निवेश संभव है। संक्षेप में "कम खपत" और "अतिरिक्त बचत" के हॉब्सन के सिद्धांत यही बताते हैं कि औपनिवेशिक विस्तार या साम्राज्यवाद पूंजीवादी प्रणाली का तार्किक परिणाम है।

हॉब्सन की पुस्तक के प्रकाशन के आठ वर्ष बाद रूडोल्फ हिलफर्डिंग ने वित्तीय पूंजीवाद पर केंद्रित एक महत्वपूर्ण विश्लेषण 1910 में प्रकाशित किया। एक सामाजिक लोकतंत्रवादी, एक प्रतिभाशाली अर्थशास्त्री और कुछ समय के लिए जर्मनी के वित्त-मंत्री हिलफर्डिंग को हिटलर और नाजीवाद के उदय के साथ भागकर पेरिस में शरण लेनी पड़ी थी और जब जर्मनी सेना द्वारा पेरिस पर कब्जा कर लिया गया था तब हिलफर्डिंग को पकड़कर मार डाला गया। मध्य-यूरोपीय समाजवादी आंदोलन के इस साहसी नेता को पूँजीवाद के अंतिम दौर के गहन विश्लेषण के लिए जाना जाता है। हिलफर्डिंग ने बताया कि इसके अंतिम दौर में पूंजीवाद बड़े-बड़े बैंकों और वित्तीय संसाधनों के दबाव में रहता है जो इजारेदार औद्योगिक व्यावसायिक घरानों के साथ मिलकर काम करते हैं। वित्तीय पूँजीवाद के इस विश्लेषण को वी. आई. लेनिन ने अपनी पुस्तिका "साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की अंतिम अवस्था" (1916) में और बढ़ाया है। पूंजी के संचय और साम्राज्यवादी विस्तार की विभिन्न अवस्थाओं पर 1913 में रोजा लक्जेमबर्ग ने अपनी पुस्तक का प्रकाशन किया। यूरोपीय समाजवादी आंदोलन में उसने राजनैतिक और सैद्धांतिक स्तर पर एक विशेष छाप छोड़ी और वह नाज़ियों के शिकार होने तक इसमें अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही। जहाँ तक लेनिन का सवाल है, यहाँ यही कहा जा सकता है कि उसने साम्राज्यवाद पुस्तिका इसलिए लिखी ताकि वह विश्वयुद्ध की ओर ले जाने वाले पूंजीवादी तंत्र को बेनकाब कर सके। उसका अंतिम उद्देश्य यही था कि वह रूसी जनता को युद्ध में जाने से बचा सके जो पश्चिमी यूरोप के वित्तीय इजारेदारों के हित-संघर्ष के कारण शुरू हुआ था। वह विवादी लेखन का एक बहुत सफल हिस्सा है जिसने मार्क्सवादी इतिहास लेखन को गहरे तक प्रभावित किया।

2.2.2 भारतीय राष्ट्रवादी दृष्टि कोण

हॉब्सन हिलफर्डिंग और लेनिन द्वारा विकसित साम्राज्यवाद की इस आलोचना से अलग भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारत पर औपनिवेशिक आर्थिक प्रभाव की तीखी और प्रभावशाली आलोचना पर विद्वतापूर्ण लेखन किया। दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे और रोमेश दत्त तथा कई लोगों ने अपने लेखन द्वारा, जिन्होंने राष्ट्रवादी आर्थिक विचारधारा का विकास किया, ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत के विशिष्ट अनुभवों पर प्रकाश डालते हुए उनका विश्लेषण किया। इस विश्लेषण के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं :

i) नौरोजी और दत्त के लेखन में संपत्ति दोहन (धन की निकासी) के विचार को विकसित किया गया है। उनके लिए इसका अर्थ था—संपत्ति का स्थानांतरण : 18वीं शताब्दी से ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों द्वारा लूट खसोट तथा गैर कानूनी फायदों के रूप में तथा गृह-शुल्कों, यानी इंग्लैण्ड में भारत की सरकार का खर्च मुख्यतः भारतीय जनता से विभिन्न करों के रूप में प्राप्त धन से किया जाता था, और अंततः निजी खातों के भारत से इंग्लैंड में पूंजी स्थानांतरण, लाभ और ब्याज आदि के रूप में।

राष्ट्रवादी विचारकों ने बतलाया कि किस तरह इन विभिन्न रूपों में पूँजी या संपत्ति दोहन के कारण इस देश की दशा कमजोर हुई और भारत तथा इंग्लैंड के बीच आर्थिक अंतर में वृद्धि हुई जो संपत्ति दोहन की एक नीति थी।

ii) उन्होंने यह भी बताया कि कैसे ब्रिटिश शासन ने भारत के लघु उद्योगों को तहस-नहस किया, इस प्रक्रिया को आजकल अनौद्योगीकरण के नाम से जाना जाता है।

iii) राष्ट्रवादियों का तर्क था कि मुक्त व्यापार तथा अहस्तक्षेप के विचार ने शुल्क तथा औद्योगिक नीतियों का निर्धारण किया जिसके कारण ब्रिटिश भारत में औद्योगिक विकास की संभावनाओं का खात्मा हो गया। परिणामस्वरूप भारत औद्योगिक इंग्लैंड के लिए "कृषि भूमि" बन गया, यानी इंग्लैंड से औद्योगिक आपूर्ति पर पूर्णतया निर्भर खाद्यान्न तथा कच्चे माल का एक स्रोत।

iv) कृषि में करों की दर की आर० सी० दत्त ने खूब आलोचना की है, उनके अनुसार खासकर उन क्षेत्रों में जहाँ समय-समय पर स्थायी भूमि-व्यवस्था थी, पर भूमि-राजस्व का भार बहुत अधिक था, उनके विचार से ब्रिटिश-भारत में समय-समय पर उभरनेवाली भूखमरी का यह कारण था, ग्रामीण क्षेत्रों से राजस्व एकत्र करने वाली मशीनरी द्वारा संपत्ति का शोषण किया गया, जिसके कारण आर्थिक स्तर पर खेती में इतनी अनिश्चितता हो गयी कि किसान बरसात न होने तथा अन्य प्राकृतिक आपदाओं के कारण उभर नहीं पाता था।

v) और अंत में भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के राष्ट्रवादी विश्लेषण का प्रमुख हिस्सा सरकार की सेना, पुलिस तथा अन्य विभागों में होने वाले खर्च की आलोचना है, यह खर्च इतना अधिक था कि विकास में लगने वाले पूँजीनिवेश को नकार दिया गया। उदाहरण के लिए सिंचाई-कार्यों में इतने कम खर्च का प्रावधान था जिसे ब्रिटिश इंडिया आर्मी और रेलवे के उदार खर्च को समाने रखकर साफ-साफ समझा जा सकता है।

उपरोक्त मुद्दों पर हम बाद में विस्तार से चर्चा करेंगे। फिलहाल इस पर ध्यान दिया जाये कि इन दोनों विचारधाराओं, यूरोपीय समाजवादी साथ ही भारतीय राष्ट्रवादी की आलोचना का बहुत बड़ा हिस्सा यूरोप में वित्तीय पूँजीवाद तथा औद्योगिक पूंजीवाद की स्थिति से उपनिवेशवाद के दौर को जोड़ता है। (कृपया इकाई एक में "उपनिवेशवाद की अवस्थाएं" देखें) आगे यह भी देखा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवादी आलोचना स्वभावतः "औपचारिक साम्राज्यवाद" की चारित्रिक विशेषताओं की ओर इशारा करती है। "औपचारिक साम्राज्यवाद" यानी ब्रिटिश साम्राज्यवादी ताकत के अंतर्गत उपनिवेश में औपचारिक राजनैतिक अधीनस्थीकरण के अंतर्गत भारत में देखा गया साम्राज्यवाद। हॉब्सन हिल फर्डिंग आदि ने साम्राज्यवाद का एक सामान्य तरीके से अध्ययन किया जिसमें उन्होंने "अनौपचारिक साम्राज्यवाद" को ध्यान में रखा जिसमें उपनिवेश का राजनैतिक अधीनीकरण भले ही न हुआ हो लेकिन महानगरीय औपनिवेशिक संबंधों में आर्थिक उपनिवेशवाद की चारित्रिक विशेषताएँ दिखायी देती हैं। (उदाहरण के लिए चीन और लातीनी अमरीकी देश) और अंत में हम यह भी देख सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रवादियों, नौरोजी, रानाडे और आर० सी० दत्त द्वारा विकसित की गयी पद्धति से बिल्कुल अलग हॉब्सनकारी या लेनिनवादी पद्धति ने उपनिवेशवाद को पूंजीवादी व्यवस्था से जोड़ा हॉब्सन तथा अन्य विद्वानों के लिए औपनिवेशिक शोषण पूंजीवाद का एक प्राकृतिक तर्कपूर्ण उत्पादन था, जैसा यूरोप में दिखाई दिया। केवल इसलिए नहीं कि गलत नीतियों के कारण ऐसा हुआ। संपूर्ण रूप में भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा साम्राज्यवाद की आलोचना प्रभावित जनता के लिए तथा जन चेतना जगाने के लिए एक महत्वपूर्ण हथियार साबित हुई।

बाद में जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्रवादी प्रवक्ताओं ने मार्क्सवादी हॉब्सनवादी तथा लेनिनवादी पद्धतियों के कुछ तत्वों को अपनाकर साम्राज्यवाद को समझने की इस प्रक्रिया को और मजबूत तथा विकसित किया।

बोध प्रश्न 1

1 निम्नलिखित वाक्यों को पढ़कर सही (√) या गलत (×) का निशान लगाइये :

i) हॉब्सन के अनुसार "कम खपत" और "अधिक बचत" के कारण उपनिवेशवाद को बढ़ावा मिला।

ii) हिल्फर्डिंग तथा रोजा लक्जमबर्ग ने उपनिवेशवाद के सकारात्मक पक्षों की ओर ध्यान दिलाया।

iii) यूरोपीय सिद्धांतकार उपनिवेशवाद को पूँजीवाद की संरचना से जोड़ते हैं।

iv) प्रारंभिक राष्ट्रवादी अपने विचारों में यूरोपीय विद्वानों के अनुयायी थे।

2 उपनिवेशवाद को समझाने में प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेताओं के योगदान पर अपने विचार लिखिए। दस पंक्तियों में।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 "औपचारिक साम्राज्यवाद" तथा "अनौपचारिक साम्राज्यवाद" शब्द से आप क्या समझते हैं? लगभग सौ शब्दों में उदाहरण सहित लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.3 उपनिवेशवाद के प्रभाव

उपनिवेशवाद की विभिन्न अवस्थाओं के बारे में आप इकाई एक में पढ़ चुके हैं। लेकिन इस अवस्थाओं ने भारतीय अर्थव्यवस्था को किस तरह प्रभावित किया? औपनिवेशिक नीतियों के कारण शिल्पकार, कृषक, कामगार, व्यापारी यानी भारतीय समाज के लगभग सभी तबके प्रभावित हुए थे। इस खण्ड में हम उपनिवेशवाद के आर्थिक प्रभाव जानने का प्रयास करेंगे।

2.3.1 अनौद्योगीकरण

इस देश में पारंपरिक भारतीय उद्योगों का खात्मा उपनिवेशवाद के प्रारंभिक परिणामों में से एक था जिसे देखा और लिखा गया। यद्यपि यह बात इंग्लैंड में आधुनिक कारखानों, उद्योगों के विकास और भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों के विनाश की शुरुआत से जुड़ी हुई है। फिर भी हम 18 वीं शताब्दी से इस बात को समझना चाहेंगे, जब वाणिज्य में भारतीय उद्योगों के उत्पाद की कीमत ऊँची मानी जाती थी। व्यावसायिक पूँजीवाद के उस दौर में ईस्ट इंडिया कंपनी के लाभ का स्रोत भारतीय औद्योगिक उत्पादों का भारत में लागत मूल्य तथा इंग्लैंड में विक्रय-मूल्य का अंतर था, जैसे सूती और सिल्क वस्त्र। यह मूल्य-अंतर जिसे हम अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी का लाभ-दर कह सकते हैं, ज्यादा बढ़ाया जा सकता था यदि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा खरीदे गये उत्पाद का भारतीय लागत-मूल्य भारतीय शिल्पकारों को कम दिया जाए। जब तक भारतीय बाजारों में प्रतिस्पर्धा थी, यानी जब तक अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी दूसरी फ्रांसीसी, डच ईस्ट इंडिया कंपनियों के साथ-साथ भारतीय तथा एशियाई मूल के व्यापारियों के साथ प्रतिस्पर्धा रहेगी, भारतीय शिल्पकार अपने उत्पाद का अच्छा मूल्य प्राप्त करने की अवस्था में रहेगा। लेकिन 18 वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में अंग्रेजों ने अपने प्रमुख प्रतिस्पर्धियों, विशेषकर फ्रांसीसी और डच को धीरे-धीरे हटाना शुरू कर दिया। इसके अलावा अपनी सैनिक ताकत के चलते, और कुछ क्षेत्रों में (उदाहरण के लिए 1765 में) राजनैतिक तथा प्रशासनिक नियंत्रण के कारण बंगाल में उन्हें बाजार में एकाधिकार जमाने या इजारेदार बनने में मदद की।

इंग्लिश कंपनी तथा उसके कर्मचारियों द्वारा वैयक्तिक खरीददारी मिलाकर इतनी हो जाती थी कि वह बंगाल में अच्छी किस्म के वस्त्रों का एक बहुत बड़ा हिस्सा खरीद लेते थे। जैसा कि हम सब जानते हैं कि एक इजारेदार अपने लाभ के लिए बाजार को प्रभावित कर सकता है। 18 वीं शताब्दी के अंतिम तीन दशकों तक अंग्रेज व्यापारियों को यह लाभ था जिसके चलते इस देश के शिल्पकारों को दिया जाने वाला मूल्य उन्होंने कम कर दिया जिससे यूरोपीय बाजारों में इस माल की बिक्री का लाभ बहुत अधिक बढ़ गया। भारतीय शिल्पकारों के इस अतिरिक्त शोषण ने उनकी आय का स्तर बहुत नीचा करके हस्तशिल्प उद्योगों के प्रभुत्व अधिकार को ही कमजोर कर दिया। इसने उद्योगों में पूँजीनिवेश तथा उसके तकनीकी विकास के लिए संसाधनों को जोड़ने की संभावनाओं को ही नष्ट कर दिया। जैसा कि हम जानते हैं, कि 18 वीं शताब्दी के अंतिम तथा 19 वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में इंग्लैंड में पूँजी जमाव और एक तकनीकी क्रांति हुई थी: इस तकनीकी क्रांति ने सबसे पहले यूरोप के बाजारों से भारतीय शिल्पकारों को एकदम हटा दिया। क्योंकि नये अंग्रेजी कारखानों में बड़ी मात्रा में उत्पादनों के कारण भारतीय शिल्पकारों के लिए यह संभव नहीं था कि वे कारखाना उत्पाद से प्रतियोगिता कर सकें। 19 वीं शताब्दी की शुरूआत् से देश औद्योगिक निर्यात सूती वस्त्र आदि का निर्यात धीरे-धीरे कम होने लगा और जल्द ही बंद हो

गया। कुछ और चीजें जैसे नील, अपरिष्कृत सिल्क का निर्यात होता रहा—यद्यपि सन् 1813 से ईस्ट इंडिया कंपनी नहीं, बल्कि निजी संस्थान निर्यात का काम करने लगे थे। विदेशी कारखानों ने न सिर्फ भारतीय शिल्पकारों से निर्यात बाजार ही छीना, बल्कि घरेलू बाजारों को भी आयातित उत्पादों से भर दिया।

इस प्रक्रिया को अनौद्योगीकरण कहा गया है, क्योंकि यह औद्योगीकरण की प्रक्रिया से बिल्कुल विपरीत है।

यहाँ पर हम 19 वीं शताब्दी में भारत में अनौद्योगीकरण के प्रश्न पर हुए विवाद की ओर ध्यान देंगे। रमेशचंद्र दत्त और मदनमोहन मालवीय ने भारतीय औद्योगिक आयोग को लिखे विरोध-पत्र में अपना पक्ष साबित करने के लिए आयात के आंकड़ों का उपयोग किया था। उन्होंने दर्शाया, उदाहरण के लिए, कि सन् 1860 में आयातित मैनचेस्टर कपड़ों का मूल्य 96 लाख स्टर्लिंग था जो सन् 1900 में बढ़कर 27 करोड़ स्टर्लिंग हो गया। हाल ही में कुछ लेखकों, विशेषकर मौरिस डेविड मॉरिस, ने तर्क दिया कि यह प्रमाण निर्णायक नहीं है। उन्होंने बताया कि "पैक्स ब्रिटेनिका" के अंतर्गत जनसंख्या बढ़ गयी थी, प्रति व्यक्ति आय बढ़ गयी थी, खपत की आदतों में परिवर्तन के कारण वस्त्रों की बिक्री बढ़ गयी थी और इसलिए भारतीयों के लिए यह संभव था कि देशी शिल्पकारों के लिए बाजारों को अप्रभावित छोड़कर वे विदेशी वस्त्र खरीद सकें। संक्षेप में मॉरिस का तर्क यह है कि बाजारों की क्षमता इतनी बढ़ गयी थी कि वे मैनचेस्टर तथा भारतीय करघा उत्पादों, दोनों को शामिल कर सकें। मॉरिस इसी बात पर कायम है कि मैनचेस्टर वस्त्रों ने देशी बुनकरों के वस्त्रों को हटाया नहीं था। मॉरिस का यह विचार स्वीकार योग्य नहीं है, क्योंकि उसने 19वीं शताब्दी में जनसंख्या तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि का कोई तथ्य प्रस्तुत नहीं किया है। अनौद्योगीकरण की धारणा को बल देने वाले बहुत सारे तथ्यों को आधुनिक आर्थिक इतिहासकारों, जैसे शरद राजू (मद्रास), एन.के. सिन्हा (बंगाल), ए.वी. रामन राव (आंध्र प्रदेश), आर.डी. चौकसे (महाराष्ट्र) और ए.के. बाग्ची (बिहार) आदि, ने प्रस्तुत किया है। प्रारंभिक राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों के पास आधुनिक आर्थिक इतिहासकारों द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले स्रोतों का भंडार तथा शोध-पद्धतियाँ नहीं थी, फिर भी अनौद्योगीकरण के उनके निष्कर्ष को बाद के शोध- कर्त्ताओं ने पुष्ट किया। बाग्ची के अनुमान के अनुसार दोआब (मध्यगंगा क्षेत्र) में औद्योगिक पतन को कुछ विशुद्धता के साथ नापा जा सकता है: उद्योगों पर आश्रित व्यक्तियों की संख्या 1809-13 से जनगणना वर्ष सन् 1901 तक घटकर आधी रह गयी थी।

यह सिद्ध हो चुका है कि 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक तक अनौद्योगीकरण की प्रक्रिया लगातार चल रही थी। क्या 19वीं शताब्दी के आखिरी दशक में नयी औद्योगिक गतिविधियों ने सामंजस्य बनाये रखा? डेनियल थॉर्नर ने एक विवादास्पद धारणा प्रस्तुत की कि सन् 1881 के बाद से उपलब्ध जनगणना के आँकड़े यह नहीं बताते हैं कि सन् 1881 से सन् 1931 तक अनौद्योगीकरण प्रगति पर था — पहली दृष्टि में जनगणना के आँकड़े यह दर्शाते हैं कि कृषि में पुरुष कार्य शक्ति 1881 के 65 प्रतिशत की तुलना में बढ़कर 1931 में 72 प्रतिशत हो गयी, जबकि सन् 1881 में औद्योगिक पतन का अनुपात 16 प्रतिशत से 1931 में 9 प्रतिशत रहा। लेकिन थॉर्नर का मानना है कि यह श्रेणीकरण भ्रांतिपूर्ण था और कृषि कार्य शक्ति को दूसरी श्रेणियों, सामान्य श्रमिक और इसी तरह के अन्य श्रमिकों से मिला देने पर व्यापार के साथ औद्योगिक कार्यशक्ति में वृद्धि होती है। यदि इसे मान लिया जाय तो पूरा दृश्य बदला हुआ दिखायी देता है। प्राथमिक क्षेत्र में संयोजित श्रेणियों की वृद्धि बहुत कम दिखायी देती है। (1881 और 1931 में 2 प्रतिशत वृद्धि) इसी तरह उद्योग तथा व्यवसाय दोनों को मिलाकर गिरावट भी बहुत कम है (1881-1931 में केवल 3 प्रतिशत गिरावट)। आगे थॉर्नर महिला श्रम-शक्ति से संबंधित आँकड़ों को भी इस आधार पर गलत बताते हैं कि जनगणना अधिकारियों के विचार में जो आँकड़े एकत्रित किए गए वे सही नहीं थे, और इस प्रकार थॉर्नर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 1881-1931 की जनगणना अनौद्योगीकरण का कोई समुचित आधार प्रस्तुत नहीं करती है।

थॉर्नर की धारणा के विरोध में एक सर्वविदित तथ्य यह है कि अनौद्योगीकरण की प्रक्रिया ने जनगणना के कार्य के पहले ही बहुत नुकसान कर दिया था। पहली विश्वसनीय जनगणना 1881 की मानी जाती है। इतना तो थॉर्नर स्वयं ही मानते हैं दूसरी यह कि महिलाओं के रोजगार से संबंधित आँकड़ों को नकारने में वे शायद गलत हैं। यह आँकड़े दर्शाते हैं कि 1881-1931 के दौरान कृषि में रोजगार 13 प्रतिशत बढ़ा, वहीं औद्योगिक रोजगार में 9 प्रतिशत की गिरावट आयी। भारतीय सामाजिक संदर्भ में महिलाओं का रोजगार बहुत महत्वपूर्ण है और यह शायद इस कारण हुआ कि शिल्पकारी के व्यापार में पतन होने के कारण घरेलू महिलाओं ने शिल्पकार परिवारों के पुरुषों से पहले ही औद्योगिक कार्य छोड़ दिया — (घरेलू कामकाज या कृषि श्रम के लिए)। इसके ऊपर सवाल यह है कि कार्यशक्ति के क्षेत्रीय-वितरण को औद्योगिकरण का कितना विश्वसनीय सूचक माना जाए? निर्णायक सूचक प्रति व्यक्ति उत्पादकता और राष्ट्रीय उत्पाद की तुलना में उसका मूल्य है, यानी राष्ट्रीय आय का अनुपात। थॉर्नर के दिये गए तर्कों के प्रति जयकृष्ण मूर्ति इसी धरातल पर जनसांख्यिकीय आंकड़ों के उपयोग पर शंका करते हुए उस प्रश्न का जवाब देते हैं कि क्या अनौद्योगीकरण था? और अंत में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि एक महत्वपूर्ण विचारधारा साम्राज्यवादी समर्थकों की थी जो यह तो मानते थे कि भारत का अनौद्योगीकरण हुआ है लेकिन साथ ही इस बात का भी तर्क देते हैं कि कृषिगत वस्तुओं के उत्पादन में उपनिवेश ने विशेषता हासिल कर ली इसलिए यह भारत और इंग्लैंड दोनों के लिए अच्छा था। जैसा कि 1911 में लॉर्ड जॉन मेनार्ड किन्स ने लिखा है कि भारत का औद्योगिकरण न तो संभव था न ही आवश्यक। वास्तव में भारत कृषि उत्पादों का पश्चिम से आयातित औद्योगिक वस्तुओं के साथ आदान-प्रदान कर ज्यादा समृद्धि हासिल कर सकता था। यह विचार तुलनात्मक लाभ और श्रम के अंतर्राष्ट्रीय विभाजन के पारंपरिक सिद्धांत की ओर ले जाता है और औद्योगीकृत साम्राज्यवादी देश के लिए भारत जैसे उपनिवेशों को कृषि-भूमि बनाने में मदद करता है। राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि उन्होंने इस विचार को परास्त किया और स्वतंत्रता संग्राम के राजनैतिक कार्यक्रम में भारतीय औद्योगीकरण के आर्थिक कार्यक्रम को स्थापित किया।

2.3.2 औपनिवेशिक भारत में अकाल

यदि उपनिवेशवाद का अर्थ है पुराने उद्योगों का विनाश, तो क्या इसे कृषिगत उत्पादन में वृद्धि मानें? इसका उत्तर संभवतः नकारात्मक ही निकले। जब हम 1898 से 1947 तक की अनाज के प्रति व्यक्ति और प्रति एकड़ उत्पादकता को देखते हैं तो निश्चित रूप से इसका उत्तर नकारात्मक होता है। जहाँ तक प्रारंभिक पचास वर्षों की बात है बार-बार पड़ने वाले अकाल-भुखमरी अपनी कहानी स्वयं कहते हैं:

19वीं शताब्दी के मध्य से पड़ने वाले कई अकालों ने भारत की अवस्था दयनीय बना दी। निम्नलिखित आँकड़ों में हमने विभिन्न अकालों को दर्शाया, जिसे अंग्रेजी सरकार ने भी स्वीकार किया —

भारतीय उपनिवेश में अकाल

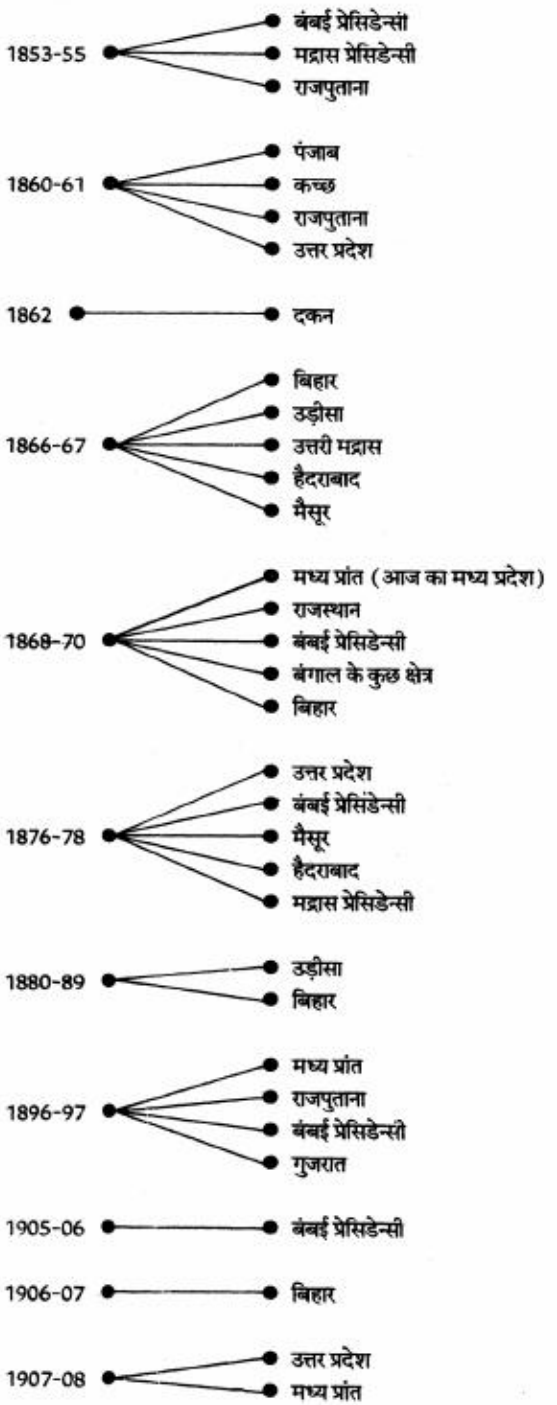

इन आंकड़ों में कुछ देशी राज्यों का समावेश किया गया है और उन क्षेत्रों के नामकरण में हुए विभिन्न बदलावों के कारण कुछ जगह (यानी उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश) वर्तमान राज्यों के नाम का उल्लेख किया गया है। एक आधिकारिक अनुमान के अनुसार इन अकालों में एक करोड़ 52 लाख व्यक्तियों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा और 29.7 करोड़ लोग इन विभिन्न अकालों से प्रभावित रहे।

यह बड़ी संख्या इस बात का द्योतक है कि लगातार संकट की अवस्था बनी रही। निश्चित रूप से इसका तात्कालिक कारण सूखा और फसल की बर्बादी रहा लेकिन इसकी जड़े वहाँ हैं जिसे खेतिहर उत्पादन की "सामान्य दर" कहा जाता है। कृषि तकनीक में स्थिरता, प्रति एकड़ पैदावार बढ़ाने में निवेश की असफलता, राजस्व दलालों द्वारा कृषि योग्य स्रोतों का दोहन और महाजन तथा कृषि वस्तुओं के व्यापारी भी बहुत महत्वपूर्ण पहलू थे। सिंचाई एवं अन्य विकासशील निवेशों में सरकार का अत्यल्प निवेश और 1920 के बाद से जनसंख्या में तीव्र वृद्धि भी औपनिवेशिक कृषक "नियमितत" बनाने में जिम्मेदार रही है। खाद्यान्न आपूर्ति के मामले में सामान्य अवस्था का एक महत्वपूर्ण सूचक भारत में खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धिता है। इस संबंध में 1901 से 1943 तक की अवधि के तीन आकलन हमारे पास उपलब्ध है। ब्रिटिश भारत के लिए इन वर्षों में जॉर्ज ब्लिन के अनुमान या आकलन के अनुसार प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता 0.23 टन से घटकर 0.16 टन रह गयी। शिव-सुब्रमन्यन के अनुमान के अनुसार संपूर्ण अविभाजित भारत में यह गिरावट 0.2 टन से 0.14 तक हुई। एलेन हेस्टन के अनुसार यह गिरावट 0.17 टन (1901) से 0.16 टन (1946) रही। इस प्रकार ये सारे आकलन यह दर्शाते हैं कि खाद्यान्न आपूर्ति में ब्रिटिश शासन के पचास वर्षों में गिरावट आयी, हालांकि ये आँकड़े एक दूसरे से अलग-अलग हैं।

2.3.3 कृषि का व्यावसायीकरण

जैसा कि हम देख चुके है कि खाद्यान्न उत्पादन में कोई सुधार नहीं हुआ लेकिन यह बात कुछ तथाकथित "नकद फसलों" के लिए सही नहीं थी। गैर खाद्य फसलों का कुल और प्रति व्यक्ति उत्पादन दोनों ही बढ़े और यह मुख्यतः मांग में बढ़ोतरी तथा बाहरी एवं घरेलू बाजारों में कीमतें बढ़ने के कारण हुआ। इस प्रकार की सबसे अधिक नाटकीय बढ़ोतरी 1860 के आरंभिक वर्षों में कपास की उछाल में देखी जा सकती है जो हमारा विशेष ध्यान खींचती है।

अब्राहम लिंकन द्वारा काले दासों की मुक्ति और अमेरिका में लगातार गृह-युद्ध के कारण 1860-64 के दौरान कपास की विश्व आपूर्ति में गंभीर गिरावट आयी। इसके कारण भारत से निर्यातित कपास के मूल्यों में वृद्धि हुई और भारत में कपास की खेती बढ़ी। कपास के इस उछाल ने कपास उगाने वाले क्षेत्र के भारतीय कृषकों को विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के क्षेत्र में ला दिया। कपास की उस उछाल के कारण बंबई के महत्वपूर्ण निर्यात घरानों, बड़े शहरों के थोक-व्यापारियों, कपास निर्यात व्यापार के दलालों तथा अन्य व्यक्तियों से लेकर गाँव के महाजन, जो कृषक को कपास की खेती के लिए अग्रिम धन भी दे देता था, गाँव के महाजन के स्तर तक सभी लोगों ने भरपूर लाभ उठाया। इस लाभ के साथ ही पहले से ही अन्य व्यावसायिक फसलों जैसे अफीम और नील, के लाभ के कारण सारी पूंजी चंद भारतीय व्यापारियों के हाथों में सिमट कर रह गयी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कपास के इस उछाल ने भारत को औद्योगीकृत पश्चिम की कृषिगत वस्तुओं तथा कच्चे माल की जरूरतों के आपूर्तिकर्ता का स्थान दे दिया। इससे अनौद्योगीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला। कृषि में उपनिवेश द्वारा विशिष्टीकरण की भूमिका तथा पश्चिम में औद्योगीकृत देश इन्हें श्रम के अंतर्राष्ट्रीय विभाजन के समकालीन सिद्धांत में साफ-साफ दर्शाया गया है। यह सिर्फ भारत और इंग्लैंड में ही नहीं पाया गया बल्कि औद्योगिक पूंजीवादी साम्राज्यवाद की अवस्था में अन्य उपनिवेशों तथा महानगरीय क्षेत्रों में भी पाया गया।

कृषि उत्पादन के आँकड़े जहाँ गैर खाद्य-उत्पाद में वृद्धि दिखाते हैं वहीं खाद्यान्न उत्पादन में एकदम विपरीत स्थिति दिखाई पड़ती है। जहाँ 1891 से 1947 के बीच जनसंख्या में प्रति वर्ष 0.67 प्रतिशत की वृद्धि दिखाई देती हैं। वहीं कुल खाद्यान्न उत्पादन केवल 0.11 प्रतिशत बढ़ा दिखाई देता है; इस अवधि में प्रति एकड़ प्रतिवर्ष खाद्यान्न उत्पादन में 0.18 प्रतिशत की गिरावट भी दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर बाजार में बढ़ती हुई माँग तथा बढ़ती हुई कीमतों के कारण उच्च व्यवसायिक गैर खाद्य फसलों के उत्पादन में 0.86 प्रतिशत प्रतिवर्ष और उनके कुल उत्पाद में 1.31 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि दिखाई पड़ती है। गैर खाद्य फसलों में प्राथमिक तौर पर कपास और जूट हैं लेकिन साथ ही तम्बाकू, गन्ना, तिलहन आदि शामिल हैं।

2.3.4 व्यावसायीकरण का ग्रामीण समाज पर प्रभाव

कृषि के व्यावसायीकरण ने व्यापारिक पूंजी और सूदखोरी को जन्म दिया और ग्रामीण समाज में कृषकों के बीच के अंतर को और अधिक बढ़ाया। सामान्य किसान की उधार के लिए महाजन पर निर्भरता बढ़ गयी थी। यह धन उसे फसलों की खरीदारी मंदी के मौसम में जीविकोपार्जन के लिए कर्ज के रूप में लेना पड़ा जैसे-जैसे व्यावसायीकरण बढ़ता गया भूराजस्व के भुगतान के लिए भी देनदार-व्यापारी नकद आपूर्ति करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे और महाजन आयातित औद्योगिक उपभोक्ता वस्तुओं, विशेष रूप से मैनचेस्टर वस्त्रों का ग्रामीण बाजारों में एक प्रमुख एजेंट बनकर उभरा।

जब गरीब खेतिहर बाजार के लिए फसलें उगा रहे थे वस्तुतः उस समय वे देनदार या महाजन के हाथों गिरवी हो चुके थे, खेतिहरों का थोड़ा संपन्न वर्ग तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र था। ये लोग अपने सामानों का भंडारण कर सकते थे और कटाई के बाद भरे हुए बाजार में बेहतर कीमतों का इंतजार भी कर सकते थे। ये लोग अपनी उपज को बाजार तक ले जाकर महाजन और दलालों द्वारा गाँव में दी जाने वाली कीमत से ज्यादा कीमत पर बेच सकते थे। इसके अलावा वे इस बात का भी निर्णय कर सकते थे कि कौन सी फसल उगाई जाये जबकि गरीब खेतिहर वही फसल उगाने पर मजबूर था जो महाजन चाहता था। कुछ क्षेत्रों में ये संपन्न किसान स्वयं ही गरीब किसानों के महाजन बन बैठे। और इस प्रकार विभेदीकरण या विशिष्टीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो गयी।

विशिष्टीकरण की इस प्रक्रिया और पैसों के लेन-देन के इस व्यापार के चलते बड़ी संख्या में खेतीहरों की जमीन छिन गयी और "गैर कृषिकरण" की प्रक्रिया के कारण वे भूमिहीन श्रमिकों में परिवर्तत हो गये। यहाँ इस बात पर जरूर ध्यान दिया जाये कि औपनिवेशिक अवधि के पहले भी भूमिहीन श्रमिक अस्तित्व में थे (विशेषकर दक्षिण भारत में कुछ जातियों के लोग बड़ी संख्या में दास थे)। गैर कृषिकरण की इस आर्थिक प्रक्रिया और भूमिहीन श्रमिकों की यह बड़ी संख्या औपनिवेशिक काल की एक प्रमुख विशेषता के रूप में उभर कर सामने आयी।

1931 की जनगणना से ग्रामीणों की सामाजिक दशा का जो चित्र सामने आता है, इस पिरामिड में सबसे नीचे भूमिहीन कृषि श्रमिक (बंधुआ श्रमिकों को मिलाकर) हैं, जो खेतिहरों का 37.8 प्रतिशत हैं। इसके ऊपर 5 एकड़ से भी कम जमीन वाले छोटे किसान (9 प्रतिशत) तथा पट्टेदारों और बटाईदार (24.3 प्रतिशत) हैं। दूसरी ऊपरी सतह पर थोड़ी बेहतर स्थिति वाले किसान हैं जिनके पास 5 एकड़ से अधिक जमीन है। ये कुल 25-30 प्रतिशत हैं और इस पिरामिड के सबसे ऊपरी हिस्से में वे लोग हैं जो खुद खेती नहीं करते हैं लेकिन लगान या किराया वसूल करते हैं। ये कुल खेतिहरों का मात्र 3.6 प्रतिशत हैं। सबसे बुरी हालत बंधुआ मजदूर की थी। इसे नीचे दिये गये त्रिभुजाकार आरेख से भी समझा जा सकता है।

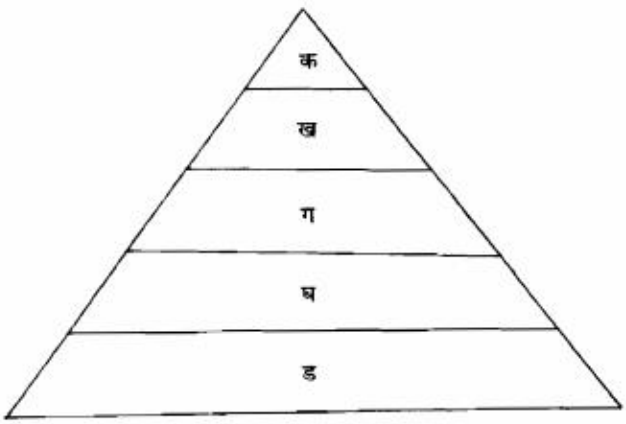

क	-	संपन्न किसान	-	3.6 प्रतिशत
ख	-	बेहतर किसान	-	25.3 प्रतिशत
ग	-	छोटे किसान	-	9 प्रतिशत
घ	-	बटाईदार	-	24.3 प्रतिशत
ड	-	भूमिहीन किसान	-	37.8 प्रतिशत

1931 की गणना के अनुसार उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार प्राप्त दृश्य।

सबसे बुरी हालत बंधुआ मजदूर की थी जो अपने मालिक के लिए जीवन भर और कभी-कभी पीढ़ी-दर-पीढ़ी काम करता रहता था। इस वर्ग की स्थिति में सुधार के प्रयास तथा पट्टेदारी के विषय में (इकाई-29, खंड 5) बाद में चर्चा की जाएगी।

बोध प्रश्न 2

1 मॉरिस डी. मॉरिस और डेनियल थॉर्नर किस आधार पर अनौद्योगीकरण की धारणा से इंकार करते हैं? क्या आप उनक विचारों से सहमत हैं?

2 निम्नलिखित वाक्यों को पढ़कर सही (√) या गलत (×) का निशान लगाइए:
   i) जे. कृष्णमूर्ति का विचार है कि जनसांख्यिकी आँकड़े अनौद्योगीकरण के प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं।
   ii) आर.सी. दत्त का विचार है कि भारत में अनौद्योगीकरण नहीं था।
   iii) 19वीं शताब्दी में लगातार पड़े अकालों को खाद्य-फसलों के कम उत्पादन द्वारा नहीं समझाया जा सकता है।
   iv) कृषि के व्यावसायीकरण का अर्थ है नकद फसलों की खेती में अचानक वृद्धि।

3 निम्नलिखित शब्दों को पाँच पंक्तियों में समझाइए।
   क) कपास-उछाल

.....

.....

.....

.....

.....

ख) श्रम का अंतर्राष्ट्रीय विभाजन

.....

.....

.....

.....

.....

2.4 आधुनिक उद्योग और भारतीय पूंजीपति वर्ग

औपनिवेशिक राज्य के औद्योगिक पूंजीवादी साम्राज्यवाद के रूप ने प्राकृतिक स्रोतों और कच्चे माल के शोषण के लिए इस उपनिवेश में एक आर्थिक कार्यक्रम का ढाँचा भी शामिल कर लिया, उस पहलू पर हम शीघ्र ही चर्चा करेंगे। फिलहाल यही बताना पर्याप्त होगा कि इन संरचनात्मक विकास, विशेषकर रेलवे और यातायात प्रणाली ने, न केवल कुछ क्षेत्रों (उदाहरण के लिए जूट कारखानों, कोयला खदानों, चाय-कॉफी बागानों) में विदेशी पूंजी के विकास के लिए बल्कि देशी पूंजी के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। ब्रिटिश भारतीय सरकार का प्रतिकूल शुल्क दर नीतियों तथा मैनचेस्टर वस्त्रों से प्रतिस्पर्धा के बाद भी देशी पूंजी का सबसे पहला औद्योगिक निवेश वस्त्रोद्योग में किया गया। 1854 में बंबई में पहली भारतीय कपड़ा मिल की स्थापना से लेकर प्रथम विश्व युद्ध तक भारतीय औद्योगिक पूंजी की प्रगति धीमी और स्थिर रही। वह युद्ध और युद्ध के बीच का समय था जिसने भारतीय पूंजी की औद्योगिक विवधिता के तीव्र विकास को देखा। यह विकास विदेशी पूंजीवादी प्रधानता से संघर्ष का एक हिस्सा था (स्पष्टतया पूर्वी भारत में)। इस विकास ने असंवेदनशील ब्रिटिश भारतीय सरकार तथा अंग्रेजी सरकार की नीतियों को प्रभावित करने वाली अंग्रेजी व्यापारिक रूचियों के खिलाफ संघर्ष को भी शामिल कर लिया। इससे हम भारतीय पूंजीपति वर्ग तथा उन राष्ट्रवादी नेताओं के बीच हुए गठबंधन को समझ सकते हैं जो देशी पूंजी के समर्थक थे।

एक औपनिवेशिक संदर्भ में राष्ट्रीय पूंजी का विकास स्वाभाविक रूप से सीमित रहा। औपनिवेशिक औद्योगिक विकास के मार्ग बहुत ही कम थे। राष्ट्रीय आय के बारे में शिव सुब्रमण्यन् द्वारा किये अनुमान से ही पता चल जाता है कि अंग्रेजी राज के अंतिम 50 वर्षों में भी औद्योगिक विकास की दर बहुत कम थी। एक औसत के आधार पर कुल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुपात में औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा 1900-1904 में 12.7 प्रतिशत, 1915-19 में 16.7 प्रतिशत, और 1940-44 में 16.7 प्रतिशत था। यानी भारत वहीं रहा जहाँ वह था, कृषि प्रधान।

यह स्पष्ट है कि कुल राष्ट्रीय उत्पाद में प्राथमिक क्षेत्रों द्वारा अर्जित आय का अनुपात 1900-04 में 63.6 प्रतिशत, 1915-19 में 59.6 प्रतिशत और 1940-44 में 47.6 प्रतिशत था। केवल तृतीय क्षेत्र में तीव्र वृद्धि दिखाई पड़ती है; 1900-04 में 23.7 प्रतिशत की तुलना में 1940-44 में 35.4 प्रतिशत की वृद्धि।

दूसरे कई औपनिवेशिक तथा औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए देशों के समान ही भारत की राष्ट्रीय आय का स्तर स्थिर ही दिखाई देता है। प्रारंभिक अंग्रेजी राज के समय में राष्ट्रीय आय का कोई सूचक उपलब्ध नहीं है। दादाभाई नौरोजी के आकलन के अनुसार 1860 में भारत में प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति आय मात्र 20 रुपये थी। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार दादाभाई नौरोजी तथा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने भारत की इस दरिद्र अवस्था के लिए पूंजी दोहन को एक कारण माना था। इस काल में, राष्ट्रतया 1870 में, (मिशेल और डीन के आकलन के अनुसार) इंग्लैंड में प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति आय 24 डॉलर 4 स्टर्लिंग थी, (भारतीय रुपयों में 568 रुपये)।

शिव सुब्रमण्यन् द्वारा हाल ही में किये गये आकलन के अनुसार अंग्रेजी राज के अंतिम 50 वर्षों में प्रति व्यक्ति आय लगभग स्थिर ही रही। यह 1900-04 में 52.2 रुपये, 1915-19 में 57.3 रुपये और (1938-39 की वे स्थिर मूल्य पर) 1940-44 में 56.6 रुपये थी। इससे हमें उस अल्प विकास और स्थिरता का आभास मिलता है जिससे औपनिवेशिक भारत पीड़ित था।

2.5 औपनिवेशिक शासन

उपनिवेशवाद के राजनैतिक प्रभाव और स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान उपनिवेशवाद के विरोध का विषय इस अध्ययन में बाद में (खंड 2, 4 और 5 में) देखा जाएगा। यहाँ हम केवल औपनिवेशिक प्रक्रिया के कुछ राजनैतिक पहलुओं पर चर्चा करेंगे। औपनिवेशिक राज्य का आविष्कार इसलिए नहीं किया गया था कि अंग्रेजी साम्राज्यवादी हितों के अनुसार वह भारतीय अर्थ-व्यवस्था को एक आकार दे बल्कि उस उद्देश्य को प्राप्त करने का यह एक प्रमुख हथियार था। 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के शुरुआत में अंग्रेज शासकों द्वारा प्रति व्यक्ति राजनीतिक विचारधारा को "अहस्तक्षेप" और पुलिस राज के रूप में जाना जाता है। लेकिन अहस्तक्षेप से विचलन बार-बार और मौलिक रूप से होता रहा। जहाँ तक भारत जैसे उपनिवेश का संबंध है इस सिद्धांत के अनुसार पश्चिमी प्रभाव के लिए देश में "सभ्यता मिशन" चलाने के लिए बार-बार कार्यशील हस्तक्षेप की जरूरत थी। इस प्रकार उदाहरण के लिए भारतीय रेलवे में निजी अंग्रेजी पूंजी को भारी सरकारी मदद

इस गारंटी के साथ थी कि इसमें नफा-नुकसान के बावजूद उनके हितों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। स्पष्ट रूप से यह अंग्रेजी व्यापारिक हितों के लिए लाभकारी था। दूसरी ओर, अहस्तक्षेप को शुल्क दर नीतियों के घेरे में ही लागू किया गया : उदाहरण के लिए आयातित मैनचेस्टर वस्त्रों पर किसी भी तरह के शुल्क भार से इंकार अंग्रेजी हितों के लिए अच्छा और भारतीय मिल मालिकों के लिए बुरा था। दुबारा 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में भुखमरी के दौरान सरकार द्वारा किसी भी तरह के हस्तक्षेप को हटाकर खाद्यान्न व्यापार में अहस्तक्षेप की नीति अपनायी गयी (खाद्यान्नों के निर्यात में भी)।

इंग्लैंड के राजनैतिक ढाँचे ने इस बात का विशेष ध्यान रखा कि वह संसद, भारतीय राज्य के सचिव जो ब्रिटिश कैबिनेट का सदस्य था, गवर्नर जनरल तथा भारत में उच्च प्रशासन द्वारा भारत में योजना निर्माण को महत्वपूर्ण व्यापारिक हितों के जरिये प्रभावित कर सकें। प्रथम विश्व युद्ध तक यह प्रभाव एकदम स्पष्ट था: तथापि, बाद में ब्रिटिश भारतीय सरकार को घरेलू दबावों तथा भारतीय आवश्यकताओं के चलते कुछ समझौते करने पड़े और उनकी नीतियाँ थोड़ी उदार हुई। भारत पर शासन कायम रखने की व्यवहारिकता तथा सरकार की वित्तीय सुदृढ़ता के कारण उन्हें भारतीय पूंजीपतियों, अन्य महत्वपूर्ण हितों तथा राष्ट्रवादी दबाव के चलते कुछ समझौते करने पड़े, ये कुछ पहलू थे जिसके कारण 1920 के बाद अंग्रेजी नीतियों में उदारता आई। इन उपलब्धियों या विशेषताओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि 19वीं शताब्दी के मध्य से 1947 तक औपनिवेशिक शासन भारत के औपनिवेशिकरण का एक औजार था, न कि भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज के आधुनिकीकरण का एक ज़रिया।

बोध प्रश्न 3

1 आप भारतीय पूंजीपति वर्ग और राष्ट्रवादी नेतृत्व के बीच गठबंधन को कैसे व्याख्यायित करेंगे? 50 शब्दों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 नीचे दी गयी पंक्तियों में औपनिवेशिक शासन की प्रकृति बताएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.6 सारांश

औपनिवेशिक शासन तथा उपनिवेश पर उसके प्रभावों को विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग तरीके से व्याख्यायित किया गया है। भारतीय राष्ट्रवादी विद्वानों — दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे और आर.सी. दत्त आदि ने, मुख्यतः भारतीय संदर्भ में तथा भारतीय अर्थव्यवस्था पर अंग्रेजी राज के प्रभाव की चर्चा को ही अपने विश्लेषण के केंद्र में रखा है। उन्होंने संपत्ति-दोहन तथा अनौद्योगीकरण को अंग्रेजी राज के दुष्प्रभावों के रूप में व्याख्यायित किया। दूसरी ओर यूरोपीय विद्वानों ने उपनिवेशवाद का सामान्य सर्वेक्षण किया तथा पूंजीवाद की संरचना से उसे संघटित करके देखा। हॉब्सन, हिल फर्डिंग रोजा-लक्जेमबर्ग तथा लेनिन आदि विद्वानों ने उपनिवेशवाद को समझने में हमारी दृष्टि काफी विकसित की है।

भारत में उपनिवेशवाद के अन्य पहलुओं में कृषि का व्यावसायीकरण तथा औद्योगीकरण की प्रक्रिया की धीमी तथा असंतुलित गति प्रमुख थी। उपनिवेशवाद की आवश्यकताओं की ओर ही भारतीय अर्थ-व्यवस्था बढ़ी और औपनिवेशिक शासन ने साम्राज्यवादी हितों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को गढ़ने में एक प्रमुख भूमिका निभाई। भारतीय व्यापारिक हितों के प्रति पक्षपातपूर्ण अंग्रेजी नीतियों के कारण ही औपनिवेशिक शासन और भारतीय व्यापारिक समूहों के बीच संघर्ष की स्थिति बनी जिसके परिणामस्वरूप भारतीय पूंजीपति वर्ग भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गया।

2.7 शब्दावली

गैर-कृषिकरण: थोड़ी सी जमीन रखने वाले कृषकों के जमीन छीनने की प्रक्रिया, जिसके कारण वे बाद में कृषि-श्रमिक हो गये।

विशिष्टीकरण या विभेदीकरण: खेतीहरों को कई वर्गों में बाँट देना जिसके परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट तबके उसी वर्ग के बल पर संपन्न होते जाते हैं।

जन-सांख्यिकीय आँकड़े: जनसंख्या से संबंधित आँकड़े।

साम्राज्यवादी समर्थक: साम्राज्यवाद के प्रति नम्र दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान वे साम्राज्यवाद के शोषक पहलुओं पर परदा डालते हुए भारत की आर्थिक अवनति के प्रति किसी भी जिम्मेदारी से उसे मुक्त करते हैं।

'अहस्तक्षेप' व पुलिस राज: देश की आर्थिक प्रक्रिया में किसी भी तरह से हस्तक्षेप न करने की नीति और पुलिस राज मुहावरे का अर्थ है कि देश में कानून-व्यवस्था बनाये रखना शासन का काम है। इस प्रकार सरकार तमाम जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाती है।

कुल राष्ट्रीय उत्पाद (नेट डोमेस्टिक प्रोडक्ट): उद्योगों, कृषि और सेवा क्षेत्रों का मिलाजुला राष्ट्रीय उत्पाद।

प्रति-व्यक्ति आय: कुल राष्ट्रीय आय जिसे जनसंख्या से विभाजित किया जाए।

प्रति व्यक्ति उत्पादन: उत्पादन की दर जिसे बाद में कुल जनसंख्या से विभाजित किया जाए।

प्राथमिक क्षेत्र: कृषि, मत्स्य-पालन, पशुपालन और वन-उत्पाद।

उत्पादकता: उत्पादन-क्षमता।

बटाईदार: खेतीहरों का एक वर्ग जो दूसरों की जमीन पर खेती करता है या उस जमीन की देखभाल करता है तथा बदले में फसल में से हिस्सा प्राप्त करता है।

पट्टेदार: पुराने खेतीहर मालिकों का एक वर्ग जो अब नये बने हुए जमींदारों का किरायेदार हो गया है। ये जमींदार उस खेतीहर को किराया न चुकाने पर अपनी मर्जी से निकाल सकता है।

द्वितीय क्षेत्र: व्यापार और यातायात को मिलाकर सेवा-क्षेत्र।

महाजन: रुपए-पैसे देने वाला एक ग्रामीण वर्ग जो कभी-कभी खेतीहर और बाजार के बीच दलाली का काम भी करता है।

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ×

2 उपभाग 2.2.2 देखें।

3 उपभाग 2.2.2 से पता लगायें।

बोध प्रश्न 2

1 उपभाग 2.3.1 ध्यानपूर्वक पढ़ें और अपनी भाषा में उत्तर लिखें।

2 i) × ii) × iii) × iv) ✓

3 कृपया उपभाग 2.3.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

1 भाग 2.4 से पता लगायें।

2 भाग 2.5 पढ़ें और उत्तर लिखें।

इकाई 3 उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय चेतना का उद्भव और विकास

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 भारतीय अर्थव्यवस्था का विनाश
  3.2.1 कृषि
  3.2.2 उद्योग
3.3 राष्ट्रीय चेतना के उद्भव के कारण
  3.3.1 प्रशासन का संगठित स्वरूप
  3.3.2 संचार व्यवस्था
  3.3.3 छापाखाना
  3.3.4 नवीन शिक्षा-प्रणाली
  3.3.5 अंग्रेजों की विस्तारवादी नीति
  3.3.6 बौद्धिक जागरण
  3.3.7 रंगभेद-नीति
3.4 भारतीय प्रतिक्रिया
  3.4.1 किसान और जनजातीय आन्दोलन
  3.4.2 मध्यम वर्गीय चेतना
3.5 सारांश
3.6 शब्दावली
3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- यह जान पाएँगे कि औपनिवेशिक शासन ने भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों को किस प्रकार प्रभावित किया।
- यह बता सकेंगे कि राष्ट्रीय चेतना के विकास में किन महत्वपूर्ण कारकों ने योगदान दिया।
- यह व्याख्या कर सकेंगे कि किस प्रकार भारतीय जनता और मध्यम वर्ग ने औपनिवेशिक चुनौती का उत्तर दिया और किस प्रकार से राष्ट्रीय चेतना ने एक संगठित रूप ग्रहण किया।

3.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई-1 और इकाई-2 में आपने उस प्रक्रिया का अध्ययन किया जिसके द्वारा भारत का एक अंग्रेजी उपनिवेश के रूप में शोषण हो रहा था। आपने यह भी अध्ययन किया कि किस प्रकार से औपनिवेशिक प्रक्रिया ने भारत की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों को प्रभावित किया। इस इकाई में हम यह देखेंगे कि किस प्रकार अंग्रेजी नीतियों के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी में भारत में राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। हम इस बात पर अधिक बल देंगे कि राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए कौन-से तत्व उत्तरदायी हैं और हमारे अध्ययन काल में इस चेतना ने क्या रूप लिया।

19वीं शताब्दी में राष्ट्रीय चेतना का उद्भव वस्तुतः अंग्रेजी शासन का परिणाम था अंग्रेजी शासन ने जो परिवर्तन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में किये थे उसके परिणामस्वरूप भारतीय जनता के सभी वर्गों का ही शोषण हुआ था जिससे कि जनता के बीच असंतोष की भावना ने एक व्यापक रूप लिया। दूसरी तरफ अंग्रेजों ने डाक और तार व्यवस्था, रेल, छापेखाने, एकरूप प्रशासन आदि का विकास किया। यद्यपि इनका विकास एक सुचारू प्रशासन चलाने की दृष्टि से किया गया था तथापि इन सभी ने राष्ट्रीय चेतना की उद्भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस इकाई में हम राष्ट्रीय चेतना के उद्भव में इन कारकों की भूमिका का विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे।

3.2 भारतीय अर्थव्यवस्था का विनाश

भारत में अंग्रेजों ने जो आर्थिक नीतियाँ अपनाई उसके परिणामस्वरूप भारतीय कृषि और कुटीर उद्योगों को काफी धक्का लगा। इस प्रक्रिया के अंतर्गत किसानों, कामगारों और अन्य वर्गों की स्थिति निरंतर बिगड़ती चली गई। इकाई-2 के अंतर्गत आपने

पहले ही अंग्रेजी शासन के आर्थिक दुष्प्रभावों को पढ़ा है जो कि कृषि के व्यावसायीकरण, अकालों और भारतीय उद्योगों के पतन के रूप में सामने आये थे। यहाँ पर हम बहुत ही संक्षिप्त रूप से इस बात की चर्चा करेंगे कि किस प्रकार अंग्रेजी शासन ने हमारे आर्थिक जीवन को 19वीं शताब्दी में प्रभावित किया।

3.2.1 कृषि

अंग्रेजों की कृषि नीति मुख्यतः अधिकतम भू-राजस्व एकत्रित करने के उद्देश्य से प्रेरित थी। स्थायी बंदोबस्त के इलाकों में जमींदारों को एक निश्चित धनराशि भू-राजस्व के रूप में सरकार को देनी होती थी। जमींदार किसानों से उससे कहीं अधिक लगान एकत्र करते थे जितना कि उन्हें सरकार को देना होता था। उनकी इस माँग को पूर्ण करने के लिए किसानों को स्वतः ही महाजनों से धन उधार लेना पड़ता था और महाजन किसानों से अत्यधिक ब्याज वसूल करते थे, जब भी किसान जमींदार या महाजनों द्वारा शोषण के विरूद्ध आवाज उठाते थे तो सरकार शोषकों का ही साथ देती थी।

अंग्रेजी सरकार नगदी फसलों (जैसे कि नील, कपास, गन्ना आदि) की उगाही अपनी मनमानी कीमतों पर करती थी और इन फसलों का प्रयोग अंग्रेजी उद्योगों में कच्चे माल के रूप में किया जाता था। कपास और नील बोने वाले किसान इस शोषण नीति से सबसे अधिक पीड़ित थे। अंग्रेजी भू-राजस्व नीति के परिणामस्वरूप किसानों की एक बड़ी संख्या भूमिहीन कृषि श्रमिक बनती जा रही थी। 1901 की जनगणना के आँकड़े यह बताते हैं कि 20 प्रतिशत से अधिक आबादी देश में भूमिहीन श्रमिकों की थी।

3.2.2 उद्योग

जब हम उद्योगों की चर्चा करते हैं तो यह देखने में आता है कि कामगारों को भी अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा था। अंग्रेजों ने भारत में बने कपड़े के निर्यात के ऊपर कई प्रकार के प्रतिबंध लगाये थे, जब कि इंग्लैंड में मशीन से बने कपड़े की भारत में बिक्री के ऊपर वस्तुतः किसी भी प्रकार का कर या प्रतिबंध नहीं था। भारतीय कामगार इस स्थिति में नहीं थे कि वे अंग्रेजी मशीन से बने कपड़े के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकें। हालाँकि इंग्लैंड में मशीनों के आगमन पर वहाँ के कामगारों की हालत भी बिगड़ी थी परन्तु शीघ्र ही उन्हें कारखानों में रोजगार मिल गया था। भारत में मशीन से बना सामान इंग्लैंड से आता था और यहाँ पर कारखानों के लगाये जाने की प्रक्रिया अत्यंत ही धीमी थी क्योंकि सरकार भारत में औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं थी। ऐसी परिस्थिति में कामगारों का बेरोजगार होना स्वाभाविक ही था। जो कुछ छोटे-मोटे कारखाने, खदानें या बागान यहाँ पर थे उनमें काम कर रहेकामगारों की स्थिति भी अच्छी नहीं थी, क्योंकि उन्हें मजदूरी बहुत कम दी जाती थी।

व्यापार, चुँगी, कर और यातायात के प्रति सरकार की नीतियों के कारण उभरते हुए भारतीय उद्योगपतियों को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। वे स्पष्ट रूप से यह अनुभव कर रहे थे कि किस प्रकार से इंग्लैंड प्रारंभ में भारत का उपयोग अपने उद्योगों के लिए कच्चामाल प्राप्त करने के लिए कर रहा था और बाद में किस प्रकार थोड़ी बहुत अंग्रेजी पूँजी का निवेश भारत में किया गया था। अंग्रेजी पूँजीपतियों के पास व्यापक साधन थे और उन्हें सरकार द्वारा हर प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध थी। भारतीय पूँजीपति वर्ग को अभी उद्भव की दशा में होने के कारण सरकारी संरक्षण की आवश्यकता थी और वह उसे प्राप्त नहीं था।

19वीं शताब्दी में भारत की स्थिति

इस संक्षिप्त विवरण से आपने यह देखा कि भारतीय समाज का प्रत्येक वर्ग अंग्रेजी शासन के अधीन कठिनाइयों का सामना कर रहा था। परन्तु जनता में असंतोष की भावना एकाएक ही नवीन चेतना को जन्म नहीं देती। वास्तव में यह असंतोष विभिन्न समयों पर विद्रोह के विभिन्न पहलुओं के रूप में उभरकर सामने आया। कभी यह सरकारी अधिकारी के विरुद्ध था तो कभी जमींदार के और कभी किसी नये कानून के। वास्तव में विदेशी शासन के प्रति असंतोष की जो भावना थी उसके एक सही राष्ट्रीय चेतना के रूप में न उभरने के लिए कई कारक उत्तरदायी थे, जैसे कि देश का विस्तृत क्षेत्र, संचार साधनों का पिछड़ापन, अशिक्षा, समान भाषा की अनुपस्थिति, विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं का अलग-अलग होना और प्रशासन को क्रियान्वित करने के अलग-अलग रूप।

बोध प्रश्न 1

1 अंग्रेजी नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित किया?

.....

.....

.....

2 भारतीय समाज के उन दो वर्गों की व्याख्या कीजिए जिनका ह्रास औपनिवेशिक प्रशासन के कारण हुआ।

.....

.....

.....

3 औपनिवेशिक शासन के प्रारंभिक वर्षों में विदेशी शासन के प्रति भारतीय विरोध सही रूप से संगठित क्यों नहीं हो पाया?

.....

.....

.....

.....

3.3 राष्ट्रीय चेतना के उद्भव के कारण

ऊपर हमने जिन तत्वों के बारे में चर्चा की है उनके कारण अंग्रेजों को भी एक प्रभावशाली प्रशासनिक नियंत्रण स्थापित करने में कठिनाई हो रही थी। अतः अंग्रेजों ने कुछ नवीन प्रशासनिक तरीकों और नीतियों को अपनाया इन तरीको और नीतियों ने भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में भी सहयोग दिया। अब हम अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई इन नीतियों और उनके प्रभावों का मूल्यांकन करेंगे।

3.3.1 प्रशासन का संगठित स्वरूप

भारतीय साधनों का पूर्ण रूप से शोषण करने के लिए अंग्रेजों ने देश को एक रूप प्रशासनिक व्यवस्था प्रदान की। प्रशासन में एकरूपता स्थापित करने के लिए जो महत्वपूर्ण तरीके अपनाए गये उनके अंतर्गत भू-राजस्व प्रशासन, पुलिस, कानून और व्यवस्था आदि के क्षेत्र सम्मिलित थे।

3.3.2 संचार व्यवस्था

डाक और तार व्यवस्था का विस्तार और सुधार किया गया। सभी मुख्य नगरों को तार व्यवस्था से जोड़ा गया। 1853 से रेल लाइनें बिछाई गई, इसके अंतर्गत योजना यह थी कि प्रांतों को एक दूसरे के साथ और उन क्षेत्रों को जहाँ से कच्चा माल प्राप्त होता था, बन्दरगाहों के साथ जोड़ा जा सके। लेकिन जैसे-जैसे रेल लाइनों का विकास हुआ यात्रियों के आवागमन में भी वृद्धि हुई और इस प्रकार दूरस्थ स्थानों पर रहने वाले व्यक्तियों को एक दूसरे के साथ संपर्क स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

3.3.3 छापाखाना

छापेखाने के आगमन के परिणामस्वरूप विचारों के आदान-प्रदान और शिक्षा की प्रक्रिया भी कीमती नहीं रही। अनेक अखबार और पत्रिकाएँ छपने लगे। इन प्रकाशनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं से लोग अवगत होने लगे। आप स्वयं अपने अनुभव से यह अनुमान लगा सकते हैं कि प्रेस समाज के शिक्षित वर्गों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में किस प्रकार की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

3.3.4 नवीन शिक्षा-प्रणाली

अंग्रेजों ने भारत में जिस नवीन शिक्षा प्रणाली को लागू किया वह मुख्यतः पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली पर आधारित थी। अंग्रेजों की यह धारणा थी कि इस प्रकार की शिक्षा से भारतीयों में वह एक निष्ठावान वर्ग खड़ा कर देंगे जो कि अंग्रेजों के लिए पूर्ण स्वामीभक्ति के साथ क्लर्की आदि का कार्य कर सकें। जैसे मैकाले ने कहा था कि, उद्देश्य यह था कि "व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग बनाया जाए जो कि खून और रंग से तो भारतीय हो परन्तु आदर्श, विचार और अक्ल से अंग्रेज हो"।

परन्तु इस नवीन शिक्षा प्रणाली का एक दूसरा ही प्रभाव हुआ, इसके द्वारा 'भारत का शिक्षित वर्ग समानता, स्वतंत्रता और राष्ट्रवाद के विचारों से एक ऐसे समय में परिचित हुआ जबकि औपनिवेशिक शासन को लेकर सर्वत्र असंतोष फैला हुआ था। हालांकि यह शिक्षा प्रणाली भारतीयों के एक छोटे-से वर्ग तक ही सीमित थी (उदाहरण के लिए 1921 तक लगभग 92 प्रतिशत भारतीय अशिक्षित थे) तथापि इस शिक्षा के माध्यम से शिक्षित भारतीय का परिचय यूरोप में चल रहे राष्ट्रवादी आंदोलनों से हुआ (जैसे कि जर्मनी और इटली का एकीकरण और तुर्की के साम्राज्य के विरूद्ध विभिन्न जातियों के राष्ट्रीय आंदोलन)। इसके अतिरिक्त भारतीयों का परिचय कई उदारवादी लेखकों और विचारकों (जैसे जॉन मिल्टन, शेली, बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, रूसो, वालटेयर, मेजिनी और गैरी बाल्डी आदि) के विचारों और लेखन से हुआ। जो भारतीय इंग्लैंड से शिक्षा प्राप्त करके भारत लौटे तो उन्होंने यह पाया कि जो अधिकार यूरोपीय देशों के नागरिकों को स्वतः ही प्राप्त थे भारतीयों को उनसे वंचित रखा गया था।

3.3.5 अंग्रेजों की विस्तारवादी नीति

अंग्रेजों ने प्रारंभ से ही अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए भारत के विभिन्न क्षेत्रों को विजित किया था। इस काल में भी उन्होंने अपनी विस्तारवादी नीति को जारी रखा। अनेक भारतीय रियासतों को जो अंग्रेजों से संघर्षरत भी नहीं थी अंग्रेजों ने

हड़प लिया जैसे 1843 में सिंध, 1849 में पंजाब, 1856 में अवध और झांसी, सातारा और नागपुर आदि रियासतों का हड़पा जाना। इस प्रकार भारतीय राजा भी अंग्रेजों के प्रति सचेत हो उठे थे।

3.3.6 बौद्धिक जागरण

भारत में 19वीं शताब्दी में सामाजिक सुधार और बौद्धिक जागरण का काल प्रारंभ हुआ। बौद्धिक जागरण से हमारा अभिप्राय उस प्रयास से है जिसके द्वारा तत्कालीन समाज का आलोचनात्मक और रचनात्मक मूल्यांकन इस उद्देश्य से किया गया कि उसका परिवर्तन आधुनिक आधार पर किया जा सके। इस विश्लेषण का श्रेय उन बुद्धिजीवियों को जाता है जिन्होंने कि आधुनिक शिक्षा हासिल की थी। राजा राममोहन राय, केशव चन्द्र सेन, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और सर सैयद अहमद खाँ आदि ऐसे प्रमुख बुद्धिजीवी थे, जिन्होंने कि 19वीं शताब्दी में राष्ट्रीय चेतना के उद्भव में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अंग्रेजों ने अपने शासन को न्यायोचित ठहराने के लिए अपने से पहले के युग को (18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध) एक ऐसे काल के रूप में प्रस्तुत किया जिसके दौरान भारतीय समाज में एक ठहराव की स्थिति थी, उन्होंने यह साबित करने का प्रयास किया कि विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में भारत की कोई उपलब्धि नहीं थी और न ही भारतीय एक अच्छी सरकार देने के योग्य थे। शिक्षित भारतियों ने अंग्रेजों के प्रचार के विरोध में कला, साहित्य दर्शन, विज्ञान और भवन निर्माण आदि के क्षेत्र में भारतीयों द्वारा प्राप्त की गई उपलब्धियों का जिक्र किया। इन ऐतिहासिक क्षेत्रों में खोज के परिणामस्वरूप जो नवीन चेतना उभरकर सामने आई उसका उद्देश्य धर्म के नाम पर निहित बुराईयों को दूर करके भारतीय समाज में सुधार लाना था।

3.3.7 रंगभेद नीति

अंग्रेजों द्वारा अपनाया गया रंगभेद दृष्टिकोण भी राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करने में सहयोगी बना। यह भेद अंग्रेजों द्वारा केवल सामाजिक व्यवहार में ही नहीं अपनाया जाता था बल्कि न्यायिक क्षेत्र में भी इसका प्रयोग किया जाता था।

1864 में जी.ओ. ट्रैवीलियन ने जो कि एक इतिहासकार और प्रभावशाली सरकारी अफसर भी थे यह लिखा था कि "कचहरी में हमारे देश के एक व्यक्ति की गवाही, कई हिन्दुओं की गवाही के मुकाबले ज्यादा महत्व रखती है। यह एक ऐसी परिस्थिति है जो कि एक बेईमान अंग्रेज के हाथों में अत्यधिक शक्ति देती है"। वास्तव में रंगभेद की इस नीति ने व्यावहारिक रूप से जो कठिनाइयाँ और अपमान भारतीयों को दिया उससे राष्ट्रीय चेतना के विकास में अधिक बल मिला।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित में से कौन-सी रियासतें ऐसी थीं जिन्हें कि अंग्रेजों ने नहीं हड़पा।

i) अंग्रेजों ने भारत में रेल लाइनें क्यों बिछाई।

.....

.....

ii) छापाखाने ने ज्ञान की वृद्धि में किस प्रकार सहयोग दिया?

.....

.....

iii) भारतीयों को आधुनिक शिक्षा दिये जाने के पीछे अंग्रेजों का क्या उद्देश्य था?

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित में से कौन-सी रियासतें ऐसी थी जिन्हें कि अंग्रेजों ने नहीं हड़पा।

i) सिंध ii) झांसी iii) बड़ौदा
iv) ग्वालियर v) हैदराबाद vi) अवध
vii) सातारा

3 निम्नलिखित में से कौन-सा कथन सही और कौन-सा गलत है?

i) 19वीं शताब्दी न्यायिक मामलों में भारत में रंगभेद की नीति नहीं अपनायी जाती थी।
ii) अंग्रेजों ने रेलों के विकास को इसलिए महत्व दिया कि भारतीय तेजी से यात्रा कर सकें।
iii) अंग्रेजों ने भारत में एकरूप प्रशासन स्थापित करने का प्रयास किया।
iv) छापेखाने के उपयोग के कारण विचारों का आदान-प्रदान सुगम हो गया।

3.4 भारतीय प्रतिक्रिया

भारतीयों ने अंग्रेजी शोषण और इसके द्वारा लागू की गई नुकसानदेह नीतियों का विरोध विभिन्न स्तरों पर किया। धीरे-धीरे इस विरोध ने राष्ट्रीय आंदोलन का रूप ले लिया, हालांकि इस प्रक्रिया की गति प्रारंभिक अवस्थाओं में काफी धीमी थी। भारतीयों द्वारा अंग्रेजों के प्रति दर्शाये गये विरोध को हम दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं।

1 किसान और जन-जातीय आंदोलन
2 मध्यम वर्ग का विरोध

3.4.1 किसान और जन-जातीय आंदोलन

19वीं शताब्दी में हम यह देखते हैं कि अनेक स्थानों पर किसानों और जन-जातियों ने अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया। यद्यपि इन प्रारंभिक विद्रोहों को राष्ट्रीय विद्रोह की संज्ञा नहीं दी जा सकती तथापि राष्ट्रीय चेतना के उद्भव और विकास में इन विद्रोहों का महत्वपूर्ण योगदान है। यह प्रारंभिक विद्रोह अंग्रेजों की शोषक नीति के विरूद्ध हुए थे। इतिहासकार सुमित सरकार के अनुसार प्लासी के युद्ध से लेकर अगले लगभग 100 वर्षों तक इन विद्रोहों का संचालन परंपरागत नेतृत्व के हाथ में था (जैसे कि उजड़े हुए जमींदार, मुखिया या साधु और फकीर आदि) परन्तु इन विद्रोहों में हिस्सा लेने वाले समाज के पीड़ित छोटे वर्ग थे। इतिहासकार कैथलिन गफ ने ऐसे 77 किसान विद्रोहों का उल्लेख किया है, जिनमें कि हिंसा का प्रयोग किया गया था। जन-जातियों के आंदोलन भी अत्यंत उग्र थे। कुंवर सुरेश सिंह ने इन आंदोलनों का अध्ययन कर यह धारणा प्रस्तुत की है कि भारतीय समाज के किसी अन्य वर्ग की अपेक्षा जन-जातीय आंदोलनों की संख्या अधिक थी और यह अधिक हिंसक भी थे। भारत में किसान और जन-जातीय विद्रोहों की एक लंबी सूची है और यहाँ हम केवल उनमें से कुछ का ही उल्लेख करेंगे (इन आंदोलनों पर विस्तृत चर्चा आप खंड-2 की इकाई-7 में पढ़ेंगे)। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में होने वाले महत्वपूर्ण विद्रोह थे:

- ट्रिवेनकोर विद्रोह (1800-1809)
- भील विद्रोह (1818-1831)
- हो विद्रोह (1820-1821)
- खासी विद्रोह (1829-1831)
- कोल विद्रोह (1831)
- संथाल विद्रोह (1855-1856)

इनके अतिरिक्त वाहवी आंदोलन 1813-1869 और फरैजी आंदोलन 1834-1847 भी इस काल के महत्वपूर्ण आंदोलन थे। इनमें से अधिकांश विद्रोहों में नेतृत्व अंग्रेजों की नीतियों के परिणामस्वरूप उजड़े हुए सामंतों ने प्रदान किया था। इन विद्रोहों को आधुनिक दृष्टि से ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय आंदोलनों की उपमा नहीं दी जा सकती, परन्तु इसके साथ-साथ यह स्पष्ट है कि इन विद्रोहों के पीछे प्रेरक शक्ति अंग्रेजों की शोषक नीतियों का संयुक्त विरोध था और अक्सर कई आन्दोलन किसी शोषक जमींदार, महाजन या सरकारी अधिकारी के विरूद्ध भी हुए।

इस काल में शहरों में बसने वाली जनता ने भी अंग्रेजी नीतियों के विरूद्ध आवाज उठाई। 1810-11 की बनारस की हड़ताल और 1816 का बरेली विद्रोह इसके कुछ उदाहरण हैं। बनारस में शहर की जनता ने गृह टैक्स के विरूद्ध हड़ताल की थी और बरेली में पुलिस टैक्स के विरूद्ध। यह पुलिस टैक्स जनता से इस बात के लिए उगाहा जाना था कि पुलिस उन्हें सुरक्षा प्रदान कर सके। बनारस विद्रोह के कारण अंग्रेजों को गृह टैक्स वापस लेना पड़ा, परन्तु बरेली की जनता को पुलिस टैक्स देना ही पड़ा।

1857 का विद्रोह

अंग्रेजी सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप जो व्यापक असंतोष जनता में फैल रहा था वह 1857 के विद्रोह के रूप में प्रतिभूत हुआ। उत्तरी और मध्य भारत के अधिकांश क्षेत्रों में यह विद्रोह फैला। कहने को तो इसका प्रारंभ कंपनी के सिपाहियों के विद्रोह से हुआ था, परन्तु शीघ्र ही किसानों और कामगारों ने इससे अपना संबंध जोड़ लिया। क्रांतिकारियों द्वारा दिल्ली से जारी की गई एक घोषणा में अंग्रेजों के संबंध में यह कहा गया था कि:

"प्रथम तो उन्होंने हिन्दुस्तान में तीन सौ रूपये के राजस्व की उगाही की जहाँ कि केवल दो सौ रूपये ही बनते थे और पाँच सौ रुपये वहाँ उगाहे जहाँ कि चार सौ रुपये बनते थे और निरंतर अपनी माँग बढ़ाते ही जा रहे थे। नतीजा यह हुआ कि जनता भिखारी बन रही थी और विनाश की ओर अग्रसर हो रही थी। दूसरे उन्होंने चौकीदारी कर को भी दुगुना, चौगुना और दस गुना बढ़ा दिया था और उनकी इच्छा जनता का नाश करने की थी। तीसरे अनेक सम्मानित और विद्वान व्यक्ति बेरोजगार हो गये थे और लाखों लोगों को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं होती थी। शासकों के अत्याचारों का हम कहाँ तक वर्णन करें। धीरे-धीरे बात यहाँ तक बढ़ गई कि सरकार हर किसी का धर्म भी भ्रष्ट करना चाहती थी।"

इस विद्रोह में हम पहली बार यह देखते हैं कि जनता राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित हुई थी। एस.एन. सेन ने अपनी पुस्तक 'अठारह सौ सत्तावन' में इस महत्व को दर्शाया है। अंग्रेजों ने इस विद्रोह का क्रूरतापूर्वक दमन किया लेकिन इसके साथ-साथ भारत का प्रशासन अब ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों से निकलकर सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथों में चला गया, परन्तु इस विद्रोह के दमन से लोकप्रिय विद्रोहों का सिलसिला रुका नहीं। 19वीं शताब्दी के अंत तक विभिन्न क्षेत्रों में अंग्रेजी शासन के विरूद्ध विद्रोह होते रहे।

1857 के उपरांत के किसान विद्रोह

19वीं शताब्दी के दूसरे अर्द्ध में जो महत्वपूर्ण किसान आंदोलन हुए वे थे:

- बंगाल में नील विद्रोह (1859-60)
- त्रिपुरा में कुकी विद्रोह (1860-90)
- पंजाब में कुका विद्रोह (1869-72)
- बंगाल में पावना किसान विद्रोह (1872-73)
- महाराष्ट्र में किसान विद्रोह (1979) और
- दक्षिणी बिहार में बिरसा मुंडा का विद्रोह (1899-1900)

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि 19वीं शताब्दी में लगातार भारतीय जनता किसी न किसी क्षेत्र में अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्षरत रही है, यद्यपि यह संघर्ष असफल रहा परन्तु इन्होंने जनता में अंग्रेजी विरोधी भावनाओं को सशक्त किया।

बोध प्रश्न 3

1 प्रारंभिक किसान और जन-जातीय विद्रोहों का स्वरूप क्या था?

.....

.....

.....

.....

2 उपर्युक्त उपभाग में आपने क्रांतिकारियों द्वारा 1857 में दिल्ली से जारी की गई जो घोषणा पढ़ी है उसके आधार पर भारतीय जनता की तीन मुख्य शिकायतों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3.4.2 मध्यम वर्गीय चेतना

19वीं शताब्दी में जन-आधारित लोकप्रिय आंदोलनों और विद्रोहों के अतिरिक्त शिक्षित भारतीय मध्यम वर्ग में एक नवीन चेतना का विकास हो रहा था। मध्यम वर्ग में जागृत इस चेतना ने ही लोकप्रिय असंतोष को एक निश्चित दिशा प्रदान की और राष्ट्रीय चेतना के विकास में एक महत्वपूर्ण कारक बना।

शिक्षित मध्यम वर्ग ने भारतीय समाज पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली और इस जागरूक वर्ग ने उसमें सुधार करने के लिए अत्यधिक प्रयास किया। राजा राममोहन राय इसमें अग्रदूत बने। सामाजिक बुराइयों से लड़ने के लिए उन्होंने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। इसी प्रकार दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' की और स्वामी विवेकानन्द ने 'राम कृष्ण मिशन' की स्थापना की। इनके अतिरिक्त इस युग में ऐसे कई और संगठन भी बने जिन्होंने कि सती प्रथा, छुआछूत और अन्य आडंबरों को दूर करने के लिए प्रयास किये। यद्यपि ये सुधार आंदोलन मुख्यतः समाज के मध्यम वर्गों तक सीमित थे परन्तु इस संबंध में भारतीय जनता के मध्य राष्ट्रीय स्तर पर एक सामाजिक चेतना जागृत करने में उन्होंने अत्यधिक ध्यान दिया और जनता में एक सामान्य संस्कृति से जुड़े होने की भावना को प्रबल किया।

सामाजिक चेतना के साथ-साथ राजनीतिक चेतना का भी विकास हो रहा था जैसे कि पहले जिक्र किया जा चुका है, भारतीय शिक्षित मध्य वर्ग भी जिसमें कि व्यापारी, वकील, अध्यापक, पत्रकार, डाक्टर आदि थे अंग्रेजी शासन के अंतर्गत कष्टों का सामना कर रहा था। किसानों और कामगारों की तुलना में यह वर्ग साम्राज्यवाद के उद्देश्यों और औपनिवेशिक शासन के स्वरूप को अधिक स्पष्टता से समझकर उनका विश्लेषण कर सकता था। प्रारंभ में इस वर्ग की यह धारणा थी कि संचार साधनों का विकास और रेल लाइन आदि भारतीयों के लिए लाभदायक साबित होंगे। इस धारणा के कारण ही उन्होंने अंग्रेजी नीतियों का समर्थन किया था। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें यह स्पष्ट होने लगा कि अंग्रेजों ने जो प्रशासनिक तरीके अपनाए थे वे वास्तव में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए अपनाए थे और उनकी आर्थिक नीतियाँ भी केवल अंग्रेजी व्यापारियों और पूंजीपतियों के हित के लिए ही थी, जैसे ही भारतीय मध्यम वर्ग को अंग्रेजी शासन के इस तथ्य की अनुभूति हुई उसने औपनिवेशिक शासन का विरोध प्रारंभ कर दिया, परन्तु किसानों, कामगारों और जन-जातियों ने जो विद्रोह का रास्ता अपनाया था उसे मध्यम वर्ग ने नहीं अपनाया। मध्यम वर्ग ने दो नवीन तरीके अपनाए:

1 इस वर्ग ने अंग्रेजी नीतियों की आलोचना करते हुए किताबें लिखीं, लेख लिखे और समाचार पत्रों के माध्यम से जनजागरण का प्रयास किया।

2 इस वर्ग द्वारा अपनाया गया दूसरा तरीका विभिन्न संगठनों और समितियों की स्थापना थी, जिनके द्वारा समान कार्यक्रम बनाया जा सके।

आइये हम पहले साहित्यिक क्षेत्र में किये गये मध्यम वर्ग के कार्यों की विवेचना करें। यह चर्चा हम पहले ही कर चुके है कि किस प्रकार छापाखाना के आने से विचारों के आदान-प्रदान को सहयोग मिला था। राजा राममोहन राय ने इस क्षेत्र में भी अग्रदूत का कार्य किया। उन्होंने बंगला भाषा में एक पत्रिका **संवाद कौमुदी** प्रकाशित करनी प्रारंभ की जिसमें कि विभिन्न विषयों पर लेख लिखे जाते थे, दीन बंधु मित्र ने **बंगला भाषा में नील दर्पण** नामक नाटक लिखे। जिसमें कि नील की खेती करने वाले किसानों के कष्टों का जिक्र था, बंकिम चन्द्र ने **आनंद मठ** लिखा। जो राष्ट्रीय भावना से प्रेरित था।

इसी प्रकार उर्दू की शायरी और लेखन में भी भारतीय जनता की गिरती हुई दशा का जिक्र हुआ और इस बात को भी उठाया गया कि किस प्रकार से परंपरागत भारतीय नगरों का पतन हो रहा था। मराठी, हिंदी और तमिल में भी इन्हीं विषयों पर लेख प्रकाशित हुए। अंग्रेजी के अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं में भी समाचार पत्रों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। उस समय के कुछ प्रमुख समाचार पत्र जिन्होंने कि राष्ट्रीय चेतना में योगदान दिया, निम्नलिखित थे:

- बंगाल में हिन्दु पैट्रीएट, **अमृता बाजार पत्रिका, बंगाली** और **संजीवनी**
- **बंबई में मराठा, केसरी** और **नेटिव ओपीनियन**
- मद्रास में **हिंदु, आंध्र पत्रिका** और **केरल पत्रिका**
- संयुक्त प्रांत में **हिन्दुस्तान** और **आजाद**
- पजाब में **ट्रिब्यून** और **अखबार-ऐ-आम** आदि

1877 तक देशी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों की संख्या 169 हो गई थी इसके साथ-साथ कई महान साहित्यकार भी उभरकर सामने आये जिनकी कलम ने राष्ट्रीय चेतना को एक नवीन रूप दिया। इन साहित्यकारों में बंकिम चन्द्र चटर्जी, रविन्द्र नाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्यम भारती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अलताफ हुसैन हॉली और विष्णु शास्त्री चिपलुकर आदि प्रमुख थे।

मध्यम वर्ग द्वारा अपनाया गया दूसरा रास्ता विभिन्न संगठनों और समितियों की स्थापना थी, इनमें से कुछ प्रमुख प्रारंभिक संगठन थे:

बंगाल में : **लैंड होल्डर सोसायटी** (1838)
बंगाल इंडिया सोसायटी (1843)
ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन (1851)

महाराष्ट्र में : **बौम्बे** ऐसोसिएशन (1852)
डेकेन एसोसिएशन (1852) आदि

मद्रास में : मद्रास नेटिव एसोसिएशन

इन संगठनों का प्रमुख उद्देश्य ऐसी अंग्रेजी नीतियों का संयुक्त रूप से विरोध करना था जो कि उनके स्वार्थों पर आघात करती थी परन्तु विरोध का तरीका पूर्णतः सवैंधानिक था, जैसे कि कचहरी में अर्जी देना, सरकार को अर्जी देना या अंग्रेजी संसद से अपील करना। वे यह चाहते थे कि 1853 के कंपनी चार्टर के अंतर्गत व्यापक सुधार लागू किया जाए परन्तु यह चार्टर उनकी मांगों को संतुष्ट करने में असफल रहा।

1858 में भारतीय प्रशासन का उत्तरदायित्व अंग्रेजी राज ने सीधे अपने हाथ में ले लिया जिससे भारत के मध्यम वर्ग में नयी आशा जागृत हुई। उन्होंने यह सोचा कि अंग्रेज भारत का आर्थिक शोषण बन्द करके भारतीयों के कल्याण हेतु कार्य करेंगे परन्तु शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि भारतीयों का शोषण तो जब भी बरकरार है। अतः मध्यम वर्ग की राजनीतिक गतिविधि तीव्र हो उठी और नये संगठनों की स्थापना की गई। भारतीयों ने इंगलैंड में लंदन इंडिया एसोसिएशन की स्थापना की और 1866 में उसे ईस्ट इंडिया एसोसिएशन में मिला दिया गया। 1870 में महाराष्ट्र में पूना सार्वजनिक सभा का गठन किया गया, बंगाल में इंडियन एसोसिएशन (1876) और इंडियन नेशनल कांफ्रेंस (1883) का गठन किया गया और मद्रास में मद्रास महाजन सभा का गठन किया गया।

यदि हम प्रारंभिक संगठनों से इन संगठनों की तुलना करें तो यह संगठन निसंदेह राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित था। इनका मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी नीतियों के विरूद्ध प्रस्तावों और अपीलों के द्वारा विरोध करना था। जन-जागृति उत्पन्न करने के लिए इन्होंने सार्वजनिक सभाओं का रास्ता अपनाया इन सभाओं में राष्ट्रीय मुद्दों पर भी बहस होती थी और विचारों का आदान-प्रदान किया जाता था। वास्तव में इन संगठनों ने ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885) की भूमिका तैयार की थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संदर्भ में आप खंड-2 में अलग से पढ़ेंगे।

इसी समय अंग्रेजी सरकार ने कुछ दमनकारी कानून भी पारित किये, जैसे कि वर्नाकुलर प्रेस एक्ट और भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के लिए आयु का कम किया जाना। इस प्रकार के कानून वाइसराय लार्ड लिटन के काल में (1876-80) बनाये गये थे। इनके बारे में भी आगे चर्चा की जाएगी। यहाँ हम केवल इतना उल्लेख करना आवश्यक समझते है कि भारतीयों पर इस प्रकार के दमनकारी कानूनों की तीव्र प्रक्रिया हुई थी। बंगाल के प्रमुख समाचार पत्र **बंगाली** ने लिखा (12 जून, 1980)

> लार्ड लिटेन को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि अपने दमनकारी तरीकों के द्वारा उसने इस देश की जनता में जोश भर दिया और उसके लिए हमारे देश को उसका आभारी होना चाहिए।

बोध प्रश्न 4

1 1857 के उपरांत शिक्षित भारतीय मध्यम वर्ग के अंग्रेजों से निराश होने के क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

2 अखबारों और पत्रिकाओं ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में किस प्रकार योगदान दिया?

.....

.....

.....

.....

3 विभिन्न संगठनों की स्थापना ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में क्या सहयोग दिया?

.....

.....

.....

.....

3.5 सारांश

इस इकाई में आपने इस बात का अध्ययन किया कि अंग्रेजी शासन के दौरान किस प्रकार भारत में धीरे-धीरे राजनीतिक चेतना का विकास हुआ। वास्तव में इस चेतना का विकास अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई नीतियों का परिणाम था। जहाँ एक ओर जनता में विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे लोकप्रिय आंदोलनों ने राष्ट्रीय चेतना को सशक्त किया वहाँ दूसरी ओर मध्यम वर्ग ने नवीन तरीका अपनाकर इस चेतना को एक नवीन दिशा प्रदान की जो राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभ किये जाने में अत्यधिक सहायक थे।

3.6 शब्दावली

बौद्धिक जागरण: रूढ़िवादी विचारधारा में परिवर्तन के लिए किया गया प्रयास। 19वीं शती में भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा पुराने विचारों के स्थान पर नये विचारों के फैलाने का प्रयास जिससे समाज की प्रगति संभव हो।

राष्ट्रीय चेतना: किसी राष्ट्र के इतिहास में परिवर्तन का वह काल जब राष्ट्रीय नेताओं तथा शिक्षा के द्वारा लोगों में राष्ट्र की उन्नति की बात फैली हो।

रंगभेद: अंग्रेजी शासन के दौरान अंग्रेजों द्वारा रंग (वर्ण) के आधार पर अपनाई गई वह नीति जिसमें भारतीयों को नीचा समझा गया तथा उन्हें सामाजिक एवं न्यायिक अधिकारों से वंचित रखा गया।

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 अंग्रेजी नीतियों ने कृषि और कुटीर उद्योगों में उत्पादन प्रक्रिया को बुरी तरह प्रभावित किया। विस्तृत रूप से अपने उत्तर के लिए देखें भाग 3.2.1 और 3.2.2

2 किसान
कामगार

3 प्रारंभिक वर्षों में संयुक्त रूप से भारतीय अंग्रेजों के प्रति अपने विरोध को एक निश्चित दिशा प्रदान करने में इसलिए असफल रहे कि देश का विस्तृत क्षेत्र होने के कारण लोगों में परस्पर विचारों का आदान-प्रदान सुगम नहीं था और यातायात के साधन पिछड़े हुए थे।

बोध प्रश्न 2

1 i) अंग्रेजों ने रेल लाइनें इसलिए बिछाई थी कि वह कच्चेमाल के यातायात को कम कीमत पर और शीघ्रता के साथ प्राप्त कर सकें।

ii) छापाखाने के विकास के कारण साहित्य सस्ते दामों पर प्रकाशित होने लगा था।

iii) भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा दिये जाने के पीछे मुख्य उद्देश्य निम्न श्रेणी की सरकारी नौकरियों में भर्ती किया जाना था।

2 (iii), (iv), (v)

3 i) गलत ii) गलत iii) सही iv) सही

बोध प्रश्न 3

1 प्रारंभिक किसान और जनजातीय विद्रोह एकाएक ही उठ खड़े होते थे और इनमें अधिकांशतः संगठन का अभाव था, उत्तर को अपने शब्दों में लिखने के लिए एक बार पुनः उपभाग 3.4.1 पढ़ें।

2 i) भू-राजस्व में वृद्धि

ii) चुंगी और चौकीदारी टैक्स में वृद्धि जिससे कि व्यापारियों को हानि हुई।

iii) सम्मानित व्यक्तियों का बेरोजगार होना और समाज में महत्व खोना।

बोध प्रश्न 4

1 1857 से पूर्व भारतीय मध्यम वर्ग यह समझता था कि अंग्रेजी शासन भारत को आधुनिकीकरण की ओर ले जाएगा जिससे कि भारतीयों का भला होगा परन्तु 1857 के बाद भी अंग्रेजों की दमनकारी नीतियाँ बढ़ती ही चली गईं और जनता को किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। एक बार पुनः उपभाग 3.4.2 पढ़ें।

2 उपभाग 3.4.2 पढ़ें और उसके आधार पर अपना उत्तर लिखें।

3 विभिन्न संगठनों की स्थापना के लिए भारतीयों को संयुक्त रूप से अंग्रेजी नीतियों का विरोध करने का एक अवसर मिला। इसके द्वारा जनता में निहित असंतोष को एक निश्चित दिशा प्रदान की गई जो कि राष्ट्रीय स्तर पर भारतीयों के हितों की रक्षा से संबंधित थी और इन संगठनों ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इकाई 4 1857 का विद्रोह

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 कारण
- 4.2.1 कृषकों का शोषण
- 4.2.2 मध्य तथा उच्च वर्ग भारतीयों का अलगाव
- 4.2.3 रियासतों का विलय
- 4.2.4 अंग्रेजी शासन का विदेशीपन
- 4.2.5 सिपाहियों पर प्रभाव
- 4.2.6 धर्म को खतरा
- 4.2.7 तात्कालिक कारण

4.3 संगठन
4.4 विद्रोह
4.5 नेतृत्व
4.6 पराजय
4.7 विफलता के कारण
- 4.7.1 एकरूप आदर्श का अभाव
- 4.7.2 भारतीयों में एकता का अभाव
- 4.7.3 शिक्षित भारतीयों के सहयोग का अभाव
- 4.7.4 नेताओं में फूट
- 4.7.5 अंग्रेजों की सैनिक श्रेष्ठता

4.8 प्रभाव
- 4.8.1 सत्ता का हस्तांतरण
- 4.8.2 सैनिक संगठन में परिवर्तन
- 4.8.3 फूट डालो और शासन करो
- 4.8.4 रियासतों के प्रति नई नीति
- 4.8.5 नये मित्रों की खोज

4.9 मूल्यांकन
4.10 सारांश
4.11 शब्दावली
4.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

पहले की इकाइयों में आपने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त की है। आप जानते हैं कि देश पर अपने शासन काल के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय जनता को शोषित तथा उत्पीड़ित किया। यद्यपि समय-समय पर भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों ने अंग्रेजी हुकूमत का विरोध किया किंतु यह 1857 का महान् जागरण था जिसने अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेजी हुकूमत को जबरदस्त चुनौती दी, जिसे बहुधा प्रथम स्वाधीनता संग्राम कहा जाता है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- 1857 के विद्रोह के कारणों का सुराग पा सकते हैं।
- विभिन्न घटनाओं तथा संघर्षों तथा विभिन्न वर्गों और उनके नेताओं की भूमिका के विषय में जान सकते हैं।
- उन क्षेत्रों का पता लगा सकते हैं जहाँ 1857 के विद्रोह में अंग्रेजी प्रभुसत्ता को सबसे गंभीर चुनौती मिली।
- उन कारणों का पता लगा सकते हैं जिनसे यह विद्रोह विफल रहा।
- इस प्रभाव को समझ सकते हैं और विद्रोह की प्रकृति के बारे में राय बना सकते हैं।

4.1 प्रस्तावना

1857 का विद्रोह ब्रिटिश शासन से भारतीय जनता की मुक्ति के संघर्ष के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण अध्यायों में से एक है। इसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी और कई बार तो ऐसा लगने लगा कि भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य का अंत हो जाएगा। यद्यपि यह एक महज सिपाही विद्रोह के रूप में शुरू हुआ था किंतु शीघ्र ही इसने उत्तर भारत के विस्तृत

क्षेत्र की जनता एवं कृषक वर्ग को भी शामिल कर लिया। इस विद्रोह ने इतना व्यापक रूप लिया कि उस समय के कुछ पर्यवेक्षकों ने इसे राष्ट्रीय विद्रोह की संज्ञा दी। फिरंगियों के प्रति घृणा का भाव इतना तीव्र एवं तीखा था कि एक पर्यवेक्षक डब्लू० एच० रसेल को बाध्य होकर लिखना पड़ा :

"गोरे लोगों की गाड़ी की ओर कोई दोस्ताना नजर से नहीं देखता..... ओह! उन आंखों की भाषा! कौन संदेह कर सकता है? कौन गलत समझ सकता है? सिर्फ इसी से मैंने जाना कि गोरे लोगों से न सिर्फ लोगों में खौफ है बल्कि सभी इससे घृणा भी करते हैं।"

इस इकाई में हम आपको इस महान् विद्रोह के विभिन्न पहलुओं से परिचित कराएंगे।

4.2 कारण

यह विद्रोह कैसे भड़का? इसके कारण क्या थे?

इसका मुख्य कारण अंग्रेजों द्वारा भारतीय जनता का अमानवीय शोषण था। ब्रिटिश शासन जिसका प्रारंभ विधिवत् रूप से 1757 में प्लासी युद्ध के बाद बंगाल में हुआ था, भारतीयों का शोषण कर ईस्ट इंडिया कंपनी का खजाना भरता रहा। ईस्ट इंडिया कंपनी सौदागरों और व्यापारियों द्वारा शासित थी जो स्वयं को समृद्ध करने के लिए किसी भी हद तक जा सकते थे। कंपनी सन् 1600 ई० में बनी और इसे महारानी एलिजाबेथ ने राजसी अधिकार पत्र दिया जिससे इसे पूर्व से व्यापार करने की विशेष सुविधा प्रदान की गयी। इनका मुख्य उद्देश्य भारत में व्यापार क्षेत्र में एकाधिकार प्राप्त करना था। यह व्यापार करने वाली कोई साधारण कंपनी नहीं थी बल्कि इसके पास प्रशिक्षित सैनिक थे जिन्होंने पुर्तगाली तथा फ्रांसीसी व्यापारिक कंपनियों से 17वीं और 18वीं शताब्दियों में एकाधिकार प्राप्त करने के लिए लड़ाइयाँ लड़ी थीं। इन प्रतिद्वंद्वी शक्तियों को पराजित करने के पश्चात इन्होंने भारतीय व्यापारियों को, जो इनसे टक्कर ले रहे थे, परास्त कर दिया। 1757 में प्लासी युद्ध जीतने के बाद उन्होंने अपने अधिकार क्षेत्र में अपने व्यापारिक नीति को सफलतापूर्वक लागू कर दिया तथा भारतीय व्यापारियों की प्रतिद्वंद्विता को भी पूरी तरह समाप्त कर दिया, उन्होंने भारतीय कारीगरों पर दबाव डाला। कारीगरों के उत्पादन को ऐसे मूल्यों पर बेचने के लिए बाध्य किया जो उनके लिए बिल्कुल अलाभकारी थे। कारीगरों को अब इतनी कम मजदूरी मिलती थी कि वे मुश्किल से गुजारा कर पाते थे। किंवदंती तो यह है कि ईस्ट इंटिया कंपनी द्वारा इतनी कम मजदूरी देने के विरोध में ढाका के बुनकरों ने, जो मलमल की बारीक बुनाई के लिए मशहूर थे, अपने अंगूठे काट लिए।

4.2.1 कृषकों का शोषण

यद्यपि व्यापार क्षेत्र में एकाधिकार से ईस्ट इंडिया कंपनी काफी समृद्ध हो गयी तथापि इनके आय का मुख्य स्रोत भूमि ही था। बंगाल में स्वयं को स्थापित करने के पश्चात इसने भारतवर्ष में अपनी शक्ति, युद्ध तथा संधियों के जरिए बढ़ायी। पैसा उगाहने के लिए जहाँ तक संभव हुआ भूमि व्यवस्था के नए उपाय निकाले। स्थाई, रैयतवारी, और महलवारी एक से बढ़कर एक दमनकारी। स्थायी भूमि व्यवस्था में जो बंगाल प्रेसीडेंसी तथा उत्तर भारत के बड़े हिस्से में लागू थी, कृषकों को भूमि पर वंशानुगत स्वामित्व अधिकार नहीं दिया गया जो उन्हें पहले प्राप्त था। राजभक्त जमींदार तथा राजस्व समाहर्त्ता को अब भूमि का स्वामित्व अधिकार दे दिया गया। कृषकों की हैसियत घटकर एक सामान्य काश्तकार की सी हो गयी। परन्तु नए भू-स्वामियों को भी पूर्ण अधिकार नहीं दिया गया। उनकी स्थिति को जानबूझकर अधर में लटकाए रखा गया। कृषकों से प्राप्त लगान में से 10/11 वाँ हिस्सा उन्हें कंपनी को देना पड़ता था ऐसा नहीं कर पाने पर उनकी सम्पत्ति को दूसरों के हाथ बेच दिया जाता था।

अन्य भूमि व्यवस्था भी कोई बेहतर नहीं थी। हर स्थिति मे इन कृषकों को अपनी हैसियत से ज्यादा लगान भरना पड़ता था और अगर कभी कोई प्राकृतिक विपदा जैसे—सूखा व बाढ़ हुई तो उन्हें बाध्य होकर महाजनों से कर्ज लेना पड़ता था जो उनसे अत्यधिक सूद लेते थे। इससे खेतिहर कर्ज के बोझ से इतना ज्यादा दब जाते थे कि उन्हें बाध्य होकर अपनी भूमि इन महाजनों के हाथ बेच देनी पड़ती थी। यही कारण है कि ग्रामीण समाज में ये महाजन बहुत अधिक घृणा से देखे जाते थे। प्रशासन के निम्नस्तरीय अधिकारी भी कृषकों पर अत्याचार करते थे और छोटा से छोटा बहाना बनाकर इनसे पैसा ऐंठ लेते थे। अगर ये खेतिहर न्याय की भिक्षा माँगने के लिए न्यायालय का दरवाजा खटखटाते थे तो उनकी पूर्ण बरबादी अवश्यम्भावी थी। जब फसल अच्छी होती थी तो खेतिहरों को पुराना कर्ज चुकाना होता था, और जब खराब होती तो कर्ज़ का बोझ दुगना हो जाता था। अधीनस्थ कर्मचारियों, न्यायालयों तथा महाजनों के बीच इस गठबंधन से ऐसी स्थिति पैदा हो गयी जिससे कृषक व्यग्र हो उठे और सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए किसी भी अवसर का स्वागत करने को तैयार हो गए।

4.2.2 मध्य तथा उच्च स्तरीय भारतीयों का अलगाव

महज कृषक वर्ग ही नहीं बल्कि उच्च तथा मध्य स्तरीय भारतीय भी अंग्रेजी शासन से असंतुष्ट थे। मुगल या यहाँ तक कि स्थानीय रियासतों और प्रधानों के शासन की अवधि में भारतीय हर स्तर—उच्च तथा निम्न पद पर कार्य करते थे। अब अंग्रेजी प्रशासन में भारतीय सिर्फ अधीनस्थ तथा अन्य निम्न स्तर के पद पर ही काम कर सकते थे। यहाँ तक कि प्रखर बुद्धि व क्षमता के भारतीयों को भी औसत या उससे भी निम्न बुद्धि वाले उन ब्रिटिश अधिकारियों के अधीन काम करना पड़ता था जो सिर्फ अंग्रेज होने के नाते उच्च पदों के हकदार हो गए थे, फिर संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में—कवि, नाटककार, लेखक तथा संगीतकार आदि जिन्हें देशी राज्यों में नियुक्त किया जाता था, उन्हें निकाल बाहर किया गया। धर्म के प्रतिनिधि जैसे पंडित और मौलवी भी अपनी पुरानी साख और प्रतिष्ठा खो बैठे।

4.2.3 रियासतों का विलय

ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने सहयोगियों को भी नहीं बख्शा। 1856 में नवाब वाजिद अली शाह के कुप्रशासन के बहाने अवध का देशी राज्य भी डलहौजी ने अंग्रेजी शासन में मिला लिया। इसके पहले 1848 में सतारा और 1854 में नागपुर तथा झांसी को इस बहाने मिला लिया था कि उनका कोई वंशानुगत उत्तराधिकारी नहीं था। इस विलय से इन राज्यों के शासक इतने क्षुब्ध हो उठे कि झांसी की रानी और अवध की बेगम अंग्रेजों के कट्टर दुश्मन बन गए। स्थिति और बदतर हो गयी जब अंग्रेजों ने नाना साहेब को जो पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र थे पेंशन देने से इंकार कर दिया। अवध के विलय से सिपाहियों में भी रोष था क्योंकि अधिकांश सिपाही अवध के ही निवासी थे। इस कार्रवाई से उनके देश प्रेम और गौरव को ठेस पहुँची। इसके अतिरिक्त चूँकि उनके रिश्तेदारों को अब भूमि-कर ज्यादा देना पड़ता था इससे सिपाहियों की आमदनी पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।

4.2.4 अंग्रेजी शासन का विदेशीपन

ब्रिटिश शासन की अलोकप्रियता का दूसरा कारण था उनका परायापन। वे भारतीयों से कभी भी मेल-जोल नहीं बढ़ाते थे, यहाँ तक कि उच्च वर्ग के भारतीयों का भी वे तिरस्कार करते थे। वे भारतवर्ष में बसने नहीं आए थे बल्कि सिर्फ यहाँ से पैसा घर ले जाने आए थे। इस कारण भारतीय कभी भी उनके प्रति घनिष्ठता नहीं बढ़ा पाए।

4.2.5 सिपाहियों पर प्रभाव

1857 की शुरूआत् सिपाही विद्रोह से हुई थी। ये सिपाही मुख्यतः उत्तर और उत्तर-पश्चिम भारत के कृषक वर्ग से आये थे। जैसा कि हमने देखा है, ईस्ट इंडिया कंपनी की शोषक नीतियों से कृषक वर्ग गरीबी तथा बरबादी की ओर अग्रसर हो रहा था। इसका प्रभाव सिपाहियों पर भी पड़ा। वस्तुतः इनमें से अधिकांश कृषि से प्राप्त आय की कमी को दूर करने के लिए सेना में भरती हुए थे जैसे-जैसे समय बीतता गया उन्होंने अनुभव किया कि ऐसा कर पाना उनके वश में नहीं है। उनको 7 से 8 रुपये का मासिक वेतन प्राप्त होता था जिसमें से उन्हें अपने भोजन, वर्दी तथा व्यक्तिगत सामानों के वहन के लिए भी चुकाना पड़ता था। एक भारतीय सिपाही का निर्वाह व्यय भारत में ब्रिटिश सिपाही पर आने वाले व्यय से एक तिहाई था। उसके अलावा भारतीय सिपाहियों के साथ ब्रिटिश अधिकारी अभद्र व्यवहार करते थे। उन्हें हमेशा गाली दी जाती थी और अपमानित किया जाता था। भारतीय जवान अपनी बहादुरी और महान् युद्ध सामर्थ्य के बावजूद सूबेदार के पद से ऊपर नहीं जा पाते थे जबकि इंग्लैंड का एक नव-नियुक्त सैनिक सीधा पदोन्नति पा जाता था।

4.2.6 धर्म को खतरा

सेना सुविधाओं में आई गिरावट के अतिरिक्त एक और कारण भी था जिससे सिपाही बगावत पर उतर आए। उनको ऐसा लगने लगा कि ब्रिटिश शासन द्वारा उनके धर्म पर हमला हो रहा है। ऐसा संदेह आम जनता में भी पैदा हो रहा था। मिशनरियों के धर्मपरिवर्तन के रवैये तथा कुछ ब्रिटिश अधिकारियों ने लोगों के मन में यह डर पैदा कर दिया कि उनका धर्म खतरे में है। कई स्थानों से ईसाई धर्म में परिवर्तन के समाचार मिले। सरकार चर्च को अपने खर्च से चलाती थी और कई जगह मिशनरियों को पुलिस सुरक्षा भी प्रदान करती थी। इसके बाद सिपाहियों को अपनी जाति चिह्न (तिलक आदि) लगाने पर पाबंदी लगा दी गयी और 1856 में एक ऐक्ट पास हुआ जिसके तहत नए भर्ती होने वाले जवानों को आवश्यकता पड़ने पर विदेश में भी सेवा करने की शपथ लेनी पड़ती थी। इन सबसे सिपाहियों की रूढ़िवादी मान्यताएँ हिल उठीं और उन्होंने कई बार इन नीतियों के विरूद्ध जोरदार प्रतिक्रिया व्यक्त की। जैसे उदाहरण के लिए 1824 में जवानों के 40 वें रेजिमेंट ने जो बैरकपुर में था, समुद्री रास्ते से बर्मा जाने से इंकार कर दिया क्योंकि उनका धर्म उन्हें समुद्र को पार करने की अनुमति नहीं देता था उसके जवाब में अंग्रेजों ने काफी बेरहमी दिखाई, रेजिमेंट को विघटित कर दिया तथा कुछ नेताओं को मौत के घाट उतार दिया।

1844 में सात बटालियनों ने वेतन और भत्ते के प्रश्न पर विद्रोह कर दिया। यहाँ तक कि 1837-1842 के अफगान युद्ध के समय सैनिक एकदम विद्रोह पर उतर आये थे।

सिपाहियों की तरह भारत की आम जनता भी अंग्रेजों के दमनकारी शासन के विरुद्ध विद्रोह पर उतर आई। इनमें से कच्छ (1816-32), कोल (1831) तथा संथालियों (1855-56) के विद्रोह प्रमुख हैं। परन्तु 1857 के विद्रोह की विशेषता यह थी कि यह सैनिक तथा आम जनता का मिला जुला विद्रोह था। दोनों के परस्पर सहयोग ने इस विद्रोह को अत्यंत शक्तिशाली बना दिया।

4.2.7 तात्कालिक कारण

वातावरण इतना उत्तेजनापूर्ण था कि छोटी सी वजह भी विद्रोह का कारण बन सकती थी। ग्रीज लगे कारतूस का प्रसंग अपने आप में इतना गंभीर कारण था कि यह कारण अकेला ही विद्रोह की शुरूआत् कर सकता था। यह सूखी लकड़ियों के ढेर के समान था जिसे आग लगाने के लिए चिंगारी की आवश्यकता थी। नए एनफिल्ड राइफल की कारतूसें जिन्हें सेना में तुरंत लाया गया था उनको ढकने के लिए ग्रीज लगा पेपर होता था जिसे रायफल में भरने से पहले दाँत से काटना पड़ता था। कई बार ग्रीज गाय व सूअर की चर्बी से बना होता था। इससे हिन्दू और मुस्लिम सिपाही क्रुद्ध हो उठे और उन्हें विश्वास हो गया कि सरकार जानबूझकर उनके धर्म को नष्ट करना चाहती है। यही इस विद्रोह का तात्कालिक कारण बना।

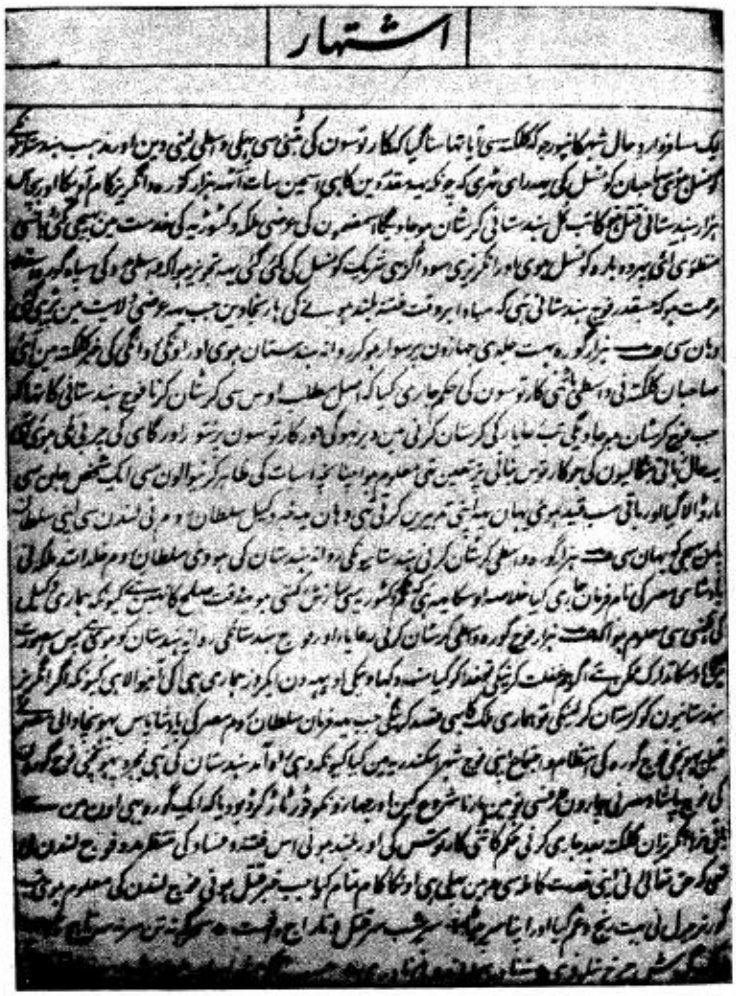

1 नए कारतूसों का जिक्र करते हुए नाना साहब का घोषणा पत्र

4.3 संगठन

अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोहियों ने किस तरह का बनाया? इस प्रश्न पर इतिहासकारों में काफी मतभेद है। एक मत यह है कि यह एक विस्तृत और सुसंगठित षडयंत्र था जबकि दूसरा मत यह है कि यह पूर्ण रूप से स्वतः स्फूर्त था। सच तो ये प्रतीत होता है कि विद्रोह के समय किसी न किसी तरह की सुसंगठित योजना तो जरूर थी परन्तु यह पूर्णतया परिपक्व नहीं हुआ था।

चूँकि विद्रोहियों ने छिपे तौर पर सब कुछ नियोजित किया था इसलिए उन्होंने इस गुप्त संगठन की प्रकृति, कार्य तथा ढाँचे का कोई लेखा-जोखा नहीं रखा था। परन्तु जो कहानियाँ हमारे सामने आयी हैं उनसे पता चलता है कि लाल कमलों तथा चपातियों को जो क्रमशः स्वतंत्रता तथा रोटी के प्रतीक थे, एक गाँव से दूसरे गाँव तथा एक रेजिमेंट से दूसरे रेजिमेंट तक पहुँचाया जाता था। इसके अलावा भाषण भी दिए जाते थे तथा भ्रमणकारी संन्यासियों तथा फकीरों ने उपदेशों के जरिए लोगों को उपनिवेशवादी ताकतों के खिलाफ खड़ा किया। इन सब ने सिपाहियों को विद्रोह के लिए तैयार करने में सहायता की।

4.4 विद्रोह

27 मार्च 1857 को बैरकपुर में तैनात एक युवा सैनिक मंगल पांडे ने अकेले ही ब्रिटिश अधिकारियों पर हमला करके बगावत कर दी। उसे फाँसी पर लटका दिया गया और इस घटना पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु इससे सिपाहियों में फैले असंतोष तथा क्रोध का पता चल गया। इस घटना के एक महीने के अंदर 24 अप्रैल को मेरठ में तैनात देशी घुड़सवार सेना के नब्बे लोगों ने चर्बी लगे कारतूसों को इस्तेमाल करने से इंकार कर दिया। उनमें से 85 को बरखास्त कर दिया गया। तथा 9 मई को 10 साल के लिए जेल की सजा दे दी गई। इस पर शेष भारतीय सिपाहियों में जोरदार प्रतिक्रिया हुई और अगले

दिन 10 मई को मेरठ में तैनात पूरी भारतीय फौज ने विद्रोह कर दिया। अपने साथियों को मुक्त कराकर तथा ब्रिटिश अधिकारियों को मार कर उन्होंने दिल्ली की ओर कूच करने का निर्णय लिया। इससे पता चलता है कि उनके दिमाग में ब्रिटिश शासन का कोई न कोई विकल्प था।

दूसरी बात जिससे यह साफ पता चलता है कि यह एक महज सिपाही विद्रोह ही नहीं था वह यह कि लोगों ने जैसे ही सिपाहियों के अधिकारियों पर गोली चलाने की आवाज सुनी, आस-पास के सैनिक बाजारों को लूटना शुरू कर दिया और अंग्रेजों के बंगलों पर आक्रमण कर उन्हें जला डाला। आस-पास के गाँवों के गुर्जर शहर में घुस आये और विद्रोह में शामिल हो गए। दूरसंचार के तार काट दिए गए तथा घुड़सवारों को जो संदेश लेकर दिल्ली जाते थे, रोक दिया गया। जैसे ही मेरठ के सैनिक दिल्ली पहुँचे वहाँ भी भारतीय सेना ने बगावत कर दी और विद्रोहियों में शामिल हो गए। उन्होंने वृद्ध बहादुर शाह ज़फर को भारत का सम्राट घोषित कर दिया। इस प्रकार 24 घंटे के अंदर एक मामूली विद्रोह से शुरू होकर यह पूरे तौर पर राजनीति बगावत में परिवर्तित हो गया।

अगले एक महीने में बंगाल की पूरी फौज ने बगावत कर दी। सारा उत्तर तथा उत्तर पश्चिम भारत शस्त्र लेकर अंग्रेजों के विरूद्ध खड़ा हो गया। अलीगढ़, मैनपुरी, बुलंदशहर, इटावा, मथुरा, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, शाहाबाद, दानापुर तथा पूर्वी पंजाब जहाँ भी भारतीय सैनिक थे, उन्होंने विद्रोह कर दिया। सेना के विद्रोह करने से पुलिस तथा स्थानीय प्रशासन भी तितर-बितर हो गया। इसके तुरंत बाद शहर तथा गाँवों में विद्रोह शुरू हो गये। लेकिन कई स्थान ऐसे भी थे जहाँ के लोग सेना के विद्रोह से पहले ही बगावत कर चुके थे। जहाँ भी विद्रोह भड़का सरकारी खजाने को लूट लिया गया, गोले बारूद जब्त कर लिए गए, बैरकों और न्यायालयों को जला डाला गया और कारागार के दरवाजे खोल दिए गए। गाँवों में कृषकों तथा बेदखल किए गए जमींदारों ने महाजनों तथा नए जमींदारों पर जिन्होंने उन्हें बेदखल किया था, हमला कर दिया। उन्होंने सरकारी दस्तावेजों तथा महाजनों के बही खातों को नष्ट कर दिया। उन्होंने अंग्रेजों के बनाए न्यायालयों, राजस्व कार्यालयों, राजस्व दस्तावेजों तथा थानों को नष्ट कर दिया। इस तरह विद्रोहियों ने उपनिवेशवादी शासन के सभी चिह्नों को मिटाने का प्रयास किया।

जिन क्षेत्रों के लोगों ने बगावत में सक्रिय भाग नहीं लिया उन लोगों ने भी अपनी सहानुभूति विद्रोहियों को दी और उनकी सहायता की। ये कहा जाता था कि विद्रोही सिपाहियों को अपने साथ भोजन नहीं ढोना पड़ता था क्योंकि गाँव वाले उन्हें भोजन खिलाते थे। दूसरी तरफ ब्रिटिश फौजों के प्रति जनता का विद्वेष भी स्पष्ट था। उन्होंने उन्हें किसी भी तरह की सहायता अथवा सूचना देने से इंकार किया और कई अवसर पर उन्होंने ब्रिटिश फौजों को गलत सूचना देकर गुमराह भी किया।

मध्य भारत में भी जहाँ कि शासक ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार थे, फौजों ने विद्रोह कर दिया। हजारों की संख्या में इंदौर सैन्यदल, इंदौर में विद्रोही सिपाहियों के साथ हो गए। इसी प्रकार से 20,000 से भी ज्यादा ग्वालियर की सैन्यदल तात्या टोपे तथा झाँसी की रानी के साथ चले गए। सारे उत्तर और मध्य भारत में ब्रिटिश शक्ति सिर्फ आगरा तथा लखनऊ तक ही सीमित हो गयी थी। अन्य जगह अंग्रेजी फौज तथा अंग्रेजी शासन ताश के पत्तों की तरह बिखर गए।

विद्रोह की सबसे ध्यान देने वाली बात हिन्दू-मुस्लिम एकता थी। मेरठ व दिल्ली के हिन्दू सिपाहियों ने एकमत होकर बहादुर शाह को सम्राट घोषित किया। सभी हिन्दू और मुस्लिम सिपाहियों ने सम्राट का आधिपत्य स्वीकार किया और विद्रोह के बाद "दिल्ली चलो" का आह्वान किया। हिन्दू और मुस्लिम ने साथ मिलकर लड़ाई लड़ी और साथ ही मरे। जहाँ भी सिपाही पहुँचते हिन्दू भावनाओं के प्रति आदर करते हुए गोहत्या पर प्रतिबंध लगा दिया जाता था।

बोध प्रश्न 1

1 कृषकों का शोषण कैसे और किस वर्ग द्वारा किया जाता था? दस पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 नीचे लिखे वक्तव्यों को पढ़ें और सही (√) या गलत (×) का चिन्ह लगाएँ।

क) जमींदारों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ लड़ाई में कृषकों का साथ दिया।

ख) सिपाहियों ने ब्रिटिश शासन में अपने धर्म पर खतरे को अनुभव किया।

ग) मध्य व उच्च वर्गीय भारतीय, ब्रिटिश शासन से लाभान्वित थे।

घ) बहुत लम्बे समय से भारतीयों के अधिकतर वर्ग शोषित थे लेकिन ग्रीज लगे कारतूसों की घटना विद्रोह छिड़ने की तात्कालिक कारण बनी।

3 करीब पाँच पंक्तियों में लिखें कि बगावत कब, कहाँ और कैसे शुरू हुई?

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 नेतृत्व

विद्रोह की आँधी दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, बरेली, झाँसी और आगरा में केंद्रित थी। प्रारंभिक तौर पर इन स्थानों के नेता पूरी तरह स्वतंत्र थे, इसके बावजूद आंदोलन के समय इन सभी ने बहादुर शाह का आधिपत्य स्वीकार किया।

2 तांत्या टोपे

बख्त खाँ

दिल्ली में बहादुर शाह नेता थे। लेकिन वास्तविक अधिकार सिपाहियों के पास था। बख्त खाँ जिसने कि सिपाहियों के विद्रोह का बरेली में नेतृत्व किया था, 3 जुलाई 1857 को दिल्ली पहुँचा। उस तिथि से उसने वास्तविक अधिकार का संचालन प्रारंभ किया। उसने सिपाहियों के न्यायालय की स्थापना की जिसमें दोनों हिन्दू और मुस्लिम विद्रोही शामिल थे। परन्तु उससे पहले ही से सिपाहियों ने सम्राट के आदेशों के प्रति विशेष ध्यान नहीं दिया। बहादुर शाह ने सेना के अधिकारियों की उनके न्यायालय में बेढंगे वस्त्र में आने पर और शासन के प्रति उनके अनादर के प्रदर्शन के तरीकों की भर्त्सना की।

नाना साहेब और तात्या टोपे

कानपुर में नाना साहेब द्वारा विद्रोह का नेतृत्व किया गया जो कि पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र थे। विद्रोही सिपाहियों ने भी नाना साहेब को सहयोग दिया और उनके नेतृत्व में सैनिक और नागरिक दोनों ने मिलकर युद्ध किया। उन्होंने अंग्रेजों को कानपुर से बाहर निकाल दिया और नाना साहेब को पेशवा घोषित किया जिन्होंने कि बहादुर शाह को भारत का सम्राट स्वीकारा। पर ज्यादातर लड़ाइयाँ तात्या टोपे के नेतृत्व में ही लड़ी गईं और वह एक महान् देशभक्त और ब्रिटिश विरोधी नेता के रूप में चर्चित रहे।

अवध की बेगम

लखनऊ में अवध की बेगम ने नेतृत्व प्रदान किया और अपने लड़के बिरजिस कदर को अवध का नवाब घोषित किया। लेकिन यहाँ भी सबसे प्रसिद्ध नेता हुए फैजाबाद के मौलवी अहमदुल्ला जिन्होंने विद्रोहियों को संगठित किया तथा अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई लड़ी।

रानी लक्ष्मीबाई

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी बहुत लोकप्रिय नेता थी। उनका यह विश्वास था कि हिन्दू कानून का उल्लंघन कर उनके शासन अधिकारों को छीना गया है। हालांकि वे आरंभिक अवस्था में हिचक रही थीं परन्तु एक बार विद्रोह में शामिल होने के बाद उन्होंने बहादुरी से युद्ध किया।

3 कुँवर सिंह

कुँवर सिंह

लेकिन सबसे ज्यादा लोकप्रिय और विशिष्ट नेता आरा के कुँवर सिंह थे। उनके नेतृत्व में सैनिक और नागरिक विद्रोह पूरी तरह मिल गये थे और अंग्रेज उनसे सबसे ज्यादा भयभीत रहते थे। युद्ध दल के करीब 5,000 जवानों के साथ जिनमें कि दानापुर के 600 सिपाही और रामगढ़ के विद्रोही भी शामिल थे, कुँवर सिंह ने मिर्जापुर, बांदा और कानपुर के क्षेत्रों में कूच किये। वे रेवा राज्य तक पहुँचे और यह सोचा गया कि जितनी जल्दी रेवा विद्रोहियों के हाथ आ जाएगी, ब्रिटिश बाध्य होकर दक्षिण की ओर जायेंगे। लेकिन, किसी कारणवश कुँवर सिंह दक्षिण दिशा की तरफ नहीं बढ़े। वे बांदा लौट आये और वहाँ से आरा वापस पहुँचे जहाँ कि उन्होंने ब्रिटिश दल को परास्त किया। वे गंभीर रूप से घायल हो गए और अपने पैतृक घर जगदीशपुर में 27 अप्रैल 1858 को उनकी मृत्यु हो गयी।

अज्ञात शहीद

अपनी वीरता और देश भक्ति के लिए याद किये जाने वाले इन नेताओं के अतिरिक्त, अनेक अज्ञात नेता सिपाहियों, कृषकों और छोटे-छोटे जमींदारों के बीच थे जो कि वीरता और शौर्य में किसी से कम नहीं थे। उन्होंने भी ब्रिटिश को भारत से बाहर निकालने के लिए अभूतपूर्व शौर्य के साथ युद्ध किया। कृषकों और सिपाहियों ने अपने धर्म और जाति के मतभेदों को भुलाकर और अपने संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर देश की खातिर अपने जानों की कुर्बानी दी।

4.6 पराजय

अंग्रेजों ने 20 सितंबर 1857 को दिल्ली पर कब्जा किया। इससे पहले विद्रोहियों को कानपुर, आगरा, लखनऊ और कुछ अन्य जगहों पर मात खानी पड़ी। पर इन सब पराजयों से विद्रोहियों के जोश में कमी नहीं आई। लेकिन दिल्ली के पतन होते ही उन्हें गहरा आघात लगा। इससे अब स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजों का ध्यान सबसे अधिक दिल्ली पर क्यों केन्द्रित था। और इसके लिए उन्हें काफी जन और माल की हानि उठानी पड़ी। बहादुर शाह को दिल्ली में कैद कर लिया गया और उसके राजकुमारों को पकड़कर कत्ल कर दिया गया।

4 बहादुर शाह जफर का समर्पण

एक के बाद एक सभी विद्रोही नेताओं की हार होती गई। नाना साहेब कानपुर में पराजित हुए और उसके बाद 1857 के शुरू में नेपाल भाग गए। उनके बारे में उसके बाद कुछ पता नहीं चला। तांत्या टोपे मध्य भारत के जंगलों में भाग गए। वहीं से गुरिल्ला युद्ध जारी रखा। अप्रैल 1857 में उनके एक जमींदार मित्र ने धोखे से सुप्तावस्था में उन्हें गिरफ्तार करवा दिया। उन पर शीघ्र मुकदमा चलाकर उन्हें 15 अप्रैल 1858 को फांसी दे दी गयी। झांसी की रानी 17 जून 1858 को लड़ाई के मैदान में मारी गयीं। 1859 तक कुँवरसिंह, बख्त खाँ, बरेली के खान बहादुर खान, मौलवी अहमदुल्ला सभी मर चुके थे जबकि अवध की बेगम नेपाल भाग गयीं थीं। 1859 के अंत तक, अंग्रेजों का भारत के ऊपर फिर से पूरी तरह और दृढ़ता से प्रभुत्व कायम हो गया।

5 अंग्रेजी फौजों द्वारा गांववालों को खदेड़ना

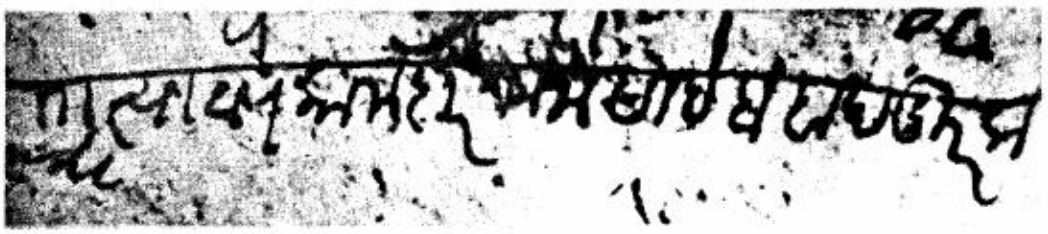

6 तात्या टोपे के हस्ताक्षर

4.7 विफलता के कारण

इस शक्तिशाली विद्रोह के पतन के कई कारण थे। इनमें से हम कुछ के बारे में आपको बताएंगे।

4.7.1 एकरूप विचारधारा एवं कार्यक्रम का अभाव

1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार और शासन प्रणाली को कुछ समय के लिए उखाड़ फेंका, लेकिन विद्रोही यह नहीं जानते थे कि इसकी जगह पर क्या विकल्प होना चाहिए। उनके दिमाग में कोई भी दूरदर्शी योजना नहीं थी इस कारण उन्हें पुरानी सामन्त व्यवस्था की ओर देखना पड़ा। यह व्यवस्था इतनी जर्जरित हो चुकी थी और उसमें इतनी शक्ति भी नहीं रह गई थी जिससे कि अंग्रेजों का सामना कर पाए। इन शासकों की असफलता के कारण ही अंग्रेज सारे भारत को अधीन करने में सफल हो सके थे। इन लोगों पर भरोसा रखने के कारण विद्रोहियों को भारतीयों में एक नई चेतना जगाने में बाधा उपस्थित हुई। केवल राष्ट्रीय एकता ब्रिटिश शासन का सक्षम विकल्प बना सकती थी।

4.7.2 भारतीयों में एकता का अभाव

जैसा कि बताया जा चुका है कि भारतीयों में कोई व्यापक एकता नहीं बन पाई थी। यद्यपि बंगाल के सिपाहियों ने विद्रोह में भाग लिया था किंतु सिख तथा दक्षिण भारतीय सिपाही अंग्रेजों की ओर से विद्रोहियों का दमन कर रहे थे। इसके अतिरिक्त पूर्व एवं दक्षिण भारत के अधिकतर क्षेत्रों में कोई विद्रोह नहीं हुए। सिखों ने भी विद्रोहियों का साथ नहीं दिया। इन वर्गों के विद्रोह में भाग नहीं लेने के निजी कारण थे। मुगल शासन के पुनरूत्थान की संभावना से सिखों में भय उत्पन्न हो गया था। ये मुगलों के द्वारा बहुत सताए गए थे। इसी प्रकार राजस्थान के राजपूत राजाओं और हैदराबाद के निजाम मराठा शक्ति के पुनरूत्थान से आशंकित थे, मराठों ने इनके राज्यों में जा-जाकर लूटपाट मचायी थी। इसके अलावा, कृषकों के कुछ वर्गों ने जो ब्रिटिश शासन से लाभान्वित थे अंग्रेजों को विद्रोह के खिलाफ सहयोग दिया। बंगाल महाप्रांत के जमींदार, ब्रिटिश शासन के ही उपज थे और उनका सहयोग स्वाभाविक ही था। यही बात कलकत्ता, बंबई एवं मद्रास के बड़े व्यापारियों के साथ भी लागू होती है जो कि विद्रोहियों के साथ होने की बजाय अंग्रेजों के सहायक बने।

4.7.3 शिक्षित भारतीयों के सहयोग का अभाव

आधुनिक शिक्षित भारतीयों ने भी विद्रोह को सहयोग नहीं दिया क्योंकि उनके विचार से विद्रोह का रूप पिछड़ा हुआ था। यह शिक्षित मध्य वर्ग ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था की उपज थे और उनकी ऐसी धारण बन गयी थी कि देश को आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर करने में अंग्रेज ही नेतृत्व प्रदान कर सकते हैं।

4.7.4 नेताओं में फूट

सबसे मुख्य समस्या विद्रोहियों के वर्ग में एकता के अभाव की थी। उनके नेता एक दूसरे के प्रति संदेहास्पद एवं इर्ष्यालू थे और अक्सर छोटे झगड़ों में उलझते रहते थे। उदाहरण के लिए अवध की बेगम, मौलवी अहमदुल्ला के साथ और मुगल शासक, सेना प्रमुख के साथ झगड़ते रहते थे। नाना साहेब के राजनीतिक सलाहकार अजीमुल्लाह ने उन्हें दिल्ली न जाने की सलाह दी क्योंकि वे सम्राट बहादुरशाह के सामने छोटे पड़ जायेंगे इसलिए नेताओं के स्वार्थपन एवं संकीर्ण दृष्टिकोण ने विद्रोह को दुर्बल बना दिया और इसके एकीकरण में रुकावट डाली।

4.7.5 ब्रिटिशों की सैनिक श्रेष्ठता

विद्रोह की विफलता का अन्य मुख्य कारण था अंग्रेजों के पास उत्कृष्ट शस्त्रों का होना। दुनियाभर में अपनी शक्ति की ऊँचाई पर तथा ज्यादातर भारतीय शासकों एवं प्रधानों के द्वारा समर्थित ब्रिटिश साम्राज्यवाद विद्रोहियों के लिए सैन्य रूप से कहीं

ज्यादा मजबूत था। जबकि विद्रोहियों में अनुशासन एवं केंद्रीय नियंत्रण का अभाव था, अंग्रेजी सेना को लगातार अनुशासित जवानों, युद्ध सामग्रियों और पैसों का स्रोत ब्रिटेन से मुहैया होता था। सिर्फ साहस से ही शक्तिशाली एवं निर्धारित शत्रु को, जिन्होंने अपनी युद्ध नीति चतुराई के साथ नियोजित की थी, नहीं जीता जा सकता था। अनुशासनहीनता के कारण ही मुठभेड़ में विद्रोहियों को अंग्रेजों की अपेक्षा अधिक जान माल की हानि उठानी पड़ी। अंग्रेजी सेना की श्रेष्ठता देखकर भारतीय सिपाहियों में से अधिकतर अपने गाँव वापस लौट गए।

4.8 प्रभाव

1857 विद्रोह की असफलता के बावजूद इसने भारत में ब्रिटिश प्रशासन को गहरा आघात पहुँचाया। विद्रोह के बाद के ब्रिटिश शासन की संरचना और नीतियों में भारी फेर-बदल किया गया।

4.8.1 सत्ता का हस्तांतरण

पहला मुख्य परिवर्तन यह था कि भारत का शासन 1858 एक्ट के द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी से ब्रिटिश क्राउन के पास चला गया। अब भारत के लिए राजकीय सचिव (सेक्रेटी आफ स्टेट) जिसे एक परिषद् द्वारा सहयोग प्राप्त होगा, भारत में शासन के लिए जिम्मेवार था। पहले यह अधिकार कंपनी के निर्देशकों के पास हुआ करता था।

4.8.2 सैन्य संगठन में परिवर्तन

दूसरा मुख्य परिवर्तन सेना में किया गया। भविष्य में भारतीय सिपाहियों द्वारा कोई भी विद्रोह न हो इसके लिए कई कदम उठाए गए। प्रथमतः यूरोपीय जवानों की संख्या बढ़ा दी गयी और बंगाल की सेना में दो भारतीय सिपाहियों पर एक यूरोपीय, बंबई एवं मद्रास की सेनाओं में पांच भारतीय सिपाहियों पर दो यूरोपीय को नियुक्त किया गया यूरोपीयन फौज को प्रमुख भौगोलिक एवं सैन्य स्थितियों में रखा गया। सेना की प्रमुख शाखाओं जैसे तोपखानों को सिर्फ यूरोपियों के हाथों सौंप दिया गया। दूसरा सेना के भारतीय वर्ग का संगठन "फूट डालो और शासन करो" की नीति पर आधारित था। जवानों में राष्ट्रीय भावना न जागे इसलिए जाति, समुदाय और क्षेत्र के आधार पर रेजिमेंटों की स्थापित हुई।

7 बैरकपुर के सिपाहियों के शस्त्रों का जब्त किया जाना

4.8.3 फूट डालो और शासन करो

इस नीति को सामान्य जनता में भी लागू किया गया। चूंकि अंग्रेजों ने यह सोचा कि विद्रोह का षडयंत्र मुसलमानों द्वारा रचा गया था इसलिए इन्हें कठोर दंड दिए गए और उनके साथ लोक नियुक्तियों एवं कई अन्य क्षेत्रों में भेदभाव बरता गया। इस नीति को बाद में उलट दिया गया और मुसलमानों के लिए एक विलम्बित प्रसादन की शुरुआत हुई। 19वीं सदी के अंत में मुसलमानों को हिंदुओं से बेहतर सुविधा देने की योजना बनायी गयी जिससे कि भारतीयों में भेदभाव उत्पन्न करके आंदोलन को कमजोर किया जा सके। इन नीतियों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में समस्यायें पैदा की और सांप्रदायिकता के विकास में योगदान दिया।

4.8.4 रियासतों के प्रति नयी नीति

दूसरा महत्वपूर्ण बदलाव ब्रिटिश नीतियों का रियासतों की तरफ था। विलय की पूर्व नीति को अब छोड़ दिया गया और शासकों को उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार मिला। यह उन देशी शासकों को उपहार स्वरूप मिला जो कि विद्रोह के समय अंग्रेजों के साथ थे। हालांकि भारतीय शासकों का यह अधिकार एक निश्चित क्षेत्रों में पूर्णतया ब्रिटिश अधिकार के अधीनस्थ कर दिया गया और उनको सुविधा आश्रितों में बदल दिया गया।

4.8.5 नए सहयोगियों की खोज

इन परिवर्तनों के अलावा, अंग्रेजों का ध्यान भारतीयों के सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी वर्ग की तरफ गया जैसे जमींदार, राजकुमार और भूपति ताकि अपनी स्थिति को इस देश में और मजबूत बना सकें। दरअसल 1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश शासन के वास्तविक प्रतिक्रियावादी स्वभाव को धरातल पर ला दिया। ज्यादातर भारतीयों को यह अहसास हो गया कि भारत में ब्रिटिश शासन वास्तविक रूप में जन विरोधी था और यह निश्चित रूप में दमनकारी और उनके देश हित का विरोधी था।

8 दिल्ली के नागरिकों से धन की वसूली

4.9 मूल्यांकन

विद्रोह के कई पहलुओं पर विचार करने के बाद अंत में हम लोग देखेंगे कि 1857 की घटनाओं की कैसे तात्कालीन अधिकारियों और उनके बाद के विद्वानों ने व्याख्या की है।

1857 के विद्रोह की प्रकृति के बारे में शुरू से ही मतभेद है। ब्रिटिश अधिकारिक व्याख्या यह थी कि केवल बंगाल की सेना ने ही बगावत की और नागरिक अशांति, कानून और व्यवस्था तंत्र के टूट जाने से पैदा हुई। कई अधिकारियों ने यह सोचा कि यह केवल एक सैनिक बगावत है। लेकिन इस विचार का बेंजामिन डिजरैली (Benjamin Disraeli) ने जो कि कन्सरवेटिव (Conservative) नेता थे। जुलाई 1857 में खंडन किया। उन्होंने कहा : "साम्राज्यों का पतन मात्र ग्रीज लगे कारतूसों द्वारा नहीं हो सकता। ऐसा निश्चित कारणों और निश्चित कारणों के एकत्रित होने के अवसर पर ही होता है।" फिर उन्होंने पूछा : "क्या यह एक सैनिक बगावत है अथवा राष्ट्रीय विद्रोह?"

इन सरकारी विचारों को भारत में एक ब्रिटिश समुदाय के वर्ग ने भी चुनौती दी कर्नल जी.बी. मैलेसन (G.B. Melleson) जिन्होंने बाद में जे. डब्ल्यू. केय (J.W. Kaye) के "सिपाही युद्ध के इतिहास" को पूरा किया, अधिकारियों के सामान्य बगावत के सिद्धांत को चुनौती दी। "संकट आया : शुरू में प्रत्यक्ष रूप से एक सिपाही विद्रोह के रूप में, पर समय के साथ इसने अपना चरित्र बदल दिया और एक राष्ट्रीय विद्रोह बन गया।" वी.डी. सावरकर ने इस विद्रोह की राष्ट्रवादी व्याख्या की

और 1909 में कहा कि यह प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम था। वी.डी. सावरकर के मतों का एस.बी. चौधरी ने समर्थन किया जिन्होंने अपने लेखों में यह प्रदर्शित किया कि 1857 "जन जागरण" था। वस्तुतः इतिहास लेखन की परंपरा में भारत और पाकिस्तान दोनों में इसी तर्क को जल्द ही स्वीकार लिया गया।

उपर्युक्त विचार से भिन्न आर.सी. मजूमदार ने विवरण लिखा। उन्होंने 1857 के स्वतंत्रता संग्राम मानने से इंकार किया। उनका मत था कि "1857 के विद्रोह को राष्ट्रीय अथवा स्वतंत्रता संग्राम मानना 19वीं सदी के भारतीय जन इतिहास के सही ज्ञान के साथ धोखा करना है।"

कुछ इतिहासकारों ने मुसलमानों के विशिष्ट वर्ग को गड़बड़ी भड़काने के लिए जिम्मेदार ठहराया है ऊटरम (Outram) ने विद्रोह को "हिन्दुओं की शिकायतों की आड़ में मुसलमानों का षडयंत्र माना है। यद्यपि दूसरे विचारक विश्वास करते हैं कि विद्रोह के दौरान लोग सिर्फ ब्रिटिश शासन के खिलाफ नहीं बल्कि सामंती संरचना के खिलाफ भी लड़ रहे थे। इन सामंती प्रधानों के धोखा देने के कारण विद्रोह असफल हो गया। तलमीज खालदून ने लिखा है कि "धनी वर्ग के धोखे की वजह से यह आसानी से कुचल दिया गया।"

बाद के इतिहास लेखक ने हालांकि विद्रोह के जनप्रिय चरित्र को स्वीकारा परंतु इसके पिछड़े दृष्टिकोण पर बल दिया। बिपिन चंद्र ने इस बात पर बल दिया है :

"सारे आंदोलन में एक एकरूपता और भविष्यगामी कार्यक्रम की कमी थी जो कि सत्ता के छिनने के बाद लागू किया जा सके।"

ताराचंद ने इस बारे में ज्यादा स्पष्टता से लिखा कि "1857 का विद्रोह एक कमजोर व्यवस्था अपनी खोयी हुई मर्यादा को पाने का अंतिम प्रयास था।"

परसिवल स्पीयर (Percival Spear) ने कहा "और यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि यह पूर्णतया एक सैनिक विद्रोह था जो कि भारतीय सेनाओं की शिकायतों और अनुशासनहीनता तथा ब्रिटिश सैन्य अधिकारियों की गलतियों के कारण पैदा हुआ था। यह कहना कि बगावत आधुनिक स्वतंत्रता की ओर पहला प्रयास था, सच में दोषपूर्ण है। बल्कि, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में ये पुराने रूढ़िवादी भारत का अंतिम प्रयास था।"

हालांकि यहाँ कुछ ही व्याख्यायें दी गयी हैं पर इस मुद्दे पर बहस जारी है। आशा करते हैं कि भविष्य में हम 1857 के विद्रोह पर होने वाले शोध से और प्रबुद्ध हो सकेंगे।

बोध प्रश्न 2

1 नीचे दिए खाली स्थान में विद्रोह के नेताओं पर एक छोटा लेख लिखें।

.....

.....

.....

2 शक्तिशाली विद्रोह की पराजय के कुछ मुख्य कारण क्या थे? 100 शब्दों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

3 क्या 1857 की घटना ने भारतीय समाज पर कोई प्रभाव छोड़ा? नीचे दिए खाली स्थान में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.10 सारांश

1857 की घटनाएँ जिसकी कि हमने इस इकाई में चर्चा की है वह सिर्फ इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उसने विदेशी शासन के विरूद्ध जन भावना के निश्चित रूप को प्रदर्शित किया बल्कि इसलिए भी कि इसने अन्य कई परिवर्तनों की भी शुरूआत

की। ये परिवर्तन सिर्फ नीति निर्धारण और राजनैतिक संरचना से ही संबंधित नहीं थे बल्कि जन विश्वासों, भावनाओं और ब्रिटिश शासन के प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण से भी संबंधित थे। ब्रिटिश शासन की अपराजेयता हमेशा के लिए चकनाचूर हो गयी और विदेशी शासन के खिलाफ एक लंबे और संगठित संघर्ष के लिए तैयारी हो गयी। यहाँ से राष्ट्रीय आंदोलन की शुरूआत हुई जो कि अंततः 1947 में विदेशी शासन को समाप्त कर देश में आजादी ला सका।

4.11 शब्दावली

पर्यवेक्षक: देखभाल या निगरानी करने वाला

किंवदंती: उड़ती खबर, अफवाह

समाहर्त्ता: राजकर उगाहने वाला अधिकारी

काश्तकार: कृषक, खेतिहर

तिरस्कार: अनादर, अपमान

उगाहना: दूसरों से धन आदि लेकर इकट्ठा करना

सुप्तावस्था: सोने की स्थिति, सोये हुए

पुनरूत्थान: पतन होने के बाद फिर से उठना

अमानवीय: मनुष्य के स्वभाव, प्रकृति या आचरण के विरूद्ध

प्रतिद्वंद्वी: सामने आकर लड़ने या विरोध करने वाला

मलमल: एक प्रकार का महीन कपड़ा

विलय: किसी देशी रियासत या राज्य के आसपास के दूसरे बड़े राष्ट्र या राज्य में मिलकर एक हो जाना।

स्वत:स्फूर्त: अपने आप किया हुआ

प्रतिक्रिया: कोई क्रिया होने पर उसके विरोध में होने वाली क्रिया

आह्वान: बुलाना, राजा की ओर से बुलावे का पत्र।

4.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 उपभाग 4.2.1 देखें

2 क) × ख) √ ग) × घ) √

3 भाग 4.3 से पता लगाएं

बोध प्रश्न 2

1 भाग 4.5 देखें

2 भाग 4.7 देखें

3 भाग 4.8 देखें

इकाई 5 उपनिवेशवाद तथा प्रशासनिक व्यवस्था का विकास: 1857 के पूर्व और पश्चात्

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना
5.3 1857 से पूर्व प्रशासनिक व्यवस्था
  5.3.1 ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश संसद की तुलना
  5.3.2 आर्थिक नीति
  5.3.3 भू-राजस्व नीति
  5.3.4 न्याय व्यवस्था
  5.3.5 ब्रिटिश प्रशासन का प्रभाव
5.4 1857 के बाद प्रशासनिक व्यवस्था
  5.4.1 नई प्रशासनिक व्यवस्था
  5.4.2 प्रशासन का विकेंद्रीकरण
  5.4.3 आर्थिक नीति
  5.4.4 सैन्य संगठन
  5.4.5 प्रशासनिक सेवाएँ (Civil Services)
  5.4.6 रजवाड़ों के साथ संबंध
  5.4.7 विद्वेषपूर्ण प्रशासन (Hostile Administration)
  5.4.8 भारत में स्वायत्त शासन (Self Government) का प्रश्न
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य इस बात का अध्ययन करना है कि 1857 के पूर्व भारत में ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था का रूप कैसा था और 1857 के बाद वह कैसा हो गया। इसमें प्रशासन का स्वरूप और उसका विकास दोनों ही सम्मिलित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे कि:

- किस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक शक्ति से भू-भागीय शक्ति बन गई।
- किस प्रकार भारत के शासन का सीधा उत्तरदायित्व लिये बिना भारत के मामलों में ब्रिटिश संसद के नियंत्रण का विकास हुआ।
- ईस्ट इंडिया कंपनी की प्रशासनिक व्यवस्था कैसी थी।
- कैसे धीरे-धीरे भारत अंग्रेजी उपनिवेश बना।
- कैसे और कब भारत पर ब्रिटिश संसद का सीधा नियंत्रण हुआ तथा भारत में अंग्रेजी शासन का क्या परिणाम हुआ, तथा
- किस प्रकार भारत में राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ तथा स्वायत्त शासन की मांग की जाने लगी जिसकी परिणति भारत की आजादी में हुई।

5.1 प्रस्तावना

मुगलों ने भारत में प्रशासन का केंद्रीकृत रूप स्थापित किया था। उनकी प्रशासनिक व्यवस्था के सभी विभागों में व्यक्तित्व प्रमुख होता था। किन्तु इस प्रकार का व्यक्ति केंद्रित राज्य समय के थपेड़ों को नहीं सह पाया और ईस्ट इंडिया कंपनी के सामने कमजोर साबित हुआ। प्लासी की लड़ाई में हुई हार ने भारत की दुर्बलताओं का पर्दाफाश कर दिया। उसके बाद अंग्रेज भारत में एक दृढ़ शक्ति के रूप में स्थापित हो गए। इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि पहले ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के दौरान तथा बाद में सम्राट के शासन के दौरान भारत में अंग्रेजी राज के प्रशासन का स्वरूप क्या था। यहाँ इस बात की चर्चा भी की जाएगी कि प्रशासन की समस्या के पीछे आधारभूत तत्व क्या थे — अर्थात् भारत में ब्रिटिश शासन का स्वरूप कैसा था और उसका लक्ष्य क्या था।

5.2 ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना

ईस्ट इंडिया कंपनी का आरंभ एक व्यापारिक संघ के रूप में हुआ था। इसका आर्थिक स्वरूप भी सिर्फ व्यापारिक संघ के अनुरूप ही था। इसके अंतर्गत आने वाले प्रत्येक मुख्य "कारखाने" अथवा व्यापारिक संस्थान, एक अध्यक्ष तथा उसकी परिषद् के नियंत्रण में होते थे। अध्यक्ष को बाद में गवर्नर कहा जाने लगा। परिषद् में कंपनी के वरिष्ठ कर्मचारी होते थे। नए अथवा कम महत्वपूर्ण कारखाने किसी अनुभवी व्यापारी के नियंत्रण में रखे जाते थे। इस अनुभवी व्यापारी को "फैक्टर" (Factor) कहा जाता था। जिन व्यापारिक कारखानों में अध्यक्ष प्रमुख होता था उन्हें बाद में प्रेसीडेंसी कहा जाने लगा। मद्रास, या बाम्बे तथा कलकत्ता ऐसी ही प्रेसीडेंसीयाँ थी।

कंपनी का अधिकार क्षेत्र बढ़ाने में विभिन्न प्रक्रियाओं का हाथ था। ये थीं — जमींदारी के अधिकारों की प्राप्ति, भू-भागों को जीत कर या उनकी मालगुजारी का अधिकार प्राप्त कर तथा दीवानी का अधिकार प्राप्त करके।

1698 में कंपनी ने सुतांती, कलकत्ता तथा गोविन्दपुर गाँवों की जमींदारी के अधिकार खरीद लिए। 1757 में कंपनी ने quit rent के आधार पर चौबीस परगना पर अधिकार प्राप्त कर लिया जो बाद में कंपनी को ही दे दिया गया।

1760 में मीरकासिम के बर्दवान, चटगाँव तथा मिदनापुर जिले अंग्रेजों को सौंप दिए। मुगल बादशाह शाहआलम ने इसे अपनी स्वीकृति दे दी। इस प्रकार बादशाह से अनुदान में मिले भू-भाग के संबंध में ब्रिटिश महारानी का सांविधानिक रवैया क्या था, यह तो स्पष्ट ज्ञात नहीं है।

भारत में रहने वाले अंग्रेजों के ऊपर तो कंपनी को घोषणापत्र द्वारा अधिकार प्राप्त थे किंतु भारतीयों पर कंपनी का अधिकार ऐसे जमींदार का अधिकार था जो स्थानीय फौजदार के अधीन रहता था।

1764 के बक्सर-युद्ध के बाद बंगाल में अंग्रेजों की शक्ति सर्वोपरि हो गई।

5.3 1857 से पूर्व प्रशासनिक व्यवस्था

बंगाल पर अधिकार कर लेने के बाद अंग्रेजों ने वहाँ ऐसा प्रशासन स्थापित करने का प्रयास किया जो उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल होता। 1765 के पूर्व तक बंगाल का नवाब ही प्रशासन संभालता था। सिद्धांत रूप से तो वह मुगल बादशाह का प्रतिनिधि (agent) था किंतु वास्तव में उसके पास पूर्ण अधिकार थे। निजाम के रूप में उसके अधीन कानून और व्यवस्था, सैन्य शक्ति तथा फौजदारी (Criminal Justice) मामलों के विभाग थे, तथा दीवान के रूप में वह राजस्व उगाहने तथा प्रशासन एवं दीवानी मामलों के लिए उत्तरदायी था। 1764 के बक्सर युद्ध के बाद बंगाल में अंग्रेजों की शक्ति सर्वोपरि हो गई। बंगाल के प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश राज में मिला लेने पर भारत कंपनी के लिए तथा इंग्लैंड की सरकार दोनों के लिए ही राजनीतिक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती थीं। अतः अंग्रेजों ने मुगल बादशाह से एक आदेश प्राप्त किया जिसके अनुसार उन्हें बंगाल, बिहार और उड़ीसा में दीवानी अधिकार (भू-राजस्व उगाहने का अधिकार) प्राप्त हो गया। तब भी आरंभ में भू-राजस्व उगाहने का वास्तविक कार्य नवाब के कारिंदे ही करते थे। निज़ामत नवाब के ही हाथों में रही। प्रशासन का यह दोहरा रूप उस समय समाप्त हो गया जब 1772 में कंपनी ने राजस्व वसूली का वास्तविक नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया।

अब कंपनी मुख्य रूप से व्यापारिक शक्ति न रहकर भू-भागीय शक्ति हो गई थी। प्रश्न यह था कि क्या भारत का शासन एक व्यापारिक संघ करेगा जिसका कार्य मुख्यतः अपने व्यापारिक हितों की रक्षा करना है, या यह शासनाधिकार ब्रिटिश संसद को सौंप दिया जाए।

जैसे-जैसे कंपनी की राजनीतिक शक्ति बढ़ती गई, इसके अधिकारियों द्वारा उस शक्ति का दुरुपयोग भी बढ़ता गया। कंपनी द्वारा भारत में राजनीतिक सत्ता ग्रहण करने की बात पर इंग्लैंड में आपत्ति उठाई गई तथा संसद पर जोर डाला गया कि वह इस मामले में हस्तक्षेप करे। लगातार, युद्धों तथा कंपनी के अधिकारियों की मनमानी के कारण कंपनी घोर आर्थिक संकट में फंस गई थी। कंपनी ने संसद से आर्थिक सहायता के लिए याचना की। संसद इस शर्त पर कंपनी की सहायता करने को तैयार हुई कि भारत तथा इंग्लैंड दोनों ही स्थानों पर कंपनी का प्रशासन ससद के निर्देशन में होगा। इसके लिए 1773 का रेगूलेटिंग एक्ट (Regulating Act) पास किया गया।

5.3.1 ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश संसद की तुलना

1773 का रेगूलेटिंग ऐक्ट इस बात का प्रमाण था कि ब्रिटिश संसद भारत के मामलों को नियमित करने के लिए गंभीरता से सोचने लगी थी। इसने भारत के लिए पहली बार एक सर्वोच्च सरकार की स्थापना की जिसका प्रमुख बंगाल में फोर्ट विलियम का गवर्नर जनरल था। उसके साथ चार पार्षद (Counsellors) भी थे जिनको यह अधिकार था कि वे बम्बई तथा मद्रास की प्रेसीडेंसियों पर नजर रखें। प्रेसीडेंसियों को इस बात का अधिकार नहीं था कि वे गवर्नर जनरल और परिषद की आज्ञा के बिना भारतीय राज्यों के साथ युद्ध अथवा संधि कर सकें। इसमें अपवाद हो सकते थे जैसे आपातकाल होने पर अथवा ऐसी स्थिति में जब उन्हें कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स से युद्ध अथवा संधि करने के सीधे आदेश प्राप्त हों। इस ऐक्ट में इस बात की भी व्यवस्था थी कि कलकत्ता में एक सर्वोच्च न्यायिक न्यायालय की स्थापना की जाए।

"रेग्यूलेटिंग ऐक्ट" ने कंपनी अधिकृत भारतीय भू-भागों के नागरिक, सैन्य एवं वित्तीय मामलों को चलाने का अधिकार ब्रिटिश संसद को दिया। साथ ही यह इस बात का भी पहला प्रमाण है कि ब्रिटेन की सरकार भारत के मामलों में गंभीर रुचि लेने लगी थी। इस ऐक्ट में कतिपय आधारभूत कमियाँ थीं जिनके कारण वारेन हेस्टिंगज को काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी। उसके पार्षद भी उसका साथ नहीं देते थे। इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि गवर्नर जनरल का अपने अधीन प्रेसीडेन्सियों पर कहाँ तक अधिकार है तथा यह भी स्पष्ट नहीं था कि सर्वोच्च परिषद् एवं सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र क्या है। इसका परिणाम यह हुआ कि वारेन हेस्टिंग्ज को अपना प्रशासनिक उत्तरदायित्व निभाने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा तथा परिषद् में एक के बाद एक संकट उत्पन्न होते गए।

1781 में कंपनी के मामलों को और अधिक नियंत्रित करने के प्रयास किए गए। नार्थफॉक्स की मिली-जुली सरकार ने गंभीरतापूर्वक यह प्रयत्न किया कि कंपनी की शासन व्यवस्था का पुनर्गठन हो। इस उद्देश्य से दो बिल प्रस्तुत किए गए। चार्ल्स जेम्स फौक्स ने कंपनी की शासन व्यवस्था को ऐसी निरंकुश व्यवस्था कहा "जिसकी मिसाल संसार के इतिहास में नहीं मिलती।" कंपनी ने अपना संरक्षण मंत्रियों के हाथ में दिये जाने पर विरोध प्रकट किया। यह बिल हाउस आफ कॉमन्स में तो पारित हो गया किंतु हाउस ऑफ लार्डस ने इन्हें अस्वीकार कर दिया।

जब विलियम पिट ने प्रधानमंत्री का पद संभाला तो उसने "इंडिया बिल" प्रस्तुत करने का निश्चय किया। पिट को हाउस ऑफ कॉमन्स में कम समर्थन प्राप्त था। साथ ही उसे ईस्ट इंडिया कंपनी की आशंकाओं का भी निवारण करना था। पिट ने कंपनी के साथ बातचीत करके तथा उसकी स्वीकृति से एक ऐसी योजना तैयार की जो भारतीय मामलों पर संसद के नियंत्रण से संबंधित थी। यह पिट के "इंडिया बिल" के नाम से जाना जाता है। अगस्त 1784 में पास होने पर यह बिल कानून बन गया।

इस अधिनियम के अनुसार भू-भागों तथा वाणिज्य के बीच अंतर को बनाये रखना था। भू-भागों के प्रशासन का नियंत्रण संसद की एक प्रतिनिधिक सभा को दिया जाना था जबकि वाणिज्य पर कंपनी का ही अधिकार बना रहना था। भारत में सरकार अब भी कंपनी के नाम पर ही चलाई जानी थी यद्यपि राजनीतिक एवं वित्तीय मामले प्रस्तावित संसदीय सभा के नियंत्रण एवं देखरेख में होने चाहिए थे।

पिट के इंडिया बिल ने नियंत्रण, निर्देशन एवं निगरानी का एक सशक्त साधन प्रदान किया। यही व्यवस्था थोड़े-बहुत फेर बदल के साथ 1858 तक प्रयुक्त होती रही। इस समय तक भारत पर इंग्लैंड की सम्राज्ञी का पूर्व नियंत्रण स्थापित हो चुका था।

उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध तक ब्रिटिश भू-भागों के प्रशासन का विधिनिर्माण कुछ सीमा तक उपयोगितावादी चिंतन एवं सिद्धांतों से प्रभावित रहा। जैसा कि इरीक ऐरिक स्टोक्स ने अपनी रचना इंग्लिश यूटिलिटेरियन्स इन इंडिया (English Utilititarians in India) में दर्शाया है। इस स्थिति में 1813 में परिवर्तन आया और अब प्रवृत्ति उदारवादी सिद्धांतों की ओर हो गयी। कंपनी का प्रशासन तो कंपनी के ही हाथों में रहने दिया गया किंतु भारतीय व्यापार पर कंपनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। 1833 के एक अधिनियम के द्वारा कंपनी ने भारत में स्थित अपनी समस्त व्यक्तिगत संपत्ति का समर्पण कर दिया तथा इंग्लैंड की सम्राज्ञी की ओर से न्यासी (Trustee) के रूप में इसकी देखभाल करने लगी। भारत में कंपनी का व्यापारिक रूप समाप्त हो गया और वह सम्राज्ञी की राजनीतिक अभिकर्त्ता (Political agent) बनकर रह गई। भारत सरकार का नये सिरे से गठन किया गया जिससे इसका स्वरूप भारत-व्यापी हो गया।

5.3.2 आर्थिक नीति

ब्रिटिश सरकार ने ऐसी आर्थिक नीति अपनाई जिससे भारत की अर्थव्यवस्था में तेजी से परिवर्तन आया और अर्थव्यवस्था उपनिवेशीय आर्थिक नीति में बदल गई जिसका स्वरूप और गठन ब्रिटेन की आवश्यकताओं के अनुकूल किया गया था। सन् 1600 से लेकर 1757 तक ईस्ट इंडिया कंपनी की भूमिका एक व्यापारिक निगम की थी जो तैयार माल तथा कीमती धातुएँ भारत में लाता था तथा उनके बदले भारतीय माल जैसे कपड़ा लेता था। प्लासी की लड़ाई के बाद कंपनी के व्यापारिक संबंधों में बहुत परिवर्तन आया। अब अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए कंपनी राजनीतिक नियंत्रण का प्रयोग करने लगी थी। भारत को उपनिवेश बनाने में इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति का भी बड़ा हाथ रहा। 1793 से 1813 के बीच इंग्लैंड के उत्पादकों ने कंपनी के व्यापारिक विशेषाधिकारों के विरूद्ध आंदोलन छेड़ दिया और अंततः वे भारतीय व्यापार पर कंपनी के एकाधिकार को समाप्त करने में सफल हुए। ब्रिटिश उद्योगपति चाहते थे कि उनका बनाया माल भारत के बाजारों में बिके तथा साथ ही अपने उत्पादन के लिए उन्हें कच्चा माल भी भारत से मिलता रहे।

इस प्रकार गुलामी एवं शोषण की उपनिवेशवादी व्यवस्था ने भारत को संपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था को अव्यवस्थित कर दिया।

अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए कंपनी ने अपने अधीन भू-भागों पर और अधिक दबाव डालना आरंभ कर दिया। अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए उसने अभियानों एवं युद्धों का सहारा लिया। इंग्लैंड ने अपने हिस्सेदारों को अधिक से अधिक लाभ देने, ब्रिटिश सरकार को भेंट देने तथा प्रभावशाली लोगों को रिश्वत देने के लिए कंपनी को अतिरिक्त धन की आवश्यकता थी। अतिरिक्त निर्यात (Exports Surplus) के अतिरिक्त 1813 के बाद कंपनी ने होम चार्जेस भी लागू कर दिए और इस प्रकार भारत की संपत्ति को दुहकर इंग्लैंड भेजा जाने लगा। अन्य खर्चों के अतिरिक्त इन तीन चार्जेस में भारतीय ऋण पर ब्याज भी शामिल था। 1858 तक भारतीय ऋण लगभग 695 लाख हो गया था। संपत्ति के इस निर्यात के बदले में भारत को धन अथवा वस्तुएँ कुछ भी उचित रूप से प्राप्त नहीं होती थीं। इस तथ्य को अंग्रेज अधिकारी भी स्वीकार करते हैं कि 1757 और 1857 के बीच भारतीय संपत्ति अनुचित रूप से इंग्लैंड पहुँचाई जाती रही। लारेंस सुलिवन, जो कि कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का डिप्टी चेयरमेन था, ने कहा कि:

"हमारी व्यवस्था बहुत कुछ स्पंज जैसी है, जो गंगातट से सारी अच्छी वस्तुओं को सोखकर टेम्स के किनारे निचौड़ आती है।"

5.3.3 भू-राजस्व नीति

भारत के विभिन्न भागों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेने के बाद कंपनी ने भू-राजस्व की वसूली करने के लिए अनेक तरीके अपनाए। ये तरीके स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप थे। अधिकांशतया ये राजस्व कृषि के रूप में होते थे। धीरे-धीरे कंपनी को भारत में प्रणाली की जानकारी हुई। तब उसने विभिन्न क्षेत्रों के लिए दीर्घावधि की नीतियाँ बनाईं। कंपनी का उद्देश्य था अधिकाधिक कर वसूलना। उन्हें कृषि अथवा यहाँ प्रचलित परंपराओं से कोई सरोकार नहीं था। देश के विभिन्न भागों में मुख्य रूप से तीन प्रकार के बंदोबस्त लागू किए गए।

1 **स्थायी बंदोबस्त:** 1793 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया। इसकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं

क) जमींदार अपने इलाके की संपूर्ण भूमि के स्वामी बना दिए गए। सरकार की ओर से भू-राजस्व की वसूली करना उनका कार्य था।

ख) जो राजस्व जमींदार वसूल करता था उसके दस में से नौ भाग उसे सरकार को देने पड़ते थे। दसवां भाग वह अपने मेहनताने के रूप में रख लेता था।

ग) जमींदारों द्वारा सरकार को दिया जाने वाला राजस्व स्थायी और निश्चित होता था। इसलिए जमींदारों को उनके क्षेत्र में पड़ने वाली समस्त भूमि का स्वामी घोषित किया गया।

स्थायी बंदोबस्त ने जमींदार को भू-स्वामी बना दिया। इसने धनी जमींदारों के एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को जन्म दिया। जमींदारी प्रथा की उत्पत्ति का श्रेय पूर्ण रूप से अंग्रेज सरकार को ही जाता है। अतः अपने मूल हितों की रक्षा करने के लिए यह वर्ग अपने जन्मदाता अंग्रेजों का समर्थन करने के लिए बाध्य था। बाद में स्थायी बंदोबस्त की व्यवस्था बनारस के कुछ भागों एवं उत्तरी मद्रास में भी लागू कर दी गई। इस व्यवस्था के लागू होने से किसानों के साथ कंपनी का संपर्क बिल्कुल समाप्त हो गया और किसान पूर्ण रूप से जमींदारों की दया पर निर्भर हो गए। भू-राजस्व के स्थिरीकरण का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। यह तदर्थ ही होता था। किसानों और जमींदारों के बीच चले आ रहे दीर्घकालीन संबंधों को अचानक ही समाप्त कर दिया गया था। भू-राजस्व का भार बहुत अधिक था।

ऐसी बात नहीं थी कि जमींदार वर्ग समस्याओं से मुक्त रहा हो। भू-राजस्व की किस्त न चुका सकने की स्थिति में जमींदारियाँ नीलाम कर दी जाती थीं। इससे अब वे लोग भी जमींदार बनने लगे जो वंशपरंपरा से जमींदार नहीं थे। शहरी व्यापारी, सट्टेबाज और साहूकार इत्यादि नीलाम में जमींदारियाँ खरीदने लगे। इन लोगों को भूमि का विकास करने अथवा किसानों के कल्याण में कोई रूचि नहीं थी। परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में अनेक किसान विद्रोह हुए। इन विद्रोहों में प्रमुख थे। 1795 का पंचेत विद्रोह, 1798 का रायपुर विद्रोह, 1799 का बालासोर विद्रोह तथा 1799-1800 के बीच मिदनापुर के आसपास के गाँवों में होने वाले विद्रोह।

1762-63 में बंगाल से की जाने वाली उगाही की रकम 646, 000 रुपए थी किंतु 1790 तक यह बढ़कर 2680,000 रुपए हो गई। बंगाल जो कभी पूर्व का अन्न भंडार कहा जाता था, लगभग खाली था। वहाँ अब अकाल, भुखमरी मौत और बीमारी का साम्राज्य था। हाउस ऑफ कॉमन्स की विरोध समिति ने 1783 में जो रिपोर्ट दी उसका एक अंश यहाँ प्रस्तुत है:

"प्रतिवर्ष लगभग 1,000,000 रुपए बंगाल से कंपनी के खाते में जाते हैं जो चीन भेजे जाते थे और यह संपूर्ण राशि चीन से यूरोप की व्यापार में लगा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त शांतिकाल में बंगाल भारत में स्थित उन प्रेसीडेंन्सियों को नियमित रूप से रसद भेजता है जो अपना बोझ स्वयं उठाने में असमर्थ है।"

2 **रैयतवारी बंदोबस्त:** उन्नीसवीं सदी के आरंभ में मद्रास तथा बम्बई के कुछ क्षेत्रों में रैयतवारी बंदोबस्त लागू किया गया। इसके अनुसार भूमि जोतने वाले को उस भूमि का स्वामी माना जाता था बशर्ते कि वह भू-राजस्व चुकाता रहे। अंग्रेजों ने उन मिरासदारों (ग्रामीण समुदायों के सदस्यों) तथा किसानों को भी मान्यता दी जो सीधे राज्य को कर दिया करते थे। ये मिरासदार छोटे-मोटे जमींदार बन गए थे। किंतु इस प्रथा से भूमि का जो स्वामित्व मिलता था उसका विशेष लाभ नहीं था। इसके तीन कारण थे:

क) **भू-राजस्व की अनुचित दर।**
ख) भू-राजस्व की दर में मनमाने ढंग से वृद्धि करने का सरकार का अधिकार।
ग) **भू-स्वामित्वधारों को हर स्थिति में भू-राजस्व देना ही पड़ता था, भले ही उसकी** उपज आंशिक रूप से अथवा पूर्णरूप **से नष्ट हो गई हो।**

गाँव की चरागाहों एवं परती जमीन **पर भी अब राज्य ने अधिकार कर लिया था। पहले इन क्षेत्रों पर ग्राम-समुदायों का अधिकार होता था। इससे भू-राजस्व का भार और बढ़ गया।**

3 **महलवारी बंदोबस्त:** जमींदारी **का एक और** रूप था महलवारी बंदोबस्त। यह व्यवस्था गंगाघाटी, **उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों, मध्य भारत के कुछ क्षेत्रों** तथा पंजाब में **लागू की गई। इसके अनुसार प्रत्येक गाँव के लिए अलग बंदोबस्त होता था।** जमींदार **अथवा वे घराने जो जमींदार होने का दावा करते थे, उन्हीं के हाथों सरकार यह बंदोबस्त सौंपती थी।**

अंग्रेजों ने परंपरा से चली आ रही भू- व्यवस्थाओं में मौलिक परिवर्तन किए। भू-व्यवस्था में हुए इन परिवर्तनों ने भारतीय गाँवों की स्थिरता, स्वायत्तता एवं सातत्य को हिला कर रख दिया।

5.3.4 न्याय व्यवस्था

आरंभिक घोषणा पत्रों मे कंपनी को यह अधिकार दिया गया था कि वह "उचित कानून" बना सकती है, "सांविधानिक आदेश" और "अध्यादेश" जारी कर सकती है तथा एक सीमा तक अपने कर्मचारियों को अपराध के लिए दंडित कर सकती है। किंतु इन घोषणाओं में कंपनी को भू-भाग संबंधी अधिकार नहीं दिए गए थे। 1661 में चार्ल्स द्वितीय ने प्रत्येक फैक्ट्री के गवर्नर तथा परिषद् को यह अधिकार दिया कि वे न केवल अपने कर्मचारियों अपितु उन सब लोगों के फौजदारी (Criminal) और दीवानी (Civil Jurisdiction) मामलों को देखें जो उनके अंतर्गत आते हैं।

दीवानी का अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् कंपनी कुछ सीमा तक तो दीवानी न्याय के लिए उत्तरदायी हो ही गई थी। फौजदारी के मामलों में तो इस्लामी कानून का अनुसरण किया जाता था किंतु दीवानी के मामलों में विभिन्न पक्षों के व्यक्तिगत कानून के अनुसार ही फैसला किया जाता था। दीवानी मामलों की अपील सदर दीवानी अदालत में की जाती थी यानि प्रेसीडेंट और परिषद् में की जाती थी जबकि फौजदारी मामलों की अपील सदर निजामत अदालत में की जाती थी जो नवाब के अधीन थी। फिर भी न्यायिक प्रशासन को संगठित करने की दिशा में पहला कदम वारेन हेस्टिंग्ज ने ही उठाया। उसी ने पहली बार जिले को न्यायिक प्रशासन की इकाई बनाया। प्रत्येक जिले में दीवानी और फौजदारी अदालतों की स्थापना की गई। प्रत्येक जिले में जिलाधीश दीवानी न्यायालय का प्रमुख होता था और फौजदारी न्यायालय में एक भारतीय अधिकारी के साथ दो मौलवी बैठते थे। इन जिला न्यायालयों के ऊपर अपील न्यायालय था जो कलकत्ता में स्थित था। सदर दीवानी अदालत में गवर्नर और परिषद के दो सदस्य होते थे जिनकी सहायता के लिए वित्त विभाग का दीवान तथा प्रमुख कानूनगो इत्यादि होते थे। सदर निजामत अदालत का प्रमुख निजाम का नायब होता था तथा उसकी सहायता के लिए एक मुसलमान अधिकारी और मौलवी होते थे।

1773 के रेगयूलेटिंग ऐक्ट (Regulating Act) के अनुसार बंगाल में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई जो सम्राज्ञी के अधीन था। सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के फलस्वरूप दो विरोधी न्यायिक प्राधिकार बन गए एक ओर सर्वोच्च न्यायालय का तो दूसरी ओर सदर दीवानी अदालत। इसका एक अस्थायी हल तो यह निकाला गया कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश की नियुक्ति सदर दीवानी अदालत के प्रेसीडेंट के रूप में कर दी गई।

1790 में फौजदारी अपीलों का स्थानांतरण गवर्नर जनरल एवं परिषद् के अधीन कर दिया गया। गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद् की सहायता के लिए मुख्य काज़ी तथा दो मुफ्तियों को मुकर्रर किया गया। यह कदम कार्नवालिस की आम नीति का ही एक हिस्सा था। उसकी नीति सभी उच्च पदों से भारतीयों को हटाकर उनके स्थान पर यूरोपियों को रखने की थी।

कार्नवालिस ने जिला अदालतों को अंग्रेज न्यायाधीशों के अधीन कर दिया। उसने दीवानी न्यायाधीश और जिलाधीश के दो अलग-अलग पद बनाए। इन दोनों के विरूद्ध अपील करने के लिए चार अपील के न्यायालय स्थापित किए गए जो क्रमशः कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में स्थित थे। जिला न्यायालयों के नीचे रजिस्ट्रार के न्यायालय थे जिनके प्रमुख यूरोपीय होते थे। साथ ही उनके अधीनस्थ न्यायालय भी थे जिनके प्रमुख भारतीय होते थे जिन्हें मुंसिफ और अमीन कहा जाता था। कार्नवालिस ने शासन व्यवस्था का एक ऐसा ढाँचा तैयार किया जो अगले सौ वर्षों तक भारत की शासन व्यवस्था का आधार बना रहा। इसका आधार था भारत में विदेशी शासन को चलाते रहना तथा इस देश की संपत्ति का दोहन करना।

1801 में गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद् का न्यायिक सताधिकार समाप्त हो गया। इसके स्थान पर सदर दीवानी अदालत अथवा दीवानी अपीली न्यायालय की स्थापना की गई और इसमें तीन न्यायाधीशों की नियुक्ति की गई। सम्राज्ञी के न्यायालयों तथा ज़मींदारी न्यायालयों की दोहरी नीति सिद्धांत रूप में तब समाप्त हुई जब 1861 में इंडियन हाई कोर्ट एक्ट द्वारा कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। इन न्यायालयों ने सर्वोच्च न्यायालय और सदर न्यायालय दोनों का ही स्थान ले लिया।

नई न्यायिक व्यवस्था की विशेषताएँ थीं : विधि का शासन (rule of law) कानून के सामने सबका समान होना, इस बात की मान्यता कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वैयक्तिक कानून के अनुसार न्याय पाने का हक है, तथा कुशल एवं प्रशिक्षित न्यायिक वर्ग का विकास।

फिर भी नई न्याय व्यवस्था को दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता। इसमें अनेक कमियाँ थीं। फौजदारी मामलों में यूरोपियों के लिए अलग न्यायालय थे यहाँ तक कि अलग कानून भी। उनकी सुनवाई भी अंग्रेज न्यायाधीश करते थे जो कभी-कभी उनका अनुचित पक्ष भी लिया करते थे। दीवानी मामलों मे तो स्थिति काफी गंभीर थी। न्यायालय बहुत दूर हुआ करते थे तथा न्याय की प्रक्रिया बहुत लम्बी थी। न्याय बहुत महंगा होता जा रहा था। ग्राम-समितियों एवं पंचायतों का गाँवों में भी कोई महत्व नहीं रह गया था।

5.3.5 ब्रिटिश प्रशासन का प्रभाव

ब्रिटिश प्रशासन के कतिपय लाभ भी थे। इससे कानून और व्यवस्था की स्थापना हुई, स्वतंत्रता में आस्था बनी तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का शुभारंभ हुआ। कानून की एक सामान्य व्यवस्था एवं एक जैसे सरकारी न्यायालयों के कारण एकता में वृद्धि हुई। प्रशासन का दूरस्थ एवं निवयक्तिक स्वरूप एक साथ ही इस व्यवस्था का गुण और दोष था। इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि इस व्यवस्था में लोगों की भावनाओं के प्रति संवेदनशीलता का अभाव था।

ब्रिटिश प्रशासनिक नीतियों का परिणाम यह हुआ कि स्थानीय स्वायत्त शासन की देशी संस्थाओं का लोप हो गया तथा प्रशासन के उच्च पदों से भारतीय वंचित हो गए। भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश हितों की अनुगामिनी बना देने के अनेक दुष्परिणाम हुए। कलाकार और कारीगर बर्बाद हुए, किसान दरिद्र हो गए, पुराने जमींदारों का पतन हुआ तथा भूस्वामियों के एक नये वर्ग का उदय हुआ। कृषि के क्षेत्र में ठहराव आया और वह पतनोन्मुख हो चली।

अंग्रेजी नीतियों के परिणामस्वरूप भारतीयों में जो आक्रोश एवं असंतोष सुलग रहा था उसकी परिणति 1857 की क्रांति में हुई।

बोध प्रश्न

टिप्पणी i) अपना उत्तर प्रश्न के नीचे दिए गए स्थान में ही लिखिए।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाइये।

1 वे कौन सी विभिन्न प्रक्रियाएँ थीं जिनके द्वारा कंपनी का अधिकार क्षेत्र बढ़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

2 ब्रिटिश संसद ने भारतीय मामलों को नियमित करने के लिए जो पहला महत्वपूर्ण अधिनियम पारित किया वह क्या था? पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 स्थायी बंदोबस्त की तीन महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख कीजिए:

i) .....

ii) .....

iii) .....

4 नई न्यायिक व्यवस्था की तीन प्रमुख उपलब्धियों एवं तीन कमियों के बारे में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5.4 1857 के बाद प्रशासनिक व्यवस्था

कंपनी की आर्थिक और प्रशासनिक नीतियों ने समाज के सभी वर्गों में व्यापक असंतोष उत्पन्न कर दिया। यही असंतोष अन्य घटकों के साथ मिलकर 1857 के विद्रोह का कारण बना। (इस संबंध में आप इकाई-4 में पढ़ चुके होंगे) इस विद्रोह ने ईस्ट इंडिया कंपनी को हिला दिया। ब्रिटिश सरकार भी इससे चिंतित हुई। ब्रिटेन के राजनीतिक जगत में सभी इस बात पर एक मत थे कि ब्रिटिश सरकार को चाहिए कि वह भारत का शासन प्रबंध ईस्ट इंडिया कंपनी से ले ले और भारत के प्रशासन का उत्तरदायित्व स्वयं ग्रहण करे। ब्रिटेन की सम्राज्ञी ने 1858 की एक घोषणा द्वारा भारय शासन को सीधे अपने नियंत्रण में ले लिया।

5.4.1 नई प्रशासनिक व्यवस्था

1858 के अधिनियम के अनुसार भारत को सीधे ब्रिटिश सम्राज्ञी के द्वारा शासित होना था। रानी के नाम पर भारत के शासन का काम इंग्लैंड में एक राज्य सचिव (Secretary of State) द्वारा किया जाना था। इस सचिव की सहायता के लिए पंद्रह

सदस्यों की परिषद् की व्यवस्था थी। इनमें से नौ सदस्य ऐसे होने चाहिए थे जो कम से कम दस वर्ष तक भारत में कार्य कर चुके हों और जिन्हें भारत छोड़े हुए दस वर्ष से अधिक समय न हुआ हो। किंतु देश का प्रशासन अब भी मुख्य रूप से गवर्नर जनरल के ही अधीन बना रहा। हाँ, गवर्नर जनरल के पद का नाम बदल कर वाइसराय कर दिया गया। उसकी सहायता के लिए एक कार्यकारिणी परिषद् बनाई गई। कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य विभिन्न विभागों के प्रमुख होते थे तथा गवर्नर जनरल के सलाहकारों के रूप में कार्य करते थे।

1861 के इंडियन कांउसिल ऐक्ट ने गवर्नर जनरल की परिषद् का विस्तार किया। अब इसके सदस्यों की संख्या छह से बढ़ाकर बारह कर दी गई। इस विस्तार का उद्देश्य परिषद् को विधि निर्माण का अधिकार प्रदान करना था तथा इस रूप में इसे इंपीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल कहा जाता था। इसमें विधि निर्माण के लिए भारतीयों का सहयोग भी लिया जा सकता था।

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस ने भारत के प्रशासन में अनेक परिवर्तनों की माँग की। इसके परिणामस्वरूप 1892 का अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम द्वारा कांउसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर सोलह कर दी गई। इस अधिनियम ने कांउसिल को वार्षिक वित्तीय विवरण पर बहस करने का अधिकार भी प्रदान किया। उन्हें बजट की प्रत्येक मद पर मत देने का अधिकार तो नहीं था किंतु वे सरकारी नीति की खुलकर आलोचना कर सकते थे। राज्य सचिव की भारत पर नियंत्रण एवं निगरानी बढ़ी। उसी अनुपात में ब्रिटेन की सरकार की तुलना में गवर्नर जनरल की शक्ति घट गई। नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष तथा कंपनी के निदेशकों का दोहरा नियंत्रण समाप्त कर दिया गया तथा संपूर्ण सत्ताधिकार राज्य सचिव को सौंप दिया गया। 1877 के रॉयल टायटिल्स ऐक्ट ने राज्य सचिव के प्रति गवर्नर जनरल तथा उसकी कांउसिल की अधीनता को स्पष्ट कर दिया।

जैसे-जैसे राज्य सचिव की शक्ति बढ़ती गई वैसे-वैसे उसके सत्ताधिकार पर नियंत्रण भी ढीला पड़ता गया। इंडियन कांउसिल का कार्य सलाह देना मात्र रह गया। राज्य सचिव को "महान् मुगल" की तरह सम्मान दिया जाने लगा।

जब भारत के वाइसराय लार्ड मेयो ने अपनी परिषद् के सत्ताधिकार को मनवाने का प्रयास किया तो स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि:

"सिद्धांत रूप से भारतीय मामलों का अंतिम नियंत्रण एवं निर्देशन बर्तानवी सरकार के हाथ में है, उन अधिकारियों के हाथ में नहीं जिन्हें सम्राज्ञी ने संसद में कानून द्वारा भारत में नियुक्त किया है।"

इन सब बातों को संभव बनाने के पीछे कतिपय कारण थे। 1870 में भारत और इंग्लैंड के बीच सीधी तार लाइन डाल दी गई थी तथा स्वेज नहर के खुल जाने तथा भाप के इंजन वाले ज़हाजों से दोनों देशों के बीच दूरी घट गई थी। इससे यातायात द्वारा तेजी से संबंध जोड़ने में सहायता मिली।

ईस्ट इंडिया कंपनी की समाप्ति कर दिये जाने के बाद इंग्लैंड की सम्राज्ञी ने भारतीय प्रशासन पर अपनी पकड़ मजबूत करनी आरंभ कर दी। वास्तव में, यह समय भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विस्तार का समय था।

5.4.2 प्रशासन का विकेंद्रीकरण

विकेंद्रीकरण की दिशा में पहला कदम तो 1861 के अधिनियम के साथ उठ चुका था। इस अधिनियम द्वारा बम्बई तथा मद्रास की प्रेसीडेंसियों को विधि-निर्माण का अधिकार मिल चुका था। किंतु उन्हें किसी अधिनियम को पारित करने के लिए गवर्नर जनरल की अनुमति लेनी पड़ती थी। 1870 में लार्ड मेयो ने पहली बार प्रदेशों को निश्चित धन-राशियाँ प्रदान की जिन्हें वे अपनी इच्छानुसार पुलिस, जेल, शिक्षा, तथा स्वास्थ्य सुविधाओं पर खर्च कर सकते थे। 1877 में और अधिक आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान की गई। जब लार्ड लिटन ने कुछ अन्य धन भी प्रदेशों को सौंप दिए। यह धन भू-राजस्व, आबकारी, सामान्य प्रशासन इत्यादि के लिए थे। 1882 में प्रदेशों को निश्चित धनराशि देने की प्रथा समाप्त कर दी गई। इसके स्थान पर प्रदेशों को कहा गया कि वे अपने प्रादेशिक करों द्वारा एक निश्चित आय की व्यवस्था करे। इन व्यवस्थाओं के अनुसार राजस्व के कुछ स्रोत पूर्णतः तो कुछ अंशतः प्रदेशों को सौंप दिए गए और कुछ केंद्र के लिए सुरक्षित रखे गए। युद्ध और अकालों पर होने वाले खर्च की जिम्मेदारी केंद्र पर थी। यह व्यवस्था 1902 तक बनी रही।

स्थानीय संस्थाएँ (Local Bodies)

वित्तीय समस्याओं के कारण सरकार ने प्रशासन का और भी अधिक विकेंद्रीकरण किया तथा नगर निगमों और जिला परिषदों का कार्यक्षेत्र बढ़ा दिया। विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया का आरंभ 1864 में हुआ। आरंभ में अधिकांश सदस्य मनोनीत (Nominated) होते थे तथा जिला मैजिस्ट्रेट उनके प्रमुख होते थे। इन संस्थाओं को अपना खर्च चलाने के लिए राजस्व स्वयं जुटाना था।

1882 के आसपास इस स्थिति में सुधार हुआ। अब स्थानीय संस्थाओं का विकास कुछ शहरों में ही नहीं अपितु समस्त देश में किया जाता था। इन संस्थाओं के निश्चित कार्य होते थे तथा उनकी पूर्ति के लिए उन्हें निश्चित धनराशि प्रदान की जाती थी। अधिकांश मनोनीत सदस्यों का स्थान अब चुने हुए सदस्यों ने ले लिया। सरकारी सदस्यों की संख्या एक तिहाई कर दी गई, शहरी संस्थाओं को स्वतंत्र कर दिया गया तथा गैर-सरकारी लोगों को भी परिषदों में बैठने का अधिकार दिया गया। किंतु इन संस्थाओं पर अब भी सरकारी नियंत्रण कठोर था। मतदान का अधिकार सीमित था तथा गैर-सरकारी सदस्यों की शक्ति बहुत कम थी। जैसा कि बिपन चंद्र ने लिखा है कि:

"कलकत्ता, मद्रास और बम्बई जैसे प्रेसीडेंसी वाले शहरों को छोड़कर, स्थानीय संस्थाएँ ठीक सरकारी विभागों की तरह कार्य करती थीं और उन्हें किसी भी प्रकार स्थानीय स्वायत्त शासन का अच्छा उदाहरण नहीं कहा जा सकता।"

5.4.3 आर्थिक नीति

अंग्रेजों ने भारत की अर्थव्यवस्था का शोषण जारी रखा। जो धन पहले ईस्ट इंडिया कंपनी के लंदन स्थित कार्यालय के रखरखाव तथा इसके शेयर होल्डरों को आय देने में खर्च होता था वही अब, इंडिया आफिस के सैक्रेटरी पर खर्च होने लगा। कंपनी के सैन्य अभियानों तथा विद्रोहों को दबाने के फलस्वरूप लंदन में पहले ही भारतीय ऋण की मात्रा काफी थी परंतु अब वह और बढ़ गई क्योंकि कंपनी के शेयर होल्डरों को दी जाने वाली मुआवजे की रकम भी भारत सरकार के खाते में जोड़ दी गई। होम चार्जेस के अंतर्गत आने वाले खर्च थे भारत के ब्रिटिश अधिकारियों को दी जाने वाली पेंशन की रकम तथा सेना को प्रशिक्षित करने का व्यय आदि। 1901 में होम चार्जेस की राशि 170.30 लाख पौंड हो गई।

जैसा कि दादाभाई नौरोजी एवं अन्य परवर्ती अर्थशास्त्रियों ने दर्शाया है, होम चार्जेस एवं निजी हुंडियाँ भारतीय निर्यात द्वारा भुनाई जाती थीं। पहले भारत का आर्थिक दोहन व्यापारवादी था, अब वह मुक्त व्यापार के माध्यम से किया जाने लगा। आगे चलकर यही ब्रिटिश भारत के वित्त पूंजीवाद के ढाँचे से जुड़ गया। वास्तव में उन्नीसवीं शती के अंत तक भारत का अतिरिक्त निर्यात ब्रिटिश भुगतानों के संतुलन के लिए अनिवार्य सा हो गया। उन्नीसवीं शती में यूरोप में विकसित होते पूंजीवादी अर्थशास्त्र ने चुंगी-कर की ऊँची दीवारें खड़ी कर दी। अपने माल के निर्यात के लिए ब्रिटेन को बाजार मिलना कठिन हो गया। भारत में मुक्त व्यापार का अर्थ था कि लंकाशायर के कपड़े के लिए भारत में बिक्री के लिए बाजार, साथ ही भारत के अतिरिक्त निर्यात से ब्रिटेन के घाटे में पूर्ति भी होती थी। भारतीय साम्राज्य से ब्रिटेन को सैन्य एवं युद्धनीति संबंधी लाभ तो थे ही, साथ ही उसे आर्थिक लाभ भी था।

अंग्रेजी सरकार ने अनेक प्रकार की संरचनात्मक प्रतिबंध लगाकर देसी उद्योगों पर रोक लगाई तथा उन्हें कुंठित किया। सरकारी नीतियाँ खुले तौर पर ब्रिटिश उद्यमों को प्रोत्साहन देती थी तथा भारतीयों के साथ भेदभाव का व्यवहार करती थी। रेलमार्ग तथा भारवहन के भाड़े भी बंदरगाहों पर होने वाले व्यापार को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से बनाए गए थे। देश के भीतरी भागों में होने वाले व्यापार के अनुकूल नहीं थे। संगठित मुद्रा बाजार भी काफी हद तक अंग्रेजों के कब्जे में था। इसमें एकमात्र अपवाद थे पंजाब नेशनल बैंक तथा बैंक ऑफ इंडिया। विदेशों के साथ होने वाले अधिकांश व्यापार पर अंग्रेजों का तीव्र प्रभुत्व था क्योंकि विनिमय बैंक, आयात-निर्यात कंपनियों तथा जहाजरानी के प्रतिष्ठान उन्हीं के हाथ में थे।

अंग्रेज अपनी इस नीति को उचित ठहराते थे। उनका कहना था कि उन्होंने इस देश में रेलमार्गों, बागानों, खदानों एवं मिलों में पूंजी को लगाया है तथा ये सब बातें भारत को विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग पर ले जाएँगी। किंतु सच्चाई तो यह है कि अंग्रेजों ने रेलमार्गों की स्थापना अपनी व्यापारिक एवं सामरिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही की थी तथा बागान, खदानें एवं मिल अंग्रेजों के वित्तीय, व्यापारिक एवं औद्योगिक गतिविधि के सामंजस्य में सहायक थे। ये सब अंग्रेजों के हाथ में भारतीयों के पूंजीवादी शोषण के साधन थे।

भू-राजस्व नीति एवं वाणिज्य नीति एक दूसरे से जुड़ी हुई थीं। काफी समय तक सरकार ने कृषि में सुधार करने की दिशा में कोई ठोस प्रयत्न नहीं किए। इस दिशा में एकमात्र सरकारी प्रयास यही था कि 1870 से तकावी का नगण्य ऋण दिया जाने लगा था तथा एक नहर-व्यवस्था लागू कर गई थी जो पंजाब, पश्चिमी संयुक्त प्रांत (यू.पी.) तथा मद्रास प्रेसीडेंसी के कुछ भागों से गुजरती थी। वास्तव में उपनिवेशवादी ढाँचे ने देश को भीतर ही भीतर खोखला कर दिया था। जिसके उदाहरण थे 1870 एवं 1890 के दशकों में पड़ने वाले अकाल।

5.4.4 सैन्य संगठन

1857 के विद्रोह को देखते हुए सेना में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। भारत का प्रशासन इंग्लैंड के सम्राज्ञी के हाथों में जाने के साथ ही कंपनी की सेना को इंग्लैंड की सेना के साथ मिला दिया गया। सेना का पुनर्गठन करते समय अंग्रेजों ने इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया कि 1857 की घटनाओं की पुनरावृत्ति न होने पाए। इसके लिए अनेक कदम उठाए गए :

i) सेना में यूरोपियों का अनुपात बढ़ा दिया गया (1857 में 40,000 यूरोपिय तथा 215,00 भारतीय थे) बंगाल में यह अनुपात 1:2 तथा मद्रास एवं बम्बई में 2:5 कर दिया गया।

ii) सेना के महत्वपूर्ण अंगों जैसे तोपखाने इत्यादि में भारतीय सैनिकों की संख्या नगण्य रहती थी। बाद में टैंकों और बख्तरबंद गाड़ियों के संबंध में भी यही नीति अपनाई गई।

iii) योद्धा और गैर-योद्धा जातियों के बीच भेद किया गया तथा लड़ाकू माने जाने वाली जातियों को बडी संख्या में सेना में भरती किया गया। बिहार, अवध, बंगाल तथा दक्षिण भारत के जिन सैनिकों ने 1857 के विद्रोह में भाग लिया था उन्हें गैर-लड़ाकू घोषित कर दिया गया। विद्रोह के समय अंग्रेजों का साथ देने वाली जातियों जैसे सिक्खों, गोरखाओं और पठानों को लड़ाकू घोषित किया गया।

iv) सैनिकों में भेदभाव उत्पन्न करने के लिए उन्हें जाति पर आधारित अलग-अलग कंपनियों में रखा गया।

v) सैनिकों में क्षेत्रीय भावना को उभारा गया ताकि वे राष्ट्रीय मुद्दों पर एकजुट न हो सकें। इस प्रकार सेना की एकरूपता को भंग कर दिया गया। भारत से बाहर उन स्थानों के युद्ध में भी भारतीय सैनिकों को लगाया गया जहाँ अंग्रेजों को लाभ था।

5.4.5 प्रशासनिक सेवाएँ

कार्नवालिस ने भारतीयों को अंग्रेजों से निम्न स्तर का दर्जा दिया था। 1833 के चार्टर ऐक्ट तथा महारानी की घोषणा के बावजूद यह स्थिति नहीं बदली। सभी ऊँचे पद यूरोपियों के लिए आरक्षित थे। भारत की प्रशासनिक सेवा के लिए अधिकारियों का

चयन एक प्रतियोगी परीक्षा द्वारा किया जाता था। कहने को तो चयन के द्वार भारतीयों के लिए भी खुले थे किंतु कभी एक या दो से अधिक भारतीय नहीं चुने गए क्योंकि :

- परीक्षा का केंद्र लंदन में था जो भारत से बहुत दूर था।
- परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए ग्रीक, लेटिन एवं अंग्रेजी भाषाओं का अच्छा ज्ञान होना आवश्यक था। भारतीय इसमें पिछड़ जाते थे।
- पहले परीक्षा की अधिकतम आयु 23 वर्ष थी जो 1859 में घटाकर 19 वर्ष कर दी गई।

इन बाधाओं को हटाने की दिशा में भारतीयों ने जो भी प्रयत्न किए उसका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

5.4.6 रजवाड़ों के साथ संबंध

1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने अनुभव किया कि भारतीय जनता के असंतोष को रोकने में रजवाड़े महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। अतः रियासतों को अंग्रेजी राज में मिलाने की नीति छोड़ दी गई तथा अंग्रेजी साम्राज्य को दृढ़ बनाने के लिए उनका सहयोग प्राप्त करने की योजना बनाई गई। अनेक अधिकार जो पहले रजवाड़ों से छीन लिए गए थे उन्हें लौटा दिए गए तथा यह आश्वासन दिया गया कि यदि वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादार बने रहें तो उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचाई जाएगी। किंतु रजवाड़ों को खुली छूट नहीं दी गई थी। सर्वोच्चता की नीति के माध्यम से उन पर कड़ा नियंत्रण रखा जाता था। कोई भी भारतीय राजा विदेशों के साथ स्वतंत्र रूप से कोई संबंध स्थापित नहीं कर सकता था। रियासतों के रोजमर्रा के कामकाज में भी अंग्रेज अभिकर्ताओं (पोलिटिकल ऐजेण्ट) का हस्तक्षेप रहता था। ये अभिकर्ता रेजीडेंट्स कहलाते थे। लगभग सभी रियासतों में ब्रिटिश रेजीडेंट्स और मनोनीत (nominated ministers) मंत्री होते थे। उनका काम था अंग्रेजों के हितों की देखभाल करना तथा अंग्रेजी नीतियों को क्रियान्वित करना। राजाओं के उत्तराधिकारियों का निर्णय भी अंग्रेज सरकार के हाथ में था। यदि कोई राजा अंग्रेजों के मनोनुकूल व्यवहार नहीं करता तो वे उसे हटाकर अपने अनुकूल व्यक्ति को राजा बना देते थे। 1873 में बड़ौदा तथा 1891 में मणीपुर के राजाओं को इसी प्रकार हटाया गया था। अन्य रियासतों में भी हस्तक्षेप की नीति अपनाई गई। अंग्रेजों की इन अपमानजनक नीतियों के बावजूद अधिकांश राजा अंग्रेजों का साथ देते थे ताकि उनका राज और विशेषाधिकार बना रहे।

5.4.7 विद्वेषपूर्ण प्रशासन

अपनी प्रशासनिक नीतियों के जरिए अंग्रेजों ने न केवल भारतीय संपदा का दोहन किया और यूरोपियों की श्रेष्ठता स्थापित की वरन् जानबूझकर भारतीयों के प्रति विद्वेषपूर्ण रवैया अपनाया। पहले की इकाइयों में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि अंग्रेजी राज के क्या परिणाम हुए। यहाँ पर उन क्षेत्रों का अध्ययन करेंगे जहाँ यह भारत-विरोधी पक्षपात एवं विद्वेष अत्याधिक स्पष्ट दिखाई देता है।

i) **शिक्षा:** सन् 1833 से अंग्रेजों ने भारत में सीमित शिक्षा को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई थी। किंतु कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों को स्थापना से उच्च शिक्षा की दिशा में नई प्रगति हुई। किंतु शिक्षा के प्रसार के साथ भारतीयों में जाग्रति आई। अंग्रेजी सरकार के प्रति उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक होने लगा और राष्ट्रीय आंदोलन का संगठन होने लगा। इससे अंग्रेज सतर्क हो गए और उन्होंने उच्च शिक्षा के प्रति विद्वेषपूर्ण रवैया अपना लिया।

ii) **जन-सेवाएँ:** सेना और युद्धों पर तो अंग्रेज-सरकार अनाप-शनाप खर्च करती थी किंतु स्वास्थ्य, सिंचाई, सफाई तथा लोक निर्माण विभाग (पी.डब्लू.डी.) पर किया जाने वाला खर्च नगण्य था।

iii) **समाचार-पत्रों पर पाबंदी:** भारत में छापेखाने के विकास का श्रेय अंग्रेजों को था। किंतु जैसे ही ये जनमत तैयार करने एवं लोगों में राष्ट्रीय चेतना जगाने का कार्य करने लगे। अंग्रेज सरकार ने इस पर रोक लगाने के लिए अनेक कानून बना डाले। 1878 का वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता को सीमित करने का ऐसा ही प्रयास था।

iv) **नस्लवादी भेदभाव:** प्रशासनिक एवं सैन्य अधिकारियों की नियुक्ति में अंग्रेज भारतीयों के साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार करते थे। अंग्रेजों को तो सभी विशेषाधिकार प्राप्त थे जबकि भारतीयों को उनके उचित अधिकार से भी वंचित रखा जाता था।

v) **श्रम कानून:** बागानों एवं कारखानों में वृद्धि होने के साथ ही श्रमिकों की संख्या में भी वृद्धि हुई। इन श्रमिकों से बहुत अधिक काम लिया जाता था तथा इन्हें बहुत ही अस्वास्थ्यकर और खराब परिस्थिति में भी काम करना पड़ता था। बागानों और कारखानों के मालिक अधिकांशतया अंग्रेज होते थे जबकि वहाँ काम करने वाले श्रमिक भारतीय थे। श्रमिकों की सुख-सुविधा का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था। 1881 एवं 1891 में पारित किए गए फैक्टरी अधिनियम मुख्यतः बाल-श्रम और स्त्रियों से संबंधित थे। इनसे श्रमिकों को अधिक राहत नहीं मिली। बागानों से संबंधित सभी कानून बागान मालिकों के पक्ष में थे और ये सभी मालिक यूरोपिय थे।

प्रशासन के इस विद्वेषपूर्ण रवैये ने भारतीयों को स्वायत्त शासन की मांग करने पर बाध्य किया। किंतु इस मांग का अनुकूल परिणाम नहीं हुआ। इसकी चर्चा हम आगे के अनुच्छेदों में करेंगे।

5.4.8 भारत में स्वायत्त शासन का प्रश्न

सन् 1857 के बाद अंग्रेजों ने भारतीयों को स्वायत्त शासन देने का विचार बिल्कुल ही छोड़ दिया। सर चार्ल्स वुड ने जोकि भारत का सेक्रेटरी ऑफ स्टेट था, कहा कि भारत के लिए प्रतिनिध्यात्मक संस्था व्यावहारिक नहीं है। अंग्रेजों का कहना था

कि भारत कोई राष्ट्र तो है नहीं। उन्होंने भेदभाव पैदा किए। ये भेदभाव मुख्यतः धार्मिक आधार पर प्रोत्साहित किए जाते थे किंतु अपने लक्ष्य के लिए अंग्रेजों ने जातीयता और क्षेत्रीयता की भावनाओं का भी प्रयोग किया। हंटर ने अपनी पुस्तक इंडियन मुसलमान्स (1870) में मुसलमानों का समर्थन करते हुए मुसलमानों की विशिष्टता और पृथकता पर बल दिया तथा उन्हें एकरूप समुदाय की संज्ञा दी। वायसराँय लार्ड डफरिन ने 1888 में मुसलमानों को "पाँच करोड़ लोगों का राष्ट्र" कहा जिसके धार्मिक एवं सामाजिक रीति-रिवाज समान थे। वायसराँय लार्ड एल्विन को लिखे गए एक पत्र में वुड ने लिखा, "हमने एक भाग को दूसरे के खिलाफ खड़ा करके अपनी शक्ति को बनाए रखा है और हमें यही नीति अपनाए रखनी चाहिए।"

किंतु भारत में घटनाएँ जो मोड़ ले रही थीं उसने अंततः सरकार को जनता की आकांक्षाओं की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य किया। सत्तर का दशक बढ़ती हुई अशांति का समय था। उस अवधि में देश को अभूतपूर्व दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ा। 1872 में ए.ओ. ह्यूम ने लार्ड नार्थब्रुक को सचेत किया कि अब "हमारे और सर्वहारा के बीच केवल संगीनों का फासला रह गया है।"

इस बीच राजनीतिक आंदोलन भी जोर पकड़ता जा रहा था। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई और वह लोगों की इच्छाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन रही थी। कांग्रेस ने उत्तरदायी शासन व्यवस्था की मांग के समर्थन में आवाज उठाई। किंतु भारतीयों की आकांक्षाओं की पूर्ति करने का अंग्रेज सरकार का कोई इरादा नहीं था। सन् 1892 में जब ब्रिटिश सरकार अधिनियम लाने पर बाध्य हुई तो स्पष्ट हो गया कि भारतीयों को सरकार में वास्तविक भागीदारी देने का उसका कोई इरादा नहीं था।

राष्ट्रीय आंदोलन के जोर पकड़ने के साथ ही सरकार को फिर से सुलह की नीति अपनानी पड़ी जिसके परिणामस्वरूप 1909 का अधिनियम पारित हुआ। किंतु इसमें मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचक मंडल की व्यवस्था का प्रावधान किया गया तथा 27 सीटों में से 8 सीटें मुसलमानों के लिए आरक्षित रखी गईं।

भारत के राष्ट्रीय जीवन में गांधी जी के प्रवेश तथा राष्ट्रीय आंदोलन के देशव्यापी हो जाने के पश्चात् ही अंग्रेजों के दृष्टिकोण में अंतर दृष्टिगोचर होने लगा।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपना उत्तर प्रश्न के नीचे दिए गए स्थान में ही लिखिए।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

1 1858 के अधिनियम की तीन विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

2 मुक्त व्यापार की नीति ने ब्रिटिश उद्योग की किस प्रकार सहायता की?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 अंग्रेजों द्वारा किए गए सेना के पुनर्गठन की तीन महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

i) .....

ii) .....

iii) .....

4 उन तीन क्षेत्रों का उल्लेख कीजिए जहाँ भारतीयों के प्रति अंग्रेजी प्रशासन का विद्वेषपूर्ण रवैया स्पष्ट दिखाई देता था।

.....

.....

.....

5 सर्वोच्चता के अधिकार द्वारा अंग्रेज किस प्रकार रजवाड़ों के मामलों में दखल देते थे?

.....

5.5 सारांश

ईस्ट इंडिया कंपनी की शुरुआत एक व्यापारिक निगम के रूप में हुई थी किंतु 1857 तक इसका स्वरूप बदल गया और यह व्यापारिक निगम से राज सत्ता बन गई। तब ब्रिटेन की सरकार ने भारत संबंधी मामलों की व्यवस्था करने के लिए एक योजना तैयार की। यह योजना दासता और शोषण की उपनिवेशवादी योजना थी जिसके परिणामस्वरूप भारत की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था विघटित हो गई।

1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटेन की सरकार ने भारत के प्रशासन का उत्तरदायित्व स्वयं ग्रहण कर लिया। विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने भारत में जो नीति अपनाई उसका मुख्य उद्देश्य था इस देश में अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखना। इस बीच भारत में घटनाओं ने ऐसा मोड़ लिया कि सरकार को लोगों की इच्छाओं और आकांक्षाओं की ओर ध्यान देना पड़ा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वायत्त शासन के लिए किए जाने वाले जन आंदोलन का नेतृत्व किया। अंत में भारत को स्वाधीनता मिली किंतु देश का विभाजन हो गया।

5.6 शब्दावली

संपत्ति का निचोड़ा जाना (Drain of Wealth): धन का बाहर जाना, यहां भारत के धन का ब्रिटेन को भेजे जाने के अर्थ में प्रयुक्त।

औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution): उद्योग के माध्यम से आर्थिक कायाकल्प इंग्लैंड में तेजी से हुए औद्योगीकरण की प्रक्रिया।

अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction): नियंत्रक सीमा।

उपलब्धि (Acequisition): प्राप्ति।

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 कंपनी का अधिकार क्षेत्र बढ़ाने में अनेक प्रक्रियाओं का हाथ था। ये प्रक्रियाएं थीं — जमींदारी के अधिकार की प्राप्ति, भू-भाग पर अधिकार तथा दीवानी अधिकारी की प्राप्ति। भाग 5.2 भी देखिए।

2 1773 का रेग्यूलेटिंग ऐक्ट भारत संबंधी मामलों को संकलित करने की दिशा में ब्रिटिश संसद का पहला महत्वपूर्ण कदम था। उपभाग 5.3.1 भी देखिए।

3 जमींदार अपनी जमींदारियों की संपूर्ण भूमि के स्वामी हो गए तथा भू-राजस्व एकत्रित करने में सरकार के अभिकर्ता बन गए। भू-राजस्व की मात्रा निश्चित होती थी तथा उसमें जमींदार को मिलने वाला भाग भी निश्चित होता था।

4 नई न्याय-व्यवस्था की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं, विधि का शासन, कानून के समक्ष सबको समानता, अपने वैयक्तिक कानून के आधार पर न्याय पाने के व्यक्ति के अधिकार को मान्यता, तथा दक्ष एवं प्रशिक्षित न्यायिक श्रेणी का विकास। इसके दोष थे — भारतीयों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार, न्याय की प्रक्रिया का लम्बी और खर्चीली होना। उपभाग 5.3.4 भी देखिए।

बोध प्रश्न 2

1 क) बोर्ड ऑफ कंट्रोल तथा कंपनी के डायरेक्टरों का दोहरा नियंत्रण समाप्त कर दिया गया।
   ख) भारत को अब सीधे साम्राज्ञी द्वारा तथा उसके नाम पर शासित किया जाना था। यह शासन एक स्टेट सेक्रेटरी के माध्यम से होना था।
   ग) गवर्नर जनरल को वायसरॉय की पदवी दे दी गई थी।

2 मुक्त-व्यापार की नीति ने लंकाशायर के कपड़ा उद्योग को तैयार बाजार मुहैया कराया। उपभाग 5.4.3 भी देखिए।

3 अंग्रेजों ने यूरोपियों की सर्वोच्चता को बनाए रखने के लिए सेना का पुनर्गठन किया। उन्होंने सेना में विभाजन को प्रोत्साहन दिया तथा योद्धा जातियों के सिद्धांत को प्रतिपादित किया। रेफरेंस उपभाग 5.4.4 भी देखिए।

4 शिक्षा, जन-सेवाएँ तथा समाचार-पत्र। उपभाग 5.4.7 भी देखिए।

5 उपभाग 5.4.6 देखिए।

इकाई 6 भारत में अंग्रेजी राज का सुदृढ़ होना: सीमान्त और विदेश नीति

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 अंतर्राष्ट्रीय स्थिति
- 6.2.1 भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटेन की सर्वोच्चता
- 6.2.2 चीन का पतन
- 6.2.3 रूस से खतरा
- 6.2.4 अफगानिस्तान
- 6.2.5 द्वितीय अफगान युद्ध

6.3 उत्तरपश्चिमी सीमान्त नीति
6.4 ईरान तथा ईरान की खाड़ी
6.5 तिब्बत
6.6 नेपाल
6.7 सिक्किम
6.8 भूटान
6.9 उत्तरपूर्वी सीमांत एजेंसी (नेफा)
6.10 सारांश
6.11 शब्दावली
6.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

ब्रिटिश सरकार ने शासन को दृढ़ बनाने के लिए जो नीति अपनाई उसके अंतर्गत उसने भारत में बाकायदा प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना की। साथ ही उसने नये जीते हुए प्रदेशों की सीमाओं को सुरक्षित रखने में भी थोड़ी ढील नहीं की। इसे ही ब्रिटिश सरकार की विदेश एवं सीमांत नीति कहा जाता है। इसे प्रायः साम्राज्यवादी नीति का नाम भी दिया जाता है क्योंकि दुनियाभर में ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा करने के लिए ही इस नीति का निर्माण हुआ था। इस इकाई में हम इसी नीति के तत्वों का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान सकेंगे :

- कि जिस काल का अध्ययन हम कर रहे हैं उस समय अंतर्राष्ट्रीय स्थिति कैसी थी।
- अंग्रेजों ने किस प्रकार इस भारतीय महाद्वीप में अपनी सर्वोच्चता स्थापित की।
- कि किस प्रकार उन्होंने मध्य एशिया में रूस के खतरे का सामना किया।
- कि कैसे ब्रिटिश सरकार उत्तर पश्चिम भाग को अपने नियंत्रण में लाई।
- यह जान सकेंगे कि तिब्बत, नेपाल, भूटान और सिक्किम के साथ भारत की ब्रिटिश सरकार के कैसे संबंध थे।
- कि पश्चिम खाड़ी देशों तथा उत्तरपूर्वी सीमांत एजेंसी (नेफा) के संबंध में ब्रिटिश सरकार की नीति क्या थी।

6.1 प्रस्तावना

1918 तक अंग्रेजों ने लगभग संपूर्ण भारत को जीत लिया था। केवल पंजाब और सिंध बचे हुए थे और शीघ्र ही इनकी भी बारी आने वाली थी। भारत में साम्राज्य की स्थापना कर लेने के बाद अंग्रेजों ने दोहरी नीति अपनाई। इसका उद्देश्य एक ओर उचित प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना करना था तो दूसरी ओर हाल ही में जीते गए प्रदेशों की सीमाओं को सुरक्षित करना था। सीमाओं को सुरक्षित करने संबंधी नीति को ही सीमांत एवं विदेश नीति कहा जाता है। इसमें भारतीय रियासतों के साथ अंग्रेज सरकार के संबंधों की चर्चा नहीं है यद्यपि यह विषय भी विदेश विभाग के अंतर्गत ही आता था। भारत में अंग्रेजी राज की सीमाओं की सुरक्षा से संबंधित नीति को "साम्राज्यवादी नीति" भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इस नीति का निर्धारण करते समय ब्रिटिश साम्राज्य के हितों को ध्यान में रखा गया। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या 1947 से पहले भारत की अपनी कोई स्वतंत्र विदेश नीति थी? कुछ हद तक यह कहना उचित होगा कि यह नीति स्वतंत्र थी। इस बात के समर्थन में हमारे पास निम्नलिखित तर्क हैं:

i) भारत में अंग्रेजी राज के दृढ़ होते ही अफगानिस्तान और ईरान से होने वाले आक्रमण तथा सीमांत कबीलों की लूटपाट बंद हो गई। ये आक्रमण और लूटपाट लंबे अर्से से चले आ रहे थे।

ii) ब्रिटिश साम्राज्य के एक बड़े एवं महत्वपूर्ण घटक होने के नाते अंग्रेजी सरकार की विदेश नीति के निर्धारण में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

iii) चूंकि इंग्लैंड और भारत के बीच की दूरी अधिक थी अतः भारत की अंग्रेजी सरकार को अपने विवेक से कार्य करने का, तथा भारत की विदेश नीति निर्धारण में कुछ सीमा तक स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार था।

iv) इसके अतिरिक्त कुछ क्षेत्रों में अंग्रेजों के साम्राज्यवादी हित भारत के हितों से मेल खाते थे। ये क्षेत्र रूस, ईरान तथा चीन से संबंधित थे। इससे भारत की विदेश नीति के विकास को बढ़ावा मिला।

किंतु इन तर्कों के बावजूद हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आखिर भारत था तो इंग्लैंड का उपनिवेश ही। उपनिवेशवादी अंग्रेजी सरकार की राजनीतिक गतिविधियों को हम भारत की विदेश नीति भले ही कह लें इनका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों का पोषण करना था। यहाँ हम आपका ध्यान एक समस्या की ओर भी दिलाना चाहेंगे। यह समस्या है उस तिथि के निर्धारण की जब से कि कहा जा सकता है कि भारत की विदेश नीति का आरंभ हुआ। आमतौर पर माना जाता है कि भारत की विदेश नीति की शुरुआत तब हुई जब कंपनी सरकार ने देशी राज्यों के साथ राजनीतिक संबंध स्थापित किये। इन रियासतों को इस बात के लिए बाध्य किया गया कि वे अपने विदेश नीति संबंधी मामले कंपनी सरकार के नियंत्रण में सौंप दें। भारत की विदेश नीति के आरंभ की दूसरी तिथि 1818 मानी जाती है। तभी से भारत में अंग्रेजी राज्य के सुदृढ़ होने का युग आरंभ हुआ किंतु अंतर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से भारत की विदेश नीति का समय 1858-59 माना जाएगा जब भारत के शासन का अधिकार कंपनी के हाथों से निकल कर ब्रिटेन की महारानी के हाथों में आया। कहा जा सकता है कि तभी से भारत की स्वतंत्र विदेश नीति का आरंभ हुआ। किंतु नीति की यह स्वतंत्रता ऊपर से देखने भर को थी, इसे वास्तविक स्वतंत्र विदेश नीति नहीं कहा जा सकता।

6.2 अंतर्राष्ट्रीय स्थिति

यदि हम अपने अध्ययन की निश्चित अवधि में अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर दृष्टि डालें तो एक बात स्पष्ट दिखाई देती है वह यह कि यह काल ब्रिटिश सरकार के लिए अनुकूल था। जहाँ तक तटीय क्षेत्रों तथा नौ सैनिक अड्डों की सुरक्षा का प्रश्न था ब्रिटेन की स्थिति बड़ी सुदृढ़ थी क्योंकि वह अपने पुर्तगाली, फ्रांसीसी और डच प्रतिद्वंद्वियों पर पहले ही विजय प्राप्त कर चुका था। जहाँ तक भू-सीमा को सुरक्षित करने का प्रश्न था, भारत की सैन्य नीति तथा कूट नीति में रूस तथा चीन उन्नीसवीं शती में महत्वपूर्ण बने रहे। इस व्यवस्था को ठीक से समझने के लिए हम अपने विषय को तीन भागों में बाँट कर अध्ययन करेंगे।

6.2.1 भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटेन की सर्वोच्चता

भारत को जीतने के सिलसिले में ब्रिटेन हालैंड तथा पुर्तगाल को पहले ही हरा चुका था। अब फ्रांस तथा इंग्लैण्ड के बीच अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए विश्व स्तर पर संघर्ष छिड़ गया। 1740 से लेकर 1800 तक इन दो शक्तियों का संघर्ष दक्षिणी भारत तक ही सीमित रहा। यद्यपि सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांसीसी अंग्रेजों से हार गए थे फिर भी फ्रांस में नेपोलियन के तथा मैसूर में हैदरअली और उसके बेटे टीपू सुल्तान के उदय के कारण अंग्रेजों को फ्रांसीसी शक्ति से बराबर खतरा बना हुआ था। नेपोलियन के मिश्र अभियान एवं उसके परिणामस्वरूप होने वाले नील नदी के युद्ध तथा टीपू सुल्तान से फ्रांस के संबंधों में अंग्रेजों को अपने लिए खतरा दिखाई देता था। 1788 में मिश्र में नेपोलियन की तथा भारत में टीपू की पराजय के साथ ही अंग्रेजों के लिए दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों का खतरा समाप्त हो गया।

1807 के बाद संघर्ष का स्थान बदल कर उत्तर पश्चिम हो गया। समुद्री युद्धों में हारने के बाद अब नेपोलियन भूमि मार्ग से भारत पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। भारत की ब्रिटिश सरकार को भय हुआ कि कहीं फ्रांस, ईरान और रूस मिलकर भारत पर धावा न बोल दें। इस खतरे को टालने के लिए तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड मिंटो ने बाध्य होकर चार राजनीतिक आयोग भेजे। इन आयोगों के अंतर्गत क्रमशः मैलकॉम को तेहरान, एलफिंस्टन को काबूल, सीटन को सिंध और चार्ल्स मेटकाफ को लाहौर भेजा गया। इन कूटनीतिक प्रयासों के परिणामस्वरूप इन राज्यों की सरकारों के साथ ब्रिटिश सरकार की मैत्रीपूर्ण संधियां हुई जिनका उद्देश्य फ्रांस के खतरे का सामना करना था। ये प्रयास भारत की ब्रिटिश सरकार की एक स्वतंत्र विदेश नीति स्थापित करने की दिशा में प्रथम कदम कह सकते हैं। फ्रांस का खतरा तो नेपोलियन की पराजय के साथ ही खत्म हो गया किंतु इसने रूस का ध्यान भारत की ओर आकर्षित किया यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उन्नीसवीं शती में गोआ में पुर्तगालियों तथा पांडिचेरी में फ्रांसिसियों की नगण्य उपस्थिति अंग्रेजों के लिए कोई गंभीर चिंता का विषय नहीं रही। किंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में फ्रांसीसियों ने विद्रोह भड़काने की नीयत से बर्मा में कांसुलेट स्थापित करने का प्रयास किया। फ्रांसीसियों के ओमान में नौसैनिक अड्डा की स्थापना के प्रयत्नों तथा जर्मनी के बर्लिन-बगदाद रेलवे लाइन बिछाने की योजना में भी अंग्रेजों को अपने लिए खतरा महसूस हुआ।

6.2.2 चीन का पतन

चीन के साथ भारत के पुराने संबंध थे तथा वहाँ से नियमित रूप से यात्री भी भारत आते रहते थे किंतु भारत को कभी चीन से आक्रमण का खतरा नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि दोनों देशों के बीच हिमालय बाधा बनकर खड़ा था। यद्यपि

अठारहवीं सदी में चीन ने तिब्बत तथा एशिया के पूर्वी भागों पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी, तथा भारत पर इसका प्रभाव नहीं पड़ा था। किंतु उन्नीसवीं शती में चीन की शक्ति और प्रतिष्ठा दोनों का ही तेजी से पतन आरंभ हो गया। यह वह समय था जब कुछ यूरोपीय ताकतें चीन में अपना व्यापार फैलाने के लिए प्रयत्नशील थीं। अतः चीन का सारा ध्यान इन शक्तियों को रोकने में लगा रहा और वह अपनी उत्तरपूर्वी सीमाओं की ओर विशेष ध्यान न दे सका।

6.2.3 रूस से खतरे की आशंका

उन्नीसवीं शती के मध्य में ब्रिटेन के विदेश सचिव लार्ड पालमेंस्तन ने सर्वप्रथम रूस से खतरे का अनुमान लगाया था लेकिन प्रथम बार जब भारत के गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक ने इसकी चर्चा की तो यह वास्तविक खतरा प्रकाश में आया। अंग्रेजों ने भूमध्य सागर से रूस का मार्ग रोक रखा था अतः वह भूमि मार्ग से अफगानिस्तान के उत्तर पश्चिम सीमांत की ओर तेजी से बढ़ने लगा। भारत में अंग्रेजों की पहुँच अभी प्राकृतिक सीमांत तक नहीं हुई थी क्योंकि पंजाब और सिंध दोनों ही स्वतंत्र राज्य थे तथा ईरान कमजोर होते हुए भी नादिरशाही युग की अपनी पुरानी शान को फिर पुर्नजीवित करने की आकांक्षा रखता था। 1834 में अपने दादा की मृत्यु के बाद मिर्जा मोहम्मद ईरान के सिंहासन पर बैठा। रूस के प्रति उसका दोस्ताना रवैया था। ऐसा लगता था कि रूस समीपस्थ क्षेत्र तथा मध्य एशिया (जिसे पश्चिमी एशिया कहा जाता है) पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने को कटिबद्ध था। इसे अफगानिस्तान के लिए खतरा समझा गया।

6.2.4 अफगानिस्तान

अंग्रेज अफगानिस्तान को बचाना चाहते थे क्योंकि वह उनका व्यापार केंद्र होने के साथ उनके लिए मध्य एशिया का एकमात्र प्रवेशद्वार भी था। इस प्रकार मध्य एशिया में दो विस्तारवादी साम्राज्यों के बीच संघर्ष की तैयारी हो गई। रूस ने हेरात पर कब्जा कर लिया था तथा काबुल का अमीर दोस्त मोहम्मद अंग्रेजों से प्रसन्न नहीं था। साथ ही भारत के अंग्रेज प्रशासक अत्याधिक चिंतित थे और इन सब बातों के परिणामस्वरूप अफगान युद्ध (1838-42) हुआ जो अंग्रेजों के लिए अनर्थकारी सिद्ध हुआ। इस युद्ध का एक महत्वपूर्ण परिणाम तो यह हुआ कि 1843 में सिंध और 1849 में पंजाब अफगानिस्तान तथा ब्रिटिश भारत की सीमाएं मिल गई।

पहले अफगान युद्ध का परिणाम यह भी हुआ कि दोस्त मोहम्मद पुनः काबुल की गद्दी पर बैठ गया। किंतु यह बात अंग्रेजों के लिए अच्छी सिद्ध हुई क्योंकि 1854 में रूस के साथ इंग्लैंड के क्रीमियन युद्ध (Crimean War) तथा 1857 के भारतीय विद्रोह के समय दोस्त मोहम्मद ने पूर्ण तटस्थता की नीति अपनाई। क्रीमियन युद्ध (Crimean War) के तुरंत बाद रूसी मध्य एशिया में आगे बढ़ने लगे। 1864 में जारी किए अपने ज्ञापन में राजकुमार गार्चाकौफ ने रूस के इरादों को स्पष्ट करते हुए यह लिखा कि रूस की अफगानिस्तान की ओर बढ़ने के पीछे वही साम्राज्यवादी प्रेरणा काम कर रही है जो अंग्रेजों के हिन्दुस्तान और पंजाब के मैदानी क्षेत्रों में आगे बढ़ने तथा पहाड़ों तक पहुंचने के पीछे थी। इसी लक्ष्य का अनुसरण करते हुए रूस ने अपनी सीमाएँ 1864 में बुखारा, 1868 में समरकंद तथा 1873 में खीवा तक बढ़ा लीं। 1867 में रूसी तुर्किस्तान का एक प्रदेश बनाया गया तथा बुखारा रूस का अधीनस्थ राज्य बन कर रह गया। 1873 में खीवा रूस के नियंत्रण में आ गया। अपनी इस विस्तारवादी नीति के पक्ष में रूस ने कहा कि उसे अंग्रेजों से उनकी महाद्वीपीय संधियों के जरिये खतरा हो सकता है जैसा कि क्रीमियन युद्ध (Crimean War) के समय हुआ था। रूस का कहना था कि उसने मध्य एशिया में अपनी सैन्य शक्ति इसलिए मजबूत की ताकि वह भारत में हस्तक्षेप का डर दिखाकर इंग्लैंड को काबू में रख सके।

रूस के इस रवैये की अंग्रेजों पर दोहरी प्रतिक्रिया हुई :

i) एक योजना तो यह थी कि अंग्रेजी फौजें मध्य एशिया में आगे बढ़कर महत्वपूर्ण स्थानों पर कब्जा कर लें तथा अफगानिस्तान में नियंत्रण स्थापित कर लें। इसे "अग्रणी नीति" कहा जाता था और आमतौर पर कंज़र्वेटिव दल के सदस्य इस नीति के समर्थक थे।

ii) दूसरी योजना को "अधिकारपूर्ण निष्क्रियता" (Masterly Inactivity) अथवा "स्थिर" नीति (Stationary School) कहा गया। इस नीति के समर्थक प्रायः उदारवादी थे। उनका विचार था कि अफगानिस्तान के संबंध में सतर्कता बरतते हुये हस्तक्षेप न करने की नीति और रूस के साथ किसी राजनीतिक समझौते पर पहुँचने का प्रयास किया जाए।

यह तय हुआ कि यदि रूस आक्रमण करे तो उसका सामना भारतीय सीमांत पर ही किया जाय क्योंकि आगे बढ़कर अफगानिस्तान पर कब्जा करना खतरे से खाली नहीं था। यह नीति 1863-75 की अवधि में अपनाई गयी। इसके अतिरिक्त रूस के सैनिक अड्डे दूर होने के कारण भी भारतीय सीमांत पर युद्ध होना अंग्रेजों के पक्ष में होता। इसके विपरीत अग्रणी नीति के समर्थकों का मत था कि अंग्रेजों को आगे बढ़कर रूसी आक्रमण का सामना करना चाहिए ताकि भारत की असंतुष्ट जनता पर इसके खतरनाक प्रभाव न पड़े। इसका अर्थ यह था कि अंग्रेजी सेनाएँ आगे बढ़कर अफगानिस्तान पर नियंत्रण स्थापित करें तथा रूसी आक्रमण को हिंदुकुश सीमांत पर ही रोक दें।

6.2.5 द्वितीय अफगान युद्ध

1874 के चुनावों में लिबरल दल हार गया। परिणामस्वरूप गलैडस्टन की सरकार गिर गई तथा कंज़र्वेटिव दल की नई सरकार बनी। डिजरायली का अग्रणी नीति में दृढ़ विश्वास था। उसने धीरे-धीरे भारत में ब्रिटिश सरकार को दूसरी बार अफगान

युद्ध के लिए बाध्य कर दिया। द्वितीय अफगान युद्ध के परिणाम पहले अफगान युद्ध के परिणामों से बहुत भिन्न नहीं थे। हिन्दूकुश के दूसरी तरफ रूस बेरोकटोक बढ़ा चला आ रहा था। मेर्वा (Merv) पर रूस के अधिकार से लंदन तथा कलकत्ता में अंग्रेजों के बीच खलबली मच गई। एव वर्ष पश्चात् अंग्रेजों ने पंजाब पर नियंत्रण स्थापित कर लिया और 1873 में पामीर के पठार पर भी अधिकार कर लिया। पामीर का पठार सीधा काश्मीर से जुड़ा हुआ था।

1890 तक यूरोप के राजनीतिक संबंध नया रूप धारण करने लगे। बिस्मार्क के पतन के बाद जर्मनी ने रूस से किनारा कर लिया जिसका परिणाम यह हुआ कि शक्तियों का द्वि ध्रुवीकरण हो गया। इस प्रक्रिया में इंग्लैंड के पुराने शत्रु रूस और फ्रांस एक दूसरे के करीब आ गए, जिससे आगे चलकर मित्र राष्ट्रों का त्रिगुट (Tripple Entente) बना। इस प्रकार विभिन्न महाद्वीपों में उनके विरोधी हितों से संबंधित राजनीतिक मतभेदों का समाधान हो गया।

बोध प्रश्न 1

1 निम्नलिखित कथनों में कौन से सही हैं और कौन से गलत? (√) या (×) का चिह्न लगाइए।

i) भारत की उपनिवेशवादी सरकार की विदेश नीति का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के अधिकतर हितों का पोषण करना था।

ii) अंग्रेज भारत में अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने के प्रति उदासीन थे।

iii) अन्य यूरोपीय शक्तियों की तुलना में अंग्रेज भारत में अपनी प्रभुता स्थापित करने में असफल रहे।

iv) मध्य एशिया में रूस के बढ़ते चले आने से ब्रिटिश साम्राज्य के हितों को खतरा प्रतीत हुआ।

2 उन दो नीतियों का उल्लेख कीजिए जिन्हें अंग्रेजों ने मध्य एशिया में रूस की चाल को विफल करने के लिए अपनाया:

i) .....

ii) .....

6.3 उत्तर पश्चिमी सीमांत नीति

सिंध और पंजाब के अधिग्रहण से अंग्रेज सीधे पहाड़ी कबीलों के संपर्क में आ गए। पंजाब और सिंध एक प्रकार से अनौपचारिक सीमाएँ थे जिनके परे पहाड़ों का विशाल जाल फैला हुआ था। इनमें गहरी घुमावदार घाटियाँ थीं। इसके उत्तरी भाग में पठान रहते थे जिसका प्रशासन पंजाब प्रदेश के हाथ में था जबकि इसका पश्चिमी भाग जिसमें बलूची रहते थे और जो सिंध सीमांत कहलाता था, बंबई के अंतर्गत आता था। किंतु पहाड़ी कबीले एक प्रकार से स्वतंत्र थे। वे नाममात्र के लिए काबुल के अमीर के अधीन थे। इन कबीलों के लोग सूखे और कठिन भूभाग पर रहते थे, जीवन के बहुत कम संसाधन इनके पास थे, किंतु ये अत्यंत सादगी, कष्टसहिष्णु तथा सैन्य कुशल थे। ये लोग प्रायः ब्रिटिश भारत के सीमांत प्रदेशों में घुसकर लूटपाट मचाया करते थे। इन उपद्रवी कबीलाइयों ने ऐसा उत्पात मचा रखा था कि भारत की सुरक्षा के लिए अनिवार्य, स्थिर तथा शांतिपूर्ण सीमांत की बात सोचना कठिन था। चूंकि उत्तर पश्चिमी सीमांत दो भिन्न प्रांतीय सरकारों सिंध और बम्बई के अधीन था अतः सीमांत के प्रशासन एवं कबीलों के साथ संबंध बनाने के भी दो भिन्न तरीके विकसित हुए। सिंध के अंतर्गत आने वाले सीमांत प्रदेश में जहाँ घाटियाँ पंजाब की तुलना में चौड़ी थीं और जहाँ कृषि योग्य भूमि कबायली इलाकों से दूर थी, बंद सीमांत व्यवस्था को अपनाया गया इस व्यवस्था के अंतर्गत सीमांत पर पहरा होता था तथा कोई भी काबायली बिना पास के ब्रिटिश सीमा में प्रवेश नहीं कर सकता था। पंजाब सीमांत पर "खुले सीमांत" (Open Frontier) की व्यवस्था थी। तंग दर्रों की सुरक्षा के लिए किले बनवाए गए तथा तोपखानों की व्यवस्था की गई। कबीलाइयों को लूटमार से विमुख करने के लिए सरकार उन्हें ब्रिटिश भारत में व्यापार करने के लिए प्रोत्साहित भी करती थी।

आरंभ में लार्ड डलहौजी की नीति भी सीमांत पर शांति कायम रखने में बहुत सफल रही। उसकी नीति को तीन शब्दों में परिभाषित किया जा सकता है — जुर्माना, नाकेबंदी और अभियान। लूटपाट और हत्या के अपराध में जुर्माना लगाया जाता था, किसी भी संकट को एक निश्चित क्षेत्र में सीमित रखने के लिए उसकी नाकेबंदी कर दी जाती थी। उन कबीलाइयों के विरूद्ध अभियान भी चलाये जाते थे जो आम लूटपाट और मारधाड़ करते थे। इस प्रकार के दंडित करने वाले अभियानों तथा नाकाबंदी करने को "मारो और घेरो नीति" (butcher and bolt policy) का नाम दिया गया तथा बदले की बर्बर नीति कह कर इसकी आलोचना की गयी। 1849 और 1893 के बीच बयालीस ऐसे अभियान चलाये गये जिनमें अंग्रेजों के पक्ष के 2173 लोग मारे गए। इन अभियानों में मृतकों की दर को देखते हुए ब्रिटिश अधिकारी कबीलाइ इलाकों में जाने से हतोत्साहित हुए। अतः सीमांत पर अपना नियंत्रण मजबूत करने तथा स्थानीय लोगों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने के लिए सरकार ने मेलों-बाजारों को प्रोत्साहन देना आरंभ किया जिससे आंतरिक व्यापार में वृद्धि हुई। सरकार ने अस्पताल तथा औषधालय खोलकर निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था भी की। रोजगार के अवसर भी उपलब्ध कराए गए तथा कबायलियों को सेना तथा अर्द्धसैनिक बलों में भरती होने के लिए प्रोत्साहित किया गया। उस क्षेत्र पर अपना नियंत्रण सुदृढ़ करने के लिए सरकार ने सड़कों और रेल मार्गों का निर्माण किया। अंत में सरकार ने तजारा, पेशावर, फोहाट, बन्नू, डेरा इस्माइलखान तथा डेरा गाजीखान के सीमांत ज़िलों को संगठित किया। इन सब प्रयासों द्वारा ब्रिटिश सरकार ने सीमांत क्षेत्रों में अपनी स्थिति मजबूत की और भारत की प्रथम सुरक्षा पंक्ति की स्थापना की।

पंजाब और सिंध की सीमांत व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सिंध की व्यवस्था को अधिक सफलता मिली। कम से कम 1890 तक तो यही स्थिति बनी रही। इस सफलता का कारण इस व्यवस्था का श्रेष्ठ होना नहीं अपितु दोनों प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति का भिन्न होना था। इसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे। पठानों की एक परिषद् होती थी जिसे "जिरगा" कहा जाता था। इसमें कबीले के लगभग सभी सदस्य होते थे। बलूचिस्तान में गिने-चुने नेता थे जिनसे निपटना कठिन नहीं था। पठान मुखियों के साथ किए गए समझौते का वही महत्व नहीं होता था जो बलूच नेताओं के साथ किए गए समझौतों का होता था। एक दूसरी बात जो सिंध में प्रभावशाली सिद्ध हुई वह थी 1877 में बलूचिस्तान में ऐजेंट के पद पर मेजर सैंडीमन की नियुक्ति। उसके मैत्रीपूर्ण और समझौते की नीति अंग्रेजों के लिए बड़ी सफल सिद्ध हुई। किन्तु सैंडीमन के यही तरीके पठान कबीलों में बिलकुल कारगर नहीं हुए क्योंकि पठान नेताओं का अपने अनुयायियों पर वैसा प्रभाव नहीं था जैसा कि बलूचिस्तान के नेताओं का था।

ड्यूरेन्ड रेखा (The Durand Line) 1893

उत्तरी-पश्चिमी सीमांत पर शांति की स्थापना बड़ी विकट समस्या थी क्योंकि काबुल का अमीर अक्सर कबीलाइयों से मिल जाता था। लार्ड लैंसडाउन की सिफारिश पर सर मोर्टिमर ड्यूरेंड को काबुल के अमीर के पास बात-चीत करने के लिए भेजा गया ताकि सीमा के संबंध में किसी समझौते तक पहुँचा जा सके और फिर सिंधु की सीमा पर कबीलों की समस्या काबुल की जिम्मेदारी रहे। 2 नवम्बर 1893 को जो समझौता हुआ वह इस प्रकार था:

i) वाखान, अस्मार, काफिरिस्तान, मोहमंड तथा वजीरिस्तान का कुछ इलाका काबुल के अमीर के अधीन बना रहेगा;

ii) स्वात बाजौर, दरवान कुर्रम घाटी, छागे तथा नया चमन अंग्रेजों के अधीन बने रहेंगे। गोमाल दर्रे के कबायली इलाके भी अंग्रेजों को दे दिए गए।

इससे कबीलाइ इलाके अफगानों और अंग्रेजों के बीच बँट गए। यह भी तय हुआ कि सीमांत का सर्वेक्षण और सीमांकन करने के लिए एक आयोग बिठाया जाएगा। समझौते के अनुसार सीमांत का सर्वेक्षण और सीमांकन किया गया। मोर्टिमर ड्यूरेन्ड की देख-रेख में इस कार्य को होने में दो वर्ष का समय लगा क्योंकि इससे कबीलाइयों के मन में संदेह हो गया और वे बार-बार इसमें बाधा डालते थे। नई सीमा रेखा को ड्यूरेन्ड रेखा का नाम दिया गया। एक बार इस रेखा के बन जाने पर सीमा के दोनों ओर के प्रदेशों का स्पष्ट बंटवारा हो गया तथा अपने-अपने क्षेत्रों में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के उत्तरदायित्व का भी बँटवारा हो गया। यह सीमा रेखा हिन्दुकुश के उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर तेगदुमरा से मांडा दर्रे तक थी जो काफिरिस्तान को काबुल तक अलग करती थी।

ड्यूरेंड समझौते के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को वाजिरी, अफ्रीदी और बाजोरी कबीलों को शासित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। कबीलाइयों को पहले से ही अंग्रेजों पर शक था। अतः इस समझौते का परिणाम यह हुआ कि वे बार-बार अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने लगे। इन विद्रोहों को दबाने के लिए अंग्रेजों ने सशस्त्र टुकड़ियाँ इन इलाकों में भेजी। इस समझौते के कारण अंग्रेज उस क्षेत्र में संचार के साधन विकसित करने कर वसूलने विशेषकर नमक कर, तथा उनके रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करने में सफल हुए। काबुल का अमीर भी इस बात से नाखुश था कि इन कबीलों पर उसका आधिपत्य नहीं रह गया था।

1899 में लार्ड कर्जन भारत का गवर्नर जनरल बना। उसका कार्यकाल 1905 तक रहा। वह इस इलाके से तथा यहाँ के लोगों से भली प्रकार परिचित था। उसने प्रस्ताव किया कि यहाँ से ब्रिटिश भारत की नियमित सैन्य टुकड़ियों को हटा लिया जाए तथा उनके स्थान पर कबीलाई रंगरूटों के दस्तों को रखा जाए। इससे दो लाभ थे --- एक तो भारत में ब्रिटिश सरकार को कबीलाइयों लोगों का विश्वास प्राप्त हो जाता जिससे कानून और व्यवस्था की जिम्मेदारी बँट जाती दूसरे यह व्यवस्था कम खर्चीली थी। उसने 26 अप्रैल 1902 को लाहौर में एक दरबार भी लगाया ताकि सीमांत कबीलों के मुखियाओं के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित किये जा सकें। इतना ही नहीं कुशल प्रशासन तथा प्रभावी नियंत्रण स्थापित करने के लिए उसने एक नये प्रांत का निर्माण किया जिसे उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत (North Western Frontier Province) कहा जाता था। इस प्रकार लार्ड कर्जन सीमांत क्षेत्र में दीर्घ समय तक शांति स्थापित करने में सफल हुआ।

6.4 ईरान तथा ईरान की खाड़ी (Persia and Persian)

ईरान, अरब सागर के तट तथा ईरान की खाड़ी क्षेत्र अंग्रेजों के लिए सामरिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण थे क्योंकि भारत पहुँचने के भूमि एवं समुद्री मार्ग इसी क्षेत्र में पड़ते थे। भूमि मार्ग से घुसपैठ करने वालों को अंग्रेजों ने कई बार रोका था। इस मार्ग पर पहले उन्होंने फ्रांसीसी सेनाओं तथा बाद में रूसियों को रोका। ईरान द्वारा हेरात पर कब्जा करने के प्रयास को भी अंग्रेजों ने विफल कर दिया। द्वितीय अफगान युद्ध के बाद 1907 की संधि के फलस्वरूप ईरान ब्रिटिश क्षेत्र तथा रूसी क्षेत्र में बँट गया। जब इस क्षेत्र में बढ़ते हुए जर्मन प्रयास को रोकने के प्रयत्न किए जा रहे थे, 1917 में रूस में विद्रोह फैल गया और अंग्रेजों को पूरे ईरान पर अधिकार जमाने का मौका मिल गया। 1921 में रजा खान के सैनिक विद्रोह के बाद ईरान फिर से स्वतंत्र हो गया। अपने आपको बड़ी शक्तियों के हस्तक्षेप से बचाने के लिए ईरान ने अपने पड़ोसी देशों, तुर्की, ईराक तथा अफगानिस्तान के साथ एक समझौता किया जो पूर्वी-समझौते (Eastern Pact) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर भी यह प्रदेश आज तक बड़ी शक्तियों के आकर्षण का केंद्र बना हुआ है जिसके परिणामस्वरूप वहाँ के देशों में निरंतर युद्ध छिड़ा रहता है।

समुद्री मार्ग पर, विशेषकर ईरान की खाड़ी में सामरिक महत्व के समुद्री एवं समुद्र तटीय स्थानों पर कब्जा करके अंग्रेजों ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। ये क्षेत्र या तो ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिए गए या संधियों द्वारा उससे संबद्ध कर दिए गए। इन स्थानों में प्रमुख थे मारीशस, जंजीबार, मस्कट, बहराइन, कुवैत, ओमान इत्यादि। लार्ड लैंसडाउन भारत का पहला वाइसराय था (1884-94) जिसने ईरान की खाड़ी का दौरा किया। उसके दस वर्ष पश्चात् अर्थात् 1903 में लार्ड कर्जन ने खाड़ी देशों के शेखों को अपने जहाज पर एकत्रित किया तथा उस क्षेत्र पर ब्रिटिश प्रभुता की घोषणा कर दी। इसी नीति के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने ओमान और कुवैत जैसे समुद्र-तटीय देशों को यह वचन देने के लिए बाध्य किया कि वे फ्रांस एवं जर्मनी जैसे अंग्रेजों के यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों को कोई सुविधा प्रदान नहीं करेंगे। स्वेज नहर के खुल जाने के बाद यह मार्ग ब्रिटिश व्यापार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। समुद्र तटीय राज्यों के साथ की गई संधियों के फलस्वरूप ब्रिटिश व्यापार पहले ही सुरक्षित हो चुका था। इतना ही नहीं, जब इस क्षेत्र में खनिज तेल निकला तो सबसे पहले अंग्रेजों ने ही तेल उद्योग तथा व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित किया।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित में कौन से कथन सही (√) या गलत (×) हैं :

i) सीमा प्रदेश को नियंत्रण में रखने के लिए लार्ड डलहौजी ने नर्म नीति अपनाई। ( )

ii) पठान कबीलों के मुखियाओं की तुलना में बलूच मुखियाओं से बात-चीत करना अंग्रेजों को अधिक सरल प्रतीत हुआ। ( )

iii) सबसे पहले अंग्रेजों ने ही खनिज तेल के उद्योग तथा व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। ( ).

iv) सामरिक दृष्टि से ईरान की खाड़ी अंग्रेजों के लिए बहुत महत्वपूर्ण थी। ( )

2 लगभग दस पंक्तियों में लिखिए कि अंग्रेज भारत के उत्तर पश्चिमी सीमांत पर अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए इतने चिंतित क्यों थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.5 तिब्बत

हिमालय पर्वत श्रेणी भारत और चीन के बीच प्राकृतिक सीमा का कार्य करती है। हिमालय की ऊँची चोटियों में नेपाल, भूटान, सिक्किम, तिब्बत आदि अनेक राज्य बसे हुए हैं। इनमें भारत की सीमा सुरक्षा की दृष्टि से तिब्बत सबसे महत्वपूर्ण है। तिब्बत को "तपस्वी का देश" (Hermit Kingdom) भी कहा जाता है। यह देश चारों ओर ऊँची-ऊँची पर्वत श्रृंखलाओं से घिरा हुआ है। इन चोटियों की समुद्र तल से औसत ऊँचाई 10,000 फुट है। यहाँ आर्थिक संसाधनों की बहुत कमी है तथा यहाँ के लोग अलग-थलग रहना पसंद करते हैं। विदेशी खतरों से बचने के लिए इन्होंने चीनी संरक्षण का सहारा लिया जैसा कि तिब्बत को 1728 में प्रदान किया गया था। किंतु तिब्बत के ऊपर चीन की यह प्रभुता नाममात्र की थी तथा उन्नीसवीं शती में इसकी कोई व्यावहारिक मान्यता नहीं रह गई थी। तिब्बत युद्ध संबंधी गतिविधियों को कभी का त्याग चुका था और चीन सैन्य दृष्टि से दुर्बल था। अतः इन दोनों देशों से अंग्रेजों को कोई खतरा नहीं था। इस उपेक्षित भाग तिब्बत में अंग्रेजों की रुचि आरंभ में केवल व्यापारिक ही थी। वारेन हेस्टिंग्ज (Warren Hastings) ने इस क्षेत्र में तीव्र व्यापारिक रुचि दिखाई तथा दो व्यापारिक शिष्टमंडल भेजे, एक 1774 में, तथा दूसरा 1783 में। किंतु तिब्बत का शासक दलाई लामा अलगाववादी तथा संशयी प्रकृति का था। उसने ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक प्रस्तावों को ठुकरा दिया। अंग्रेजों की रुचि तिब्बत में धीरे-धीरे बढ़ती गई। इसके अनेक कारण थे इनमें से प्रमुख थे:

i) चीन की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। विदेशी शक्तियों द्वारा चीन में अपने अधिकार क्षेत्र स्थापित करने की होड़ लगी हुई थी। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन तथा रूस के लिए तिब्बत का सामरिक महत्व बहुत बढ़ गया।

ii) नेपाल, भूटान तथा सिक्किम पर अंग्रेजों का आधिपत्य होने के साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य की सीमा तिब्बत की सीमा के बहुत समीप आ गई।

iii) जब रूसी सेनाएँ बढ़ते हुए पामीर तक जा पहुँची तो उत्तर की ओर भारत की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा हो गया।

iv) और अंत में, उन्नीसवीं शती में चाय तथा शॉल के ऊन में अंग्रेजों की रुचि बढ़ गई थी। व्यापारी सरकार पर इस बात के लिए जोर डालने लगे कि वह भूटान के माध्यम से तिब्बत के साथ नियमित व्यापारिक संबंध स्थापित करे।

चांचू राजवंश के पतन के साथ ही तिब्बत पर चीन का प्रभाव भी क्षीण हो गया। जब युवा दलाई लामा पर रीजेन्सी काउन्सिल का अधिकार नहीं रह गया तो वह चीनी प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास करने लगा। सच तो यह था कि यह प्रभाव नाममात्र को ही था। किंतु, अंग्रेज विशेष रूप से लार्ड कर्जन, यही समझते रहे कि दलाई लामा चीन से मुक्त होने को बैचेन है। ऐसी अफवाह चल पड़ी थी कि अग्वार दोरदशी नामक एक मंगोल व्यक्ति का जो कि रूसी नागरिक दलाईलामा का कृपा पात्र बना हुआ है ल्हासा (Lhasa) और पीटर्सबर्ग (Petersburg) के बीच, बहुत अधिक आना-जाना है। अंग्रेजों के लिए इस अज्ञात देश का आकर्षण बहुत **प्रबल था, साथ ही वे रूस** से भयभीत भी थे। व्यापार में विस्तार करने की इच्छा भी बलवती थी। ये सब बातें लार्ड कर्जन को सक्रिय बनाने के लिए पर्याप्त थीं। विशेष रूप से इसलिए क्योंकि वह जानता था कि तिब्बतियों के पास आधुनिक शस्त्रों का सामना करने के लिए धर्म-चक्रों के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। लार्ड कर्जन ने तिब्बत को ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन लाने का संकल्प कर लिया।

यद्यपि इंग्लैंड की सरकार तिब्बत के मामलों में हस्तक्षेप करने के पक्ष में नहीं थी फिर भी लार्ड कर्जन ने कर्नल फ्रांसिस यंगहस्बंड को तिब्बत भेजने की आज्ञा प्राप्त कर ही ली। कर्नल यंगहस्बंड का तिब्बत अभियान सिक्किम होता हुआ अंततः 1904 को ल्हासा पहुँच गया। सात सौ तिब्बितियों को मौत के घाट उतारने के बाद उसने दलाई लामा को **एक संधि स्वीकार** करने पर बाध्य किया। इस संधि के अनुसार तिब्बत ब्रिटिश साम्राज्य का संरक्षित राज्य बनकर रह गया। **इस संधि में अंग्रेजों** को तिब्बत में व्यापार करने के लिए कुछ सुविधाएँ भी दी गई थीं। किंतु, रूस के भय का हौआ निर्मूल सिद्ध हुआ क्योंकि 1907 की संधि के द्वारा रूस ने तिब्बत पर अंग्रेजों की प्रभुता स्वीकार कर ली। वैसे पूर्वी एशिया में व्यस्त होने के कारण रूस इस स्थिति में नहीं था कि तिब्बत की ओर अधिक ध्यान दे पाता। असल में तिब्बत अभियान के पीछे अंग्रेजों की साम्राज्यवादी हवस ही क्रियाशील थी।

1911 की चीनी क्रांति के बाद दलाईलामा ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी। किंतु चीन की नई सरकार तिब्बत को चीन से मिला लेने पर आमादा थी। तिब्बत की स्वाधीनता को स्वीकार करने के स्थान पर अंग्रेज सरकार ने मई 1913 में चीन और तिब्बत के प्रतिनिधियों को आमंत्रित करके शिमला में एक त्रिदलीय वार्ता का आयोजन किया। 13 अक्तूबर 1913 को यह वार्ता हुई तथा 1914 में दो समझौते किए गए। पहले समझौते के अनुसार अंग्रेजों ने पूर्वी क्षेत्र अथवा आंतरिक क्षेत्र पर चीन की प्रभुता स्वीकार कर ली। दूसरा, पश्चिमी क्षेत्र स्वायत्त घोषित किया गया। दूसरे समझौते के अनुसार तिब्बत और ब्रिटिश भारत के बीच सीमा रेखा खींचना तय हुआ। इस सीमा रेखा का नाम अंग्रेज प्रतिनिधि हैनरी मैकमोहन के नाम पर मैकमोहन रेखा ही पड़ गया।

6.6 नेपाल

भारत के उत्तर-**पश्चिमी सीमांत तथा तिब्बत के छोटे-छोटे** राज्यों की श्रृंखला थी। जब इस क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार हुआ तो ये राज्य अंग्रेजों के संपर्क में आए। साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया में ये राज्य भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ब्रिटेन के नियंत्रण में आ गए। नाकि वह तिब्बत या चीन के विरुद्ध भारत की अग्रिम चौकियों के रूप में कार्य करना था। पश्चिमी छोर पर जो पहला राज्य पड़ता था वह था हिन्दू गोरखा राज्य। गोरखाओं ने 1768 में काठमांडू की घाटी पर अधिकार कर लिया था और धीरे-धीरे वे अपने पूर्वी एवं पश्चिमी भागों को हड़पते गए। यहां तक कि कुमाऊँ, गढ़वाल तथा शिमला की पहाड़ियों पर भी उन्होंने अधिकार जमा लिया किंतु गोरखाओं की पराजय के बाद 1816 की संधि के अनुसार ये क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन हो गए।

संधि हो जाने के पश्चात् अंग्रेजों ने नेपाली शासकों के साथ संबंध बनाए रखने में बड़ी चतुराई और कुशलता से काम लिया। वे नेपाल के शासकों को प्रभुसत्ता संपन्न का दर्जा देते थे तथा उन्हें योर मेजेस्टी कह कर संबोधित करते। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत की सुरक्षा के लिए अंग्रेज केवल हिमालय की ऊँची चोटियों पर ही निर्भर नहीं थे उनके लिए नेपाल, भारत, तिब्बत और चीन के मध्यवर्ती राज्य का काम करता था। अंग्रेजों के लिए सबसे संतोषजनक बात यह थी कि नेपाल ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध किसी भावना को समर्थन नहीं दिया। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ नेपाल के संबंध शांतिपूर्ण सहअस्तित्व एवं विश्वास के थे। दोनों पक्ष एक दूसरे के प्रति मैत्री का भाव रखते थे। 1857 के विद्रोह के समय नेपाल पूर्णरूपेण तटस्थ बना रहा और ब्रिटिश साम्राज्य ने बड़ी संख्या में गोरखों को भाड़े के सैनिकों के रूप में अपनी सेना में भरती किया। बिना किसी औपचारिक मित्रता संधि के नेपाल सरकार ने अपनी विदेश नीति को अंग्रेजों के हितों के अनुकूल ढाल लिया। उदाहरण के लिए यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि ब्रिटिश राजनयिक शिष्टमंडल के अतिरिक्त किसी अन्य शिष्टमंडल को नेपाल में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी।

बोध प्रश्न 3

1 निम्नलिखित कथनों में कौन से सही (√) या गलत (×) हैं :

i) चीन का तिब्बत पर दीर्घकाल तक नाममात्र का आधिपत्य रहा।

ii) तिब्बत के प्रति अंग्रेजों के इरादे साम्राज्यवादी नहीं थे।

iii) नेपाल भारत तथा तिब्बत या चीन के बीच मध्यवर्ती (mediatory) राज्य था।

iv) भारत की अंग्रेज सरकार तथा नेपाल के बीच कभी सौहार्दपूर्ण संबंध नहीं रहे।

2 लगभग दस पंक्तियों में इस बात का विवेचन कीजिए कि तिब्बत में अंग्रेजों की रुचि किन कारणों से बढ़ी।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.7 सिक्किम

नेपाल और भूटान के बीच एक छोटा-सा पहाड़ी राज्य है —सिक्किम। इस राज्य में तिब्बत जाने वाले दो दर्रे पड़ते थे। एक मार्ग कालिम्पोंग तथा जेलेप दर्रे से होकर चुम्बी घाटी को जाता था तथा दूसरा मार्ग उधर तिस्ता नदी के साथ-साथ केम्पास, त्सोंग तथा सिंगास्ती को जाता था। तिब्बत पर चीनी प्रभुत्व स्थापित होने से पूर्व सिक्किम राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था क्योंकि यहाँ से होकर तिब्बत जाया जा सकता था। यहाँ की सभ्यता पर तिब्बती बौद्ध भिक्षुओं का प्रभाव था तथा यहाँ एक स्थानीय कुलीन वंश का शासन था। सिक्किम एक स्वतंत्र राज्य था। अठारहवीं शती के अंत तक गोरखाओं ने सिक्किम पर अस्थायी नियंत्रण स्थापित कर लिया था। किंतु अंग्रेजों ने सिक्किम की स्वतंत्रता को बहाल किया तथा 1861 में इसे ब्रिटिश संरक्षित राज्य घोषित कर दिया। दलाई लामा अंग्रेजों के इस कार्य से प्रसन्न नहीं था। 1890 में चीन ने सिक्किम पर ब्रिटिश अधिकार को मान्यता दे दी। अंग्रेजों ने सिक्किम संबंधी नीति अपने हितों की रक्षा के लिए बनाई थी।

6.8 भूटान

सिक्किम के पूर्वी भाग से लगा हुआ एक राज्य है — भूटान। भूटानी लोग गरीब थे और प्रायः मैदानी इलाकों में आकर लूटपाट मचाया करते थे। ऐसे ही एक अभियान में भूटानी लुटेरों ने कूचबिहार के राजा का अपहरण कर लिया। कूचबिहार अंग्रेजों के संरक्षण में था। अपहृत राजा को छुड़ाने के लिए वारेन हेस्टिंग्ज ने भूटान पर चढ़ाई कर दी। भूटान की पराजय हुई और ब्रिटिश साम्राज्य में एक छोटा सा भू-भाग और जुड़ गया। किंतु अब भी मौका पाकर, जब अंग्रेजों का ध्यान बँटा होता था, भूटानी लुटेरे लूटपाट करते रहते थे। वे तो अंग्रेज प्रतिनिधियों से दुर्व्यवहार करने से भी नहीं चूकते थे। इन गतिविधियों से क्रुद्ध होकर अंग्रेज सरकार ने दमन और प्रतिरोध की नीति अपनाई तथा भूटान पर दृढ़तापूर्वक अपनी सत्ता स्थापित कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1904-6 के यंगहस्बंड अभियान में भूटान ने अंग्रेजों का पूरा साथ दिया। अंततः सर चार्ल्सबेल के प्रयत्नों के फलस्वरूप पुनारखा में एक मित्रता संधि हुई जिसके अनुसार अंग्रेजों ने भूटान को स्वतंत्र संप्रभुता संपन्न राज्य मान लिया किंतु उसकी विदेश नीति अंग्रेजों के नियंत्रण में रही।

6.9 उत्तर पूर्वी सीमांत एजेंसी (नेफा)

भूटान और बर्मा के बीच के पहाड़ी क्षेत्र में भी पहाड़ी कबीले बसे हुए थे। ये कबीले हर तरह से अपने उत्तर पश्चिमी बंधुओं की भाँति ही थे, केवल जाति और धर्म में भिन्न थे और व्यावहारिक रूप से पूर्ण स्वतंत्र थे। ये लोग बड़े दुर्दांत और लड़ाके थे तथा अभावग्रस्त होने के कारण मैदानी इलाकों में लूटपाट किया करते थे। 1826 में जब असम को भारत में मिला लिया गया तो लूटपाट की ये घटनाएँ अंग्रेजों के लिए चिंता का विषय बन गईं। इस समस्या को सुलझाने के लिए अंग्रेजों ने उपलब्ध

देने तथा संरक्षण प्रदान करने की नीति अपनाई। जब ब्रिटिश भारत की सीमा पर्वत श्रृंखलाओं तक पहुँच गई तो अंग्रेजों ने सुरक्षा चौकियों की श्रृंखला स्थापित की और तिब्बती सरकार को मैकमोहन सीमा रेखा मानने पर बाध्य किया।

भारत के सुदूर उत्तरपूर्व के प्रदेश में नागा जनजातियां रहती थीं। वहाँ भी सीमा खींचने की आवश्यकता थी। ये कबीले शीघ्र ही अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गए। किंतु दुर्गम पर्वत श्रृंखलाओं के कारण यह प्रदेश शेष भारत से कटा ही रहा। ईसाई मिशनरियों ने कुछ नागाओं को ईसाई बना लिया था तथा उस समय के उच्च वर्ग ने पाश्चात्य तौर तरीके अपना लिए थे।

एक अन्य पहाड़ी राज्य मणिपुर भी अंग्रेजों के लिए गंभीर समस्या बना हुआ था। 1826 में मणिपुर के शासक को अंग्रेजों ने महाराजा के रूप में मान्यता दे दी थी। 1886 में तत्कालीन महाराजा की मृत्यु के बाद मणिपुर में अनेक अंग्रेज अधिकारियों की हत्याएँ हो गई। परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने मणिपुर को संरक्षित राज्य घोषित कर दिया।

पूर्व में भारत का पड़ोसी देश था बर्मा। अठारहवीं शती के अंत तथा उन्नीसवीं के आरंभ में बर्मा साम्राज्य का निरंतर विस्तार होता रहा। चीन के आधिपत्य से मुक्त होकर बर्मा का साम्राज्य अपना विस्तार करने में व्यस्त था। उसने पूर्व में थाईलैंड तथा पश्चिम में मणिपुर और असम तक अपनी सीमाएँ बढ़ा ली थीं। अपनी इस विस्तारवादी नीति के कारण बर्मा को तीन बड़े युद्धों का सामना करना पड़ा। पहला युद्ध 1824-26 में, दूसरा 1852 में तथा अंतिम 1885 में हुआ। इन युद्धों के परिणामस्वरूप पूरे बर्मा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

बोध प्रश्न 4

1 निम्नलिखित कथनों में कौन से सही (√) हैं और कौन से (×) गलत:

i) चीन ने सिक्किम पर अंग्रेजों के अधिकार को मान्यता दे दी थी।

ii) भूटान ने अपनी स्वतंत्र विदेश नीति को कायम रखा।

iii) ईसाई मिशनरियों ने अधिकांश नागाओं को ईसाई बना लिया था।

iv) 1885 तक बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन चुका था।

2 लगभग दस पंक्तियों में लिखिए कि उत्तर पूर्वी सीमांत एजेंसी (नेफा) में ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई नीति का क्या उद्देश्य था।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.10 सारांश

अब तक हमने जो विश्लेषण किया उसके मोटे तौर पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

1 ब्रिटिश भारत की विदेश नीति मुख्य रूप से इस तथ्य पर आधारित थी कि एशिया में रूस और चीन दो शक्तियाँ थीं और उस समय भारत की राजनीतिक गतिविधियों के निर्धारण में इन दोनो देशों के संबंधों का महत्वपूर्ण हाथ था। इस समय चीन की शक्ति पतनोन्मुख थी जबकि रूस मध्य एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था। अपने साम्राज्य की सुरक्षा सुनिश्चित करने एवं प्राकृतिक सीमांत की खोज में ब्रिटिश शक्ति तेजी से उत्तर पूर्व की ओर बढ़ रही थी। उन्नीसवीं शती में ब्रिटिश भारत की विदेश नीति के निर्धारण में "रूसी खतरे" (Russian Peril) की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही।

2 भारत की विदेश नीति के निर्धारण में यहाँ की भौगोलिक स्थिति का भी हाथ रहा। भारत छोटी-छोटी रियासतों से घिरा हुआ था। इन रियासतों से तो भारत को कोई खतरा नहीं था किंतु सामरिक दृष्टि से ये इतनी दुर्बल थीं कि रूस जैसी विदेशी शक्तियों के मन में इन पर आक्रमण करने की बात सहज ही उठ सकती थी। उस स्थिति में भारत के लिए खतरा हो सकता था। इसके अतिरिक्त भारत के सीमांत पर लड़ाकू कबीले बसे हुए थे जिनके कारण उस क्षेत्र में अशांति बनी रहती थी इस कारण भारत के उत्तरी पश्चिमी एवं उत्तर-पूर्वी सीमांत को सुदृढ़ रक्षापंक्ति नहीं कहा जा सकता था।

3 अंग्रेजों की नीतियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भारत में अपना राज सुदृढ़ करने के लिए राज्य प्रशासन को व्यवस्थित किया तथा इस बात की भी पूरी व्यवस्था की कि भारत पर कोई विदेशी आक्रमण न होने पाए।

इस सबके बावजूद यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत में अंग्रेजों की विदेश नीति का एकमात्र उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वव्यापी हितों की रक्षा करना था। अगली इकाइयों में हम इस बात पर विचार करेंगे कि भारत के राष्ट्रवादी नेताओं ने इस नीति की आलोचना क्यों की।

6.11 शब्दावली

द्विध्रुवीकरण (Bipolarisation): दो समूहों अथवा गुटों को एक दूसरे के विरोध में लाने वाली प्रक्रिया।

व्यापारकेंद्र (Emporium): ऐसा केंद्र जहां विभिन्न स्थानों से वस्तुएं लाकर रखी और बेची जाती हैं।

विदेश नीति (Foreign Policy): किसी देश की वह नीति जिसके अनुसार वह अन्य देशों के साथ बाह्य मामलों में व्यवहार करता है। इसके अंतर्गत अन्य देशों के साथ राजनयिक, आर्थिक, सैन्य तथा सांस्कृतिक संबंध आते हैं। विदेश नीति देशों की आंतरिक नीति की ही अभिव्यक्ति होती है।

साम्राज्यवादी नीति (Imperialistic Policy): किसी देश की अन्य कमजोर देशों पर आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुता स्थापित करने की नीति।

विद्रोह (Insurgency): स्थापित सत्ताधिकार के विरुद्ध विप्लवात्मक कार्य। इस शब्द का प्रयोग प्रायः सत्ताधिकारपक्ष विरोध अथवा विप्लव के कार्यों को नाम देने के लिए करता है।

अलगाववादी (Isolationist): अलग-थलग रहने की नीति का पालन करने वाला व्यक्ति।

भाड़े के सैनिक (Mercenaries): पैसे के लिए लड़ने वाले भाड़े के सैनिक जो पैसा देने वाले के लिए लड़ते हैं — देश के लिए नहीं।

संरक्षित राज्य (Protectorate): ऐसा देश जो आंतरिक मामलों में तो स्वाधीन रहता है किंतु जिसकी विदेश नीति पर बाह्य शक्ति का नियंत्रण रहता है।

6.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 i) √ ii) × iii) × iv) √

2 देखिए उपभाग 6.2.4

बोध प्रश्न 2

1 i) × ii) √ iii) √ iv) √

2 देखिए भाग 6.3

बोध प्रश्न 3

1 i) √ ii) √ iii) √ iv) ×

2 देखिए भाग 6.5

बोध प्रश्न 4

1 i) √ ii) × iii) √ iv) √

2 देखिए भाग 6.9

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGHY-01/CSSHY-01

इतिहास

आधुनिक भारत

1857–1964

खंड

2

संगठित राष्ट्रवाद का उदय

इकाई 7
जन विद्रोह : उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध 5

इकाई 8
उन्नीसवीं सदी के भारत में सामाजिक सुधार 24

इकाई 9
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 33

इकाई 10
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस : नरम दल और गरम दल 49

इकाई 11
बंगाल का विभाजन और स्वदेशी आंदोलन 65

विशेषज्ञ समिति

प्रो. रवीन्द्र कुमार (अध्यक्ष)
निदेशक
नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
नयी दिल्ली

प्रो. एस. गोपाल
निदेशक
नेहरू स्मारक कोष
नयी दिल्ली

प्रो. सतीश चन्द्र (सी.एच.एस.)
प्रो. रोमिला थापर (सी.एच.एस.)
डॉ. मुजफ्फर आलम (सी.एच.एस.)
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

प्रो. सरोजिनी रेगानी
इतिहास विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. बी. कानूनगो
इतिहास विभाग
बनारस हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. पी.एल. मेहरा
डॉ. आर.आई. मलहोत्रा
इतिहास विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

प्रो. बी.एस. शर्मा
समकुलपति (शैक्षिक)
प्रो. बख्शीश सिंह (संयोजक)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

पाठ लेखक

श्री विश्वमोय पति
श्री वेंकटेश्वर कालेज
नयी दिल्ली

प्रो. के.एम. पान्निकर (सी.एच.एस.)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

डॉ. स्नेह महाजन
इन्द्रप्रस्थ कालेज
नयी दिल्ली

प्रो. एस.आर. सिंह
बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर

प्रो. अमित कुमार गुप्ता
नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
नयी दिल्ली

प्रो. बी.एन. दत्त (पाठ संपादक)
(इतिहास विभाग)
कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय

प्रो. एस. भट्टाचार्य (सी.एच.एस.) (परामर्शदाता)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

संकाय सदस्य: इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

डॉ. कपिल कुमार
डॉ ए.आर. खान
श्री अजय माहुरकार
श्री सलिल मिश्रा
सुश्री संगीता जोशी

प्रो. बी.एन. कौल (संरचना संपादक)
निदेशक
दूर शिक्षा प्रभाग

अनुवाद

श्री चन्द्रभूषण शर्मा
श्रीमती रेणु गुप्ता
श्री अजय कुमार
श्री जायसवाल
डॉ. हरीश नारंग

संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. बी.रा. जगन्नाथन
डॉ. शत्रुघ्न कुमार

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

मई, १९९९ (पुन: मुद्रित)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, १९

ISBN-81-7091-266-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGHY-01/CSSHY-01(1)/70

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. कपिल कुमार निदेशक (सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

खंड का परिचय

1857 के महान् जन-विद्रोह के उपरांत अंग्रेजों ने भारत में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए व्यापक प्रयास प्रारंभ किये। इन प्रयासों का उद्देश्य अंग्रेजी शासन के विरूद्ध किसी भी प्रकार के प्रतिरोध का दमन करना था। इसके साथ-साथ वे भारतीय समाज के प्रभुत्वशाली वर्गों में अपने शासन के स्थायित्व के लिए सहयोग प्राप्त करने के भी इच्छुक थे। परन्तु अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रतिरोध निरंतर जारी रहा। इस प्रतिरोध के दो रूप हमें दिखाई देते हैं—असंगठित और संगठित प्रतिरोध। पहले प्रकार के प्रतिरोध में किसानो, जनजातियों, कामगारों और उभरते हुए श्रमिक वर्ग के जन-विद्रोह आते हैं। इकाई 7 में स्थानीय आधार पर किये गये इन संघर्षों का उल्लेख किया गया है। संगठित राष्ट्रवाद के उद्भव की व्याख्या करने से पूर्व इकाई 8 में भारत में समाज सुधार आंदोलन से संबंधित कुछ आधारभूत प्रश्नों की चर्चा की गई है। समाज सुधार आंदोलन 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों से ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे थे। क्या इनका उद्भव पाश्चात्य विचारों के प्रभावस्वरूप हुआ? या यह स्वतंत्र रूप से उभरकर आए? क्या ये पश्चिम की चुनौती के विरूद्ध एक सुरक्षा प्रणाली के रूप में उभरे? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनकी व्याख्या इस इकाई में की गई है और इसके साथ-साथ भारतीय समाज और राजनीति पर इनके प्रभाव की भी चर्चा की गई है।

इस खंड की इकाई 9 में उन कारणों की व्याख्या की गई है जिनके परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संगठन हुआ था। कांग्रेस की स्थापना के संदर्भ में जो विभिन्न सैद्धांतिक तर्क दिये जाते हैं उनको भी इस इकाई में परखा गया है। इसी समय से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में अंग्रेजी शासन के प्रति संगठित प्रतिरोध का युग प्रारंभ होता है। इकाई 10 के अंतर्गत आपको कांग्रेस के विकास की प्रक्रिया से अवगत कराने का प्रयास किया गया है। यह इकाई नरम दल और गरम दल के दृष्टिकोणों, उनके मध्य के अंतर और उनके परस्पर सामान्य उद्देश्यों की चर्चा करती है।

20वीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध प्रथम जन-आंदोलन स्वदेशी आंदोलन था जो कि बंगाल के विभाजन के उपरांत छेड़ा गया था। इकाई 11 में इस आंदोलन के विस्तार और प्रगति की चर्चा की गई है। इसके साथ-साथ इस बात पर भी विचार किया गया है कि आंदोलन की क्या सीमाएँ थीं और संपूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन पर इसका क्या प्रभाव पड़ा।

इस खंड से संबंधित एक आडियो पाठ भी तैयार किया गया है जिसका शीर्षक है "कांग्रेस के प्रति सरकारी दृष्टिकोण 1885-1905"। यह पाठ आपको विश्वविद्यालय के विभिन्न अध्ययन केन्द्रों में उपलब्ध होगा।

इकाई 7 जन विद्रोह : उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 औपनिवेशिक प्रभाव
7.3 कृषक, आदिवासी और शिल्पकार
7.4 1857 तक के जन आंदोलन
  74.1 उड़ीसा
  74.2 संथल विद्रोह
  74.3 1857
7.5 1857 के बाद जन–आंदोलन
  7.5.1 नील विद्रोह
  7.5.2 मोपला विद्रोह
  7.5.3 पाबना
  7.5.4 दक्कन के दंगे
  7.5.5 कोय विद्रोह
  7.5.6 बिरसा मुंडा विद्रोह
7.6 जन-आंदोलन का स्वरूप
7.7 श्रमिक वर्ग के आंदोलन
  7.7.1 शिक्षित वर्ग का प्रयास
  7.7.2 हड़ताल
  7.7.3 विशेषताएँ
7.8 सारांश
7.9 शब्दावली
7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले विभिन्न कृषक और आदिवासी आंदोलनों के कारण जान सकेंगे
- इन आंदोलनों के लक्षण और विशेषताओं को बता पायेंगे
- इन आंदोलनों के प्रति औपनिवेशिक शासन का रवैया जान सकेंगे, और
- भारत में श्रमिक वर्ग के उदय के कारण जान सकेंगे
- श्रमिक वर्ग की समस्याएँ समझ पाएंगे
  श्रमिकों के प्रारंभिक संघर्ष के विषय में जान सकेंगे
- इन संघर्षों का महत्व समझ पायेंगे

7.1 प्रस्तावना

यह सही है कि 1857 की जनक्रांति को दबाने में अंग्रेजों ने सफलता पा ली थी लेकिन जनसाधारण – विशेष रूप से कृषकों और आदिवासियों के मन में अंग्रेज-विरोधी भावना व समाप्त नहीं किया जा सका क्योंकि दमनात्मक अंग्रेजी शासन के कुप्रभाव से ये सबसे

ज्यादा त्रस्त थे। सरकार द्वारा "जमींदारों" को "जनता का स्वाभाविक नेता" मान लिए जाने से कृषक तथा आदिवासी अंग्रेज शासक और जमींदार दोनों के द्वारा सताए जाते थे।

कृषकों और आदिवासियों ने बहुत सारे प्रदेशों में अंग्रेजों के खिलाफ बगावत का झंडा बुलंद किया। इस इकाई में आपको इन्हीं आंदोलनों से परिचित कराने की कोशिश की गई है।

भारत के ब्रिटिश उपनिवेश का अंग बन जाने के बाद अंग्रेजी पूँजीपतियों ने मुनाफा कमाने के लिए यहाँ अपनी पूँजी लगायी। रेल यातायात के शुरू होने के उपरांत कुछ आधुनिक उद्योग लगाए गए। इस तरह उद्योगीकरण, खेती और रेल के सीमित विकास के कारण एक नए वर्ग "श्रमिक वर्ग" का जन्म हुआ। प्रारंभ में इस शोषित वर्ग को संगठित होने या प्रभावकारी ढंग से अपनी आवाज उठाने का कोई तरीका मालूम नहीं था। लेकिन शीघ्र ही ये श्रमिक अंग्रेज पूँजीपतियों और पश्चिमी उपनिवेशिकों द्वारा अपने शोषण का प्रतिरोध करने लगे। यह इकाई इन श्रमिकों के प्रारंभ में संगठित होने और शोषण के खिलाफ आवाज उठाने के प्रयासों की भी चर्चा करती है।

1850-1900 के बीच कृषक, आदिवासी, शिल्पकार और श्रमिकों के जन-आंदोलनों की चर्चा करने से पहले कुछ तथ्यों का स्पष्टीकरण जरूरी है। मसलन, प्रस्तुत विषय वस्तु पर कोई भी चर्चा औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य में ही संभव है। यह काल मोटे तौर पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के दूसरे चरण यानि कि "औपनिवेशिक पूँजी" का दौर माना जाता है। पहला चरण, जिसे आमतौर पर "व्यापारिक दौर" के नाम से जाना जाता है, मूलतः व्यापार और वाणिज्य पर आधारित है। इस चरण में भारत के औद्योगिक और पूँजीवादी शोषण का विकास देखा जा सकता है। (अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विभिन्न चरणों के लिए देखें इकाई 1, खण्ड-1)

7.2 औपनिवेशिक प्रभाव

भारतीय कृषि और पारंपरिक हस्तशिल्प उद्योग पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रभाव मुख्य है:

i) भूमि बंदोबस्त (या भू-राजस्व) के नए तरीकों (जैसे स्थायी, रैयतवारी और महलवारी) ने कुछ नयी चीजों जैसे "बाजार-अर्थव्यवस्था" को जन्म दिया तथा पुरानी प्रचलित नीति जैसे चारागाह और जंगल के परंपरागत समुदायिक अधिकारों को नष्ट कर दिया। भू – संबंधी नई नीतियों और विशेषकर भू-राजस्व के नगद भुगतान जैसी नीतियों ने महाजनी (सूद पर कर्ज लेने को) को बढ़ावा दिया। बदले हुए विषम सामाजिक परिप्रेक्ष्य में महाजनी व्यवस्था ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था और समाज को पूर्ण रूप से कुछ महाजनों के हाथ में सौंप दिया। आदिवासी क्षेत्रों में यह प्रक्रिया आदिवासियों को खेती में लगाकर उनके परंपरागत व्यवसाय में परिवर्तन लाने में सफल हुई।

ii) सामाजिक विषमता कोई नई बात नहीं थी। किंतु साम्राज्यवाद ने नये तरह का ध्रुवीकरण पैदा कर दिया। यह ध्रुवीकरण अब वैसे लोगों के बीच हो गया था जो भूमि हथिया चुके थे, धन इकट्ठा कर चुके थे और अपने धन की बदौलत न्यायालय में अपनी संपत्ति की रक्षा कर सकते थे दूसरी तरफ वे थे जिनके पारंपरिक अधिकार छीने जा रहे थे। इस विषमता ने नई समस्याओं को जन्म दिया। जिससे अमीर-गरीब के इस नये वर्ग विभाजन के मजबूत होने के साथ-साथ जाति और धर्म का विभाजन भी मजबूत होता गया। उदाहरण के लिए अगर किसी जगह का महाजन किसी खास जाति या धर्म का होता और किसान दूसरी जाति या धर्म से होते तो जाति/धर्म के इस अंतर के साथ वर्ग विषमता, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, के कारण तनाव बढ़ जाता था। इस तरह आदिवासी क्षेत्रों में बाहर से जाकर बसने वाले साहूकार और महाजनों ने इन आदिवासियों का निर्मम शोषण शुरू कर दिया।

iii) औपनिवेशिक नीति का अन्य प्रमुख पक्ष यह था कि ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने की दृष्टि से भारतीय कृषि का बल पूर्वक ज्यादा से ज्यादा व्यापारीकरण किया गया। भारतीय कृषकों के लिए यह बहुत ही खतरनाक साबित हुआ क्योंकि कृषक अन्न के अभाव के समय में भी वाणिज्यिक फसल, नील और रूई ही उगाने के लिए बाध्य थे।

iv) उपनिवेशवाद शिल्पकारों के लिए भी विनाशकारी साबित हुआ क्योंकि इसके कारण भारत ब्रिटेन में बने सामानों का विक्रय केन्द्र बन गया। ब्रिटेन में सामान बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा तैयार किया जाता था। ये सामान भारतीय शिल्पकारों द्वारा बनाए गए सामानों की तुलना में काफी सस्ता और उत्कृष्ट होता था। इस स्थिति में कपड़ा और नमक जैसे पारंपरिक उद्योगों का लगभग सफाया ही हो गया। नई स्थिति ने न केवल बहुत सारे शिल्पकारों को बेरोजगार कर दिया बल्कि इसने खेती पर बोझ भी बढ़ा दिया क्योंकि अब इन शिल्पकारों के लिए खेती के सिवा और कोई रास्ता नहीं रह गया था।

7.3 कृषक, आदिवासी और शिल्पकार

आगे और चर्चा करने से पहले आइये हम कृषक, आदिवासी और शिल्पकारों के विषय में कुछ जानकारी ले लें।

i) जब हम कृषकों की बात करते हैं तो उन सब लोगों की चर्चा करते हैं जो खेती की प्रक्रिया से सीधे जुड़े रहते हैं। इन लोगों में कुछ तो गरीब थे किन्तु कुछ उनकी तुलना में अधिक संपन्न थे। उपनिवेश काल में यह अंतर और भी बढ़ गया। जमीन के मालिकों की तुलना में किसानों की स्थिति और भी खराब हो गई क्योंकि सरकार जमीन पर सिर्फ जमींदारों के अधिकार को ही स्वीकार करती थी। किसान अब सिर्फ पट्टेदार ही रह गए थे क्योंकि नए कानूनों के अनुसार जमींदार पट्टेदार को किसी भी समय जमीन से हटा सकता था।

ii) भारत में बहुत सारे आदिवासी समूह थे जैसे खोंड, सवार, संथल, मुंडा, कोय, कोल आदि। लेकिन जब हम आदिवासियों की चर्चा करते हैं तो इसका मतलब सिर्फ घूम-घूमकर शिकार तथा भोजन एकत्रित करने वाले समूहों से ही नहीं है बल्कि ऐसे आदिवासी समूहों से है जो जीविकोपार्जन के लिए एक निश्चित स्थान पर बस गये थे और खेती करने लगे थे। ये आदिवासी-कृषक एक जगह बस तो गये परंतु खेती के अलावा ये लोग शिकार भी करते थे एवं वन में पाये जाने वाली लकड़ियों जैसे बाँस आदि का सामान भी बनाते थे। उनके दृढ़ जातीय बंधन और अपेक्षाकृत अलग-अलग रहने की प्रवृत्ति भी उन्हें सामान्य कृषकों से अलग करती है।

iii) शिल्पकार वे लोग थे जो कपड़ा, नमक तथा लोहे के आदि सामानों के उत्पादन में लगे थे ये व्यवसाय ज्यादातर पैतृक व्यवसाय के रूप में चले आ रहे थे। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है ब्रिटेन में बने मिल के सामान के आ जाने से इनके सामान बाजार में नहीं बिक पाते थे। शिल्पकार के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण बहुत कम उपलब्ध हैं क्योंकि इन्हें अक्सर कृषक या आदिवासियों के साथ ही सम्मिलित किया जाता था।

बोध प्रश्न 1

निम्नलिखित कथनों में कौन सही है और कौन गलत? सही कथनों के सामने (✓) और *गलत के सामने (×) का चिन्ह लगाएँ।*

i) अंग्रेजों की भूमि नीति महाजनी व्यवस्था को बढ़ावा देती थी।
ii) अंग्रेजों की नीति के कारण आदिवासियों के पारंपरिक अधिकार खतरे में पड़ गए थे।

iii) अंग्रेजी सामानों के भारतीय बाजार में आ जाने से यहाँ के शिल्पकारों को काफी सहायता मिली थी।

iv) कृषक से हमारा अर्थ ऐसे लोगों से है जो कृषि कार्य से सीधे-सीधे जुड़े हुए थे।

2 पाँच पंक्तियों में लिखें कि उपनिवेशवाद ने किस प्रकार भारत में सामाजिक विषमता को बढ़ावा दिया।

.....

.....

.....

.....

.....

7.4 1857 तक के जन-आंदोलन

अब हम 1857 तक के जन-आंदोलनों की चर्चा करेंगे। इसके बाद 1850 से 1900 के बीच होने वाले कृषक आदिवासी और शिल्पकारों के मुख्य आंदोलन जैसे फितूरि, मेलि, हूल तथा उलगुलन की चर्चा की जाएगी।

7.4.1 उड़ीसा

1850 के दशक के प्रारंभ में उड़ीसा में कुछ आदिवासी आंदोलन हुए। घुमसर के खोंड और बौड़ (1854-56) तथा पार्लियाखेमदी के सवार कई लोकप्रिय आंदोलन के प्रणेता बने।

इन आंदोलनों का श्रेय चक्र बिसोई को जाता है जो 1837 से गिरफ्तारी से बचे रहने में सफल रहा। इन आदिवासी आंदोलनों का मुख्य कारण अंग्रेज प्रशासकों द्वारा "खोंडों" में प्रचलित नरबलि की प्रथा - "मेरिया" - को रोकने का प्रयास था। बदली हुई परिस्थितियों में नये दबावों और अनिश्चितता ने खोड़ों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे "मेरिया" के जरिये भगवान को खुश कर सकें ताकि हल्दी की अच्छी पैदावार हो सके। लेकिन सरकार इस प्रथा को रोकने के लिए कृत संकल्प थी। कुछ सरकारी अधिकारियों का मानना था कि खोड़ों की आर्थिक स्थिति अच्छी होने से "मेरिया" की बलि प्रथा समाप्त हो जाएगी।

चक्र बिसोई और आदिवासियों के प्रारंभिक आंदोलन के विषय में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। चक्र बिसोई ने एक ऐसे लड़के का मामला उठाया था जिसे खोंड मानते थे कि वो धुंमार का राजा था। कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिससे पता चलता है कि खोड़ों ने धुंमार की कुछ बस्तियों पर हमला किया था (1854) और चक्र बिसोई का विरोध करने से इंकार कर दिया। आंदोलन को दबाने के प्रयास में पुलिस ने एक साधू को चक्र समझकर हिरासत में ले लिया ऐसा प्रतीत होता है पताना और कालाहण्डी के कुछ जमींदारों और राजाओं ने जो अंग्रेजी शासन से सशंकित थे चक्र से संपर्क बनाए रखे।

राधाकृष्ण दण्डसेना के नेतृत्व में 1856-57 में पर्लियाखेमदी में सवार आंदोलन हुआ। अंग्रेज शासक ये मानते थे कि इस आंदोलन और चक्र बिसोई जिसे गिरफ्तार करना मुश्किल था के बीच कुछ संबंध था। 1856 के बाद चक्र बिसोई के बारे में कुछ भी सुना नहीं गया। 1857 में दण्डसेना को फाँसी पर लटका दिये जाने से सवार आंदोलन ठण्डा पड़ गया। इसके बाद चक्र बिसोई जनता की स्मृति में धूमिल होता गया। ये कहना मुश्किल है कि चक्र बिसोई सचमुच ही इन आंदोलनों से जुड़ा था या सिर्फ आदिवासियों के आंदोलन का प्रतीक बन गया था।

7.4.2 संथल विद्रोह

1855-57 में हुए वीरभूम, बाँकुरा, सिंहभूम, हजारीबाग, भागलपुर और मुंगेर के आदिवासी विद्रोह प्रमुख हैं। इन विद्रोहों के भड़कने में औपनिवेशिक शासन के स्वरूप की अहम् भूमिका है। उत्तरी और पूर्वी भारत से कुछ ऐसे जमींदार और सूदखोरों की चर्चा मिलती है जो आदिवासियों को पूरी तरह अपने चंगुल में दबा कर रखते थे। ये सूदखोर 50 प्रतिशत से 500 प्रतिशत की दर पर पैसा उधार दिया करते थे। इसके लिए साहूकार दो तरीके अपनाते थे। एक तरफ "बड़ा बान" उनसे सामान लेने के लिए और दूसरी तरफ "छोटा बान" उनको सामान देने के लिए। वे संथलों की जमीन भी हड़प लेते थे।

जमींदारों के बिचौलिये भी निर्दयता से आदिवासियों का शोषण करते थे। यहाँ तक कि हमें बंधुआ मजदूरी और रेल लाइनों पर काम कर रही महिलाओं को अपनी हवस का शिकार बनाने का भी उदाहरण मिलता है।

जब विद्रोह शुरू हुआ तो यह प्रमुखतः महाजन और व्यापारियों के खिलाफ था न कि अंग्रेजों के। आदिवासियों ने एलान किया कि उनके नये भगवान ने उन्हें आदेश दिया था कि वे हर एक भैंस वाले हल के लिये दो आना और हर एक गाय वाले हल के लिए आधा आना की दर से सरकार को कर दें। उन्होंने सूद की दर भी तय कर दी जो कम थी। महाजनों पर हुए गुप्त आक्रमण के लिए संथलों को सजा दी जाती थी जबकि उनके शोषकों पर कोई अंकुश नहीं था, उनको डाँटा भी नहीं गया। इससे पुनः विद्रोह फैला और गलत तरीके से पैसा बटोरने वाले महाजनों के यहाँ चोरी, डकैती, सेंधमारी आदि की घटनाएँ बढ़ने लगी।

ऐसी स्थिति में सिद्दो और कानू ने यह घोषणा करके कि उनके भगवान (ठाकुर) ने उन्हें अपने शोषकों की आज्ञा का उल्लंघन करने का आदेश दिया है, बारूद में आग का काम किया। 30 जून 1855 को दस हजार संथल भागड़ीही में जमा हुए जहाँ सिद्दो और कानू ने "भगवान के वचन" का एलान किया कि संथल अपने शोषकों के चंगुल से बाहर आएँ। संथलों ने इस विद्रोह को "बुराई" पर "अच्छाई" की विजय का नाम दिया। उनकी यह मान्यता थी कि उनका भगवान उनके साथ लड़ेगा जिससे इस विद्रोह को एक नैतिक औचित्य भी प्राप्त हुआ।

1. संथल नेता सिद्दो

किस तरह इस विद्रोह ने तूल पकड़ा और कैसे समकालीन परिस्थितियों में इसका स्वरूप विकसित हुआ, यह जानकारी दिलचस्प है। मुख्य रूप से यह विद्रोह महाजनों और व्यापारियों के खिलाफ था परंतु बाद में पुलिस,गोरे काश्तकार, रेलवे अभियन्ता और अधिकारियों के भी खिलाफ हो गया। संथलों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे औपनिवेशिक शासन के भी खिलाफ हैं।

विद्रोह छह महीनों तक चला। पूर्व सूचना देकर आदिवासियों ने बहुत सारे गाँवों पर हमला कर दिया। विद्रोहियों द्वारा जमींदारों और सरकार पर बहुत दबाव डाला गया। कई इलाकों में जमींदारों ने विद्रोह को दबाने में शासन की मदद की।

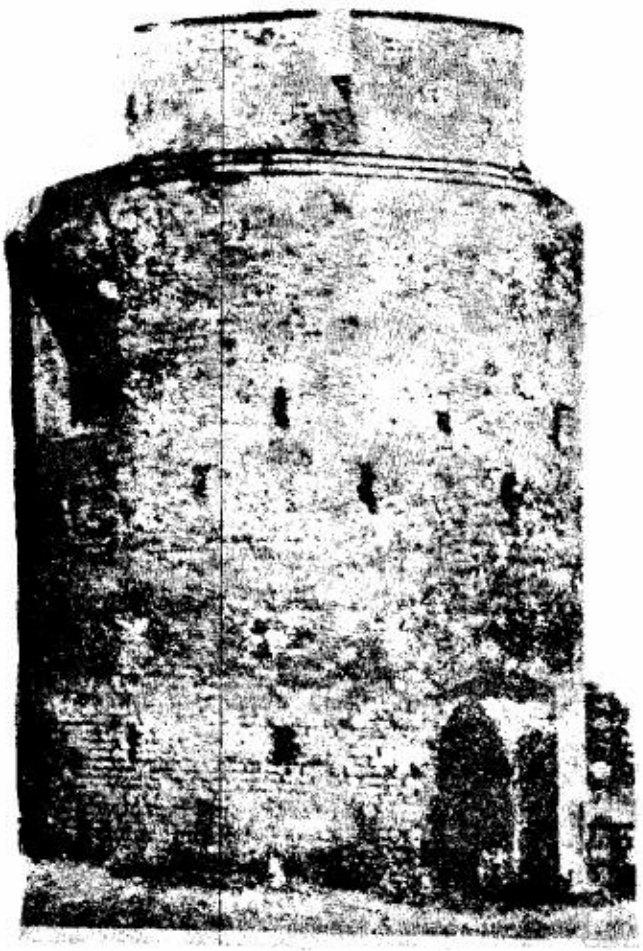

2 पाकुर का किला जहाँ संथलों से मात खाकर अंग्रेज सिपाहियों ने शरण ली।

7.4.3 1857

इसके बाद हम संक्षेप में 1857 की जन-क्रांति के बारे में कुछ कहना चाहेंगे। इतिहासकारों में इस विद्रोह में जनता की भागीदारी को लेकर मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे ऐरिक स्टोक्स (पीजेन्ट एण्ड राज- कैंब्रिज- 1978) लिखते हैं कि इस आंदोलन में ग्रामीण अभिजात्य वर्ग (जमींदार आदि) कृषक और शिल्पकारों का मार्गदर्शन कर रहे थे क्योंकि अंग्रेजों के आने से इनके स्वार्थों को भी धक्का लगा था। दूसरे इतिहासकार जैसे एस.बी. चौधरी और (थियोरीज ऑफ द इन्डियन म्युटिनी - 1857-59 कलकत्ता 1965) रूद्रांशु मुखर्जी (अवध इन रिवोल्ट - दिल्ली - 1984) का मानना है कि कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांशतया भूपति ही इसका मार्गदर्शन कर रहे थे। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि कृषक ही विद्रोह की शक्ति थे और जो सिपाही थे वो भी वर्दी में कृषक ही थे।

सूदखोरों के खिलाफ आम असंतोष के कारण कृषक और शिल्पकार संगठित हो गए। अंग्रेज शासन "बनियों का राज" समझा जाता था और विद्रोह सूदखोरों और अंग्रेजों दोनों के खिलाफ था। इसके साथ-साथ कृषकों के प्रथागत अधिकारों में कटौती से भी क्षोभ था।

विद्रोह के स्वरूप से स्पष्ट है कि इसके अंग्रेज विरोधी सामन्त – विरोधी चरित्र का उदय इसी समय हुआ था।

फिरंगी राज के चिह्न जैसे पुलिस थाने, रेल की पटरी, टेलीग्राफ के तार आदि नष्ट कर दिए गए। 1857 के साथ जो दूसरे जन-आंदोलन हुए उनमें हमें दस्तावेज नष्ट किए जाने का भी प्रमाण मिलता है। बही खातों के नष्ट करने का अर्थ था – नई कर-नीति का विरोध। आक्रमण के लक्ष्य मुख्यतया विदेशी थे परंतु उनके भारतीय सहयोगी जैसे साहूकार, नीलामी ठेकेदार, महाजन और व्यापारी भी कुछ प्रदेशों में विरोध के लक्ष्य बने।

इस दौर में शाहजहाँपुर, साहिबाबाद, गया और पलामू में उद्योगों के नष्ट किए जाने का भी उदाहरण मिलता है। हमारे प्रमाण बहुत सीमित हैं किन्तु ये प्रमाण साफ-साफ शिल्पकारों के उद्योगीकरण के खिलाफ क्षोभ को दशति हैं। शिल्पकार नए यंत्रों के आने से शंकित थे। ये प्रवृत्ति ब्रिटेन में शुरू के उद्योगीकरण के समय (1830) भी पायी जाती है।

ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने से और आजादी के आभास के कारण कृषक और शिल्पकारों ने अमीर सामन्तों की जमीन हड़प ली और उनके घरों को लूटा। उनकी संपत्ति के कागज और सरकारी दस्तावेज नष्ट कर दिए गए।

इस स्थिति ने विद्रोह के स्वरूप को बदल दिया। कुँवर सिंह जैसे बड़े जमींदार ने जो बिहार में विद्रोह का नेतृत्व कर रहे थे अपने अनुयाइयों को ऐसे काम से रोक दिया क्योंकि ऐसा करने पर ब्रिटिश शासन के बाद संपत्ति के सही आधिपत्य का निर्णय और एक पर दूसरे के देय का पता करना मुश्किल हो जाता।

बोध प्रश्न 2

1) विद्रोह और उससे जुड़े हुए नेताओं के नामों का मिलान करें :

i) चक्र बिसोई	अ) सवार विद्रोह
ii) सिद्दो और कानो	ब) खोंड और घुमसर
iii) राधाकृष्ण दण्डसेना	स) संथल विद्रोह

2) संथलों की समस्याओं का पाँच पंक्तियों में वर्णन करें।

.....
.....
.....
.....
.....

3) निम्न वक्तव्यों में कौन सही (✓) और कौन गलत (×) है?

i) खोंड़ बलि देकर अपने भगवान को अच्छी फसल के लिए खुश करते थे।
ii) राधाकृष्ण दण्डसेना अंग्रेजों द्वारा पुरस्कृत किए गए थे।
iii) जमीदारों ने अंग्रेजों के संथल विद्रोह कुचलने में सहायता दी थी।
iv) इतिहासकारों में 1857 के विद्रोह के विषय में लोगों के भाग लेने के विषय में कोई मतभेद नहीं है।
v) शिल्पकार नई मशीनों के आगमन का स्वागत कर रहे थे।

7.5 1857 के बाद के जन – आंदोलन

1857 के विद्रोह के बाद जन – आंदोलन समाप्त नहीं हुए। हम देखते हैं कि इसके बाद भी बहुत सारे आंदोलन हुए। इनमें से कुछ की चर्चा हम करेंगे।

7.5.1 नील विद्रोह

1859 का बंगाल का नील विद्रोह एक प्रमुख विद्रोह है जिसकी चर्चा हम करना चाहेंगे। 1770 में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा नील की खेती शुरू की गयी। अंग्रेज काश्तकारों द्वारा जबरदस्ती तथा कानूनी तिकड़मों द्वारा किसानों को घाटे पर भी नील उगाने के लिए बाध्य किया जाता था। चूँकि कृषक स्वयं खाने तक के लिए अनाज नहीं उगा पाते थे अतः इससे उनमें बहुत असंतोष पैदा हुआ। 1859 तक हजारों कृषकों ने नील की खेती करने से इंकार कर दिया। उन्होंने अपने संगठन बनाये तथा बागान-मालिकों और उनके सैनिकों का प्रतिरोध करने लगे। समकालीन अखबार जैसे "द बंगाली" में विस्तार से इसकी रपट प्रकाशित की गई और बताया गया कि विद्रोह सफल रहा था। दीनबंधु मित्र ने बंगला में "नीलदर्पण" लिखा और नील कृषकों की दुर्दशा को उजागर किया।

नील विद्रोह के कारण सरकार जाँच समिति गठित करने को बाध्य हो गई (1860), विद्रोह की वजह से बंगाल में बगीचा प्रथा को काफी नुकसान पहुँचा और खेतिहरों को बाध्य होकर बिहार चले जाना पड़ा।

3. बंगाल के नील विद्रोह का क्षेत्र

4. दीनबंधु मित्र

7.5.2 मोपला विद्रोह

1850-1900 के बीच मलाबार में मोपला विद्रोह शुरू हुआ। चूँकि जेनमी जमींदारों को पुलिस कानून और कर अधिकारियों द्वारा समर्थन मिल रहा था अतएव उन्होंने मोपला कृषकों पर अपनी गिरफ्त बढ़ाई। कृषकों ने जमींदारों और अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। यह एक रोचक तथ्य है कि उक्त विद्रोह, जो मुख्य रूप से अमीर और गरीब के बीच की लड़ाई थी, को औपनिवेशिक शासकों ने सांप्रदायिक रूप दे दिया क्योंकि जमींदार हिन्दू और कृषक मुसलमान थे। जमींदारो का अधिकाधिक बढ़ता अत्याचार 1880 तक चलता रहा। कृषकों के विद्रोह का गला घोटने के लिए उन्होंने कई विद्रोहियों को जिंदा जला दिया ताकि उनका उत्साह समाप्त हो जाए। डी.एन. धनागरे ने अपनी पुस्तक (पीजेन्ट मूवमेन्ट, इन इंडिया, 1920-50, दिल्ली 1903) में बताया है कि कैसे इन अत्याचारों के कारण कृषक बदला लेने पर उतारू हो गये।

1857 में मोपला कृषकों की ओर से मद्रास सरकार को बेनामी दरखास्त दी गयी जिसके कारण जाँच शुरू हुई। 1882-85 के बीच पुनः जमींदारों और कृषकों के बीच मनमुटाव बढ़ा और कृषकों ने लूट और आगजनी के साथ-साथ मंदिरों को भी नुकसान पहुँचाया। इन कारनामों की वजह से इस विद्रोह को जो मुख्य रूप से जमींदार और कृषकों के बीच का वर्ग संघर्ष था, हिन्दू विरोधी संघर्ष का नाम दे दिया गया। 1896 तक मोपला विद्रोह ने आक्रामक जातीय दंगे का रूप ले लिया।

7.5.3 पाबना

दूसरा मुख्य विद्रोह बंगाल में पाबना (1873-1885) के कृषकों ने किया। 1859-73 तक पाबना के कृषकों ने कर में वृद्धि का कोई विरोध नहीं किया और इस अधिक बढ़ी हुई दर पर बिना किसी विरोध के कर देते गए। विद्रोह की जड़ में यह कारण था कि जमींदार कृषकों से उनकी जमीन पर से उनका अधिकार छीन लेना चाहते थे। अधिकार युक्त किसानों को जबरदस्ती दस्तख्त करा कर पट्टेदार बना दिया गया।

कृषकों को नए कानूनों के ज्ञान से उन पर हो रहे अत्याचारों का बोध हो गया। कुछ स्थानों में जैसे त्रिपुरा में अनुचित उधारी की भी प्रथा थी। 1873 में पाबना के कृषकों ने "एगरेरियन लीग" बनाई जो शीघ्र ही पूरे जिले में फैल गयी। बहुत सारे अखबारों के द्वारा जैसे "अमृत बाजार पत्रिका" जो जमींदार समर्थक था लीग का विरोध किया गया। जो बात विचारणीय है वो यह कि कृषक ब्रिटिश शासन का विरोध नहीं कर रहे थे, वे कहते थे कि उनकी इच्छा "इंग्लैंड की रानी" का किसान बनने की है। वे अपने सताए जाने का विरोध कर रहे थे न कि उधार चुकाने का। वे अपने सुधार के लिए "रानी का किसान" बनना चाहते थे।

कुछ तथ्यों से हमें पता चलता है कि शुरू-शुरू में औपनिवेशिक शासन कृषकों का समर्थक रहा तथा उन पर जमींदारों के अत्याचार के मामलों में कृषकों का पक्ष लिया। जैसे-जैसे आंदोलन आगे बढ़ा और संगठित होने के नए तरीके सामने आने लगे कृषकों ने जमींदारों की असंवैधानिक माँगों के खिलाफ आवाज उठाई। कल्याण कुमार गुप्त (Pabna Disturbances and the Politics of Rent, 1873-85, NewDelhi, 1974) ने विद्रोह के कानूनी पक्ष की चर्चा करते हुए बताया है कि हिंसा की वारदात बहुत कम थी और कृषक मुख्यतः अपनी संपत्ति बचाने के लिए ही कार्य कर रहे थे।

5. पाबना विद्रोह का क्षेत्र

जैसे-जैसे विद्रोह बढ़ता गया जमींदार भी बदला लेने का उपाय करने लगे। कृषकों के मुख्य रूप से मुसलमान होने के कारण (करीब दो तिहाई कृषक और 70 प्रतिशत आबादी मुसलमान थी) जमीदारों और अंग्रेजों ने इसे सांप्रदायिक दंगे का नाम दिया। लेकिन यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि दो कृषक नेता केशवचंद्र राय और शंभुनाथ पाल हिन्दू थे।

1873 से करीब एक दशक तक पाबना विद्रोह ने जमींदारों द्वारा कृषकों के शोषण को कुछ हद तक थामे रखा। धीरे-धीरे विद्रोह ढाका, राजशाही, बाकरगंज, फरीदपुर, त्रिपुरा और बोगरा में भी फैल गया।

7.5.4 दक्कन के दंगे

दक्कन के दंगों (1875) का मुख्य कारण रैयतवारी प्रथा थी। हमें ऐसे सूदखोरों का उदाहरण मिलता है जो कृषकों को ऊँची ब्याज दर के जरिये (25 प्रतिशत से 50 प्रतिशत) लूट रहे थे। कर वसूली की सामूहिक व्यवस्था के लोप होने से पूर्व की तरह सूदखोर गाँव की कानूनी व्यवस्था से बाध्य नहीं था। अदालतें और नए कानून "वानि" (गाँव के सूदखोर) और कुनवी (कृषक जाति) के बीच के अंतर को उजागर कर रहे थे और वानि की सहायता भी कर रहे थे। इससे कृषकों से सूदखोरों के पास संपत्ति के स्थानान्तरण में मदद मिल रही थी। कुनवी की अचल संपत्ति को भी उगाही के लिए बेचा जा सकता था। इन सब समस्याओं के साथ-साथ आबादी भी बढ़ रही थी और औपनिवेशिक शासकों की कर वृद्धि की अव्यवहारिक नीति भी जारी थी।

इन परिस्थितियों में स्थिति विस्फोटक हो गई। पूना के सार्वजनिक सभा के युवा ब्राह्मण नेता और प्रतिष्ठित जमींदार परिवारों ने जिन्हें स्वयं समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था कृषकों के लिए लड़ना शुरू कर दिया। टाइटिल डीड और मॉरगेज बांड, जिसे वानियों द्वारा अत्याचार का हथकंडा बना लिया गया था, कुनवी उस पर उनका स्वामित्व खत्म कराना चाहते थे।

दक्कन के दंगों ने कुनवी और वानि को अलग कर दिया। जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं यहां पर भी वर्ग संघर्ष को जाति संघर्ष का रंग दिया गया।

7.5.5 कोय विद्रोह

1879-80 के दौरान जिसे आज का आंध्र प्रदेश कहा जाता है, में कोय विद्रोह हुआ। कोय विद्रोह से उड़ीसा के कोरापुट जिले का मलकानगिरि क्षेत्र भी प्रभावित था। कोय नेता तोमा डोरा ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। विद्रोह आदिवासियों द्वारा महसूस की जा रही परेशानियों को उजागर करता है। आदिवासियों के जंगल पर चले आ रहे पारंपरिक अधिकार में कमी और सूदखोरों द्वारा उनकी आर्थिक स्थिति पर पूरी तरह कब्जे के खिलाफ यह विद्रोह हुआ। सूदखोर उनकी जमीन अपने नाम लिखवा रहे थे।

कोय तोमा डोरा को कोय मलकानगिरि का "राजा" मानते थे। इसके प्रमाण मिलते हैं कि मोतू में इन लोगों ने पुलिस थाने पर कब्जा कर लिया था। इसके शीघ्र बाद डोरा पुलिस गोली से मारा गया और विद्रोह लड़खड़ा गया।

7.5.6 बिरसा मुंडा विद्रोह

अंतिम विद्रोह जिसकी चर्चा हम करेंगे वह 1874 से 1901 के बीच का था। 1895 के बाद से इस विद्रोह का नेतृत्व बिरसा मुंडा कर रहे थे। दक्षिण बिहार के छोटानागपुर क्षेत्र के करीब 400 वर्ग मील में यह विद्रोह फैल गया था।

औपनिवेशिक शासन से आदिवासियों के लिए उत्पन्न हुई परेशानियां – पारंपरिक अधिकार में कटौती, बंधुआ मजदूरी तथा औपनिवेशिक कानून इस विद्रोह का संबंध शुरू में इसाई धर्म से था। जैसा कि के.एस. सिंह (बिरसा मुंडा एण्ड हिज मूवमेंट, 1874-1901, दिल्ली,

1983) लिखते हैं कि आदिवासी इस कारण इसाई धर्म स्वीकार कर रहे थे ताकि जर्मन मिशनरी जमींदारों के अत्याचार को खत्म कर दें। 1857 के समय कुछ जमींदारों ने मिशन पर भी हमला किया क्योंकि मिशनरी मुंडा लोगों के प्रति सहानुभति रखते थे। 1858 से हमें इसाई आदिवासियों द्वारा अत्याचारी जमींदारों के खिलाफ लड़ने का भी प्रमाण मिलता है। यह प्रवृति 1862 से 1882 के बीच बहुत आम थी। 1867 में 14,000 "इसाइयों" ने छोटानागपुर के राजा और स्थानीय पुलिस के खिलाफ औपनिवेशिक अधिकारियों को अर्जी भी दी थी। बेदखल मुंडा लोगों को जमीन पर दखल दिलाने का भी कुछ प्रयास किया गया था।

मार्च 1879 में मुंडा लोगों ने यह एलान किया कि छोटानागपुर उनका है। 1881 में कुछ सरदारों ने जॉन द बापटिस्ट के नेतृत्व में देवसा के राज्य की घोषणा कर दी। इसके बाद विद्रोह में कुछ परिवर्तन आया। जर्मन पादरियों से नाखुश होकर मुंडा लोगों ने उनसे अपना संबंध तोड़ लिया। अब वे कैथोलिक मिशन के पास चले गए। औपनिवेशिक प्रशासक और जमींदार विद्रोह को खत्म करने के लिए आपस में सहयोग करने लगे जिसका परिणाम यह हुआ कि विद्रोही सारे यूरोपीय लोगों, इसाई मिशन, सरकारी अफसर, दिकु और जमींदारों के खिलाफ हो गए।

6. बिरसा मुंडा

इन परिस्थितियों में इनका नेतृत्व बिरसा मुंडा करने लगे। बिरसा मुंडा शुरू में अपने दवा के ज्ञान और बीमारों को ठीक करने की शक्ति के कारण जाने गए थे। मुंडा एक ऐसी स्थिति की कल्पना करने लगे जिसमें न तो देशी और न ही विदेशी शोषक हों। ताकतवर शासक से जीत के प्रयास में वे "जंगल के पार्नी" पर विश्वारा करने लगे और उन्हें ऐसा विश्वास हो गया कि वो उन्हें अपराजेय बना देगा। इस विद्रोह में महिलाओं की भी भूमिका महत्वपूर्ण थी। कुछ मौकों पर हिंसा भी हुई लेकिन विद्रोह में गरीब गैर-आदिवासियों के खिलाफ कोई भी भाव नहीं था।

बिरसा मुंडा का विद्रोह निर्ममता से दबा दिया गया। बिरसा को फाँसी पर लटका दिया गया और शासक तंत्र को कठोरता से पेश आने का आदेश दिया गया।

7. बिरसा के अनुयायियों की गिरफ्तारी

ऊपर दिये गए तथ्यों से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जन-आंदोलन जिनकी चर्चा हम कर रहे हैं, औपनिवेशिक शासक और भारतीय धनाढ्य (सूदखोर और जमींदार) जिसे वे दिकु कहते थे, दोनों के खिलाफ था। ध्यान देने योग्य बात यह है कि दिकु के खिलाफ यह आंदोलन इसलिए नहीं था कि वे गैर-आदिवासी थे बल्कि इसलिए था कि वे अत्याचारी थे।

7.6 जन-आंदोलन का स्वरूप

इन विद्रोहों के कुछ अंतर्निहित प्रमुख लक्षण थे:

i) इन सब विद्रोहों में पुराने और सुनहरे दिनों को याद करने का प्रयास था। इसमें 1857 के समय मशीनों का विरोध भी निहित था। ये विद्रोह बेहतर वर्तमान के लिए थे इन विद्रोहों में प्रचलित पद्धति जैसे साहूकारी, जमींदारी और ब्रिटिश प्रशासन का विरोध भी शामिल था। उदाहरण के लिए सिदो और कानो वर्तमान कर के बदले वार्षिक कर के पक्ष में थे।

कई बार पारंपरिक समृद्ध वर्ग का भी नेतृत्व इन्हें मिला क्योंकि उपनिवेशवाद से उनके स्वार्थों को भी धक्का पहुँचा था।

ii) इसके विपरीत कुछ अवसरों पर ये औपनिवेशिक ताकतों के साथ मिलकर जमींदार और साहूकार के खिलाफ लड़ाई लड़े परंतु मुंडा अनुभव से ये समझने लगे कि उनका एक ही दुश्मन है और वो है उपनिवेशवाद। कुछ अवसरों पर ब्रिटिश शासन के भ्रम से भी कुछ लोगों को गलतफहमी हो गयी जैसे पाबना विद्रोह में, जिसमें लोग "रानी के किसान" बनना चाहते थे। इससे निश्चित तौर पर उपनिवेशवाद के खिलाफ आंदोलन को धक्का पहुँचा। ये विचारणीय है कि ये विद्रोही कैसे अपने मित्र और दुश्मन का निर्णय करते थे। 1857 में जो विद्रोह अंग्रेजों के खिलाफ शुरू हुआ वह मुख्यतः सामंतवाद के खिलाफ चला गया और सामंतों के लिये परेशानी का कारण बना। फिर सामंत विरोधी और इसाई बिरसा मुंडा विद्रोह भी उपनिवेशिवाद विरोधी हो गया।

iii) **जिन जन - आंदोलनों की चर्चा हम कर रहे हैं वह एक ऐसे न्यायोचित समाज की**

कल्पना करता था जिसमें सबको बराबरी का दर्जा हो और हर कोई प्रसन्न हो। ये कृषकों के रामराज्य की कल्पना थी। कृषक चिन्तन में सिदो, कानो और बिरसा जैसे मसीहाओं के अवतरण की उम्मीद थी।

iv) इन जन – आंदोलनों में जाति और धर्म की भी बड़ी अहम भूमिका थी। इस देश में जाति और धर्म के बहुतायत के कारण हम देखते हैं कि जब भी ये विद्रोह वर्ग संघर्ष का सीधा रूप लेने को होते थे उसमें सांप्रदायिक भाव आ ही जाता था। सामंती जमीदार समय-समय पर जब उनके अस्तित्व पर खतरा आ जाता था तो इन जन आंदोलनों को सांप्रदायिक रंग दे देते थे। मालाबार और पाबना का उदाहरण यहाँ दिया जा सकता है जहाँ जन – आंदोलनों को जमींदारों द्वारा दंगे का नाम दे दिया गया था।

धर्म और जन – आंदोलनों की चर्चा करते समय हम देखते हैं कि कैसे मालाबार और छोटानागपुर में जन-साधारण को इसने अत्याचारियों के खिलाफ संगठित किया था। इसाई धर्म इस देश में औपनिवेशिक शासन की ही देन था फिर भी यह सामंतों और औपनिवेशिक शासन के खिलाफ हो गया जो इस बात को उजागर करता है कि भारत जैसे देश में इसकी भूमिका कैसे बदली। धर्म के इस दोहरे रूप को समझना जरूरी है।

v) इन जन – आंदोलनों का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू अमीरों के खिलाफ अपराध और लूट का था। जबकि ये अपराध सरकारी दस्तावेजों में छोटे ही माने गए हैं फिर भी ये जन आंदोलन के अंग थे। अत्याचारियों पर प्रहार करना सिर्फ उन्हें सबक सिखाने के लिए था। इसी वजह से इन अपराधों को जन सहमति मिल जाती थी और ये सामूहिक रूप से किए जाते थे।

vi कृषक आदिवासी और शिल्पकारों में एकता का भाव भी महत्वपूर्ण पहलू है। यह रोचक है कि क्षेत्रीय और जातीय बाधाएं जन – आंदोलन में टूट जाती थीं। उदाहरण के लिए पाबना विद्रोह अपने क्षेत्र से बाहर भी फैला और बिरसा विद्रोह में मुंडा और कोल दोनों ही संगठित हुए जिसमें गरीब गैर आदिवासियों के खिलाफ कोई भावना नहीं थी।

vii) ये जन – आंदोलन बुद्धिजीवी और जन साधारण के बीच फर्क को कम करने में काफी हद तक सफल रहे। यह प्रवृत्ति खास तौर से बंगाल में देखी जा सकती है जहाँ कुछ अखबारों और पुस्तकों (जैसे नीति दर्पण, 1860) में किसानों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गयी।

बोध प्रश्न 3

1) निम्न वक्तव्यों में से कौन सही (✓) और कौन गलत (×) हैं।

i) अंग्रेज बगान स्वामी कृषकों को नील उगाने के लिए बाध्य करते थे।
ii) नील विद्रोह की अखबारों में कोई चर्चा नहीं होती थी।
iii) मोपला विद्रोह को सांप्रदायिक रंग औपनिवेशिक शासकों द्वारा दिया गया।
ii) कुनवी और वानी में बहुत सौहार्दपूर्ण संबंध था।
v) मुंडाओं ने गैर आदिवासी गरीबों पर प्रहार किया।

2) नेताओं के नाम उन विद्रोहों से मिलाएं जिससे उनका संबंध था।

i) तोमा डोरा	अ) पाबना विद्रोह
ii) शंभुनाथ पाल	ब) मुंडा विद्रोह
iii) बिरसा मुंडा	स) कोय विद्रोह

3) दस पंक्तियों में इस समय के जन - आंदोलनों के मुख्य लक्षणों की विवेचना करें।

7.7 श्रमिक वर्ग के आंदोलन

कृषक आदिवासियों और शिल्पकारों के जन-आंदोलनों की चर्चा करने के बाद हम 1850 से 1900 के बीच मिल मजदूरों की भूमिका की चर्चा करेंगे। ये मिल मजदूर कौन थे? जैसा कि हम प्रस्तावना में बता चुके हैं कि ये मजदूर वे सारे कृषक और शिल्पकार थे जिन्हें अपनी जीविका से उपनिवेशवाद के कारण विस्थापित कर दिया गया था। ये मजदूर नये उद्योगों से जुड़ गए जिसकी शुरुआत भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कारण हुई थी। ये क्षेत्र पूर्ण रूप से ब्रिटिश पूँजीपतियों द्वारा 1840 के बाद विकसित किया गया। कच्चे माल की बहुतायत और सस्ते श्रम (श्रमिक) की उपलब्धि के कारण ब्रिटिश पूँजीपतियों ने 1839 के बाद चाय बगान और 1850 के बाद जूट, कोयला खान और रेल उद्योग तथा 1900 के बाद गोदी (पोर्ट) उद्योग पर पैसा लगाना शुरू कर दिया। कपड़ा-उद्योग अकेला ऐसा उद्योग था जिसमें भारतीय उद्योगपति पैसा लगा रहे थे। भारतीय उद्योगपति इस उद्योग में आगे थे। कपड़ा उद्योग 1850 के करीब शुरू हुआ और बंबई तथा अहमदाबाद के निकट ही इसका विस्तार हुआ।

ये आधुनिक उद्योग पूँजीवाद के पूर्ण विकास में कोई सहायता नहीं कर सके क्योंकि ये पुरानी सामंती अर्थव्यवस्था पर आधारित थे। औपनिवेशिक शासन जानबूझकर सामंती अर्थव्यवस्था को बचाए हुए था। वैसे भी यह भारत के विकास के लिए तो था भी नहीं। इसके कुछ निश्चित निहित अर्थ हैं : आधुनिक उद्योगों में मजदूर अर्ध-नग्न स्थिति में थे। 15 से 16 घंटों तक काम करने के बावजूद उन्हें बहुत कम वेतन दिया जाता था और उन्हें (महिला तथा बच्चे सहित) पीटा भी जाता था। उन्हें जेल के कैदियों से बदतर भोजन मिलता था।

म्युनिसिपैलिटी के कार्यालय से प्राप्त विवरणों से पता चलता है कि बीमारी के कारण बहुत से खेतिहर मजदूरों की जानें गई थीं। इन परिस्थितियों में मजदूर कभी संगठित नहीं हो सके। जिन विद्रोहों का हमें उदाहरण मिलता है वे प्रतिक्रियायें मात्र थी जो प्रतिकूल परिस्थितियों की स्वाभाविक उपज थीं।

7.7.1 शिक्षित वर्ग के प्रयास

1850 से 1900 के बीच मजदूर असंगठित रूप में विरोध प्रकट करते रहे। इन विरोधों को सुकोमल सेन ने (वर्किंग क्लास ऑफ इंडिया : हिस्ट्री ऑफ इमर्जेन्स एण्ड मूवमेंट–1830 1970 कलकत्ता, 1979) प्रारंभिक विद्रोह माना है। इस बीच कुछ पढ़े-लिखे लोग मजदूरों की समस्याओं के प्रति जागरूक होने लगे थे। 1870 में ब्रह्म समाज के सासीपाद बनर्जी ने "वर्किंग मेन्स क्लब" बनाया और 1874 में कलकत्ता के निकट बड़ा नगर से "वर्किंग मेन्स" नाम की पत्रिका निकाली। 1878 में कलकत्ता ब्रह्म समाज ने "वर्किंग मेन्स मिलन" की स्थापना की ताकि मजदूरों के बीच धार्मिक उपदेशों (नैतिकता) का प्रचार किया जा सके।

1870 तक सोराबजी, सप्रूजी बंगाली और नारायण मेधाजी लोखन्दी बंबई के कपड़ा मिल

मजदूरों के हित में काम करने लगे थे। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप 1884 में एक ज्ञापन तैयार हुआ जिसमें रविवार को छुट्टी, दोपहर में डेढ़ घंटे का अवकाश, 6.30 सुबह से सूर्यास्त तक काम, काम किए गए महीने का वेतन महीने की पन्द्रह तारीख को भुगतान, घायल होने तथा बीमारी की अवधि में पूरा वेतन तथा अपंग हो जाने पर पेंशन की व्यवस्था की माँगें थीं। इस ज्ञापन पर 5,000 मजदूरों ने दस्तख्त किए और 1884 के बंबई सरकार द्वारा गठित कमीशन को दिया गया। इसका प्रभाव 1891 के भारत के पहले इंडियन फैक्ट्रीज एक्ट पर स्पष्ट रूप से पड़ा।

24 अप्रैल 1890 को लोखंडी ने एक सभा बुलाई जिसमें 10,000 मजदूर सम्मिलित हुए। दो महिला मजदूरों ने इस मौके पर भाषण भी दिया। इसी समय एक ज्ञापन बंबई मिल मालिकों की एसोसिएशन को भेजा गया जिसमें साप्ताहिक छुट्टी की माँग की। 10 जून 1890 को यह माँग स्वीकार कर ली गयी और इसे मजदूरों द्वारा उनकी जीत माना गया। परंतु यह संवैधानिक नहीं था और इसे लागू नहीं किया जा सका। लेकिन सभी उद्योगिक केंद्रों में सप्ताह में एक दिन की छुट्टी की माँग एक मुख्य माँग बन गई।

7.7.2 हड़ताल

ये सारे प्रयास मजदूरों को संगठित करने के लिए थे। इस समय के मजदूर आंदोलन स्वतः स्फूर्त हुए। बंगाल में 1853 में नदी यातायात के कुलियों की तथा 1862 में कलकत्ता में गाड़ीवानों की हड़ताल हुई। 1862 में पहली बड़ी हड़ताल उस समय हुई जब हावड़ा रेलवे स्टेशन के 1,200 मजदूर हड़ताल पर चले गए। इनकी माँग 8 घंटे के कार्य-दिवस की थी। ध्यान देने की बात है कि यह विद्रोह शिकागो के मई दिवस के विद्रोह से 24 साल पहले हुआ और एक ऐसे उद्योग में हुआ जो 1853 में शुरू ही हुआ था।

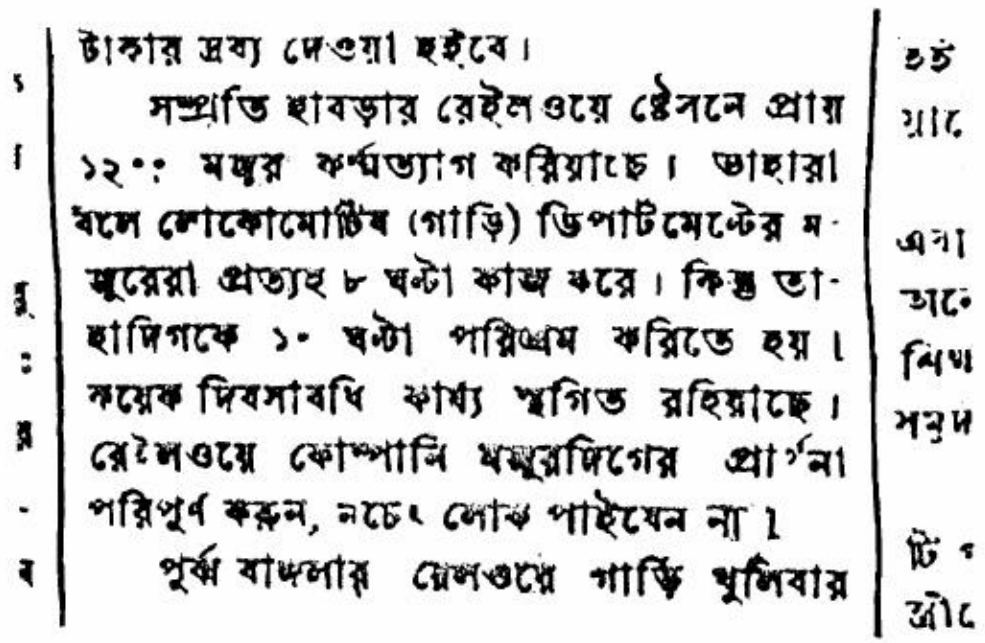

টাকার দ্রব্য দেওয়া হইবে।

সম্প্রতি হাবড়ার রেইলওয়ে ষ্টেসনে প্রায় ১২০ মজুর কর্ম্মত্যাগ করিয়াছে। তাহারা বলে লোকোমোটিব (গাড়ি) ডিপার্টমেণ্টের মজুরেরা প্রত্যহ ৮ ঘণ্টা কাজ করে। কিন্তু তাহাদিগকে ১০ ঘণ্টা পরিশ্রম করিতে হয়। কয়েক দিবসাবধি কার্য্য স্থগিত রহিয়াছে। রেইলওয়ে কোম্পানি মজুরদিগের প্রার্থনা পরিপূর্ণ করুন, নচেৎ লোক পাইবেন না।

পূর্ব্ব বাঙ্গলার রেলওয়ে গাড়ি খুলিবার

8. "सोमप्रकाश" में द्वारकानाथ विद्याभूषण की रेल मजदूरों के विषय में टिप्पणी

इस रेलवे हड़ताल के बाद तमाम हड़तालें हुईं। 1877 में एक बड़ी हड़ताल नागपुर के "एक्सप्रेस मिल्स" में वेतन के सवाल पर हुई। 1882 और 1890 के बीच मद्रास और बंबई प्रेसीडेन्सी में 25 हड़तालें हुईं। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि बंबई में हुईं ज्यादातर हड़तालें भारतीय उद्योगपतियों के वस्त्र उद्योग में हुईं। बंगाल में भी सभी हड़तालें कम वेतन और मजदूरों की छंटनी किए जाने के विरोध में हुईं।

7.7.3 विशेषताएँ

इन लोकप्रिय आंदोलनों का सर्वेक्षण करते समय कुछ मुख्य बातों पर ध्यान देना चाहिए जैसे

1) इससे मजदूर और बुद्धिजीवियों के बीच की दूरी को कम करने में मदद मिली। इस समय के कुछ समाज-सुधार आंदोलनों जैसे ब्रह्म समाज, और दुनिया के अन्य भाग जैसे इंग्लैंड में हो रहे समाज-सुधार आंदोलनों के कारण यहाँ के बुद्धिजीवी मजदूरों के प्रति काफी मानवतावादी हो गए थे। यह परंपरा बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक चलती रही। गाँधी जी की अहमदाबाद मिल मजदूरों तक पहुँचने की इच्छा और अनुसुईया बहन द्वारा इन मजदूरों को पढ़ाने के लिए 1916 में रात्रि स्कूल शुरू करना इसी दिशा में एक प्रयास था।

2) आमतौर से इनका नेतृत्व "सिरदार" करते थे जो इन मजदूरों के इलाके तथा जाति के होते थे तथा इनको नौकरी दिलाते थे। ऐसी परिस्थिति में मजदूरों के हित गौण हो जाते थे क्योंकि यह लड़ाई "सिरदार" और मालिकों के बीच की हो जाती थी। कई अन्य मौकों पर बुद्धिजीवियों ने मजदूरों का नेतृत्व किया। इन सभी परिस्थितियों का मुआयना करने पर ऐसा आभास होता है कि मजदूरों को "बाहरी" नेतृत्व पर निर्भर रहना पड़ता था। यह सही है कि सारे के सारे गाँव के विस्थापित लोग ही मजदूरी कर रहे थे और औपनिवेशिक शासन द्वारा भारतीय मजदूरों के मन-मस्तिष्क पर जमें पुराने और सामंती मूल्यों की रक्षा की जाती थी। बुद्धिजीवी नेता, जो स्वयं पुराने सामंती प्रभाव से बाहर नहीं आ पाए थे, मजदूर संगठनों और उनकी चेतना पर कोई गंभीर प्रभाव डाल पाने में असफल रहे। प्रबल सामंती प्रभाव के कारण महिला और बाल मजदूरों की बदतर स्थिति को भी पूरी तरह नजरअन्दाज किया गया। इन्हीं कारणों से इन लोकप्रिय आंदोलनों में से ज्यादातर तात्कालिक समस्याओं जैसे वेतन, नौकरी से छँटनी, या साप्ताहिक छुट्टी आदि को लेकर ही हुए।

इन सब कमियों के बावजूद हमें मजदूरों की बहादुरी की दाद देनी होगी क्योंकि वे ऐसे समय में संघर्ष कर रहे थे जब कोई संगठित ट्रेड यूनियन उनकी मदद के लिए उपलब्ध नहीं थी।

बोध प्रश्न 4

1 पाँच पंक्तियों में भारत में मजदूर वर्ग के उदय की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2 पाँच पंक्तियों में मजदूरों की समस्याओं का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3 यहाँ कुछ हड़तालों के नाम एवं वर्ष दिए जा रहे हैं उन्हें सही रूप से मिलाएँ

i) 1853	अ) नागपुर एम्प्रेस मिल
ii) 1862	ब) नदी-यातायात कुली
iii) 1877	स) रेल

4 निम्नलिखित वक्तव्यों में से कौन सही (✓) और गलत (✗) है।

i) जन-आंदोलन ने मजदूर और बुद्धिजीवियों के बीच की दूरी कम करने में मदद की।
ii) सिरदारों ने कभी मजदूरों के हितों की अवहेलना नहीं की।
iii) महिला और बाल मजदूरों के हितों की रक्षा इस काल में नहीं हो सकी।
iv) गाड़ीवानों की हड़ताल कलकत्ता में (1862) हुई।

7.8 सारांश

औपनिवेशिक नीतियाँ कृषक, आदिवासी और शिल्पकारों के प्रतिकूल थीं। वे अब दोहरे अत्याचार के शिकार हो रहे थे– एक तो औपनिवेशिक सरकार के अत्याचार के और दूसरे जमींदार और सूदखोरों के अत्याचार के। आमतौर पर ऐसे अत्याचारों का विरोध ही जन – आंदोलनों का रूप लेता था।ऐसे जन–आंदोलनों की चर्चा सरकारी दस्तावेजों में डकैती दंगा या विद्रोह के नाम से दर्ज की गयी है। लेकिन वास्तव में ये जनांदोलन भारतीय समाज के शोषक तबकों के खिलाफ प्रतिरोध की अभिव्यक्ति थे। ये जन–आंदोलन समय-समय पर विभिन्न क्षेत्रों में होते रहे। भारतीय समाज की विभिन्नता के कारण औपनिवेशिक शासक और भारतीय शोषकों द्वारा इन जन-आंदोलनों को कभी जातीय और कभी सांप्रदायिक दंगे का भी नाम दिया गया। मुख्य बात तो यह है कि ये जन आंदोलन धनवानों के खिलाफ निर्धनों का संघर्ष था। वैसे ये जन –आंदोलन असफल अवश्य रहे। अंग्रेजों के खिलाफ माहौल तैयार करने और राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि निर्मित करने में इनकी भूमिका निर्विवाद है।

ब्रिटिश शासन का दूसरा मुख्य-प्रभाव भारत में मजदूर-वर्ग के निर्माण में था। हालांकि ये मजदूर संगठित नहीं थे फिर भी 19वीं शताब्दी के अंत तक इनकी हड़तालों के बहुत से उदाहरण हमें मिलते हैं। ये हड़तालें बेहतर कार्यस्थिति और अच्छे वेतन के लिए थीं। इनमें से बहुत सी तो भारतीय द्वारा नियंत्रित उद्योगों में हुई। इससे यह साफ हो जाता है कि मजदूरों का शोषण अंग्रेज और भारतीय दोनों उद्योगपतियों द्वारा किया जा रहा था। असल में, इस काल के संघर्षों को श्रमिक वर्ग के बड़े आंदोलनों की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जाना चाहिए। जो भी हो, श्रमिक वर्ग द्वारा किये गये आर्थिक संघर्ष ने राष्ट्रीय आंदोलन में राजनीतिक संघर्ष को मजबूत करने में उल्लेखनीय भूमिका अदा की।

7.9 शब्दावली

पट्टेदार: वह व्यक्ति जिसे, भूस्वामी या जमींदार द्वारा किसी स्थावर संपत्ति या जमीन के दिया गया हो उपभोग का अधिकार

बिचौलिया: जमींदार और किसान के बीच भूमिकर या लगान आदि वाला व्यक्ति,

काश्तकार: किसान, वह व्यक्ति जिसने जमींदार को लगान देकर उसकी जमीन पर खेती करने का अधिकार प्राप्त किया हो

स्वतःस्फूर्त: अपने आप उत्पन्न। किसी सहायता के बिना उभरना

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 1) 2) ✓ 3) × 4) ✓
2 देखें भाग 7.2

बोध प्रश्न 2

1 i) ब ii) स iii) अ
2 देखें उपभाग 7.4.2
3 i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) × v) ×

बोध प्रश्न 3

1 i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) × v) ×
2 i) स ii) अ iii) ब
3 देखें भाग 7.6

बोध प्रश्न 4

1 देखें भाग 7.7
2 देखें भाग 7.7 तथा उपभाग 7.7.1
3 i) ब ii) स iii) अ
4 i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ✓

इकाई 8 उन्नीसवीं सदी के भारत में सामाजिक सुधार आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 सुधार क्यों?
8.3 सुधार-आंदोलन
8.4 सुधारों का विस्तार क्षेत्र
8.5 सुधारों की प्रणाली
  8.5.1 आंतरिक सुधार
  8.5.2 कानून द्वारा सुधार
  8.5.3 प्रतीकात्मक बदलाव द्वारा सुधार
  8.5.4 सामाजिक कार्यों द्वारा सुधार
8.6 विचार
  8.6.1 तर्कवाद
  8.6.2 विश्व व्यापकतावाद
8.7 महत्व
8.8 कमजोरियाँ और सीमाएँ
8.9 सारांश
8.10 शब्दावली
8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

19वीं शताब्दी में भारत के विभिन्न भागों में अनेकों सुधार-आंदोलन हुए। ये सुधार-आंदोलन भारतीय समाज को आधुनिक विचारों के अनुरूप पुनर्गठन की दृष्टि से हुए। यह इकाई उन सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का सामान्य व समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के साथ ही उन आंदोलनों के महत्व पर भी प्रकाश डालने की कोशिश करती है। हालांकि आंदोलनों के विचारों, कार्यों और नेतृत्व करने वालों के बारे में यह इकाई सिलसिलेवार वास्तविक जानकारी नहीं देती इसके बावजूद यह एक समीक्षा प्रस्तुत करती है जिससे आपको इन आंदोलनों को समझने में सुविधा होगी।

यह इकाई पढ़ने के बाद आप:

- यह जानेंगे कि भारत में ये सुधार क्यों और कैसे शुरू हुए;
- यह समझेंगे कि इन सुधारों के प्रमुख नेतृत्वकर्ता कौन थे — भारतीय समाज की प्रकृति के बारे में उनके क्या विचार थे;
- इन सुधारों के तरीकों और विस्तार क्षेत्र को समझते हुए उनकी कमियों पर रोशनी डाल सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

18वीं-19वीं शताब्दी में अंग्रेजों द्वारा भारत पर आधिपत्य ने, भारतीय सामाजिक संस्थाओं की कुछ गंभीर कमजोरियों व खामियों को उभार कर सामने रख दिया। परिणामस्वरूप अनेक व्यक्तियों और आंदोलनों ने सामाजिक सुधार व पुनरुत्थान की दृष्टि से सामाजिक

और धार्मिक परंपराओं में परिवर्तन लाना शुरू किया। ये कोशिशें, जिन्हें संयुक्त रूप से पुनर्जागरण (रेनेसां) के नाम से जाना जाता है, एक जटिल सामाजिक घटना थी। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह घटना उस समय घटी जब भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अधीन था।

8.2 सुधार क्यों?

चर्चा के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह कौन-सी शक्ति थी जिसने भारत में जागरण की लहर को जन्म दिया। क्या यह पाश्चात्य प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ? या यह केवल औपनिवेशिक हस्तक्षेप का जवाब भर था। हालाँकि ये दोनों प्रश्न अंर्तसंबंधित हैं, किंतु भली-भाँति समझने के लिए दोनों को अलग-अलग करना ही अच्छा होगा। इसका एक अन्य आयाम भारतीय समाज में आ रहे उन बदलावों से जुड़ा है जिसके फलस्वरूप नए वर्गों का उदय हो रहा था। इस परिप्रेक्ष्य से सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों को औपनिवेशिक भारत के नए उभरते मध्यम-वर्ग की सामाजिक महत्वाकांक्षा की अभिव्यक्ति के रूप में भी देखा जा सकता है।

सुधार-आंदोलनों पर शुरू में लिखे गए इतिहास-ग्रंथों में पश्चिमी प्रभाव को ही पुनर्जागरण की उत्पत्ति का मुख्य कारण माना गया है। जो प्रारंभिक इतिहास-ग्रंथ मिलते हैं, उनमें से एक जे.एन. फर्कुहार द्वारा लिखे गए इतिहास-ग्रंथ "मार्डन रिलीजिइस मूवमेंट इन इंडिया" (न्यूयार्क, 1924), के अनुसार:

"प्रेरक शक्तियाँ करीब-करीब केवल पाश्चात्य ही हैं यानि अंग्रेजी साहित्य और शिक्षण, इसाई-धर्म, पूर्वी अनुसंधान, यूरोपीय विज्ञान और दर्शन तथा पाश्चात्य सभ्यता के भौतिकवादी तत्व।"

अनेक इतिहासकारों ने इसी विचार को दोहराया तथा इसी की आगे व्याख्या की है। उदाहरण के लिए, चार्ल्स हेइमसाथ, ने न केवल विचारों बल्कि सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों की संगठनात्मक प्रणाली को भी पाश्चात्य प्रोत्साहन से जोड़ा।

19वीं शताब्दी के समाज में हुई पुनर्जागरण की प्रक्रिया पर पाश्चात्य प्रभाव के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। फिर भी यदि हम सुधार की इस पूरी प्रक्रिया को औपनिवेशिक कृपा-मात्र मान लें और अपने आपको सिर्फ इसके सकारात्मक पहलुओं की ओर देखने तक ही सीमित रखें तो हम इस घटना के जटिल चरित्र के प्रति न्याय नहीं कर पाएँगे। सुशोभन सरकार (बंगाल रेनेसां एण्ड अदर एसेज, न्यू देहली, 1970) ने हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया है कि "विदेशियों का आधिपत्य और शासन पराधीन जनता के पुनर्जागरण में सहायता करने की अपेक्षा बाधा ही डालेगा"। 19वीं शताब्दी के पुनर्जागरण के कार्यक्षेत्र और आयामों को सीमित करने में औपनिवेशिक शासन की भूमिका ध्यान देने योग्य है। वह किसी भी सही तथ्य तक पहुँचने की कोशिशों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाती है।

सुधार-आंदोलनों को विदेशी घुसपैठ द्वारा उत्पन्न चुनौती की प्रक्रिया के जवाब के रूप में देखा जाना चाहिए। वे समाज सुधार के प्रयत्न के रूप में तो महत्वपूर्ण थे ही, उससे कहीं ज्यादा उनकी महत्ता औपनिवेशिकता से उत्पन्न नई परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष प्रदर्शन में थी। दूसरे शब्दों में, सामाजिक-धार्मिक सुधार अपने तक ही सीमित रहकर खत्म नहीं हो गए अपितु वे औपनिवेशिकता के विरुद्ध उभरती हुई चेतना का भी अभिन्न अंग थे।

अतः सुधारों को लाने की लालसा के पीछे, औपनिवेशिक शासन के परिणामस्वरूप समाज और इसके संस्थाओं में एक नयापन लाने की आवश्यकता थी। फिर भी सुधार-आंदोलनों के इस रूप ने पुनरुत्थान की जिन प्रवृत्तियों का परिचय दिया वे थीं भारतीय अतीत के गुणगान करने तथा भारतीय सभ्यता व संस्कृति की रक्षा करने की प्रवृत्तियाँ। हालाँकि इन

सब बातों से आंदोलनों का चरित्र संकीर्ण व पतनोन्मुख प्रतीत हुआ फिर भी जनता के बीच सांस्कृतिक चेतना जगाने और उनका विश्वास बढ़ाने में इन्होंने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

8.3 सुधार आंदोलन

सुधार की सबसे पहली अभिव्यक्ति बंगाल में राममोहन राय द्वारा शुरू हुई। उन्होंने 1814 में आत्मीय सभा की स्थापना की जो उनके द्वारा 1829 में संगठित ब्रह्म समाज की अग्रगामी थी। सुधार की भावना शीघ्र ही देश के अन्य भागों में भी दिखाई देने लगी। महाराष्ट्र की परमहंस मंडली और प्रार्थना समाज, पंजाब तथा उत्तर भारत के अन्य भागों में आर्य समाज, हिंदू समाज के कुछ मुख्य आंदोलन थे। इस दौरान के कई अन्य धार्मिक व जातिगत आंदोलन जैसे यू.पी. में कायस्थ सभा तथा पंजाब में सरीन सभा थे। पिछड़ी जातियों में भी इन सुधारों ने जड़ पकड़ ली जैसे, महाराष्ट्र में सत्य-शोधक समाज और केरल में नारायण धर्म परिपालन सभा। अहमदिया और अलीगढ़ आंदोलन, सिंह सभा तथा रहनुमाई मजदेआसन सभा आदि ने क्रमशः मुसलमानों, सिक्खों तथा पारसियों में सुधार की भावना का प्रतिनिधित्व किया।

ऊपर दिए गए ब्यौरे से निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं:

i) इनमें से हरेक सुधार-आंदोलन कुल मिलाकर किसी एक या अन्य प्रांत तक सीमित था। ब्रह्म समाज और आर्य समाज की देश के अन्य प्रांतों में शाखाएँ थीं फिर भी वे अन्य स्थानों की अपेक्षा बंगाल व पंजाब में ही ज्यादा प्रसिद्ध थे।

ii) ये आंदोलन किसी एक ही धर्म या जाति तक ही सीमित थे।

iii) इन आंदोलनों की एक अन्य विशेषता यह थी कि वे अलग-अलग समय में देश के अलग-अलग हिस्सों में उभरे। उदाहरण के लिए, बंगाल में सुधार के प्रयत्न 19वीं शताब्दी के आरंभ में शुरू हुए जबकि केरल में इनकी शुरूआत 19वीं शताब्दी के बाद हुई। इन सबके बावजूद उनके उद्देश्य और परिपेक्ष्य काफी हद तक समान ही थे। सभी की चिंता सामाजिक व शैक्षिक सुधारों द्वारा समाज के पुनर्जागरण में थी। भले ही उनकी प्रणालियों में अंतर था।

8.4 सुधारों का विस्तार क्षेत्र

19वीं शताब्दी के सुधार-आंदोलन विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन नहीं थे बल्कि वे सामाजिक-धार्मिक आंदोलन थे। बंगाल के राममोहन राय, महाराष्ट्र के गोपाल हरि देशमुख (लोकहितवादी) और आंध्र के विरेशलिंगम् जैसे सुधारकों ने धार्मिक सुधारों की वकालत "राजनैतिक फायदों और सामाजिक सुख" के लिए की थी। इन आंदोलनों और उनके नेताओं के सुधार परिपेक्ष्य की विशेषता उनकी इस मान्यता में थी कि धार्मिक और सामाजिक समस्याओं में अंतर्संबंध है। उन्होंने धार्मिक विचारों के प्रयोग द्वारा सामाजिक संस्थानों और उनकी परंपराओं में बदलाव लाने की कोशिश की। उदाहरण के लिए, महत्वपूर्ण ब्राह्मण-नेता केशव चंद्र सेन ने "देवत्व की एकता और मानव मात्र में भाई चारे" की व्याख्या समाज से जातिभेद मिटाने के लिए की थी। सुधार-आंदोलनों की सीमा के अंतर्गत आने वाली प्रमुख समस्याएँ निम्न थीं:

- नारी मुक्ति जिसमें सती-प्रथा, शिशुहत्या, विधवा तथा बाल-विवाह इत्यादि समस्याओं को उठाया गया;
- जातिवाद और छुआछूत;
- समाज के ज्ञानोदय हेतु शिक्षा।

धार्मिक क्षेत्र के मुख्य विषय थे:

- मूर्तिपूजा
- बहुदेववाद
- धार्मिक अंधविश्वास और
- पंडितों द्वारा शोषण

8.5 सुधारों की प्रणाली

सामाजिक-धार्मिक परंपराओं में सुधार लाने के लिए विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग किया गया जिनमें से चार मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं।

8.5.1 आंतरिक सुधार

आंतरिक सुधार-प्रणाली की शुरुआत राममोहन राय द्वारा की गयी थी और 19वीं शताब्दी में इसका प्रयोग हुआ। इस प्रणाली के प्रचारकों का यह विश्वास था कि किसी भी सुधार को प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि वह समाज के अंदर से ही हो। परिणामस्वरूप इनके प्रयास लोगों के बीच जागरूकता की भावना पैदा करने पर केंद्रित थे। यह प्रयास उन्होंने किताबें छापकर, विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर बहस व विवाद का आयोजन इत्यादि करके किया। राममोहन राय का सती प्रथा के खिलाफ प्रचार, विद्यासागर के विधवा-विवाह पर लिखे इश्तहार तथा बी.एन. मालाबारी के शादी-विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाने के प्रयास इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

8.5.2 कानून के द्वारा सुधार

दूसरी प्रवृत्ति कानूनी हस्तक्षेप द्वारा प्रभाव लाने के विश्वास पर आधारित थी। इस प्रणाली की वकालत करने वाले – बंगाल के केशवचंद्र सेन, महाराष्ट्र के महादेव गोविन्द रानाडे तथा आंध्र प्रदेश के विरेशलिंगम् का मानना था कि सुधार के प्रयास वास्तव में तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकते जब तक उन्हें राज्य का सहयोग प्राप्त नहीं हो। इसीलिए उन्होंने सरकार से विधवा-विवाह, कानूनी-विवाह (सिविल मैरिज) तथा अन्य विवाहों की न्यूनतम आयु बढ़ाने जैसे सुधारों को कानूनी समर्थन देने की माँग की। हालाँकि वे यह समझने में भूल कर बैठे कि ब्रिटिश सरकार की सामाजिक सुधारों में रुचि केवल अपने संकीर्ण राजनैतिक व आर्थिक स्वार्थों के कारण थी और वे तभी हस्तक्षेप करते जब इन सुधारों से उनका स्वार्थ अप्रभावित रहता। साथ ही वे यह समझने में भी गलती कर बैठे कि बदलाव के लिए हथियार के रूप में कानून की भूमिका औपनिवेशिक समाज में ही सीमित थी क्योंकि इसे जनता की मान्यता प्राप्त नहीं थी।

8.5.3 प्रतीकात्मक बदलाव द्वारा सुधार

तीसरी प्रवृत्ति की कोशिश विशिष्ट विरोधी-गतिविधियों द्वारा प्रतीकात्मक बदलाव लाने की थी। यह प्रवृत्ति "डेरोजिओ" या "यंग बंगाल" तक ही सीमित थी जो सुधार-आंदोलन के बीच क्रांतिकारी धारा का नेतृत्व करती थी। इस समूह के सदस्य, जिनमें से प्रमुखत: दक्षिनारंजन मुखर्जी, रामगोपाल घोष तथा कृष्ण मोहन बनर्जी ने परंपराओं का बहिष्कार किया और समाज की मान्यता प्राप्त मानदंडों के खिलाफ विद्रोह किया। वे पश्चिम के नए उठते विचारों की धारा से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने सामाजिक समस्याओं के प्रति समझौता न करने वाली क्रांतिकारी प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया। रामगोपाल घोष ने इस समूह की क्रांतिकारिता को अभिव्यक्त करते हुए घोषणा की -"वह जो तर्क नहीं करेगा धर्मान्ध है, वह जो नहीं कर सकता, बेवकूफ है और जो नहीं करता, गुलाम है।" इन्होंने जिस प्रणाली को अपनाया उसकी मुख्य कमजोरी यह थी कि वह भारतीय समाज की सांस्कृतिक परंपरा को आकर्षित करने में सफल नहीं हो पाई। अत: बंगाल में उभरते नए मध्यम वर्ग ने इसे परंपरा के विरुद्ध पाया और स्वीकार नहीं किया।

8.5.4 सामाजिक कार्यों द्वारा सुधार

चौथी प्रवृत्ति सामाजिक कार्यों द्वारा सुधार की थी जैसा कि ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन की गतिविधियों से स्पष्ट है। उन लोगों को बिना सहायक सामाजिक कार्य के विरुद्ध बुद्धिजीवी प्रयासों की सीमित सीमा का स्पष्ट ज्ञान था। उदाहरण के लिए विद्यासागर विधवा विवाह की वकालत सिर्फ प्रवचनों और किताबों के प्रकाशन करके ही खुश नहीं थे। शायद आधुनिक युग में भारत ने उनके रूप में सबसे महान मानवतावादी को जन्म दिया, जिसने अपने को विधवा=विवाह की समस्याओं से जोड़ लिया और अपनी पूरी जिन्दगी, शक्ति और धन इसी कार्य पर लगा दिया। इन सबके बावजूद वह सिर्फ कुछ-एक विधवा - विवाह ही करवा पाए। विद्यासागर का सार्थक रूप से कुछ न प्राप्त कर पाना ही इस बात का द्योतक है कि औपनिवेशिक भारत में सामाजिक सुधारों के प्रभाव की अपनी एक सीमा थी। आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन ने भी सामाजिक कार्य द्वारा सुधार व पुनर्जागरण के विचारों को बढ़ावा देने का प्रयास किया। उनकी सीमा उनकी खुद की वह सीमित समझ थी कि सामाजिक और बौद्धिक स्तरीय सुधार समाज के संपूर्ण चरित्र व संरचना के साथ इस कदर जुड़े हैं कि उसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। मौजूदा व्यवस्था की संकीर्णता ही उन सीमाओं को दर्शाती है जिन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का कोई भी प्रयास लांघ नहीं पाया है। दूसरे सुधार-आंदोलनों की तुलना में इनकी निर्भरता औपनिवेशिक सरकार के हस्तक्षेप पर कम और सामाजिक कार्य को मत के रूप में विकसित करने पर ज्यादा रही।

बोध प्रश्न 1

1 निम्नलिखित कथनों को पढ़ें और उन पर सही (√) या गलत (×) का निशान लगाएँ।

i) 19वीं शताब्दी के सुधार-आंदोलन विशुद्ध धार्मिक आंदोलन थे।
ii) एक ही समय में अनेक सुधार-आंदोलन देश के विभिन्न भागों में उभरे।
iii) इन सुधार-आंदोलनों का सूत्रपात बंगाल में हुआ।
iv) सुधार-आंदोलन में "यंग बंगाल" ने क्रांतिकारी धारा का प्रतिनिधित्व किया।

2 19वीं शताब्दी में देश के विभिन्न भागों में हुए सुधार आंदोलनों के नाम बताइए।

.....
.....
.....
.....

3 19वीं शताब्दी के सुधारकों द्वारा कौन सी विभिन्न प्रणालियाँ अपनाई गई थीं?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

8.6 विचार

जिन दो महत्वपूर्ण विचारधाराओं ने आंदोलनों और उनके नेताओं को प्रभावित किया, वह हैं – बुद्धिवाद और विश्व-धर्म।

8.6.1 तर्कवाद

।9वीं शताब्दी के सुधारों का सामाजिक-धार्मिक यथार्थ के बुद्धिवादी आलोचकों ने सामान्य चित्रण किया है। शुरुआती ब्रह्म सुधारकों और "यंग बंगाल" के सदस्यों ने सामाजिक-धार्मिक समस्याओं के प्रति अत्यधिक विवेकपूर्ण रवैया अपनाया था। अक्षय कुमार दत्त, समझौता न करने वाले बुद्धिवादी ने तर्क दिया कि प्राकृतिक और सामाजिक प्रवृत्ति को मात्र इसकी बनावट व मशीनी प्रक्रिया के स्तर पर अपनी बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है तथा इसकी समीक्षा की जा सकती है। विश्वास को विवेक से बदलने का प्रयास किया गया और सामाजिक-धार्मिक परंपराओं को उनकी सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से आँका गया। बुद्धिवादी परिप्रेक्ष्य से ब्रह्म समाज में वेदों की अमोघता का खण्डन हुआ तथा अलीगढ़ में सर सैयद अहमद खान द्वारा स्थापित आंदोलन ने इस्लाम की शिक्षाओं को नए युग की जरूरतों व आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने पर जोर दिया। सर सैयद अहमद खान ने धार्मिक सिद्धांतों को निर्विकार मानते हुए सामाजिक विकास में धर्म की भूमिका पर जोर देते हुए कहा कि यदि धर्म ने समय के साथ कदम नहीं मिलाया और समाज की माँगों को पूरा नहीं किया तो यह प्रभावहीन हो जाएगा जैसा कि इस्लाम के साथ भारत में हुआ है।

यद्यपि सुधारकों ने धर्मग्रंथों की सम्मति ली (जैसा कि राममोहन के सती-प्रथा की समाप्ति के लिए और विद्यासागर के विधवा-विवाह के समर्थन में दिए गए तर्कों से स्पष्ट होता है) किंतु, सामाजिक-सुधार हमेशा धार्मिक भावनाओं के अनुकूल नहीं थे। उस समय की व्याप्त सामाजिक परंपराओं को बदलने के लिए रखे गए दृष्टिकोणों में एक विवेकपूर्ण और निरपेक्ष दृष्टिकोण स्पष्टतः परिलक्षित था। विधवा-विवाह की वकालत तथा बहुपत्नी-प्रथा व बाल-विवाह का विरोध करते समय अक्षय कुमार को किसी धार्मिक विधान की खोज या भूतकाल में उनके प्रचलन की जानकारी हासिल करने में कोई अभिरुचि नहीं थी। उनके तर्क मुख्यतः समाज में होने वाले उनके प्रत्यक्ष प्रभावों पर ही आधारित थे। धर्मग्रथों पर निर्भर होने की बजाय उन्होंने बाल-विवाह का विरोध करने के लिए डाक्टरी राय का हवाला दिया।

अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा महाराष्ट्र में धर्म पर निर्भरता कम थी। गोपाल हरि देशमुख के लिए सामाजिक सुधारों का धार्मिक विधान सम्मत होना या न होना महत्वहीन था। यदि धर्म ने सुधारों की अनुमति नहीं दी, तो उनका मानना था कि धर्म को ही बदल दो। क्योंकि जो धर्मग्रंथों में लिखा है जरूरी नहीं कि वह समकालीन प्रसंगों के अनुकूल हो।

8.6.2 विश्व व्यापकतावाद

।9वीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण विचार था– विश्वधर्म जिसका ईश्वर की एकता में विश्वास था और जो सब धर्मों के आवश्यक रूप से एक होने पर जोर देता था। राममोहन राय ने विभिन्न धर्मों को अखिल आस्तिकवाद का राष्ट्रीय अवतार माना और शुरू में ब्रह्म समाज को विश्वधर्म चर्च का दर्जा दिया था। वे सभी धर्मों के मूल तथा सार्वभौमिक नियमों वेदों के ऐकश्वरवाद तथा इसाई धर्म के अधिनायकवाद के रक्षक थे तथा इसके साथ ही उन्होंने हिंदुओं के बहुदेववाद तथा इसाई धर्म के त्रित्ववाद का विरोध किया। सैयद अहमद खान के विचारों में भी लगभग वही गूंज थी : सभी पैगंबरों का एक ही संदेश (विश्वास) था और हर देश और राष्ट्र के अलग-अलग पैगंबर थे। इस मत ने केशवचंद्र सेन के विचारों में अधिक स्पष्टता पाई जिन्होंने ब्रह्म समाज से हटकर सभी बड़े धर्मों की धाराओं को एक ही सूत्र "नव विधान" में बाँधने की कोशिश की तथा उसमें सभी प्रमुख धर्मों के विचारों का संश्लेषण करने का प्रयास किया। "सभी धर्मों में सत्य की तलाश करना हमारा कर्तव्य नहीं बल्कि यह मानना है कि विश्व के सभी प्रस्थापित धर्म सत्य हैं।"

विश्वधर्म मत पूरी तरह दर्शन का विषय नहीं था। इसने राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को तब तक काफी प्रभावित किया जब तक धार्मिक उदारतावाद ने ।9वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अपनी जड़ें नहीं जमा लीं। उदाहरण के लिए राममोहन मुसलमान वकीलों को उनके साथी हिंदू वकीलों की अपेक्षा ईमानदार समझते थे और

विद्यासागर ने अपनी मानवतावादी गतिविधियों में मुसलमानों के प्रति भेदभाव नहीं रखा। प्रसिद्ध बंगला उपन्यासकार बंकिमचंद्र चटर्जी भी, जिन्हें किसी विशेष धार्मिक संबंध से नहीं बल्कि हिंदू धर्म पर उनकी समझ से जोड़ा जाता है, एक व्यक्ति की दूसरे के ऊपर श्रेष्ठता को निर्धारित करने की कसौटी थे। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक पहचान लोगों की सामाजिक दृष्टिकोण को प्रभावित नहीं करती थी बल्कि यह काफी ज्यादा ही प्रभावित करती थी। सुधारकों के विश्वधर्म पर जोर देने का उद्देश्य इस विशिष्ट खिचाव को ही शुरू करना था। हालाँकि औपनिवेशिक संस्कृति तथा विचारधारा की चुनौती में विश्वधर्म एक व्याप्त धर्मनिरपेक्ष प्रवृति को बढ़ावा देने की बजाय धार्मिक उदारतावाद में गुम हो गया।

8.7 महत्व

आधुनिक भारत के क्रमिक विकास में 19वीं शताब्दी के सुधार-आंदोलनों ने अति महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने समाज को जनतांत्रिक बनाने, घृणित रिवाजों और अंधविश्वासों को दूर करने, ज्ञान के प्रसार और एक विवेकपूर्ण तथा आधुनिक दृष्टिकोण के विकास का समर्थन किया है। मुसलमानों के बीच अलीगढ़ व अहमदिया आंदोलनों ने इन विचारों की मशाल अपने हाथों में थामे रखी। मिर्जा गुलाम अहमद से प्रोत्साहन पाकर अहमदिया आंदोलन ने 1890 में एक निश्चित स्वरूप धारण कर लिया और "जिहाद" का विरोध तथा लोगों के बीच भाईचारे व स्वतंत्र पश्चिमी शिक्षा की वकालत की। बहुविवाह का विरोध कर तथा विधवा-विवाह का समर्थन कर अलीगढ़ आंदोलन ने मुसलमान समाज में एक नया लोकाचार पैदा करने की कोशिश की। इसने कुरान की स्वतंत्र व्याख्या करने तथा पश्चिमी शिक्षा के प्रचार का समर्थन किया।

हिंदू समाज के बीच हुए सुधार-आंदोलनों ने अनेक सामाजिक व धार्मिक कुरीतियों पर प्रहार किया। इन आंदोलनों ने, बहुदेववाद और मूर्तिपूजा (जो व्यक्ति के विकास मे बाधा उत्पन्न करते हैं), दैवशक्तिवाद तथा धार्मिक प्रधानों की तानाशाही (जो अधिनायकवाद जैसी प्रकृति को दबाती है) की आलोचना की। जाति-प्रथा का विरोध न केवल आदर्श या नैतिकता के आधार पर हुआ, बल्कि इसलिए भी हुआ कि यह समाज में फूट डालने जैसी प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। ब्रह्म समाज के आरंभिक आंदोलनों में जाति-प्रथा का विरोध केवल सैद्धांतिक आधार पर एक निश्चित स्तर तक ही सीमित होकर रह गया, इसके विपरीत आर्य समाज, प्रार्थना समाज और रामकृष्ण मिशन जैसे धार्मिक आंदोलनों ने जाति-प्रथा से समझौता नहीं करके उसकी आलोचना की। जाति-प्रथा की आलोचना करने वालों में अधिकतर निचली जाति के लोग थे। ज्योतिबा फूले और नारायण गुरू द्वारा शुरू किये गए आंदोलनों से ही पता चलता है कि उन्होंने स्पष्ट रूप से जाति-प्रथा के उन्मूलन की वकालत की थी, नारायण दत्त का नारा था:
"मानवता के लिए केवल एक भगवान और एक जाति"।

स्त्रियों की दशा में सुधार की इच्छा का आधार केवल विशुद्ध मानवीय आधार न होकर समाज में विकास लाने की खोज का ही एक रूप था। केशवचंद्र सेन ने अपना मत रखा कि: "पृथ्वी पर उस किसी भी देश ने सभ्यता की दौड़ में कभी अपेक्षित विकास नहीं किया, जहाँ की स्त्री-जाति का जीवन अंधकारमय हो।"

इन सभी आंदोलनों में समाज की तात्कालिक स्थिति में प्रचलित-मूल्यों को बदलने का प्रयास देखा जा सकता है। किसी एक तरह से या अन्य तरह से इन आंदोलनों का प्रयास था कि सामंती समाज के प्रमुख मूल्यों को बदलकर बुर्जुवा चरित्र के मूल्यों से समाज का परिचय कराया जाए।

8.8 कमजोरियाँ व सीमाएँ

हालाँकि 19वीं शताब्दी के सुधार-आंदोलनों का उद्देश्य भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के सामाजिक, शैक्षिक व नैतिक स्तर को ऊपर उठाने का था, किंतु यह उद्देश्य कई कमजोरियों व सीमाओं से बाधित हुआ। इन सुधार-आंदोलनों में एक शहरी-प्रवृत्ति भी थी, केवल आर्य समाज को छोड़कर, जिसका कि प्रभाव नीची जातियों के आंदोलनों पर व्यापक रूप से था, दूसरे सुधार-आंदोलनों का क्षेत्र ऊँची जाति व वर्ग तक ही सीमित था। उदाहरण के लिए बंगाल का ब्रह्म समाज "भद्रलोक" की समस्याओं से संबंधित था तो अलीगढ़ आंदोलन ऊँचे वर्ग के मुसलमानों की समस्याओं से। आम जनता साधारणत: इनसे अप्रभावित ही रही। सुधारकों की एक दूसरी सीमा ब्रिटिश राज्य व भारत के प्रति उनके दृष्टिकोण के प्रत्यक्ष बोध में थी। वे भ्रांतिपूर्ण ढंग से यह सोचते रहे कि ब्रिटिश शासन तो भगवान द्वारा नियोजित है और वे ही भारत को आधुनिकीकरण के मार्ग पर ले जायेंगे। चूँकि उनकी भारतीय समाज के आदर्श स्वरूप की संकल्पना 19वीं शताब्दी के ब्रिटेन का प्रतिरूप थी, इसीलिए उन्हें लगा कि भारत को ब्रिटेन जैसा बनाने के लिए ब्रिटिश शासन जरूरी है। इन सुधारकों ने हालाँकि भारतीय समाज के सामाजिक, धार्मिक स्वरूप को अच्छी तरह से समझ लिया था, किंतु इसके राजनैतिक स्वरूप को पहचानने में चूक गए; जो कि अंग्रेजों द्वारा शोषण पर आधारित था।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित विषयों पर पाँच पंक्तियाँ लिखें:

क) तर्कवाद

.....
.....
.....
.....
.....

ख) विश्वव्यापकतावाद

.....
.....
.....
.....
.....

2 नीचे लिखे उद्धरणों को ध्यान से पढ़िये और सही (✓) या गलत (×) का निशान लगायें।

i) सुधारकों की भारतीय सामाजिक-धार्मिक यथार्थ की आलोचना तर्कवाद से रहित नहीं थी।
ii) विश्व-धर्म स्वयं को धार्मिक क्षेत्रीयता से अलग रखने में सफल रहा।
iii) अलीगढ़ आंदोलन ने बहु विवाह-प्रथा का विरोध किया।
iv) ज्यादातर सुधार आंदोलनों का प्रभाव ऊँची जाति या वर्ग तक ही सीमित था।

8.9 सारांश

19वीं शताब्दी के सुधार-आंदोलनों ने द्विस्तरीय कार्य का बीड़ा उठाया। भारतीय समाज की आलोचना हुई। जाति-प्रथा, सती-प्रथा, विधवा-प्रथा, बाल-विवाह आदि संस्थाओं का कड़ा

विरोध हुआ। अंधविश्वासों और धार्मिक रूढ़ि की निंदा हुई। इसके साथ ही भारतीय समाज के आधुनिकीकरण करने का प्रयास हुआ। तर्क, बुद्धि तथा सहिष्णुता के लिए जनमानस से आग्रह किया गया। सुधार-आंदोलनों की गतिविधियों का कार्यक्षेत्र केवल किसी एक धर्म तक ही सीमित न होकर पूरे समाज तक था। हालाँकि उद्देश्य प्राप्ति में उन्होंने विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग किया और उनके बीच समय का अंतराल भी रहा, किंतु तात्कालिक परिप्रेक्ष्य और उददेश्य में ध्यान देने योग्य एकता का परिचय उन्होंने दिया। उन्होंने एक खुशहाल, आधुनिक भारत की दृष्टि प्रस्तुत की। उनकी यह दृष्टि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जुड़ गई।

8.10 शब्दावली

पुनर्जागरण : भूत को पुनर्जीवित करने की चेष्टा।
प्रतिगामी : पिछड़ा हुआ।
सतीप्रथा : विधवा को उसके मृत पति के साथ चिता पर जलाने की प्रथा।
बहुदेववाद : बहुत से देवी-देवताओं की पूजा में आस्था।
विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाने का विधेयक: लड़कियों की शादी की उम्र 12 साल तक बढ़ाने के लिए पारित किया गया एक विधेयक। तिलक सहित कई कांग्रेसियों ने इस विधयेक का विरोध किया था।
अमोघ : अचूक
एकेश्वरवाद : एक ही ईश्वर की अराधना
जिहाद : काफिरों के खिलाफ धार्मिक युद्ध
अधिनायकवाद : केंद्रीयकरण की विचारधारा
आस्तिकवाद :भगवान में विश्वास करना
त्रि-तत्ववाद :ईसाई विश्वास: त्रय-परमेश्वर – यानी पिता, संतान तथा पवित्र आत्मा का एक ही परमेश्वर में मिलान (द यूनियन ऑफ फादर, सॅन एण्ड होली स्प्रिट इन वन गॉड)

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
1 i) × ii) × iii) ✓ iv) ✓
2 भाग 8.3 देखिए
3 भाग 8.5 पढ़िए तथा अपने **उत्तर** लिखिए

बोध प्रश्न 2
1 उपभाग 8.6.1 और 8.6.2 देखिए
2 i) ✓ ii) × iii) ✓ iv) ✓

इकाई 9 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 वातावरण
  9.2.1 नए नेतागण
  9.2.2 कला एवं साहित्य
  9.2.3 अखबार एवं पत्रिकाएँ
9.3 1985 के पूर्व की राजनैतिक संस्थाएँ
9.4 सामाजिक प्रतिक्रिया
  9.4.1 लिट्न
  9.4.2 रिपन
9.5 शिक्षित भारतीयों की भूमिका
9.6 कांग्रेस की स्थापना
  9.6.1 पहली बैठक
  9.6.2 अध्यक्षीय भाषण
  9.6.3 उपस्थिति
  9.6.4 कार्यवाही और प्रस्ताव
9.7 कांग्रेस की उत्पत्ति से संबंधित विवाद
  9.7.1 सरकारी षड्यंत्र सिद्धांत
  9.7.2 विशिष्ट वर्ग की प्रतिद्वन्द्विता और महत्वकांक्षाएँ
  9.7.3 अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता
9.8 सारांश
9.9 शब्दावली
9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

पहले की इकाई के अध्ययन के बाद आप जान गए हैं कि किस प्रकार 19वीं सदी में भारत में आधुनिक विचारों की उत्पत्ति एवं प्रसार ने बौद्धिक जागरण में योगदान दिया। इस जागरण का मुख्य परिणाम था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन। कांग्रेस ने आधुनिक भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस इकाई में इस बात की चर्चा की गई है कि इसके गठन की पृष्ठभूमि क्या थी और कौन से कारण थे जिनसे इसकी स्थापना हुई। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- जान पायेंगे कि किस वातावरण में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई थी।
- यह जान सकेंगे कि शिक्षित भारतीयों ने इसके गठन में क्या भूमिका निभायी।
- कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे तथा
- इसके गठन से संबंधित विवादों से परिचित हो पायेंगे।

9.1 प्रस्तावना

सोमवार, 28 दिसंबर 1885 को बंबई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय के सभा भवन में 72 व्यक्तियों की एक बैठक हुई। वे लोग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्घाटन सत्र में भाग ले रहे थे। उस दिन से इस संस्था ने ब्रिटिश शासन से मुक्ति के लिए भारतीय

संघर्ष में अहम् भूमिका निभायी।

आपको पहले बताया जा चुका है कि किस तरह से भारत में औपनिवेशिक राज्य की स्थापना हुई और भारत में राष्ट्रीय जागरण के उत्थान और विकास के क्या कारण थे। इस इकाई के द्वारा आप पहले पढ़ी गई इकाई से आगे की जानकारी प्राप्त करेंगे। इसमें इस बात की चर्चा भी की गई है कि भारत में फैले राष्ट्रीय जागरण के फलस्वरूप किस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का राजनैतिक संगठन के रूप में गठन हुआ।

9.2 वातावरण

जैसे-जैसे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रसार होता गया, आम लोगों के बीच असंतोष की भावना बढ़ती चली गयी। यह भावना इस बात पर आधारित थी कि नयें शासकों की वजह से ही उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। उन्होंने यह भी महसूस किया कि उन्हें अपने ही देश में हीन भावना से देखा जा रहा है और उनकी संस्कृति पर भी हमला हो रहा है। उनकी प्रगति के लिये उपलब्ध अवसर भी अधिक नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों ने छुट-पुट विद्रोह के जरिए अपना आक्रोश व्यक्त किया। यह बगावत मुख्य रूप से जमींदारों, सूदखोरों और टैक्स जमाकर्त्ताओं के विरूद्ध थी। लेकिन मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि ये विरोध अंग्रेजों द्वारा बनाई गई व्यवस्था के खिलाफ थे। इन बगावतों के जरिए विदेशी शासन के खिलाफ असंतोष की तीव्रता स्पष्ट हो गयी। देश के विभिन्न भागों में फैल जाने वाला 1857 का महान् विद्रोह जनता में व्याप्त असंतोष का ही परिणाम था।

9.2.1 नए नेतागण

विद्रोह की असफलता ने यह स्पष्ट कर दिया था कि विरोध की पारंपरिक विधि सक्षम नहीं थी। इसके द्वारा यह भी देखने को मिला कि पुराने कुलीन वर्ग भारतीय समाज के संरक्षक नहीं हो सकते। अंग्रेजी शिक्षित मध्य वर्ग ही भविष्य की आशा के रूप में दिखाई दिया। इस वर्ग के द्वारा चलाया गया आंदोलन का स्वरूप पूरी तरह से भिन्न था। इकाई 3 में दिए विवरण द्वारा आप जान सकते हैं कि यह वर्ग इस बात से अवगत था कि अंग्रेजों के संपर्क से भारत को क्या-क्या लाभ प्राप्त हुए। यह यूरोपीय उदारवादी अवधारणाओं से भी पूरी तरह परिचित था। इसके साथ ही इन्हें देश के गौरवशाली इतिहास पर भी गर्व था और धीरे-धीरे यह अवधारणा विकसित होने लगी कि विदेशी प्रभुत्व भारतीय जनता की आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक था। भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में निवास कर रहे लोगों में स्वत्व का ज्ञान बढ़ने लगा था। शिक्षित भारतीयों को कुछ समय के लिए यह विश्वास होने लगा कि अगर परोपकारी शासक अपना ध्यान उनकी ओर दें तो उनकी समस्याओं का समाधान हो जायेगा। इसलिए, मध्य वर्ग का आंदोलन शुरू में सिर्फ कुछ विशिष्ठ राजनैतिक और आर्थिक मुद्दों तक ही सीमित था। हालाँकि यह रास्ता कुछ समय बाद छोड़ दिया गया।

9.2.2 कला एवं साहित्य

इस अवधि में राष्ट्रीयता और देश भक्ति के आदर्शों को गीतों, कविताओं एवं नाटकों के माध्यम से लोकप्रिय स्वरूप दिया गया। बहुत सारे गीतों को हिंदू मेले के लिए रचा गया जिनका आयोजन 1867 के कुछ सालों बाद तक बंगाली नेताओं के एक समूह द्वारा होता था। इसका उद्देश्य राष्ट्रीय आदर्शों को फैलाना और स्वदेशी कला एवं शिल्पों को बढ़ावा देना था। इस क्रम में ब्रिटिश नीतियों को लोगों की आर्थिक विपन्नता के लिए जिम्मेवार ठहराया गया। स्वदेशी वस्तुओं के इस्तेमाल करने पर जोर डाला गया। इन विचारों को नाटकों के माध्यम से भी प्रदर्शित किया गया। 1860 के आसपास "नील दर्पण" नाम का नाटक जो काफी लोकप्रिय हुआ जिसमें कि नील की खेती करने वालों पर बागान मालिकों

द्वारा हो रहे अत्याचारों को उभारा गया था। (इकाई 7 उपभाग 7.5.1 देखें) इस संदर्भ में बंकिम चंद्र चटर्जी का नाम काफी महत्वपूर्ण है जिन्होंने कई ऐतिहासिक नाटकों की रचना की जिसमें शासकों की निरंकुशता का विशेष रूप से उल्लेख है। उनका सबसे लोकप्रिय कार्य "आनन्दमठ" (1882) है, जिसमें उनका अविस्मरणीय गीत "बंदेमातरम्" भी है जो कि कुछ ही अर्से पहले (1875) रचा गया था। इसी तरह के राष्ट्रीय भावनाओं से भरे साहित्य, अन्य भाषाओं में भी पाए जा सकते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जो कि आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता माने जाते हैं, अपने नाटकों, कविताओं और पत्रिकाओं से स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग करने का आग्रह किया। ऐसी ही प्रवृत्ति मराठी साहित्य में भी देखी जा सकती है जहाँ कि प्रकाशनों की संख्या काफी बढ़ी – 1818-1827 में मात्र तीन से बढ़कर 1885-1896 के बीच 3,284 हो गयी।

9.2.3 अखबार एवं पत्रिकाएँ

अखबारों एवं पत्रिकाओं ने भारतीय राष्ट्रीय हित में तथा औपनिवेशिक शासन की ज्यादतियों और असमानताओं के विरोध में लोकमत बनाने में एक विश्वसनीय भूमिका अदा की। इस अवधि के कुछ जाने माने अंग्रेजी भाषा के अखबार अमृत बाजार पत्रिका, हिन्दु पैट्रियाट और सोम प्रकाश थे जिनका प्रकाशन कलकत्ता में होता था। इन्दु प्रकाश और नेटिव औपिनियन बंबई मे तथा हिन्दु का प्रकाशन मद्रास से होता था। हिन्दी भाषा में प्रकाशित होने वाले कुछ महत्वपूर्ण अखबार, हिन्दुस्तान, भारत मित्र और जगत मित्र थे। उर्दू भाषा के जाने माने अखबार, जामे-जहाँनुमा और खुशदिल अखबार थे।

उस समय के ब्रिटिश पर्यवेक्षकों को राजनैतिक जागरूकता एवं एकता की भावना के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखने लगे थे। उदाहरण के लिए, 1878 में **डबलू.बी.जौन्स**, बेरार के तत्कालीन कमीश्नर ने भारत सरकार को गोपनीय रिपोर्ट में लिखा कि "20 वर्षों के मेरे अनुभव से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की भावना पूर्ण रूप से जागृत हो गयी है जिसका कि पहले कहीं अस्तित्व नहीं था अथवा धुंधले रूप से महसूस किया गया था – अब हम लोगों को मात्र सूबों के लोगों से ही नहीं बल्कि 20 करोड़ लोगों की एकता, जो कि सहानुभूति एवं परस्पर व्यवहार पर आधारित है, तथा जिसे कि हम लोगों ने ही पैदा किया है, का सामना करना पड़ रहा है। यहां मुझे ऐसा लगता है कि इन दिनों का सबसे बड़ा राजनैतिक सच है।"

बोध प्रश्न 1

1 अभी जो आपने उद्धरण पढ़ा, उसमें किन बातों को उन दिनों का राजनैतिक सच कहा गया है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 अखबारों के नामों को उनके प्रकाशन के स्थानों से व्यवस्थित करे

i) हिन्दू पैट्रिऑट	बंबई
ii) नैटिव औपिनियन	मद्रास
iii) हिंदू	कलकत्ता

3 नीचे लिखे वक्तव्यों को पढ़ें और सही (✓) अथवा गलत (×) का चिन्ह लगाएँ।

i) 1857 के विद्रोह मे यह प्रदर्शित हो गया कि विरोध के पारपरिक तरीके सफल हो सकते हैं।

ii) इस अवधि में राष्ट्रीयता की भावनाओं को गीतों; कविताओं और नाटकों की सहायता से लोकप्रिय बनाया गया।

iii) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वदेशी चीजों के इस्तेमाल के लिए आग्रह किया।

iv) इस अवधि में अखबारों तथा पत्रिकाओं ने साम्राज्यवादी भावनाओं को फैलाने में मदद दी।

9.3 1885 के पूर्व की राजनैतिक संस्थायें

भारत में स्थापित होने वाली संस्थाओं में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पहली नहीं थी। कई संस्थायें पहले भी स्थापित की गई थीं। भारत में संगठित रूप से राजनैतिक गतिविधियों की शुरूआत 1837 में "लैण्डहोल्डर्स" नाम की संस्था की स्थापना से होती है। यह संस्था बंगाल, बिहार और उड़ीसा के जमींदारों की थी और इसके मुख्य उद्देश्य उनके वर्ग के हितों की रक्षा थी। 1843 में बंगाल "ब्रिटिश इंडिया" नाम की एक और संस्था का प्रादुर्भाव हुआ। इसके उद्देश्य व्यापक थे जैसे कि आम जनता के हितों की रक्षा करना तथा उन्हें बढ़ावा देना। लैण्डहोल्डर्स संस्था धन के अभिजात तंत्र का प्रतिनिधित्व करती थी जबकि दूसरी ओर बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी बुद्धि के अभिजात तंत्र का प्रतिनिधित्व करती थी। 1851 ई. में दोनों संस्थाओं का विलय हो गया जिससे कि नई ब्रिटिश इंडिया नाम की संस्था का जन्म हुआ। इसी समय ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार पत्र का नवीकरण भी होना था और इस बात की जरूरत महसूस की गयी कि लंदन के शासकों को संस्था के विचारों से अवगत कराया जाये। इसी समय बंबई तथा मद्रास में भी संस्थायें बनाई गयी। इन संस्थाओं का नाम क्रमशः बंबई एसोसियेशन तथा मद्रास नेटिव एसोसिएशन रखा गया तथा इनकी स्थापना 1852 में हुई। इन सभी संस्थाओं पर धनी जमींदारों का प्रभुत्व था। इसी तरह की संस्थायें भारत के अन्य भागों में भी बनीं पर वे उतनी जानी मानी नहीं थीं। उनमें से एक देक्कन एसोसियेशन नाम की संस्था थी।

तीनों प्रेसीडेंसी संस्थाओं ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार पत्र में परिवर्तन के लिए सुझाव भेजे। ये सुझाव हमें उस समय की जनता के प्रति जागरूक वर्गों की मनोवृत्ति का अच्छा खासा आभास देते हैं। आवेदक यह चाहते थे कि भारतीयों को व्यावस्थापिका निकायों में नियुक्त किया जाये, नमक और नील पर कंपनी के एकाधिकर को समाप्त किया जाये और सरकार स्वदेशी उद्योगों को सहायता दे। इस बात की भी चर्चा की गयी थी कि स्थानीय सरकारों के पास अधिक शक्ति होनी चाहिए तथा भारतीयों को अपने देश के प्रशासन में बड़ी हिस्सेदारी मिले। जहाँ तक खेती से संबंधित मसलों के प्रश्न थे इस बात की इच्छा जाहिर की गयी कि उनके जमीन के तत्कालीन हितों को सुरक्षित रखा जाये। प्रत्येक अर्जी में कृषकों की स्थिति में सुधार की चर्चा की गयी थी। ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन के सदस्यों द्वारा भेजी गयी अर्जी में यह कहा गया था कि जबकि भारतीय इस उन्नत सरकार के अभिमन्त्रण को स्वीकार करते हैं पर वह इस बात को भी महसूस करते हैं कि जहाँ तक उनको ग्रेट ब्रिटेन के संपर्क से फायदा हो सकता था जो कि उनका अधिकार था, उतना फायदा नहीं हुआ। उनकी बहुत सारी माँगों को बाद में चलकर कांग्रेस ने अपने जिम्मे ले लिया।

जैसी की पहले चर्चा की जा चुकी है, 1860 और 1870 के दशकों में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावनायें फैल गयी थीं। इस अवधि में देश के विभिन्न भागों में कई

राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना की गयी जिनका कार्य प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में सुधार तथा लोगों के बीच राजनैतिक चेतना जगाना था। इन संस्थाओं में पूना सार्वजनिक सभा सबसे महत्वपूर्ण थी जिसकी स्थापना एम.जी. रानाडे, जी.पी. जोशी, एस.एच. चिपलांकर और उनके सहयोगियों ने 1870 में की थी। इस संस्था ने 1878 में एक पत्रिका निकाली जिसने राजनैतिक चेतना जगाने में काफी बड़ा योगदान दिया। इंगलैंड में राजनैतिक प्रचार करने के लिए कुछ भारतीय छात्रों जैसे फिराजशाह मेहता, बदरूद्दीन तैयबजी, दादाभाईनारोजी और मनमोहन घोष ने ईस्ट इंडिया एसोसियेशन नाम की संस्था दिसंबर 1866 में स्थापित की।

1837 में लैण्डहोल्डर्स सोसाइटी की स्थापना के बाद के 50 वर्षों की अवधि मुख्य रूप से आकांक्षाओं की थी उपलब्धियों की नहीं। लेकिन इस अवधि के दौरान एक राष्ट्रीय स्तर के संगठन के विकास का ढाँचा तैयार हो गया था। एक राष्ट्रीय मंच की जरूरत आवश्यक रूप से महसूस की गयी। कलकत्ता में ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन के प्रति उदासीनता काफी बढ़ रही थी। इसकी सदस्यता शुल्क 50 रु. प्रति वर्ष था जो कि मध्य वर्ग के लिए बहुत अधिक था। (लॉर्ड कर्जन के अनुमान से 1898 में ब्रिटिश भारत में प्रति व्यक्ति आय दर 30 रु. प्रति वर्ष थी) इसलिए इसकी सदस्यता सिर्फ धनी वर्ग तक ही सीमित रह गयी थी। 1876 में कलकत्ता में इंडियन एसोसियेशन की स्थापना की गयी। इसका सदस्यता शुल्क 5 रु. प्रति वर्ष था। यह शीघ्र ही शिक्षित लोगों के बीच लोकप्रिय हो गयी और बंगाल में तथा बाद में चलकर भारत की राजनीति में एक बहुत ही बड़ी ताकत बन गयी। मध्य वर्ग के एक नौजवान सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जिन्हें कि अपर्याप्त कारणों पर भारतीय सिविल सेना से निकाल दिया गया था, इसकी स्थापना के लिए मुख्य रूप से जिम्मेवार थे। इंडियन एसोसियेशन के उद्देश्य थे एक ताकतवर जनमत का विकास, हिन्दु-मुस्लिम जनसंपर्क की स्थापना तथा भारतीय लोगों के बीच व्यापक जागरण पैदा करना। सभी तत्व राष्ट्रीय आंदोलन के अवयव थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि नई एसोसियेशन संयुक्त भारत की अवधारणा पर आधारित थी जिसका प्रेरणा स्रोत मैजिनी-इटली एकीकरण के मुख्य निर्माता थे।

कई अन्य राजनैतिक संगठनों की स्थापना भारत के अन्य भागों में की गयीं जैसे कि मद्रास महाजन सभा, बंबई प्रेसीडेंसी एसोसियेशन, इलाहाबाद पीपुल्स एसोसियेशन, लाहौर की इंडियन एशोसियेशन इत्यादि। इन सभी निकायों की शाखायें छोटे शहरों में भी थी। 1885 के बाद ये सारी कांग्रेस की क्षेत्रीय इकाइयाँ हो गयीं।

9.4 सरकारी प्रतिक्रिया

वस्तुतः शिक्षित भारतीयों की ये सभी गतिविधियाँ व्यर्थ नहीं गई। ब्रिटिश सरकार ने बढ़ते हुए राजनैतिक असंतोष को गंभीरता से लिया और शीघ्र ही आक्रामक रवैया अपनाया। इसकी एक झलक लार्ड लिटन जो 1876 में भारत आए, की नीतियों में मिलती है।

9.4.1 लिटन

लिटन ने खुले रूप से प्रतिक्रियावादी और भारत विरोधी नीतियाँ अपनानी शुरू की। यह इंडियन एसोसिएशन के लिए सुनहरा अवसर था और इसने अखिल भारतीय स्तर पर कई राजनैतिक आंदोलन आयोजित किए। लिटन ने भारतीय राजस्व पर अफगानिस्तान के लिए एक खर्चीला अभियान भेजा। उसने ब्रिटिश कपड़ा उद्योग के लाभ के लिए सूती कपड़ों पर से आयात कर हटा दिए जिससे नवजात भारतीय टेक्सटाइल उद्योग की हानि हुई। इन कदमों पर राजनैतिक रूप से जागृत भारतीयों ने अपनी अप्रसन्नता जाहिर की। आंतरिक नीतियों के तहत वाइसराय ने शाही राजकुमारों और जमींदारों को जो कि ब्रिटिश शासन के महत्वपूर्ण स्तम्भ थे संरक्षण दिया। वह शिक्षित भारतीयों की अभिलाषाओं को घृणा की दृष्टि से देखता था। इस अवधि में भारतीय सिविल सेवा परीक्षा में शामिल होने की उम्र सीमा 21 वर्ष से हटाकर 19 वर्ष कर दी गयी। चूँकि परीक्षा लंदन में आयोजित होती थी, इसलिए भारतीयों के लिए इस परीक्षा में शामिल होना कष्टपूर्ण था। उम्र की सीमा घटा देने से भारतीयों को इस परीक्षा में शामिल न होने देने के एक नियोजित तरीके का पता चल गया। इंडियन एसोसियेशन ने इस मुद्दे को उठाया और सारे देश में आंदोलन शुरू कर दिया। सुरेन्द्रनाथ ने स्वयं ही 1877-78 में देश के विभिन्न भागों का दौरा किया और भारतीय स्तर पर लोकप्रियता हासिल की। एसोसियेशन ने एक जाने माने बंगाली बैरिस्टर लाल मोहन घोष को एक ज्ञापन प्रस्तुत करने के लिए इंगलैंड भेजा।

वर्नाकुलर प्रेस एक्ट और आर्म्स एक्ट के लागू होने के विरोध में जन सभाएँ आयोजित की गयीं। पहले की तरह भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले अखबारों और पत्रिकाओं पर

प्रतिबंध लगा दिए गए। भारतीय समाज में इस बात पर जोरदार रोष पैदा हो गया। अमृत बाजार पत्रिका जो कि उस वक्त तक बंगाली भाषा में प्रकाशित होता था रातों-रात इस एक्ट के प्रतिबंध से बचने के लिए अंग्रेजी माध्यम में प्रकाशित होने लगा। आर्म्स एक्ट के तहत भारतीयों को शस्त्र रखने के लिए लाइसेंस शुल्क अदा करने को कहा गया, जबकि यूरोपीयन लोगों को इससे मुक्त रखा गया। जमींदारों को विशेष रियायतें दी गई। आंदोलन के दौरान इन मुद्दों पर जिले के शहरों में काफी बड़ी जनसभाएँ आयोजित की गई जिसमें कई जगहों पर दस से बीस हजार के करीब लोग सम्मिलित हुए।

9.4.2 रिपन

1880 में लार्ड लिट्न के हटने के बाद लार्ड रिपन आए। रिपन की नीति बिल्कुल भिन्न थी। उनका मत था कि शिक्षित भारतीयों का उनकी शिक्षा और ब्रिटिश संसद के द्वारा समय-समय पर दी शपथ को ध्यान में रखते हुए उनके द्वारा धारण किए जायज प्रेरणाओं का आदर करना चाहिए। उनका कहना था कि लिट्न के शासन ने सही अथवा गलत रूप से यह भावना भारतीयों में पैदा कर दी थी कि इंगलैंड के हित में उनके सारे हितों की कुर्बानी दी जायेगी। वे शिक्षित वर्ग की बुद्धिमत्ता ब्रिटिश शासन को मजबूत करने में लगाना चाहते थे। उन्होंने वर्नाकुलर प्रेस एक्ट को निरस्त कर दिया और स्थानीय स्वशासी संस्थाओं तथा शिक्षा के प्रचार को बढ़ावा दिया तथा अफगान युद्ध को समाप्त कर दिया। उनकी नीतियाँ हालाँकि एक सीमा से ज्यादा नहीं बढ़ सकीं क्योंकि भारत में ब्रिटिश शासन के स्वरूप ने कई व्यवधान लागू किए थे।

ऐंग्लो इंडियन्स ने जो रिपन से रूष्ट थे, एक जबरदस्त आंदोलन उनके और उनकी भारतीय समर्थक नीतियों के विरूद्ध, इलबर्ट बिल के मुद्दे पर छेड़ दिया। दण्डविधि संशोधन बिल अथवा इलबर्ट बिल जो कि वाइसराय काउंसिल के ला सदस्य के नाम पर रखा गया था ने बंगाल प्रेसीडेंसी के सभी मुकदमों में भारतीय जजों के अधिकारों को यूरोपीय जजों के अधिकारों के समान बना दिया। इसका उद्देश्य यह था कि योग्य भारतीय मुफस्सिल तहसीलों में यूरोपीय लोगों द्वारा किए अपराधों की सुनवाई कर सकें। (प्रेसीडेंसी शहरों में इन्हें पहले ही ये अधिकार मिल चुके थे) यह बिल इसलिए लाया गया था क्योंकि न्यायिक सेवा में भारतीयों की संख्या बढ़ रही थी। इसमें इस बात की संभावना बढ़ गयी कि भारतीय न्यायाधीश बिना ज्यूरी के सभी अपराधी यूरोपीयों के केस की सुनवाई कर सकें। यूरोपीयों को असंतुष्टि की स्थिति में उच्च न्यायालय में अपील के अधिकार दिये गये। इस बात पर ऐंग्लों इंडियन्स के बीच जोरदार रोष भड़क उठा। रिपन ने देखा कि सिविल सेवा के अधिकारी भी विरोधियों से सहानुभूति रखते थे। अखबारों और जनसभाओं में भारतीय चरित्र और संस्कृति की तीव्र आलोचना हुई। अंततः सरकार को विरोध मत के सामने झुकना पड़ा और बिल का संशोधन इस तरीके से किया गया कि इसका मुख्य उद्देश्य ही समाप्त हो गया।

सारा विवाद, उस समय की स्थिति में जबकि अखिल भारतीय स्तर पर एक संगठन का विकास हो रहा था, महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह अक्सर कहा जाता है कि भारतीयों ने राजनैतिक आंदोलन का पहला सबक इस अवसर पर ऐंग्लो इंडियन्स से सीखा। यह वास्तव में सच बात नहीं है। भारतीयों ने पहले ही इस तरीके के महत्व को महसूस किया था और सिविल सेवा परीक्षा के प्रश्न पर अखिल भारतीय स्तर पर आंदोलन भी आयोजित किया था। दरअसल वे अपने अनुभव से जान गए थे कि ऐंग्लो इंडियन कभी भी उनके अधिकारों और बेहतर सुविधाओं की माँगों में साथ नहीं दे सकते थे। सारे देश में बिल विरोधी आंदोलन के मुद्दे पर भारतीयों की प्रतिक्रिया समान ही थी। भारतीय प्रेस ने यह स्पष्ट कर दिया कि शिक्षित भारतीय जनता बिल के मूल सिद्धांतों का आदर करती हैं और इसके परित्याग करने पर तीव्र विरोध करेगी। जब बिल के मूल सिद्धान्तों का त्याग कर दिया गया तो भारतीय प्रेस ने राष्ट्रीय एकता, आत्मनिर्भरता और शक्तिशाली संगठन की तत्कालीन आवश्यकता पर चर्चा शुरू कर दी थी।

1880 के दशक के प्रारंभ में एक राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता का मुद्दा भारतीय प्रेस के लिए एक महत्वपूर्ण विषय बन गया था। इलबर्ट बिल विवाद ने इस आवश्यकता को

और भी आवश्यक बना दिया। जुलाई 1883 में इंडियन एसोसिएशन ने एक सभा आयोजित की जिसमें करीब 10,000 लोगों ने भाग लिया। इस सभा में यह तय किया गया कि एक राष्ट्रीय कोष की स्थापना इस उद्देश्य से की जाये कि भारत और इंगलैंड में आंदोलनों के जरिए देश का राजनैतिक विकास किया जा सके। इस प्रस्ताव का हर जगह स्वागत किया गया। हालाँकि कुछ क्षेत्रों में इसकी निंदा इस आधार पर की गयी कि इंडियन एसोसिएशन, देश के अन्य राजनैतिक संगठनों का सहयोग पाने में असफल रही थी। राष्ट्रीय कोष में मात्र 20,000 रुपए ही संग्रहित किए जा सके। लेकिन प्रेस में इस बात पर व्यापक रूप से चर्चा हुई। चर्चा के क्रम में संयुक्त राजनैतिक कदम की आवश्यकता पर बार-बार बल दिया गया और कहा गया कि विभिन्न राजनैतिक संगठनों के प्रतिनिधियों को देश के बड़े शहरों में वर्ष में एक बार मिलना चाहिए। दिसंबर 1883 में एक अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन कलकत्ता में होने वाला था। इंडियन एसोसिएशन ने इस अवसर का लाभ उठाने का निश्चय किया और देश के विभिन्न भागों के प्रमुख लोगों और संगठनों को मिलने का निमंत्रण दिया और सार्वजनिक हित के प्रश्नों पर विचार करने को कहा। यह सम्मेलन 28 से 31 दिसंबर तक चला और इसे राष्ट्रीय सम्मेलन कहा गया। इस सम्मेलन में न तो कोई विशेष प्रतिनिधि आए और न ही यह प्रभावशाली था। लेकिन यह एक महत्वपूर्ण बात है कि इसमें तय किए गए कार्यक्रम आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अपनाए कार्यक्रमों के समान थे। इसने 45 विभिन्न क्षेत्रों से आए शिक्षित भारतीयों को एक जगह बैठकर विचार-विमर्श करने का सुनहरा अवसर प्रदान किया। यह ठीक ही कहा गया है कि यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पूर्वगामी था।

बोध प्रश्न 2

1 लॉर्ड लिटन के द्वारा उठाए उन पाँच कदमों की एक सूची बनाएँ जिन्होंने भारतीयों में आक्रोश पैदा किया।

.....

.....

.....

.....

.....

2 नीचे दिए कौन से वक्तव्य सही (✓) अथवा गलत (×) हैं।

i लॉर्ड रिपन ने लिटन से विभिन्न रास्ता अपनाया।

ii इल्बर्ट बिल को एंग्लो इंडियन्स का पूर्ण समर्थन था।

iii यह बात सच है कि भारतीयों ने राजनैतिक आंदोलन का पहला सबक एंग्लो इंडियन्स से सीखा।

iv यह सही है कि राष्ट्रीय सम्मेलन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पूर्वगामी था।

3 इल्बर्ट बिल विवाद से आप क्या समझते हैं? नीचे दी गई जगह में लिखें ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.5 शिक्षित भारतीयों की भूमिका

स्वाभाविक रूप से यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इस अवधि में समाज का कौन सा वर्ग राजनैतिक क्रियाकलापों में अग्रणी की भूमिका निभा रहा था। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

इतिहासकारों के मतानुसार राजनैतिक क्रियाकलापों के आयोजन में "शिक्षित मध्य वर्ग" शिक्षित अभिजात्य अंग्रेज या बुद्धिजीवी वर्ग और व्यावसायिक वर्ग अग्रणी थे। भारतीयों के इस वर्ग की कुछ विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है जिन्होंने कि अंग्रेजी का ज्ञान हासिल किया था तथा ब्रिटिश शासन के मध्य बड़े हुए थे और जिन लोगों ने पेशे के रूप में कानून, शिक्षा तथा पत्रकारिता को अपनाया था अथवा सरकारी नौकरियाँ प्राप्त की थी। इन लोगों ने मूलत: बंबई तथा मद्रास प्रेसीडेंसी शहरों में अपनी शुरूआत की थी पर बाद में देश के हर हिस्से में फैल गए थे।

राष्ट्रीय चेतना तथा अतीत के गौरव से प्रेरित होकर मध्य वर्ग ने राजनैतिक अधिकारों के लिए संवैधानिक आंदोलन शुरू कर दिया। इसकी गति इतनी धीमी थी कि शुरू की अवधि में इस पर ध्यान ही नहीं गया। इसकी सामाजिक तथा आर्थिक जड़ें उद्योग अथवा व्यापार में निहित नहीं थी बल्कि इस वर्ग की जड़ें खेती, सरकारी सेवा अथवा व्यवसायों में थीं। इस क्षेत्र के लोग अपने को मध्य वर्ग कहलाने में गर्व महसूस करते थे जो कि जमींदारों के नीचे तथा मजदूरों के ऊपर थे। ये लोग उसी तरह की भूमिका निभाने का इंतजार कर रहे थे जैसी भूमिका पश्चिम के मध्य वर्ग ने निभायी थी अर्थात् पुनर्जागरण धर्म सुधार राजनैतिक संस्थाओं को औद्योगीकरण तथा उद्योगीकरण के जरिए सामंतवादी समाज से आधुनिक समाज तक के परिवर्तन का प्रतिनिधित्व।

मध्य वर्ग के सदस्य समाज के उस वर्ग से आते थे जो गरीब नहीं कहे जा सकते थे और सामान्यत: उच्च जाति के थे। हालाँकि, यह उल्लेखनीय है कि उच्च जाति के सभी लोग समाज में आर्थिक रूप से संपन्न नहीं थे। उदाहरण के लिए, बंगाल तथा भारत के कई अन्य क्षेत्रों के संपन्न परिवारों में ब्राह्मण जाति के रसोईये रखने की प्रथा थी। इसी प्रकार बंबई में भी, 1864 में जमा किए आँकड़ों से पता चलता है कि करीब 10,000 भीख मांगने वाले या तो चितपावन ब्राह्मण थे अथवा सारस्वत ब्राह्मण।

समाज के इस वर्ग को इस आधार पर सर्वोच्च कहा जा सकता है कि समाज का यह एक चुना हुआ अथवा एक विशिष्ट भाग था। परन्तु इस वर्ग की विचारधारा अपनी सुविधाओं की रक्षा सामाजिक स्तर के आधार पर नहीं करती थी। उनकी सबसे बड़ी धरोहर अंग्रेजी शिक्षा थी। अंग्रेजी शिक्षा को उन्होंने अपने तक ही सीमित नहीं रखा परन्तु बहुत से शिक्षित भारतीयों ने इस तरह की शिक्षा को फैलाने में अपने आप को समर्पित भी किया। बाद में उन्होंने बड़ी दिलचस्पी से अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा को लागू करने की माँग भी की। इसी प्रकार उन्होंने बिना संकोच के ऐसे सामाजिक सुधारों की माँग की जिनका कि उनकी सुविधाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता था।

भारतीय संदर्भ में "शिक्षित मध्य वर्ग" उन अवधि में उस समूहों को कहा जाता था जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा पायी थी और जो किसी प्रकार के क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय नेतृत्व देने की शुरूआत कर रहे थे। इन समूहों की सामाजिक रचना तथा दृष्टिकोण उन राजकुमारों, प्रधानों तथा जमींदारों से काफी भिन्न था जिन्होंने कि पहले अंग्रेजी शासन का विरोध किया था। 19वी सदी में इस वर्ग ने धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों द्वारा देशभक्ति के गीतों, नाटकों तथा साहित्य के लेखन द्वारा ब्रिटिश शासन की आर्थिक आलोचना द्वारा तथा राजनैतिक संगठनों की स्थापना के द्वारा भारतीय जीवन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

वाइसराय लॉर्ड डफरिन ने एक बार अपनी टिप्पणी में यह कहा कि यह एक "सूक्ष्मदर्शी अल्पसंख्यक संस्था है।" इस टिप्पणी को विभिन्न इतिहासकारों ने समय-समय पर उद्धरित

किया है। इसमें कोई शक नहीं कि यह अल्पसंख्य था। परंतु यह ऐसा अल्पसंख्य था जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी जैसा कि डफरिन खुद भी जानते थे। यह एक ऐसा अल्पसंख्यक था जिसका कि आदर्श सामान्य था और जो कि एक ही तरह की बोली बोलते थे और जिनका दृष्टिकोण अखिल भारतीय स्तर का था। हमें यह भी याद करना चाहिए कि इतिहास में देश के स्वरूप निर्धारण में सक्रिय अल्पसंख्य वर्ग की ही भूमिका अहम रही है। यहाँ एक दूसरी कहावत की चर्चा की जा सकती है जिसने कि कुछ हद तक लोकप्रियता हासिल की थी। ब्रिटिश अफसरों का कहना था कि कांग्रेस आम जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी और जबकि अंग्रेज भारतीय जनता के हितों की देखभाल करते थे और उनके माँ-बाप के समान थे। इस कहावत को विकसित किया गया था क्योंकि यह ब्रिटिश राज्य के स्थायीकरण से संबंधित साम्राज्यिक हितों में योगदान देती थी। कुछ हद तक सभी देशों के शिक्षित लोग आम जनता से अलग-थलग होते हैं। भारत में इस अलगाव को आधुनिक शिक्षा के विदेशी माध्यम ने और भी अधिक कर दिया। लेकिन अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त कर लेने का यह मतलब नहीं था कि लोग अपनी भाषा जानना छोड़ चुके थे। महत्वपूर्ण बात यह है कि एक वर्ग के रूप में शिक्षित भारतीयों ने कभी भी अपने आप को सरकार के हाथों नहीं बेचा।

9.6 कांग्रेस की स्थापना

इस खंड में हम कांग्रेस की स्थापना से संबंधित कुछ मुद्दों की चर्चा करेंगे जैसे कि इसके प्रारंभिक कार्यक्षेत्र और गतिविधियाँ, पारित प्रस्ताव और विभिन्न वर्गों की सदस्यता इत्यादि।

9.6.1 पहली बैठक

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहली बैठक के आयोजन का श्रेय ए.ओ.ह्यूम को जाता है। वे एक सेवानिवृत सरकारी अधिकारी थे जिन्होंने सेवानिवृति के बाद भारत में ही रहने का फैसला किया था। उनका लार्ड रिपन से बहुत ही अच्छा संबंध था और वह उनके इन विचारों से सहमत थे कि शिक्षित भारतीयों के उदय को राजनैतिक सच के रूप में स्वीकार करना चाहिए और समयानुसार ऐसा कदम उठाना चाहिए जिससे कि इस वर्ग की माँगों के लिए एक न्यायसंगत निकास की व्यवस्था हो और इस बात का भी प्रयास होना चाहिए कि उनकी महत्वाकांक्षाएँ पूरी हो सकें। उन्होंने कठिन परिश्रम करके अपने सारे संपर्कों को संघटित किया। दिसंबर 1884 के शुरू में वे रिपन को विदा करने बंबई पहुँचे। वे वहाँ करीब तीन महीने ठहरे और इस अवधि में उन्होंने प्रेसीडेंसी के प्रभावशाली नेताओं से शिक्षित भारतीयों के द्वारा उठाये जाने वाले राजनैतिक कार्यक्रमों के बारे में विचार-विमर्श किया। मार्च 1885 में यह तय किया गया कि इंडियन नेशनल यूनियन (शुरू में यही नाम अपनाया गया) का एक सम्मेलन क्रिसमस सप्ताह के दौरान पूना में आयोजित किया जायेगा। शुरू में ह्यूम और उनके सहयोगियों ने कलकत्ता में सम्मेलन बुलाने पर विचार किया। लेकिन बाद में उन लोगों ने पूना में ही आयोजन करने का निश्चय किया क्योंकि यह जगह देश के केन्द्र में थी और पूना सार्वजनिक सभा की कार्यपालिका समिति ने सम्मेलन की सारी व्यवस्था और आवश्यक कोष के इंतजाम करने की जिम्मेवारी ले ली थी।

हालाँकि दुर्भाग्य ने पूना को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले अधिवेशन के आतिथ्य के अवसर से वंचित कर दिया। पूना में हैजा फैल जाने से स्थान को बंबई ले जाया गया। पहली सभा का आयोजन सोमवार, 28 दिसंबर 1885 को गोकलदास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय, बंबई में किया गया। इसमें करीब 100 लोगों ने भाग लिया जिसमें से 72 लोगों को सदस्यों की मान्यता दी गयी। कांग्रेस अध्यक्ष बनने का पहला गौरव बंगाल के डब्लू.सी. बनर्जी को मिला। वे पहले चार भारतीय बैरिस्टरों में से एक थे और उन दिनों

के अग्रणी कानूनविद् भी थे। उनके चुनाव से एक स्वस्थ मिसाल की स्थापना हुई कि अध्यक्ष का चुनाव सम्मेलन के स्थान वाले प्रांत के बाहर से होना चाहिए।

9. पहली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1885

9.6.2 अध्यक्षीय भाषण

पहले कांग्रेस अध्यक्ष का अध्यक्षीय भाषण कांग्रेस के चरित्र, उद्देश्यों और कार्यक्षेत्र की ओर स्पष्टत: केंद्रित था। अध्यक्षीय भाषण ने कांग्रेस के प्रति पैदा होने वाली गलत धारणाओं को भी दूर करने की कोशिश की।

अध्यक्ष ने कांग्रेस के उद्देश्यों को साफतौर पर परिभाषित किया। उन्होंने उद्देश्यों का निम्नलिखित ढंग से उल्लेख किया:

- देश के लोगों के बीच मित्रता तथा आपसी मेल – मिलाप को बढ़ावा देना।
- प्रजाति, धर्ममत और प्रांतों के प्रति पैदा हुए सभी विद्वेषों को दूर करना।
- राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को संघटित करना
- शिक्षित वर्गों द्वारा तत्कालिक मुद्दों पर व्यक्त मतों को दर्ज करना और
- जनहित में उठाये जाने वाले कदमों का निर्धारण करना।

इन माँगों के अलावा अध्यक्ष ने ब्रिटिश शासन के द्वारा भारत को दिए कृपादानों का भी उल्लेख किया। उन्होंने यह आश्वासन दिया कि शिक्षित भारतीय, सरकार के प्रति पूरे निष्ठावान तथा शुभचिंतक हैं। उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया कि कांग्रेस के इस आयोजन का उद्देश्य सिर्फ अपने विचारों को शासनाधिकारियों के पास पहुँचाना है और इन लोगों को षड्यंत्रकारी और कृतघ्न कहना अनुचित है। उन्होंने ह्यूम के नेतृत्व को इसलिए स्वीकार किया क्योंकि भारत में ब्रिटिश समुदाय के ज्यादातर सदस्यों को शिक्षित भारतीयों पर भरोसा नहीं था। अन्त में अध्यक्ष ने सावधानीपूर्वक कांग्रेस के उद्देश्यों की चर्चा की।

इनकी मुख्य इच्छा यह थी कि सरकार के आधार को फैलाया जाना चाहिए। इस तरह की नीति न सिर्फ सरकार के लिए बल्कि लोगों के हित में भी सहायक होगी। यह इस बात को दर्शाता है कि कांग्रेस अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए सरकार में भागीदारी नहीं चाहती थी बल्कि इस संदर्भ में सारे भारतीयों के हितों के बारे में सोच रही थी। दरअसल सबसे अधिक गहराई से राष्ट्रीय एकता की आकांक्षा को ही व्यक्त किया गया था।

ब्रिटिश शासन के न्यायपूर्ण रवैये में कांग्रेस के नेताओं को असीम विश्वास था। वे अंग्रेजों को बाहर निकालने के संदर्भ में नहीं सोचते थे। वे सिर्फ यही चाहते थे कि भारतीय सरकार द्वारा अपनायी नीतियों का उद्देश्य भारतीय जनता की भलाई होनी चाहिए और यही उनके हितों की तरक्की का मतलब था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सरकार के संचालन में बड़ी भागीदारी चाहते थे। ऐसा प्रतिनिधित्व संस्थाओं के विकास और भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्ति देकर किया जा सकता था।

9.6.3 उपस्थिति

इस बात का जिक्र ही किया जाता है कि कांग्रेस में वकीलों का बोलबाला था। उदाहरण के लिए इतिहासकार अनिल सील का मानना है कि कांग्रेस के पहले अधिवेशन में आधे से ज्यादा (72 में 39) लोग वकील थे और आने वाले दशकों में भी एक तिहाई से ज्यादा प्रतिनिधि वकालत के पेशे से ही थे। पुराने रईस वर्ग के लोग जैसे राजाओं, महाराजाओं, बड़े जमीदारों और धनी व्यापारियों की अनुपस्थिति सुस्पष्ट थी। कृषक और मजदूर भी उसकी ओर आकर्षित नहीं हुए। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि वकीलों का प्रभुत्व था। लेकिन यह लगभग सभी राजनैतिक संगठनों और विधायिकाओं के बारे में कहा जा सकता है। भारत में शिक्षित भारतीयों के सामने भविष्य निर्माण के बहुत कम अवसर उपलब्ध होने के कारण ज्यादातर लोगों ने कानूनी पेशे को ही अपना लिया। पुराने कुलीन वर्ग कांग्रेस की सभा में भाग नहीं लेते थे क्योंकि उनमें नए उदार और राष्ट्रीय विचारों के कारण असुरक्षा की भावना पैदा हो गई थी। हालाँकि भारत के गरीबों की चर्चा काफी समय से कई नेताओं खासकर दादाभाई नौरोजी द्वारा की गयी थी परंतु आम जनता को आंदोलन के इस दौर में शामिल करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। जब कांग्रेस ने लोगों के हालात पर चर्चा शुरू की तब यह निश्चय किया गया कि पहला कदम प्रतिनिधि संस्थाओं के अधिकार की तरफ उठाना चाहिए। कांग्रेस द्वारा अपनाए तरीकों जैसे निवेदन पत्र देना, अपील करना तथा लेख चर्चा को देखा जाए तो ऐसा स्वाभाविक ही था।

9.6.4 कार्यवाही और प्रस्ताव

कांग्रेस की कार्यवाही काफी सुचारू और सफल ढंग से संचालित की जाती थी। प्रस्तावों को बड़ी कड़ी संसदीय प्रक्रिया के तहत विचार-विमर्श के बाद पारित किया जाता था। प्रत्येक प्रस्ताव को एक प्रांत के सदस्य द्वारा रखा जाता था और तब किसी दूसरे प्रांत के सदस्य द्वारा उसका अनुमोदन होता था और अन्य प्रातों के सदस्य उसका समर्थन किया करते थे। उनके द्वारा दिए भाषण काफी संयमित होते थे तथा ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी प्रदर्शित करते थे। इतिहासकार ब्रिटन मार्टिन (न्यू इंडिया : 1885, दिल्ली 1970) ने टिप्पणी की है कि कांग्रेस का पहला अधिवेशन एक नितांत व्यावसायिक मामला था जो कि उसी तरह के इंगलैंड और अमेरिका में होने वाले राजनैतिक संगठनों के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता था।

पहले कांग्रेस अधिवेशन ने नौ प्रस्ताव पास किए:

- पहले प्रस्ताव में भारतीय मसलों की छानबीन के लिए रायल कमीशन, जिसमें की भारतीयों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो, की नियुक्ति की माँग की गयी।
- दूसरे प्रस्ताव में सेक्रेट्री ऑफ स्टेट की भारतीय परिषद् की समाप्ति की माँग की गयी। कांग्रेस यह चाहती थी कि सेक्रेट्री ऑफ स्टेट सीधे तौर पर ब्रिटिश संसद के प्रति जिम्मेवार हो। यह माँग इस भावना पर आधारित थी कि ब्रिटिश जनता न्यायी और निष्पक्ष है और अगर उसे सही तरीके से सूचना दी जाये तो वे अपने सही रास्ते से भ्रमित नहीं होंगे।
- एक अन्य प्रस्ताव में विदेश नीति से संबंधित प्रस्ताव में ऊपरी बर्मा के विलय की भर्त्सना की गयी।

- अन्य प्रस्ताव संविधान और केंद्रीय तथा प्रांतीय विधायी परिषदों की कार्यवाही को उदारवादी बनाने, ब्रिटेन और भारत में एक ही साथ सिविल सेवा परीक्षा आयोजित करने तथा सेना परीक्षा आयोजित करने तथा सेना के खर्चे को कम करने से संबंधित थे।

अधिवेश समाप्ति से पहले कांग्रेस ने दो और निर्णय लिए:–

i) पहला यह था कि कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्तावों को देश के अन्य राजनैतिक संगठनों द्वारा सहमति का प्रयास होना चाहिये।

ii) दूसरा निर्णय अग अधिवेशन 28 दिसंबर 1886 के कलकत्ता में आयोजित करने से संबंधित था।

iii) यह निर्णय काफी महत्वपूर्ण हैं। ये इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि नेताओं ने कांग्रेस को एक पृथक घटना के रूप में नहीं परंतु एक आंदोलन की शुरूआत के रूप में देखा।

ऊपर की परिचर्चा में आपने देखा होगा कि सामाजिक सुधारों से संबंधित प्रश्न तक पूछे नहीं गए थे। कुछ सदस्यों ने इस प्रश्न पर विचार करने का दबाव भी डाला। लेकिन काफी बुनियादी मतभेदों के कारण ऐसा नहीं किया जा सका। हालाँकि कुछ सदस्यों ने कांग्रेस अधिवेशन की समाप्ति के तुरंत बाद उसी स्थान पर हुई जनसभा का फायदा उठाते हुए बाल-विवाह और जबरन वैधता जैसे कुछ मुद्दों पर विचार किया।

बोध प्रश्न 3

1 शिक्षित भारतीय समाज के किस वर्ग से आते थे? पंक्तियों में लिखें

.....

.....

.....

.....

.....

2 प्रथम अध्यक्ष द्वारा परिभाषित कांग्रेस के लक्ष्य और विषयों की एक सूची बनाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 प्रथम कांग्रेस द्वारा पारित चार प्रस्तावों का जिक्र करें

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.7 कांग्रेस की उत्पत्ति से संबंधित विवाद

चूँकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारत के इतिहास में अहम भूमिका निभायी है इसलिए यह स्वाभाविक था कि तत्कालीन और बाद के इतिहासकार इसकी स्थापना के कारण पर अपने-अपने विचार व्यक्त करें। सच तो यह है कि कांग्रेस की स्थापना के समय से ही इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। कई विद्वानों ने इस बात का पता लगाने की कोशिश की है कि यह किसी एक व्यक्ति अथवा कई लोगों अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों का प्रतिफल था। लेकिन सारे प्राप्त प्रमाण परस्पर विरोधी हैं। कांग्रेस की शुरूआत के 100 वर्ष बाद भी इतिहासकारों के बीच इस मुद्दे पर चर्चा जारी है। हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की व्याख्या निम्नलिखित वैकल्पिक सिद्धांतों द्वारा की जा सकती है "सरकारी षड्यन्त्र सिद्धांत, विशिष्ट वर्ग की प्रतिद्वन्द्विता तथा महत्व, अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता"

9.7.1 सरकारी षड्यंत्र सिद्धांत

अगर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किसी भारतीय द्वारा की गयी होती तो इसे एक स्वाभाविक तथा तार्किक रूप में स्वीकार कर लिया गया होता। परंतु, सच तो यह है कि अखिल भारतीय राजनैतिक संगठन की योजना को मूर्त और सुनिश्चित आकार एक अंग्रेज ए.ओ.ह्यूम नाम के व्यक्ति ने दिया जिसने कई विवादों को जन्म दिया है। ऐसा क्यों हुआ कि कांग्रेस की शुरूआत एक अंग्रेज द्वारा हुई? इसके अलावा, ह्यूम मात्र एक अंग्रेज ही नहीं बल्कि भारतीय सिविल सेवा में एक प्रशासनिक अधिकारी भी था। यह कहा जाता है कि नौकरी के उपरांत उसे कई ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों के बारे में पता चला जिनसे यह प्रमाणित होता था कि आम जनता के दुःखों और बुद्धिजीवी वर्ग के अलगाव ने काफी हद तक आक्रोश एकत्रित कर दिया था जो कि ब्रिटिश शासन के लिए खतरा पैदा कर सकता था। 1857 के महान् विद्रोह की यादें अभी भी ताजा थीं। इसके अलावा, ह्यूम ने खुद ही कहा था कि उसका उद्देश्य भारतीय आक्रोश को रोकने के लिए एक सुरक्षा कपाट (सेफ्टी वाल्व) का प्रबंध करना था जिससे अंग्रेजों के विरूद्ध किसी बड़े विद्रोह को रोका जा सके। बनर्जी के इस वक्तव्य ने कि ह्यूम डफरिन की सीधी सलाह से काम कर रहे थे और भी मजबूती प्रदान की। इन दो तथ्यों को एक साथ अध्ययन करने से यह तथ्य पैदा हुआ कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म एक सुनियोजित ब्रिटिश चाल से हुआ जिसका उद्देश्य शिक्षित भारतीयों के बीच पैदा हुए असंतोष को शांतिपूर्ण और संवैधानिक तरीके से निकास मिल सके और इस तरह राज के खतरे को टाला जा सके।

लेकिन इतिहासकारों ने अब इस विचार को स्वीकार करने से इंकार कर दिया है और इसके लिए कई कारण प्रस्तुत किए गए हैं। सरकारी निर्णयों में ह्यूम के प्रभाव को काफी बढ़ा चढ़ा कर रखा गया है। गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन को लिखे गुप्त पत्रों से जो अब उपलब्ध है यह प्रकट होता है कि ब्रिटिश पदाधिकारियों के द्वारा ह्यूम के विचारों को बहुत गंभीरता से नहीं लिया जाता था। इसके अतिरिक्त ह्यूम का उद्देश्य शिक्षित भारतीयों के असंतोष के निकास के लिए "सुरक्षा कपाट" (सेफ्टी वाल्व) बनाने मात्र से कहीं अधिक तथा वास्तविक और निष्कपट था। उन्हें भारतीयों के प्रति एक मानवीय सहानुभूति भी थी और वह कई वर्षों तक कांग्रेस को एक मजबूत और सक्रिय संगठन बनाने के अथक प्रयास में लगे रहे। 1885 से 1906 तक वह कांग्रेस के महासचिव रहे और इसकी गतिविधियों के दिशा निर्देशन, निश्चित आकार, सामंजस्यता तथा अभिलेखन में योगदान देते रहे। ह्यूम के लिए कहीं भी भारतीय जनता के पुनरुद्धार के लिये कार्य करने में तथा प्रबुद्ध साम्राज्यवादी विचारों में कोई असंगति नहीं थी और एक ही समय में वह यह विश्वास करते थे कि प्रबुद्ध दूरस्थ साम्राज्यवाद भारतीय जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए लाभदायी हो सकता था। अंततः अन्य घटनाओं के कारण जिनकी चर्चा की जा चुकी है, एक अखिल भारतीय संगठन की स्थापना की आवश्यकता महसूस की गयी और इस दिशा में कुछ प्रयास किए भी जा चुके थे। ह्यूम किसी भी मायने में सामाजिक और राजनैतिक वातावरण में परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेवार नहीं ठहराये जा सकते थे जो कि राष्ट्रीय संगठन की नींव और टिके रहने को वास्तविक रूप में यथार्थ बना सके।

कांग्रेस के निर्माण को किसी एक व्यक्ति का ही प्रयास नहीं माना जा सकता है बल्कि इसके कई अन्य कारण थे जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। ह्यूम सिर्फ एक व्यापक और सचेतन मध्यम वर्ग की आकांक्षाओं की पूर्ति के माध्यम थे जो देश के प्रशासन के संचालन में ब्रिटिश अधिकारियों के साथ हिस्सेदारी निभाने के लिए उत्सुक था।

इस संदर्भ में एक प्रश्न उठता है कि शिक्षित भारतीयों ने ह्यूम का नेतृत्व क्यों स्वीकार किया। यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि उनमें से कुछ लोग अपने क्षेत्र में करीब एक दशक से काफी सक्रिय थे। एक कारण यह भी हो सकता है कि अंग्रेज होने के नाते वे क्षेत्रीय पक्षपात से स्वतंत्र थे। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यादा महत्वपूर्ण नेता सावधानीपूर्वक आगे बढ़ना चाहते थे ताकि उन्हें आधिकारिक रोष का सामना न करना पड़े।

भूतपूर्व ब्रिटिश सिविल अधिकारी के कारण आधिकारिक क्षेत्रों में विद्वेष पैदा होने की कम संभावना थी। भारतीय नेता अच्छी तरह जानते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में क्या संभव था। ऐसी स्थिति में वे अपने विचारों को शासकों के दिमाग में बिना कोई संदेह पैदा किए संघटित और व्यक्त करना चाहते थे। अपने भाषण में अध्यक्ष ने इन बातों का साफ जिक्र किया। उन्होंने कहा "कई अवसरों पर कई सज्जनों ने जो वक्तव्य दिए हैं उन्हें सोच विचार कर कांग्रेस की भर्त्सना करनी चाहिए थी न कि सिर्फ ये समझ लेना चाहिए कि यह षड्यंत्रकारियों और गद्दारों का घोंसला है।" अगर इसका संस्थापक एक अंग्रेज था तो द्वेष होने की संभावना कम थी। इसी संदर्भ में महान नेता जी.के. गोखले का वक्तव्य अक्सर उद्धृत किया जाता है:

"कोई भी भारतीय, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की शुरूआत नहीं कर सकता था...अगर कांग्रेस का संस्थापक एक महान अंग्रेज और विशिष्ठ पूर्व अधिकारी नहीं होता तो उन दिनों जिस नज़र से राजनैतिक आंदोलनों को देखा जाता था, अधिकारी किसी न किसी आधार पर आंदोलन को दबा देते।"

9.7.2 भारतीय विशिष्ट वर्ग की प्रतिद्वन्द्विता और महत्वकांक्षाएँ

पिछले दो दशकों में कई इतिहासकारों खासकार कैम्ब्रिज के विद्वानों ने कहा है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कुछ मायनों में राष्ट्रीय नहीं थी बल्कि यह स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा चलाया गया आंदोलन था और यह उनके आर्थिक हितों और संकीर्ण विवादों की पूर्ति के लिए साधन के रूप में कार्य करता था। (इन विचारों को व्यक्त करने वाले सबसे ज्यादा, प्रभावशाली इतिहासकार अनिल सील हैं) लेकिन इस विचार को भारत में चुनौती दी गई है। यह बात सच है कि अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए हर कोई शक्ति पाना चाहता है। लेकिन कई अन्य व्यापक कारणों को नकारा नहीं जा सकता। इस तरह की विवेचना रंग-भेद से ठेस लगी भावनाओं, देशवासियों की उपलब्धियों पर गौरवान्वित होने की भावना और इस बात का बोध होना कि उनके देशवासियों के हितों की पूर्ति भारत और ब्रिटेन के संबंधों के पुनर्गठन से हो सकेगी की उपेक्षा करती है। इस तरह की भावना विकसित हो रही थी कि भारतीय समान संस्कृति और मौलिक आर्थिक और राजनैतिक हित के साझेदार हैं। विदेशी शासन ने लोगों की समान आकांक्षाओं और कष्टों को और बढ़ा दिया था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक और कई अन्य संगठन राष्ट्रवादी दृष्टि के आदर्शवाद से प्रेरित थे जिसके कारण भारतीय राष्ट्र के हित में स्वयं, परिवार, जाति तथा समुदाय के हितों को आधीनीकरण कर दिया गया। वे राष्ट्रीय दृष्टि को वास्तविकता में बदलने के प्रयास में नए रास्तों की खोज में लगे रहे। कांग्रेसी नेताओं की पहली पीढ़ी इस बात से हमेशा सचेत रही कि वे ब्रिटिश सरकार के द्वारा शासित किए जाते हैं जिसने कि भारत में कई उदार मूल्यों को लाया और उनसे पूरी तरह संबंध विच्छेद कर लेना देशवासियों के हित में नहीं हो सकता है। दूसरी तरफ वे ऐसी संरचना बनाने का रास्ता ढूंढ रहे थे जो कि उनके देशवासियों के हितों की पूर्ति कर सके।

9.7.3 अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता

व्यापक संदर्भ में देखने पर प्रतीत होता है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना विदेशी शासन की लंबी अवधि के परिणामस्वरूप पैदा हुई विद्यमान राजनैतिक और सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों की ही प्रतिक्रिया थी। जैसा कि हमने देखा है कि 1880 दशक के दौरान एक राष्ट्रीय संगठन बनाने का विचार काफी हद तक रंगरूप ले चुका था। दरअसल 1885 के अंतिम दस दिनों में करीब पाँच सम्मेलनों का आयोजन देश के विभिन्न भागों में किया गया था। मद्रास महाजन सभा ने अपना द्वितीय वार्षिक सम्मेलन 22 से 24 दिसंबर तक आयोजित किया। इसे ऐसे वक्त किया गया ताकि सभा के सदस्य पूना में होने वाली कांग्रेस में सम्मिलित हो सकें। इंडियन एसोसिएशन द्वारा द्वितीय भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन कलकत्ता में आयोजित किया गया। 1885 के दिसंबर के शुरू में जब पूना में सम्मेलन बुलाने की योजना की घोषणा की गयी तो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को अपना सम्मेलन स्थगित करने की राय दी गयी। लेकिन उन्होंने इस स्थिति में ऐसा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। 1886 में इसका विलय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में हो गया। इसी अवधि में यूरोपियों द्वारा जबलपुर में तथा प्रयाग सेन्ट्रल हिन्दू समाज द्वारा इलाहाबाद में दो भिन्न सम्मेलन आयोजित किए गए। राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षित वर्ग के आविर्भाव, उनके द्वारा व्यक्त विचारों और संगठनात्मक विकासों के द्वारा राष्ट्रीय संस्था का निर्माण लगभग अवश्यम्भावी हो चुका था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस शिक्षित वर्ग के राजनैतिक उद्देश्यों के लिए साथ-साथ काम करने की आवश्यकता की जागरूकता के परिणाम का परिणाम का प्रतिधित्व करती थी। यह राजनैतिक विचारों के विकास की एक लंबी प्रक्रिया तथा 1830 के दशक से शुरू हुए संगठन की प्रक्रिया का ही परिणाम था।

यह ध्यान देने वाली दिलचस्प बात है कि तत्कालीन भाग लेने वाले और पर्यवेक्षकों ने दो बातों के प्रति अपनी जागरूकता दिखायी। एक बात यह थी कि वे लोग इतिहास बना रहे थे और दूसरी कि कांग्रेस राष्ट्रत्व की भावना के विकास का सूचक बन गयी थी। इतिहास के निर्णय ने उनके विचारों की पुष्टि कर दी है।

बोध प्रश्न 4

1 सेफ्टी वाल्व सिद्धांत से आप क्या समझते हैं? करीब 100 शब्दों में लिखो

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 कांग्रेस की उत्पत्ति से संबंधित ऊपर दिये गए सिद्धांतों में आप कौन सा सिद्धांत स्वीकार्य पाते हैं और क्यों?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.8 सारांश

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में एक नए युग की शुरूआत हुई जिसने कि मात्र 60 वर्षों की अवधि में राष्ट्र की स्वतंत्रता, संप्रभुता तथा आत्म – निर्भरता के सपनों को पूरा होते हुए देखा। यह भारतीय लोगों के बीच बन रही एकता की भावना का स्पष्ट सूचक था। यह सच है कि शुरू में कांग्रेस एक व्यवस्थित राजनैतिक संगठन नहीं था। उसकी न तो कोई नियमित सदस्यता थी और न ही कोई केन्द्रीय कार्यालय। इसके विचार भी काफी नर्म तथा संतुलित थे। लेकिन किसी ने सही ही कहा है कि महान संस्थाओं की हमेशा ही छोटी शुरूआत होती है।

9.9 शब्दावली

मुफस्सिल : जिले का एक सबडिविजन

प्रेसीडेंसी शहर : शुरू के ब्रिटिश अधिकृत केन्द्र जैसे कलकत्ता मद्रास बम्बई

पुनर्जागरण : 14वीं और 16वीं शताब्दियों के बीच पश्चिमी यूरा यूरोप में होने वाली सांस्कृतिक जागरूकता और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया

धर्म सुधार : आधुनिकीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम पश्चिमी यूरोप में 15वीं शताब्दी में पुनर्जागरण के बाद

9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 खंड 9.2 पढ़ो

2 i)c, ii)a, iii)b

3 i) × ii) ✓ iii) ✓ iv) ×

बोध प्रश्न 2

1 उपभाग 9.4.1 देखो

2 i) ✓ ii) × iii) × iv) ✓

3 उपभाग 9.4.2 देखो

बोध प्रश्न 3

1 अपना उत्तर भाग 9.5 से लिखो

2 उपभाग 9.6.2 देखो

3 उपभाग 9.6.4 देखो

बोध प्रश्न 4

1 उपभाग 9.7.1 देखो

2 भाग 9.7 को पूरा पढ़ो और अपना उत्तर लिखो।

इकाई 10 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस: नरम दल और गरम दल

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 कांग्रेस का संयोजन
  10.2.1 मध्यवर्गीय संगठन
  10.2.2 कार्य प्रणाली
10.3 नरम दल (उदारवादी)
  10.3.1 मांगे तथा कार्यक्रम
  10.3.2 कार्य का मूल्यांकन
10.4 गरम दल
  10.4.1 गरमदल का सैद्धान्तिक आधार
  10.4.2 गरम दल की कार्रवाई
10.5 नरम दल तथा गरम दल: एक विश्लेषण
  10.5.1 मतभेद
  10.5.2 व्यक्तित्वों की टकराहट
  10.5.3 खुली लड़ाई और फूट
  10.5.4 फूट के परिणाम
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विकास और प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेतृत्व की भूमिका पर विचार करेंगे। इसे पढ़ने के बाद आप:

- कांग्रेस के प्रारंभिक स्वरूप का वर्णन कर सकेंगे।
- यह जान सकेंगे कि कांग्रेस में किस प्रकार नरम दलीय और गरम दलीय, दो विपरीत दृष्टिकोण उभर कर आए।
- यह जान सकेंगे कि, दोनों दलों के मध्य मतभेद के कौन-कौन से बिंदु थे।
- यह समझ सकेंगे कि, नरम दल और गरम दल के आपसी मतभेदों ने किस प्रकार सन् 1907 में कांग्रेस के विभाजन की परिस्थितियाँ उत्पन्न की।
- यह जान सकेंगे कि, किस प्रकार इस फूट ने कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आंदोलन को प्रभावित किया।

10.1 प्रस्तावना

इकाई 9 में आप पढ़ चुके हैं कि किस प्रकार तथा किन कारणों व परिस्थितियों में सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। कांग्रेस के घोषित उद्देश्य थे:

- देश के विभिन्न भागों के राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के मध्य मैत्रीपूर्ण संबंधों का विकास,
- जाति, धर्म और क्षेत्र की सीमाओं में बंधे बिना राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास तथा उसका सुदृढ़ीकरण, तथा
- देश के कल्याण के लिए जनमत को जागृत और संगठित करना।

प्रारंभिक वर्षों, 1885-1905 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विकास हुआ। इस काल में कांग्रेस पर उदारवादी नेताओं का प्रभुत्व रहा। धीरे-धीरे एक ऐसा दल उभरकर आया जो कि उदारवादी नीतियों से सहमत नहीं था और जिसकी आस्था आक्रामक कार्यक्रम में थी। अपने आक्रामक दृष्टिकोण के कारण यह दल गरम दल कहलाया।

ब्रिटिश शासन का विरोध करने के लिए दोनों ही दल भिन्न-भिन्न राजनैतिक तरीकों में विश्वास करते थे। उनके पारस्परिक मतभेदों के कारण ही सन् 1907 में कांग्रेस का विभाजन हुआ। इस इकाई में हम कांग्रेस के इस आरंभिक काल का अध्ययन करेंगे और यह भी देखेंगे कि किस प्रकार कांग्रेस के विभाजन ने राष्ट्रीय आंदोलन को प्रभावित किया।

10.2 कांग्रेस का संयोजन

सन् 1885 में बंबई में कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ और सन् 1886 में जब इसका दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में हुआ तब तक इसका स्वरूप राष्ट्रीय हो गया था। सन् 1885 में कुल 72 प्रतिनिधियों ने कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया था, जबकि 1886 के अधिवेशन में कुल प्रतिनिधियों की संख्या 439 थी। इन प्रतिनिधियों को विभिन्न स्थानीय संगठनों व इकाइयों ने चुनकर भेजा था। इस अधिवेशन में यह निर्णय लिया गया था कि कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन देश के किसी भी भाग में हुआ करेगा।

10.2.1 मध्यवर्गीय संगठन

चूंकि कांग्रेस पूरे देश का प्रतिनिधित्व करती थी इसलिए इसमें सभी जातियों, धर्मों, पेशों व्यवसायों तथा सभी प्रांतों के लोगों का समावेश होना आवश्यक था। लेकिन इस प्रकार की व्यापक परिभाषा या सतही वर्णन इसका सही स्वरूप बताने में असमर्थ है। वास्तव में इसमें विभिन्न जातियों, धर्मों, व्यवसायों, पेशों तथा प्रांतों के लोगों का प्रतिनिधित्व बहुत असमान अनुपात में था। विभिन्न वर्गों में, शिक्षित मध्यम वर्ग के लोग ही इसमें सबसे ज्यादा थे। विभिन्न पेशों में, सबसे ज्यादा वकील इसके सदस्य थे। जाति की दृष्टि से ब्राह्मणों की संख्या इसमें अधिक थी। जैसा कि अनिल सील ने अपनी पुस्तक द इमरजेन्स ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म (कैम्ब्रिज, 1968) में लिखा है, प्रांतों में बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास प्रेसिडेंसियों ने ही इसमें प्रमुख रूप से भाग लिया था। आम आदमी इससे बाहर ही रहा। इसी प्रकार भूमि से जुड़ा वर्ग इससे विलग रहा। इस तरह कुल मिलाकर कांग्रेस मध्यवर्गीय संस्था ही रही। यदि हम कांग्रेस के प्रारंभिक अधिशनों में सम्मिलित प्रतिनिधियों की संख्या का परीक्षण करेंगे तो इस कथन की पुष्टि हो जाएगी

तालिका 1
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्यों का संयोजन: 1885-1888

अधिवेशन का स्थान व वर्ष	वकील	पत्रकार	डॉक्टर	अन्य	योग
बंबई1885	39	14	01	18	72
कलकत्ता 1886	166	40	16	212	434
मद्रास 1887	206	43	08	350	607
इलाहाबाद 1888	435	73	42	698	1248

जैसा कि तालिका-1 से स्पष्ट है, कांग्रेस के पहले अधिवेशन में आधे सदस्य वकील थे, और आगे भी कांग्रेस के अगले तमाम अधिवेशनों में वकीलों का प्रतिनिधित्व कुल सदस्यों की संख्या के तिहाई से अधिक रहा। पत्रकारों, डॉक्टरों तथा अध्यापकों की संख्या भी काफी रही। पहले अधिवेशन में केवल दो अध्यापक थे परन्तु चौथे अधिवेशन में उनकी संख्या बढ़कर 50 हो गई थी। बहुत से ऐसे भी थे जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इसमें भाग नहीं लिया, किंतु इस आंदोलन के प्रति उनकी भी सहानुभूति थी। यद्यपि पुरातन आभिजात्य वर्ग (जमींदार, जागीरदार व राजा आदि) की जन-कार्यों में दिलचस्पी नहीं थी फिर भी कांग्रेस ने उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया। यह कदम इसलिए उठाया गया था क्योंकि राजाओं और आभिजात्य वर्ग का समर्थन इस बात का परिचायक होता कि ब्रिटिश भारत तथा भारतीय राजाओं के अधीन भारत में एकता है। इससे ब्रिटेन के कंजर्वेटिव (रूढ़िवादी) पर भी अच्छा प्रभाव पड़ सकता था और आंदोलन को चलाने के लिए आवश्यक पूंजी भी उस वर्ग से प्राप्त हो सकती थी।

10.2.2 कार्य प्रणाली

पहले के कांग्रेस जनों को शांतिपूर्ण एवं संवैधानिक आंदोलन की प्रभावोत्पादकता में पूर्ण विश्वास था। प्रेस तथा वार्षिक अधिवेशन का मंच उनके प्रचार के माध्यम थे।प्रेस के माध्यम से ही पूरे साल कांग्रेस का प्रचार कार्य किया जाता था। अनेक नेता अंग्रेजी या भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों के संपादक थे और वे अपनी लेखनी का प्रभावपूर्ण प्रयोग करते थे। प्रतिवर्ष अधिवेशन का आयोजन कांग्रेस के प्रचार का दूसरा तरीका था। इन सभाओं में सरकार की नीतियों पर विचार-विमर्श किया जाता था तथा प्रभावशाली ढंग से प्रस्ताव पारित किए जाते थे। इन वार्षिक अधिवेशनों ने मध्यवर्गीय शिक्षित समुदाय तथा सरकार दोनों का ही ध्यान आकर्षित किया। लेकिन सबसे बड़ी कमी यह थी कि यह अधिवेशन साल में एक बार सिर्फ तीन दिन के लिए ही होता था। दो अधिवेशनों के अंतराल में काम करते रहने वाला इसका अपना कोई संगठन नहीं था।

कांग्रेसियों का ब्रिटिश राष्ट्र की आधारभूत न्यायप्रियता और सदाशयता में दृढ़ विश्वास था। वे इस विश्वास को लेकर कार्य कर रहे थे कि यदि इंग्लैंड में अंग्रेजों तक भारत की दशा की सही तस्वीर पहुँच जाती है तो सब कुछ ठीक हो जाएगा। वे समझते थे कि नागरिकों और उनके अधिकारों के बीच नौकरशाही आड़े आ रही है।

इसलिए उनका उद्देश्य भारतीय जनता को जागृत करना था ताकि वो अपने अधिकारों को समझ सकें। यह (कांग्रेस) ब्रिटिश जनता को भारतीयों की कठिनाइयों की जानकारी भी देना चाहती थी और उसे भारत के प्रति अपने कर्त्तव्य की याद भी दिलाती थी। अंग्रेजों तक भारत की दुर्दशा की सही तस्वीर पेश करने के इरादे से प्रमुख भारतीय नेताओं के प्रतिनिधि मण्डल ब्रिटेन भेजे गए।

सन् 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति की स्थापना हुई। अपने प्रचार कार्य के लिए इस समिति ने 1890 में अपने मुख पत्र 'इण्डिया' को शुरू किया।

ब्रिटिश सत्ता तक भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही दादाभाई नौरोजी ने अपनी जिंदगी का एक बड़ा हिस्सा इंग्लैंड में बिताया। वे ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स (ब्रिटिश संसद के निम्न सदन) के लिए चुने गए और वहाँ उन्होंने भारत के शुभचिंतकों का एक प्रभावशाली दल गठित किया।

बोध प्रश्न 1

1 कांग्रेस की स्थापना के समय के तीन प्रमुख उद्देश्यों को लिखिए।

1 .....
2 .....
3 .....

2 क्या कांग्रेस अपने प्रारंभिक वर्षों में एक मध्यवर्गीय संस्था थी? आठ पंक्तियों में इसका उत्तर लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

10.3 नरम दल (उदारवादी)

अपने पहले चरण (1885-1905) में कांग्रेस का कार्यक्रम बहुत सीमित था। उसकी माँगे हल्के फुल्के संवैधानिक सुधारों, आर्थिक सहायता, प्रशासकीय पुनर्संगठन तथा नागरिक अधिकारों की सुरक्षा तक सीमित थी

10.3.1 माँगे तथा कार्यक्रम

उसकी मुख्य माँगें इस प्रकार थीं:

- प्रांतीय कांउसिलों का गठन,
- इंडियन सिविल सर्विस (आई.सी.एस.) की परीक्षा का इंग्लैंड के साथ ही साथ भारत में भी आयोजन,
- न्यायपालिका का कार्य पालिका से पृथक्कीकरण,
- आर्म्स एक्ट को रद्द करना,
- सेना में भारतीयों की कमीशन्ड ऑफीसरों (सैकिण्ड लेफ्टिनेन्ट तथा उससे ऊपर के पद) के पद पर नियुक्ति,
- सैनिक व्यय में कमी, तथा
- भारत के सभी भागों में भूमि के स्थायी बंदोबस्त का प्रचलन

कांग्रेस ने सरकार द्वारा उठाए गए सभी महत्वपूर्ण कदमों और नीतियों पर अपनी राय दी और उसकी गलत नीतियों की आलोचना की तथा उनका विरोध किया।

इन माँगों को हर साल दोहराया गया किंतु सरकार ने इन पर शायद ही कभी ध्यान दिया हो। पहले बीस वर्षों (1885-1905) में कांग्रेस के कार्यक्रम में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। उसकी मुख्य माँगें लगभग वही बनी रही जो उसके पहले तीन या चार अधिवेशनों में पेश की गई थीं।

कांग्रेस का यह काल नरम दल का युग (उदारवादियों का युग) कहलाता है। इस काल में नेतागण अपनी माँगें बड़े संयत रूप से रखते थे। वे सरकार को नाराज नहीं करना चाहते थे और इस बात का भी खतरा मोल नहीं लेना चाहते थे कि सरकार नाराज होकर उनकी गतिविधियों का दमन करे। सन् 1885 से सन् 1892 तक उनकी मुख्य माँगें यही थीं कि, विधान परिषदों का विस्तार व सुधार हो, कांउसिल के सदस्यों में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हों, तथा इन काउंसिलों के अधिकारों में वृद्धि हो।

ब्रिटिश सरकार को सन् 1892 का इण्डियन काउंसिल एक्ट पारित करने के लिए बाध्य होना पड़ा, लेकिन इस एक्ट की धाराओं से वह कांग्रेस के नेताओं को संतुष्ट नहीं कर सकीं। कांग्रेस के नेताओं ने यह माँग की कि भारतीय धन (सार्वजनिक क्षेत्र के) पर भारतीय नियंत्रण हो, तथा उन्होंने अमरिकी स्वतंत्रता संग्राम के समय दिए गए नारे, 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं' को भी दुहराया। सन् 1905 में कांग्रेस ने स्वराज्य या भारतीयों के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन की माँग की। स्वशासन की माँग स्वायत्त शासित आस्ट्रेलिया और कनाडा के नमूने पर की गई थी। स्वशासन की यह माँग पहली बार जी.के. गोखले ने सन् 1905 (बनारस) में रखी थी और बाद में दादाभाई नौरोजी ने सन् 1906 (कलकत्ता) में इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में रक्खा था।

भारत का आर्थिक दोहन

इस काल में राष्ट्रवादियों ने भारत के आर्थिक दोहन के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटिश शासन को ऐसे अनवरत और प्रतिदिन होने वाले विदेशी आक्रमण के रूप में देखा जो कि धीरे-धीरे भारत का विनाश करता जा रहा था। राष्ट्रवादी मत अंग्रेजों को भारतीय उद्योग धंधों के विनाश के लिए जिम्मेदार ठहराता था। भारत की निर्भरता का निदान आधुनिक उद्योग के विकास से ही संभव था। सरकार इसके विकास में तटकर विषयक संरक्षण की नीति अपना कर तथा प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता व रियायतें देकर सहायक हो सकती थी।

हालाँकि, उन्होंने जब यह देखा कि सरकार इस विषय में कोई कार्य नहीं कर रही है तो उन्होंने भारतीय उद्योग के विकास के एकमात्र साधन के रूप में स्वदेशी की अवधारणा का, अर्थात् भारत में उत्पादित वस्तुओं के प्रयोग तथा ब्रिटिश सामान के बहिष्कार का प्रचार किया। उन्होंने माँग की:

- भारत के आर्थिक दोहन को समाप्त किया जाए,
- किसानों पर कर का बोझा कम करने के लिए भू-राजस्व को कम किया जाए,
- बागानों के मजदूरों के काम करने की स्थितियो का सुधारा जाए,
- नमक कर समाप्त किया जाए, तथा
- भारतीय शासन के अत्यधिक सैनिक व्यय में कमी की जाये।

उन्होंने प्रेस तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्व को पूरी तरह समझा और इस पर प्रतिबंध लगाने के हर प्रयास की भर्त्सना की। वास्तव में, प्रेस पर लगाए गए प्रतिबंधों को हटाने के लिए किया जाने वाला आंदोलन राष्ट्रवादी स्वतंत्रता आंदोलन का एक अभिन्न अंग बन गया। इन माँगों की प्रगतिशीलता, तथा इनका भारतीय मध्यम वर्ग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से सीधा संबंध, यह स्पष्ट करता है कि प्रारंभिक वर्षों में कांग्रेस, मुख्य रूप से एक मध्यवर्गीय संस्था थी।

कांग्रेस के अधिकांश नेताओं ने आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही कारणों से व्यापक स्तर पर रेलवे, बागानों तथा उद्योगों में विदेशी पूँजी के लगाए जाने का विरोध किया, साथ ही उन्होंने सरकार द्वारा इन क्षेत्रों में विदेशी पूँजी लगाए जाने के लिए दी गई विशेष सुविधाओं का भी विरोध किया। सेना तथा नागरिक सेवाओं (सिविल सर्विस) पर किए जाने

वाले व्यय की आलोचना करके अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन के औचित्य को ही चुनौती दे डाली। भू-राजस्व, तथा कर नीतियों की भर्त्सना करके उन्होंने ब्रिटिश प्रशासन के वित्तीय आधार को दुर्बल करने का प्रयास किया। एशिया तथा अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के लिए भारतीय सेना और भारतीय राजस्व के उपयोग को उन्होंने आर्थिक शोषण का एक और उदाहरण बताया। उनमें से कुछ ने तो ब्रिटिश शासन का कुल आर्थिक भार भारतीय राजस्व पर लादने के औचित्य पर भी आपत्ति की। आर्थिक दोहन के सिद्धांत के रूप में उन्होंने जनता के समक्ष विदेशी शोषण का एक प्रबल प्रतीक प्रस्तुत किया।

भारतीय नेतागण छुटपुट क्षेत्रों में आर्थिक प्रगति के बजाय देश के समग्र आर्थिक विकास के लिए चिन्तित थे। उनके लिए सबसे बड़ा सवाल भारत की आर्थिक खुशहाली था। विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति को इसी आधार पर आँकना था कि उससे देश के आर्थिक विकास में कितनी सहायता पहुँची। यहाँ तक कि गरीबी की समस्या को भी उत्पादन में कमी और आर्थिक पिछड़ेपन के रूप में देखा गया।

राष्ट्रवादी नेताओं की इस बात के लिए तारीफ की जाएगी कि शहरी, सुशिक्षित मध्य वर्ग से सम्बद्ध होते हुए भी वे केवल अपने वर्ग के हितों के लिए ही नहीं सोचते थे। उनका दृष्टिकोण व्यापक व आम जनता की भलाई का था न कि संकुचित और संकीर्ण स्वार्थ सिद्धि का। उनकी आर्थिक नीतियाँ अवसरवादी मध्यवर्गीय संकुचित दृष्टिकोण से ऊपर थी।

आर्थिक माँगों की प्रकृति

हमने पहले भी कहा है कि कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं की राजनैतिक माँगें यद्यपि बहुत सीमित थीं पर उनकी आर्थिक मांगे इस क्षेत्र में बुनियादी परिवर्तन चाहती थीं। सैद्धांतिक रूप से भारतीय नेताओं ने साम्राज्यवाद की विरोधी आर्थिक नीतियों का समर्थन किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारत और इंग्लैंड के मध्य, तत्कालीन आर्थिक संबंधों में मूलभूत परिवर्तन किया जाए। उन्होंने विदेशी शासकों द्वारा भारत को कच्चा माल मुहैया करने वाले देश और ब्रिटिश उत्पादकों की मण्डी बनाए जाने के प्रयासों का, घोर विरोध किया। उन्होंने सरकार की सीमा-शुल्क, व्यापार, संचार तथा कर नीति की आलोचना की। इन्हें भारतीय उद्योग के विकास में सहायक होने के बजाए बाधक माना गया।

ब्रिटिश राज की आर्थिक बुनियाद की यह चुनौतीपूर्ण विश्लेषणात्मक आलोचना, प्रारंभिक कांग्रेस नेताओं द्वारा की गई देश की महान सेवा थी।

10.3.2 कार्य का मूल्यांकन

कांग्रेस द्वारा रखी गयी माँगों में चाहे जो भी कमियाँ रही हों, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह सच्चे अर्थों में एक राष्ट्रीय संस्था थी। इसके कार्यक्रम में ऐसी कोई भी बात नहीं थी जो किसी वर्ग विशेष के हितों के विरुद्ध हो। इसके दरवाजे सभी वर्गों और समुदायों के लिए खुले थे। यह कहा जा सकता है कि यह एक राजनैतिक दल ही नहीं था बल्कि एक समग्र आंदोलन था।

ब्रिटिश विद्वेष

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का राजनैतिक स्वर (लहजा) भले ही नम्र रहा हो, लेकिन उल्लेखनीय है कि कांग्रेस के चौथे अधिवेशन से सरकार ने इसके प्रति विद्वेषपूर्ण रवैया अपना लिया था। समय गुजरता गया लेकिन कांग्रेस को सरकार से कुछ खास हासिल नहीं हुआ। अंग्रेजों ने कांग्रेस विरोधी तत्वों को बढ़ावा दिया। उदाहरण के लिए, उन्होंने कांग्रेस के विरुद्ध अलीगढ़ आंदोलन को प्रोत्साहन दिया। उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम वर्षों में, लार्ड कर्जन के काल में कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण बहुत शत्रुतापूर्ण हो गया। उसकी (कर्जन की) सबसे बड़ी तमन्ना यह थी कि वह कांग्रेस के शांतिपूर्ण अवसान में मदद करे। लेकिन उसके द्वारा उठाए गए कदमों ने उल्टे राष्ट्रवादियों के असंतोष को और भड़का

दिया। उसने एक तानाशाह का तरीका अपनाते हुए विश्वविद्यालयी शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण रखना चाहा और बंगाल के विभाजन की घोषणा कर दी। इसके फलस्वरूप पूरे देश में राष्ट्रीय जागरण की प्रबल लहर दौड़ पड़ी। उसके इन कार्यों ने राष्ट्रीय जागरण को प्रोत्साहित किया।

इस काल में नरम दल (उदारवादियों) के विषय में यह आम धारणा बन गई थी कि वे राजनैतिक भिक्षुक हैं जोकि याचिकाओं और प्रार्थनाओं के द्वारा अंग्रेज सरकार से छोटी-मोटी रियायतों की भीख माँगते रहते हैं। जैसा कि आप पहले भी पढ़ चुके हैं, नरम दल (उदारवादियों) ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नाजुक दौर में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

वास्तव में नरम दल (उदारवादियों) की विचारधारा का विकास उस परंपरा का परमोत्कर्ष था जो राजा राममोहन राय से प्रारंभ हुई थी, जिन्होंने समकालीन यूरोप की उदारवादी, बौद्धिक प्रवृत्ति का अनुगमन किया था। उनके द्वारा प्रस्तुत सुधारों के विचार ने ही आगे चलकर शुरूआत के वर्षों में, कांग्रेस की माँगों का आधार उपलब्ध किया। राजा राममोहन राय की ही भाँति कांग्रेस के प्रारंभिक नेता भी ब्रिटिश प्रशासन की उपस्थिति राजनैतिक प्रगति के लिए आवश्यक समझते थे। स्वाभाविक रूप से उनकी भाषा संयत थी, और उनकी आकाक्षाएँ सीमित थीं। लेकिन वक्त के साथ-साथ नरम दल (उदारवादियों) ने अपना दृष्टिकोण भी बदलना शुरू कर दिया। सन् 1905 तक गोखले स्वशासन को लक्ष्य बताने लगे और दादाभाई नौरोजी ने सन् 1906 में 'स्वराज' को कांग्रेस का लक्ष्य माना।

इसके बाद भी नरम दल कांग्रेस में गरम दल के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण संकट में पड़ गया। ब्रिटिश सत्ता को भी उसकी सदाशयता पर संदेह होने लगा। राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने वालों में युवा वर्ग को गरम दल आकर्षित कर रहा था। नरम दल अपनी सदाशयता, सरकार के प्रति निष्ठा और देश-भक्ति के बावजूद ब्रिटिश नौकरशाही के दाँवपेंचों के समक्ष प्रभावहीन हो गया। इस बदली हुई परिस्थिति में गरम दल ने कांग्रेस पर अपना प्रभाव अच्छी तरह से स्थापित कर लिया और वह कांग्रेस की गतिविधियों का केंद्र बन गया।

बोध प्रश्न 2

1 सन् 1885-1905 के मध्य कांग्रेस की पाँच मुख्य माँगें लिखिए।

1 .....
2 .....
3 .....
4 .....
5 .....

2 प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश राज की आर्थिक नीतियों की क्या समीक्षा की थी?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

10.4 गरम दल (उग्र दल)

भारतीय राष्ट्रीय मंच पर बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में उग्रवाद का उदय अचानक नहीं हो गया था। वास्तव में अप्रत्यक्ष रूप से सन् 1857 के विद्रोह से ही, धीरे-धीरे इस विचारधारा का विकास होने लगा था।

10.4.1 गरम दल का सैद्धान्तिक आधार

गरम दल के अनुसार सन् 1857 के विद्रोह के राष्ट्रवादी उद्देश्य स्वधर्म तथा स्वराज की स्थापना थे। उदारवादियों (नरम दल) ने जो बुद्धिवाद और पाश्चात्य आदर्शों को अपनाया था, उसके कारण वे भारत में जनसाधारण से बहुत दूर चले गए थे। इसीलिए अपने उच्च आदर्शों के बावजूद वे जनसाधारण पर अपना प्रभाव जमाने में असफल रहे। यह जरूरी था कि कोई वर्ग जनता और राजनैतिक नेतृत्व के बीच की खाई को भरता। सभी पाश्चात्य वस्तुओं की प्रंशसा और उसकी नकल करने की प्रवृत्ति के स्थान पर उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में एक ऐसा आंदोलन चला जिसमें लोगों को अपनी प्राचीन सभ्यता की ओर लौटने के लिए कहा गया। इस प्रकार की भावना दबे तौर पर तो पहले भी थी और सन् 1857 में यह अचानक उभर कर सामने आ गई थी। लेकिन पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त समुदाय, आमतौर पर भारतीय जीवन की मुख्य धारा से अलग रहा और इस प्रवृत्ति से भी अछूता रहा। छोटे से शिक्षित समुदाय और आम जनता में जो खाई थी, उसको पाटने का ऐतिहासिक कार्य, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और उनके अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त शिष्य स्वामी विवेकानंद तथा वैदिक साहित्य में निष्णात स्वामी दयानंद और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने किया। श्रीमती एनीबीसेन्ट की समन्वयवादी थियोसोफिकल सोसायटी ने भी इस क्षेत्र में अपना योगदान दिया। इन समाज सुधार आंदोलनों ने राजनैतिक उग्रवाद को प्रोत्साहन दिया। अपनी संस्कृति, धर्म और राजतंत्र के प्रति लोगों में स्वाभाविक लगाव था। राजनैतिक उग्रवादी, जिन्होंने अपनी सांस्कृतिक विरासत से प्रेरणा ग्रहण की थी, परम राष्ट्रवादी थे और यह चाहते थे कि भारत सब देशों से, समान स्तर पर, और आत्मसम्मान के साथ मिले। उनमें आत्मसम्मान कूट-कूट कर भरा था और वे अपना सर ऊँचा रखना चाहते थे। वे नरम दल (उदारवादियों) को अंग्रेजों का चापलूस व मुसाहिब मानते थे इसीलिए उन्होंने उनका विरोध किया। उग्रवादियों की दृष्टि में उद्धार केवल राजनीति तक सीमित नहीं था बल्कि इसका अर्थ कहीं अधिक व्यापक और गूढ़ था। उनके लिए इसका अर्थ जीवन के समस्त व्यापारों में नवस्फूर्ति व नवशक्ति का संचार करना था। वे समझते थे कि शासक और शासित वर्ग में शक्ति परीक्षण अवश्यम्भावी है। उनका कहना था कि उनके सपनों के नए भारत के निर्माण में अंग्रेजों का कोई योगदान नहीं होगा।

गरम दल देश के तीन भागों में अधिक सक्रिय था। महाराष्ट्र दल के नेता थे तिलक, बंगाल दल के नेता थे विपिनचंद्रपाल और अरविंद तथा पंजाब दल का नेतृत्व लाला लाजपतराय कर रहे थे। बंगाल के उग्रवादी बंकिमचंद्र की विचारधारा से बहुत प्रभावित थे। बंकिम एडमण्डबर्क की भाँति उदार पुरातनपंथी थे। वे भूतकाल से संबंध विच्छेद नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में इससे समस्याएँ सुलझने के बजाए और भी ज्यादा उलझ जातीं। वे सुधारों को ऊपर से थोपने के विरोधी थे। उनका विचार था कि सुधारों से पूर्व नैतिक और धार्मिक पुनरुत्थान आवश्यक है, और यह पुनरुत्थान केवल धर्म के मूल सिद्धांतों के आधार पर ही संभव है। बंकिम ने उदारवादियों की भर्त्सनापूर्ण आलोचना करके उग्रवादियों को इस विषय में दिशा प्रदान की।

उग्रवादियों का राष्ट्रवाद भावुकता से परिपूर्ण था। राष्ट्रवाद की इस प्रेरणादायक धारणा में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदर्शों, सभी का समावेश था। यही संदेश लेकर विवेकानंद पश्चिम गए थे और उनकी सफलता ने भारतीयों में दृढ़ आत्मविश्वास और इच्छाशक्ति का संचार किया था। अरविंद ने तो देशभक्ति को ऊँचा उठाकर मातृ वंदना के समकक्ष रख दिया था। एक पत्र में उन्होंने कहा था, "मैं अपने देश को अपनी माँ मानता हूँ। मैं उसकी आराधना करता हूँ। मैं उसकी स्तुति करता हूँ।"

अरविंद दयानंद सरस्वती की शिक्षाओं से बहुत प्रभावित हुए थे। दयानंद की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव नहीं के बराबर था। अरविंद ने दयानंद को देश का सबसे बड़ा सुधारक माना क्योंकि उन्होंने देश को एक सुनिश्चित मार्ग सुझाया था। इस प्रकार बंकिमचंद्र, दयानंद और विवेकानंद आदि ने वह दार्शनिक आधार प्रदान किया जिस पर उग्रवादियों ने अपना राजनैतिक कार्यक्रम तैयार किया था।

10.4.2 गरम दल की कार्रवाई

तिलक ने इस बात का विरोध किया कि, एक विदेशी सरकार, जनता के निजी और व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करे। सन् 1891 के विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाने वाले विधेयक को लेकर उनका सुधारकों से झगड़ा हो गया। उन्होंने सन् 1893 में गणपति महोत्सव प्रारंभ किया। सन् 1893-94 में अरविंद ने 'इन्दुप्रकाश' पत्र में 'न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड' का प्रकाशन किया।

तिलक ने सन् 1895 में पूना में कांग्रेस के पण्डाल में 'नेशनल सोशल कांफ्रेन्स' को अपना अधिवेशन नहीं करने दिया और इस प्रकार उसे चुनौती दी। 'नेशनल सोशल कांफ्रेन्स' उदारवादियों के प्रभाव में थी। इसी वर्ष (सन् 1895) पूना सार्वजनिक सभा पर भी उदारवादियों के स्थान पर उग्रवादियों का प्रभुत्व हो गया। शिवाजी उत्सव का आयोजन पहली बार 15 अप्रैल 1896 को हुआ। 4 नवंबर, 1896 को दक्षिण सभा की स्थापना से महाराष्ट्र में नरम दल और गरम दल का पूरी तरह अलगाव हो गया, लेकिन पूरे भारत में अभी इन दोनों दलों में मतभेद, अलगाव की स्थिति तक नहीं पहुँचे थे। उदाहरण के लिए, बंगाल के उग्रवादियों के नेता विपिनचंद्र पाल अब भी उदारवादियों के खेमे में थे। सन् 1897 में उन्होंने लिखा था, "मैं ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठावान हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ कि ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा और अपने देश व अपने देशवासियों के प्रति निष्ठा एक ही बात है और मैं यह भी मानता हूँ कि भगवान ने हमारे उद्धार के लिए इस सरकार को हम पर शासन करने के लिए भेजा है। सन् 1902 में जाकर ही उनके विचारों में परिवर्तन आया, और उन्होंने लिखा, "कांग्रेस भारत में, और लंदन में उसकी ब्रिटिश कमेटी, दोनों ही भिक्षा माँगने वाली संस्थाएँ हैं।"

केसरी.

वर्ष १. पुणें: - मंगळवार तारिख २५ जानेवारी १८८१ अंक ४.

10. अखबार केसरी

कांग्रेस की नरम और अस्थिर नीतियों के कारण ही लाला लाजपतराय इसके कार्यक्रमों के प्रति आकर्षित नहीं हुए। सन् 1893 से लेकर सन् 1900 तक उन्होंने कांग्रेस के किसी भी अधिवेशन में भाग नहीं लिया। वे इस काल में कांग्रेस के नेताओं के विषय में यही सोचते थे कि उन्हें देश की चिंता से अधिक अपनी ख्याति और शान की परवाह है।

जहां एक ओर एक के बाद एक भ्रांतियों और उलझनों ने उदारवादियों की स्थिति कमजोर कर दी वहाँ दूसरी ओर रूस पर जापान की विजय (1904-1905) ने पूरे एशिया में नवीन उत्साह का संचार किया। इससे पूर्व सन 1896 में इथोपिया (अफ्रीकी राष्ट्र) ने इटली की

सेना को पराजित किया था। एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों की इन विजयों ने यूरोप की श्रेष्ठता का जो भ्रम था उसे तोड़ दिया और उसने भारतीयों में नया आत्मविश्वास जगा दिया था।

10.5 नरम दल तथा गरम दल : एक विश्लेषण

नरम दल तथा गरम दल में बहुत सी बातें एक सी थीं लेकिन उनके राजनैतिक दृष्टिकोण और कार्य प्रणाली में अंतर भी था। हम इस भाग में नरम दल और गरम दल के मध्य उन मतभेदों पर विचार करेंगे जिनके कारण सन् 1907 में, सूरत में, कांग्रेस का विभाजन हुआ। इस बात पर भी विचार किया जाएगा कि इस विभाजन में राष्ट्रीय आंदोलन को किस प्रकार प्रभावित किया।

10.5.1 मतभेद

तिलक ने कहा था कि, जहाँ तक नौकरशाही से सुधारों की अपील करने की बात थी, पुरानी (नरम दल) और नई (गरम दल) पार्टियाँ दोनों ही इसे प्रभावहीन और निरर्थक मानती थीं। लेकिन पुरानी पार्टी ब्रिटिश राष्ट्र से अपील करने की सार्थकता में विश्वास करती थी परंतु नई पार्टी इसमें विश्वास नहीं रखती थी। नरम दल की ही भाँति तिलक भी यह मानते थे कि अंग्रेजी शासन में उद्योगों का विनाश हुआ है तथा देश का धन चूस कर बाहर भेज दिया गया है तथा भारतीयों को गरीबी की सबसे नीची रेखा तक पहुँचा दिया गया है लेकिन तिलक का विश्वास था कि याचिकाओं के द्वारा इन समस्याओं का निदान नहीं हो सकता था। गरम दल यह मानता था कि अपने घर की चाबी स्वयं भारतीयों के पास होनी चाहिए और स्वशासन भारतीयों का लक्ष्य होना चाहिए। नया दल चाहता था कि भारतीय यह समझ जाएँ कि उनका भविष्य उनके अपने हाथों में है और वे तब तक आजाद नहीं हो सकते जब तक कि वो खुद आजाद होने का दृढ़ निश्चय नहीं कर लेते।

तिलक यह नहीं चाहते थे कि स्वशासन प्राप्त करने के लिए भारतीय शस्त्रों का सहारा लें, बल्कि वो यह चाहते थे कि भारतीय अपनी आत्मत्याग और आत्मसंयम की शक्ति का इस प्रकार विकास करें जिससे विदेशी ताकत को उन पर राज्य करने में सहायता न मिले।

तिलक ने देशवासियों को सलाह दी कि वे अपनी अदालतें खुद लगाएँ (जैसे ग्राम पंचायत आदि) और जब समय की माँग हो तो सरकार को कर देना भी बंद कर दें। तिलक ने यह दावा किया, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर रहूँगा।"

अरविंद का दार्शनिक उग्रवाद तिलक से भी ऊँचा लक्ष्य रखता था। उनके अनुसार भारतीय सरकार भ्रष्ट पाश्चात्य प्रभाव से दूषित थी। इस भ्रष्टाचार से बचने के लिए भारत की वर्तमान शोचनीय परिस्थितियों को बदलना होगा और अपनी महान व श्रेष्ठ संस्कृति की ओर लौटना होगा। उनके विचार से राष्ट्रवाद के लक्ष्य थे:

i) भारत के लिए स्वराज प्राप्त करना, ताकि राजनैतिक क्षेत्र का प्रदूषण समाप्त हो। जो सामाजिक व राजनैतिक दुर्भावना का घुन पूरे यूरोप को खाये जा रहा है उसका पूरी तरह से भारत में उन्मूलन कर दिया जाए तथा

ii) यह सुनिश्चित कर लिया जाए कि जब स्वराज प्राप्त किया जाए तो वह स्वदेशी स्वराज हो, न कि यूरोप से आयातित किसी विदेशी शैली का। इसीलिए उनकी दृष्टि में स्वराज की प्रथम अभिव्यक्ति स्वदेशी भावना में हुई। यह स्वदेशी भावना केवल विदेशी वस्तुओं के प्रयोग के विरुद्ध नहीं थी बल्कि विदेशी आचार-विचार, व्यवहार, वेशभूषा, शिष्टाचार तथा विदेशी शिक्षा के विरुद्ध भी थी और इसका उददेश्य देशवासियों को अपनी सभ्यता की ओर उन्मुख करना था।

उपर्लिखित विवेचन से यह मालूम होता है कि यद्यपि गरम दल ने अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक और तीखी भाषा का प्रयोग किया, लेकिन जहाँ तक लक्ष्य का प्रश्न है, उसमें और नरम दल में कोई विशेष अंतर नहीं था।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, गोखले ने अपने अध्यक्षीय भाषण (बनारस, 1905) तथा दादाभाई नौरोजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण (कलकत्ता, 1906) में क्रमशः स्वशासन और स्वराज को कांग्रेस का लक्ष्य बताया था, दोनों दलों के अंतर लक्ष्य प्राप्त करने के तरीके में था।

10.5.2 व्यक्तित्वों की टकराहट

दृष्टिकोण तथा प्राथमिकताओं में उपर्लिखित अंतर के अतिरिक्त नरम दल और गरम दल का मतभेद तिलक के व्यक्तित्व को लेकर था। तिलक और गोखले दोनों ही पूना के थे। तिलक उग्रवादी थे। एक प्राच्यवादी के रूप में वे सरकार की हर संभव तरीके से बुराई करते थे। उनकी लेखनी बड़ी सशक्त थी और अपने पत्र 'मराठा' और 'केसरी' के माध्यम से उन्होंने जनमानस को अत्याधिक प्रभावित किया था।

गोखले विनम्र व मृदुभाषी थे। भारतीय वित्तीय समस्याओं पर उनकी अच्छी पकड़ थी। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कांउसिल में उनका कौशल देखते ही बनता था। वे सरकार की उपलब्धियों (खासतौर पर आर्थिक क्षेत्र में) के दावों के खोखलेपन को दिखाने में निष्णात थे। लोगों की दृष्टि में वह ऑनरेबल मिस्टर गोखले (महामना गोखले) थे। मातृभूमि की सेवा के लिए उन्होंने समर्पित कार्यकर्त्ताओं के दल को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से पूना में सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी की स्थापना की थी।

सोसायटी के सदस्यों को शपथ लेकर निर्धनता का जीवन व्यतीत करना था तथा उन्हें आचरण की शुद्धता का कठोरता से पालन करना पड़ता था। उन्हें कठोर श्रम करना पड़ता था और वेतन के नाम पर सिर्फ गुजारे भर के लिए पैसा मिलता था।

तिलक और गोखले के मतभेद जानने के लिए थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में पूना में दोनों व्यक्तित्वों की जोरदार टकराहट हुई थी। तिलक और जी.जी. आगरकर के मध्य वैमनस्य हो गया था, हालाँकि दोनों ही डेकेन एजुकेशन सोसायटी में सहकर्मी थे। अंत में तिलक को इस सोसायटी से निकाल दिया गया। इसके बाद से तिलक के अनुयायियों और उनके विरोधियों में निरंतर लड़ाई होती रही। तिलक के विरोधी महादेव गोविन्द रानाडे और गोखले के अनुयायी थे और कांग्रेस के कार्यक्रमों में उन्हें बंबई के फिरोजशाह मेहता का समर्थन प्राप्त था। गोखले को कांग्रेस संगठन का भी समर्थन प्राप्त था। जैसे-जैसे नरम दल की लोकप्रियता और प्रभाव में कमी होती गई और उग्रवाद के विकास के कारण गरम दल देशवासियों के दिलोदिमाग पर कब्जा करता गया वैसे-वैसे दोनों प्रतिद्वन्द्वी दलों में महाराष्ट्र और विशेषकर पूना में, संघर्ष, कटु से कटुतर और स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला गया।

पूरे भारत में उत्तेजना व्याप्त हो रही थी। अरविंद के नेतृत्व में बंदे मातरम् की गूंज न सिर्फ ब्रिटिश सरकार के भारत पर शासन करने के अधिकार को चुनौती दे रही थी बल्कि उसने वयोवृद्ध नेताओं को भारतीय जनता की ओर से बोलने के अधिकार को भी चुनौती दे डाली थी। बंगाल से बाहर के नेताओं में तिलक पहले नेता थे, जिन्होंने बंगाल में व्याप्त उत्तेजना तथा उसकी निहित शक्ति को पहचाना था। तिलक की दृष्टि में बंगाल का विभाजन, अंग्रेजों की भूल तो थी लेकिन उससे कहीं ज्यादा वह एक ऐसा अवसर था जब भारतीय अपनी शक्ति (संगठन व एकता के द्वारा) बढ़ा सकते थे। उन्होंने बंगाल विभाजन के विरुद्ध आंदोलन को अपना समर्थन प्रदान किया और बंगाल में उभरते हुए उग्रवादी नेताओं को प्रोत्साहित किया। सन् 1905 के (बनारस में) कांग्रेस अधिवेशन से ही, गोखले ने तिलक और बंगाल के उग्रवादियों का गठबंधन देख लिया था। तिलक और पाल के इस गठबंधन ने सरकार के लिए तो एक विकट समस्या खड़ी कर ही दी थी, साथ ही साथ कांग्रेस के अनेक नेताओं के लिए यह एक सरदर्द बन गया था। तिलक को अगर विद्रोही

नहीं तो कम से कम एक असंतुष्ट नेता के रूप में अवश्य देखा गया। फिरोजशाह मेहता, डी.ई. वाचा तथा पूरा बंबई गुट 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में उठने वाले विवादों के समय से ही तिलक को अविश्वास की दृष्टि से देखता था। ये आपसी मतभेद आंशिक रूप से स्वभाव की भिन्नता के कारण थे। कम से कम पिछले पंद्रह सालों से कांग्रेस संगठन में शीत युद्ध चल रहा था जिसमें एक ओर मेहता के नेतृत्व वाला गुट था और दूसरी ओर तिलक और उनके अनुयायी थे।

बोध प्रश्न 3

1 उग्रवाद के उदय का सैद्धान्तिक आधार क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 उग्रवादियों (गरम दल) का राजनैतिक कार्यक्रम क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.5.3 खुली लड़ाई और फूट

बंबई के उदारवादियों में तिलक का काफी विरोध था। वह एक चतुर रणनीतिज्ञ थे और उस अवसर की प्रतीक्षा में थे जब वह अपनी चाल चल सकें। सन् 1905 में बनारस के कांग्रेस अधिवेशन में तिलक ने जो बंगाल के उग्रवादियों के साथ गठबंधन किया था उससे उन्हें कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन (1906) में बड़ा लाभ पहुँचा। कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन को लेकर गोखले भी पहले से ही संशकित थे! उन्हें गड़बड़ी की आशंका थी। यह पारस्परिक अविश्वास कांग्रेस के लिए अच्छा शगुन नहीं था।

सबसे पहले अध्यक्ष पद को लेकर विवाद उठा। पाल और अरविंद तिलक को अध्यक्ष बनाना चाहते थे लेकिन नरम दल उन्हें अध्यक्ष के पद पर स्वीकार नहीं करना चाहता था। अपनी बात मनवाने के लिए नरम दल ने एक असाधारण चाल चली। उन्होंने बिना स्वागत समिति (रिसैप्शन कमेटी) से परामर्श किए, दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष पद स्वीकार करने के लिए तार भेज दिया। जब दादाभाई नौरोजी ने अध्यक्ष बनाए जाने की दावत कुबूल कर ली तो गरम दल को वस्तुस्थिति स्वीकार करनी पड़ी। इस तरह जब तिलक को अध्यक्ष बनाये जाने की कोशिश नाकामयाब हो गई तो गरम दल — तिलक, अरविंद, पाल, अश्विनी कुमार दत्त, जी.एस. खपरडे आदि ने कांग्रेस के अंदर एक प्रभावशाली गुट का निर्माण किया ताकि वे अपनी बात मनवा सकें। कांग्रेस में गरम दल

का बहुमत था और उसे पर्याप्त स्थानीय समर्थन भी प्राप्त था। वातावरण में बड़ा तनाव था तथा सब्जैक्ट्स कमेटी की बैठक बड़ी कोलाहल पूर्ण हुई। प्रस्तावों पर विचार-विमर्श हुआ और गरम दल के दबाव के कारण उनको संशोधन करने पड़े। फिरोजशाह मेहता को विशेषरूप से उनके क्रोध का निशाना बनना पड़ा। मेहता, मदनमोहन मालवीय तथा गोखले को प्रश्नों की बौछार से तंग किया गया। अंत में जल्दी-जल्दी एक समझौता किया गया और बंगाल विभाजन, स्वदेशी, तथा बहिष्कार विषयक प्रस्तावों को फिर से लिखा गया, जिसके फलस्वरूप उद्घाटन अधिवेशन में वे बिना किसी बाधा के पारित हो गए। लेकिन दोनों प्रतिद्वन्द्वी दलों के बीच सौहार्द स्थापित नहीं हो सका। खतरा कुछ समय के लिए टल तो गया था पर कटुता अपना निशान छोड़ गई थी।

यद्यपि कलकत्ता कांग्रेस (1906) में उग्रवादी तिलक को अध्यक्ष पद पर चुनवाने में असफल रहे थे, लेकिन वहाँ जो कुछ उन्होंने हासिल किया था, उससे वे संतुष्ट थे। वे एक मजबूत, सुसंगठित और शक्तिशाली दल के रूप में उभरकर सामने आये थे। उन्होंने उन सभी कोशिशों को नाकामयाब कर दिया जो उनकी नजर में कांग्रेस के कार्यक्रम को कमजोर बनाने के लिए की गई थीं। कलकत्ते से जाते समय नरम दल खुद को भ्रमित, अपमानित और बेचैन महसूस कर रहा था। सबसे ज्यादा परेशानी उन्हें गरम दल द्वारा किए गए उद्दण्ड व्यवहार से थी।

नरम दल और गरम दल दोनों ने ही स्वदेशी आंदोलन में भाग लिया परंतु दोनों के स्वदेशी विषयक दृष्टिकोण में भारी मतभेद था। तिलक, पाल और अरविंद के लिए बहिष्कार का दोहरा आशय था। भौतिक रूप से ये मानचेस्टर पर आर्थिक दबाव के रूप में होना था जिसकी प्रतिक्रिया भारत सरकार पर मानचेस्टर द्वारा दबाव के रूप में होनी थी। आध्यात्मिक स्तर पर यह आत्मपीड़न या आत्मप्रताड़ना की एक धार्मिक रीति थी। गोखले के लिए स्वदेशी मुख्य रूप से एक आर्थिक संदेश था— भारतीय उद्योग में नवजीवन के संचार का संदेश। यह दृष्टिकोण उन्होंने रानाडे से प्राप्त किया था। सुरेन्द्र नाथ की दृष्टि में भावना की दृष्टि से स्वदेशी आंदोलन एक संरक्षणवादी आंदोलन था। इस आंदोलन ने जनता का इसलिए अभिभूत किया क्योंकि उसकी दृष्टि में इससे "उसके लिए भौतिक समृद्धि के नये युग का सवेरा होने वाला था।" तिलक और लाजपतराय की दृष्टि में यह राजनैतिक आंदोलन का एक हथियार होने के साथ-साथ आत्म सहायता, दृढ़ निश्चय और त्याग का नैतिक प्रशिक्षण भी था। अरविंद स्वदेशी को स्वायत्तता तथा समृद्धि के सांसारिक अर्थ में नहीं लेते थे बल्कि वे स्वदेशी के माध्यम से इस विश्वास को फिर से जगाना चाहते थे कि भारत ही जगद्रक्षक की भूमिका निभा सकता है। इस प्रकार स्वदेशी को उग्रवादियों ने उदारवादियों की तुलना में अधिक व्यापक रूप में देखा।

स्वभावगत तथा सैद्धान्तिक मतभेद और व्यक्तित्वों की टकराहट ने दोनों प्रतिद्वंद्वी दलों में कटुता उत्पन्न की। गरम दल की अनवरत आलोचना ने नरम दल को सावधान कर दिया। गरम दल पहले ही बंगाल, महाराष्ट्र, बरार और पंजाब को अपने प्रभाव में ले चुका था, अब नरम दल को भय था कि शेष भारत भी उनके कब्जे में आ जाएगा। इसलिए वे हताश होकर अपने संरक्षण के लिए कुछ भी करने को तैयार थे।

कलकत्त में यह निश्चित हो गया था कि कांग्रेस का अगला अधिवेशन नागपुर में होगा। नरम दल को यह विश्वास था कि नागपुर में उसका बहुमत होगा। आगामी अधिवेशन (1907) में कांग्रेस के अध्यक्ष का चुनाव, नरम दल और गरम दल के बीच शक्ति परीक्षण के अवसर के रूप में विकसित हुआ। नरम दल तिलक को अध्यक्ष न बनने देने के लिए कृतसंकल्प था। इस तरह का रुख एक अपशकुन था। नरम दल यह तय कर चुका था कि अगर तिलक का अध्यक्ष पद के लिए चुनाव हो गया और कांग्रेस पर गरम दल का प्रभुत्व हुआ तो वह कांग्रेस को ही नष्ट कर देगा।

नरम दल तिलक को अध्यक्ष न बनने देने के विषय में एकमत था लेकिन अध्यक्ष पद पर कौन चुना जाए, इस विषय में एकमत नहीं था। गोखले प्रतिष्ठित वकील और प्रभावशाली वक्ता, रासबिहारी घोष को अध्यक्ष बनाना चाहते थे। लेकिन नागपुर में जब नरम दल ने अपनी स्थिति निराशाजनक देखी तो फिरोजशाह ने अधिवेशन का स्थान बदलकर सूरत

कर दिया, क्योंकि उनके विचार से सूरत में उनकी मर्जी के अनुसार अधिवेशन चल सकता था। गरम दल ने परिवर्तन के इस निर्णय को पसंद नहीं किया। तनावपूर्ण वातावरण और दोनों दलों के द्वारा असंगत भाषा के प्रयोग ने सूरत में उठने वाले संकट की अवश्यंभाविता की ओर संकेत किया। रासबिहारी घोष अध्यक्ष पद के लिए चुने गए। दोनों दलों के पारस्परिक संबंध और भी खराब हो गए। सभा में घोष के अध्यक्ष पद के चुनाव की घोषणा के समय खुलेआम लड़ाई शुरू हो गई। इस विषय में तिलक को अपने विचार व्यक्त करने की अनुमति नहीं दी गई। इस बात ने तिलक के अनुयायियों को हंगामा मचाने का मौका दे दिया। आरोप प्रत्यारोप लगाए गए, डंडों का प्रदर्शन भी हुआ और पगड़ियाँ उछाली गईं, कुर्सियाँ भी टूटी और कुछ लोगों को चोटें भी आईं। इस हादसे की जिम्मेदारी के लिए एक दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप लगाए गए। अब बहस करने से कोई फायदा नहीं था। लेकिन यह सत्य था कि इस आंतरिक कलह ने जो स्वरूप धारण कर लिया था वह सबके लिए चिंता का विषय था।

10.5.4 फूट के परिणाम

इस फूट के लिए चाहे कोई भी जिम्मेदार हो और चाहे इसके जो भी कारण रहे हों, यह निश्चित है कि यह देश के लिए एक महान दुर्घटना थी। गोखले इस दुर्घटना की भयावहता को समझते थे। ब्रिटिश नौकरशाही की खुशी का कोई ठिकाना नहीं था। वाइसरॉय लॉर्ड मिन्टो ने आह्लादपूर्ण स्वर में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लॉर्ड मोर्ले को बतलाया कि, "कांग्रेस का ढहना (सूरत की फूट) हम सबके लिए एक महान विजय है।" लेकिन मोर्ले वस्तुस्थिति को ज्यादा अच्छी तरह से समझते थे। एक भविष्यवक्ता की भाँति उन्होंने वाइसरॉय को बताया कि, "भले ही इस समय गरम दल का पतन हो गया है लेकिन अन्ततः कांग्रेस पर गरम दल का आधिपत्य हो जाएगा।" यह फूट कांग्रेस के लिए विशेषकर हानिकारक थी। साथ ही साथ इसने आमतौर पर राष्ट्रीय आंदोलन पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाला था। यह कहा जा सकता है कि, नरम दल कांग्रेस का दिमाग था तो गरम दल उसका हृदय ; नरम दल उसका कानून था तो गरम दल उसकी अंतः प्रेरणा। दोनों दलों का मिलजुल कर काम करना कांग्रेस के कार्यकलापों और राष्ट्रीय आंदोलनों के विकास, दोनों के लिए ही परम आवश्यक था। गरम दल के निर्वासन से नरम दल को कुछ भी हासिल नहीं होना था। लगभग दस वर्ष तक नरम दल उस स्थिति में नहीं आ सका जिसमें वह अंग्रेजों का प्रभावशाली ढंग से विरोध कर सकता। सन् 1916 के बाद ही जब कांग्रेस में गरम दल का पुनःप्रवेश हुआ और नरम दल कांग्रेस में प्रभावहीन हुआ (1918), तभी कांग्रेस में एक बार फिर से नई जान आई। लेकिन यह एक नई कहानी थी। गोखले के राजनैतिक शिष्य मोहनदास करमचंद गांधी ने गरम दल के कार्यक्रम को लेकर अपना आंदोलन प्रारंभ किया। उन्होंने विवेक और विश्वास तथा न्याय और अंतःप्रेरणा के समन्वय पर जोर दिया। उन्होंने भारतीय जनता की चिरस्थायी शक्ति का प्रतिनिधित्व किया तथा कांग्रेस को नया रूप देकर उसे फिर से गतिमान बनाया। गांधी ने राजनैतिक आंदोलन के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात किया।

बोध प्रश्न 4

1 सन् 1907 में, सूरत में हुई कांग्रेस में फूट की परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 सूरत की फूट किस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में बाधक हुई?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.6 सारांश

कांग्रेस के पहले पच्चीस वर्ष बहुत महत्वपूर्ण थे क्योंकि इसी काल में राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य माँगें प्रस्तुत की गई थी। प्रारंभ में कांग्रेस ने हल्की-फुल्की माँगें रखी और उन्हें प्राप्त करने के लिए नम्र एवं संवैधानिक तरीका अपनाया। प्रारंभिक नेताओं ने यह विश्लेषण करके दिखलाया कि किस प्रकार एक सुनियोजित ढंग से अंग्रेज भारत का धन चूस रहे हैं। उन्होंने समझ लिया था कि इसी आर्थिक दोहन से जनता की गरीबी लगातार बढ़ती चली जा रही थी। कुछ वर्षों में ही कांग्रेस में एक वर्ग उदारवादियों के तरीकों को प्रभावहीन मानने लगा। यह वर्ग अंग्रेजों का सक्रिय विरोध करना चाहता था। उसकी मुख्य माँग थी स्वराज (स्वशासन) इस आंतरिक कलह ने सन् 1907 में कांग्रेस का विभाजन करा दिया। कुछ समय के लिए इस फूट से कांग्रेस कमजोर पड़ गई।

अपने पहले चरण में कांग्रेस की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि यह स्वदेशी आंदोलन (जिसे बंगाल विभाजन के विरोध में प्रारंभ किया गया था) के माध्यम से भारतीय जनता के महत्वपूर्ण वर्गों को, अंग्रेजों के विरुद्ध संघटित कर सका।

10.7 शब्दावली

समावेश : एक साथ या एक जगह रहना, एक वस्तु का दूसरे वस्तु के अन्तर्गत होना
पेशा : जीविका के लिए किये जाने वाला धंधा व्यवसाय
अभिजात्य वर्ग : कुलीन वर्ग
सदाशयता : सज्जन, भला-मानस
नौकरशाही : वह शासन जिसमें सब अधिकार बड़े-बड़े राजकर्मचारियों के हाथों में रहते हैं (ब्यूरोक्रेसी)
रियायत : छूट, कमी

अवसान : समाप्ति
अनुगमन : पीछे चलना
समन्वयवादी : कार्य और कारण की संगति करके चलने वाला, मिलान करने वाला
विरासत : उत्तराधिकार से मिला हुआ
आत्मसंयम : अपनी इच्छाओं को वश में रखने वाला
उन्मुख : उत्कंठित, उत्सुक, उद्यत
प्राच्यवादी : पूर्व दिशा का, पुराने विचारों में विश्वास रखने वाला
मृदुभाषी : मधुर बोलने वाला, जिसका कथन सुनने में प्यारा लगे।
वैमनस्य : शत्रुता
विकट : कठिन, मुश्किल
शगुन : (शकुन) किसी विशेष कार्य के आरंभ में दिखाई देने वाले शुभ या अशुभ लक्षण
सौहार्द : सज्जनता, मित्रता
आध्यात्मिक : आध्यात्म या आत्मा संबंधी। ब्रहम और जीव संबंधी
कृतसंकल्प : किया हुआ संकल्प
अवश्यंभाविता : जो अवश्य होने वाला हो; जो टले नहीं
निर्वासन : गाँव, नगर, देश आदि से दंड स्वरूप बाहर निकाल देना। देश निकाला
सूत्रपात : किसी कार्य का प्रारंभ होना या प्रारंभ होने का पूरा आयोजन होना

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
1 देखिए भाग 10.1
2 देखिए उपभाग 10.2.1

बोध प्रश्न 2
1 देखिए उपभाग 10.3.1
2 देखिए उपभाग 10.3.1

बोध प्रश्न 3
1 देखिए उपभाग 10.4.1
2 देखिए उपभाग 10.4.2

बोध प्रश्न 4
1 देखिए उपभाग 10.5.3
2 देखिए उपभाग 10.5.4

इकाई 11 बंगाल का विभाजन और स्वदेशी आंदोलन (1905-1908)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 बंगाल के विभाजन की योजना
11.3 योजना के पीछे मंशा
11.4 विभाजन
11.5 सरकार की गलत अवधारणा
11.6 बहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा
11.7 समितियाँ तथा राजनैतिक प्रवृत्तियाँ
11.8 जन-आंदोलन की संकल्पना: मजदूर और किसान
  11.8.1 किसान
  11.8.2 मजदूर
11.9 सांप्रदायिक समस्या
11.10 क्रांतिकारी आतंकवाद का उदय
11.11 सारांश
11.12 शब्दावली
11.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपके सामने उन कारणों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा जिन्होंने ब्रिटिश सरकार को 1905 में बंगाल के विभाजन के लिए प्रेरित किया। यह इकाई इस कार्यवाही के फलस्वरूप उत्पन्न स्वदेशी आंदोलन द्वारा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में लाये गये परिवर्तनों का विवरण भी देगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- उस पृष्ठभूमि की व्याख्या कर सकेंगे जिसमें भारतीय राष्ट्रवादियों तथा ब्रिटिश अधिकारियों ने एक दूसरे का सामना किया
- बंगाल के विभाजन की योजना के पीछे की मंशाओं को पहचान सकेंगे
- विवेचना कर सकेंगे कि स्वदेशी आंदोलन किस प्रकार पनपा और उससे कौन सी राजनैतिक प्रवृत्तियों और कार्यप्रणालियों का विकास हुआ
- आंदोलन की शक्ति तथा उसकी राह में आई कठिनाइयों का मूल्यांकन कर सकेंगे तथा अंत में
- इस ऐतिहासिक घटना का व्यापक मूल्यांकन कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

19वीं शताब्दी के अंत तक शिक्षित मध्यम वर्ग के उन मुखर प्रतिनिधियों का उत्साह काफी कम हो गया था जो भारतीय समाज के नये नेताओं के रूप में उभरे थे।

ब्रिटेन में ग्लैटरटोन और भारत में लॉर्ड रिपन जैसे व्यक्ति जो शिक्षित भारतीयों के महत्व को समझते

थे और उनकी आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति रखते थे, कार्य संचालन में नहीं रहे थे। उनके बदले भारत का प्रशासन उन लोगों के हाथ में था जो बिना किसी अपवाद के शिक्षित भारतीयों की आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति नहीं रखते थे और भारत पर ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शिकंजे की पकड़ को ढीला करने के विरुद्ध थे। ये अधिकारी भारतीय मत की अवहेलना करते थे और अधिकारियों की रंग भेदी गतिविधियों को नजर अंदाज करते थे। उन्होंने उन नाममात्र रियायतों को भी नुकसान पहुँचाने की कोशिश की जो पहले समय-समय पर हिन्दुस्तानियों को बहुत ही अनिच्छा से दी जाती रही थीं। राज का विद्वेषपूर्ण रवैया शुरू के राष्ट्रवादियों को साफ दिखाई दे रहा था। 1900 तक अनेक राष्ट्रवादियों को सरकार को ज्ञापन देने और प्रार्थना करने की निरर्थकता का अहसास हो चला था। उनकी भारतीय प्रशासनिक सेवा में हिन्दुस्तानियों के लिए स्थान तथा विधान-सभाओं में कुछ सुधार जैसी माँगों पर ध्यान नहीं दिया गया। "अन-ब्रिटिश" कुशासन के बदले भारत में न्यायिक ब्रिटिश शासन लागू किए जाने की मांग पर भी ध्यान नहीं दिया गया। लगभग दो दशकों तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच से दुहराई जाती संवैधानिक रियायतों की माँगों के बदले 1892 की नगण्य रियायतें दी गईं। 20वीं शताब्दी के शुरू में लॉर्ड कर्जन जैसे वाइसराय के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई क्योंकि वह कांग्रेस को "अपवित्र चीज" (Unclean thing) मानता था, उसके नेताओं के निवेदन को "भाव-रहित उदासीनता" द्वारा अस्वीकार करना चाहता था और सिविल सेवा को "यूरोपियों के लिए विशेष रूप से सुरक्षित" समझता था। साम्राज्यवादियों की तरह कर्जन कट्टर नस्लवादी था तथा उसका मानना था कि "सत्य का सर्वोच्च आदर्श काफी हद तक पश्चिमी धारणा है" तथा अपने सद्भावनापूर्ण भाव में वह भारतीयों के बारे में उस स्वर में बात करता था जो "सामान्यतया हम अपने पालतू जानवरों के लिए इस्तेमाल करते हैं"। (एस. गोपाल, ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1858-1905, कैम्ब्रिज 1965, पृ. 227)

कर्जन के इस व्यक्तित्व से प्रारंभिक राष्ट्रवादी क्षुब्ध तथा उत्तेजित तो हुए लेकिन वे इतने हताश नहीं हुए कि हर तरह का अपमान सहते या चुप रह जाते। इस प्रकार अपने लोगों की नजर में उनका महत्व बढ़ गया। उन्होंने अपने समाज-सुधारकों तथा राजनैतिक गुरुओं से आत्मविश्वास पाया और इतना आत्मसम्मान प्राप्त किया कि वे सभ्य व्यवहार तथा स्वाभाविक न्याय की माँग करने लगे। इसके फलस्वरूप कर्जन और शिक्षित मध्यम वर्ग के राष्ट्रवादियों के बीच ठन जाना स्वाभाविक ही था। यह मुकाबला हुआ बंगाल में जहाँ भारतीय बुद्धिजीवी सबसे अधिक शक्तिशाली थे और जहाँ कर्जन का व्यवहार सबसे अधिक अपमानजनक था।

बंगाल में हमले की शुरूआत कर्जन ने की। 1899 में ही उसने कलकत्ता कॉरपोरेशन में निर्वाचित सदस्यों की संख्या घटा दी थी। यह कदम मुख्यतया शहर में यूरोपीय व्यावसायिक हितों को संतुष्ट करने के लिए उठाया गया था क्योंकि वे अक्सर लाइसेंस प्रदान करने तथा अन्य सुविधाओं में देरी की शिकायत किया करते थे। इस कार्यवाही के पीछे क्या उद्देश्य थे यह एकदम साफ था और इसका अलोकतांत्रिक स्वरूप भी निर्विवाद था। कलकत्ता के नागरिकों को लगा कि उनका अपमान हुआ है और उनके साथ अन्याय किया गया है। लेकिन इससे पहले कि वह इस अन्याय को आत्मसात् कर पाते, कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्वायत्त स्वरूप पर प्रहार कर दिया —यह विश्वविद्यालय बंगाल के शिक्षित वर्ग का गौरव था। भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन की सिफारिशों के आधार पर, जिसके एकमात्र सदस्य (गुरुदास बैनर्जी) ने अन्यों से अपनी असहमति प्रकट की थी, कर्जन ने विश्वविद्यालय एक्ट (1904) पास कर दिया। "सभी प्रकार से शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाना" —इस उद्देश्य को बहाना बनाया गया। इस एक्ट के अन्तर्गत सिनेट के निर्वाचित सदस्यों की संख्या (अधिकतर भारतीय) घटा दी गई थी और कालेजों तथा स्कूलों को संबद्धता देने का अधिकार तथा अनुदान देने का अधिकार सरकारी अधिकारियों को सौंप दिया गया था। इस वैधानिक कदम से शिक्षित मध्यवर्ग के असंतुष्ट लोगों के मन में कोई संदेह नहीं रह गया कि वाइसराय उन्हें अपमानित करने तथा हर प्रकार से उनका मनोबल गिराने पर उतारू है। स्वाभाविक था कि मानसिक रूप से उन्हें स्वयं को इससे अधिक कठिनाइयों का सामना करने के लिए तैयार करना पड़ा व उसका मुकाबला करने के लिए तैयार होना पड़ा। सबसे बदतर कदम बहुत जल्दी ही और बहुत ही नाटकीय ढंग से उनके सामने आ गया जब 1905 में कर्जन ने बंगाल के विभाजन की घोषणा कर दी।

11.2 बंगाल के विभाजन की योजना

एक लेफ्टीनेंट गवर्नर के अधीन बंगाल का सूबा असमान जनसंख्या, विभिन्न भाषाओं और बोलियों

वाला इलाका था जिसके विभिन्न भागों की आर्थिक प्रगति भी असमान थी। खास बंगाल के अतिरिक्त (यानि पश्चिम तथा पूर्वी बंगाल के बंगला भाषी क्षेत्र) शुरू में इस सूबे में बिहार, उड़ीसा तथा आसाम भी शामिल थे। इससे पहले भी ब्रिटिश प्रशासन समय-समय पर प्रशासनिक सुविधा के लिए सूबे के क्षेत्र को छोटा करने के बारे में सोचता रहा था। 1874 में उन्होंने आसाम को अलग करके चीफ कमिश्नर का क्षेत्र बना दिया और स्थानीय विरोध के बावजूद उसमें सिलहट के मुख्य रूप से बंगाली भाषी हिस्से को भी जोड़ दिया। 1897 में आसाम में अस्थायी रूप से बंगाल के दक्षिणी लुशाई क्षेत्र को जोड़ कर उसका विस्तार कर दिया गया। लेकिन थोड़ा-थोड़ा करके छोटा करने की इस कार्यवाही से समस्याओं से भरे बंगाल जैसे बड़े सूबे के प्रशासन को चलाने का स्थायी हल नहीं निकला। इसलिए प्रशासनिक दृष्टिकोण से तथा सभी क्षेत्रों की समान प्रगति के दृष्टिकोण से भी बंगाल के पुनर्गठन की आवश्यकता तो थी ही। 1904 में जब कर्जन ने बंगाल के पुनर्गठन की बात की तो वह असंगत नहीं थी। अगर वह भिन्न भाषीय बिहार और उड़ीसा को प्रशासनिक कारणों से अलग करने की बात करता जैसा कि राष्ट्रवादी स्वयं बार-बार माँग रहे थे, कर्जन की नीति को सैद्धान्तिक तथा दूरदर्शी माना जाता। लेकिन वह तथा उसके मुख्य सलाहकार जिनमें बंगाल के लेफ्टीनेंट गर्वनर सर ए. फ्रेजर तथा गृह विभाग, भारत सरकार के सचिव एच.एच. रिसली शामिल थे क्षेत्रीय पुनर्गठन की इस माँग की आड़ में राष्ट्रीयता की आवाज का गला घोंट देना चाहते थे। इसलिए इस कदम के पीछे अंग्रेजों का उद्देश्य मुख्यत: भारत के पूर्व में राष्ट्रीय आंदोलन चलाने वालों को चोट पहुँचाना था जिनमें प्रमुख था बंगला भाषी शिक्षित मध्यम वर्ग। चूँकि वही सबसे पहले ब्रिटिश प्रशासन के आधीन आये थे, इसलिए बंगाली लोगों ने ही सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा, पश्चिमी उदारतावादी विचारों तथा राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने वाले विचारों को अपनाया था। साम्राज्यवादी प्रशासन ने इन सबसे नाराज होकर कार्यवाही करने का निश्चय किया था।

11.3 योजना के पीछे मंशा

कर्जन तथा उस जैसे अन्यों की नजर में बंगाल ब्रिटिश के भारतीय साम्राज्य की सबसे कमजोर कड़ी था। उनके विचार में बंगाली "अभी से एक शक्ति बन गये थे और निश्चय ही भविष्य में बढ़ती हुई गड़बड़ी का स्रोत होंगे।" पूर्वी भारत में राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई इस चुनौती का सामना करने के लिए कर्जन और उसके सलाहकारों ने एक प्रभावशाली समाधान ढूँढने की कोशिश की और अन्ततः वह मिला बंगाली-भाषी लोगों के विभाजन में। सरकारी मूल्यांकन इस प्रकार है: "संयुक्त बंगाल एक शक्ति है, विभाजित बंगाल विभिन्न दिशाओं में खींचने वाले दबावों के प्रभाव में आ जाएगा।" कर्जन और उसके साथी ब्रिटिश साम्राज्य के "दुश्मनों के संगठित समुदाय को विभाजित करके कमजोर बनाने" के लिए कृतसंकल्प थे। विभाजन की इस कार्यवाही या 'विभाजन और शासन' की नीति को इस प्रकार कार्यान्वित करने का निश्चय किया कि बंगालियों का भौतिक एवं मानसिक विभाजन हो सके व विभाजन की इस नीति को सफल बनाने के लिए कर्जन बंगाल के दो बड़े समुदायों – हिंदूओं तथा मुसलमानों – के बीच परस्पर संदेह तथा जलन की भावना पैदा करना चाहता था।

कर्जन और उसके सलाहकारों को पता था कि बंगाल में उनके विरोधियों में हिंदू अधिक थे क्योंकि अपने मुसलमान भाइयों के मुकाबले में इन्होंने ब्रिटिश शासन से सामाजिक आर्थिक और शैक्षिक फायदा अधिक उठाया था। कृषक होने के नाते अधिकतर मुसलमान इस प्रकार का फायदा नहीं उठा पाये थे। चालाकी से यह सुझाव देते हुए कि उनकी सरकार हिंदूओं के साथ प्रगति की होड़ में मुसलमानों का साथ देगी और उन्हें हिंदूओं के प्रभुत्व के खतरे से बचाएगी। कर्जन बंगाल के मुस्लिम बाहुल्य वाले इलाकों को अलग करके, उन्हें आसाम के साथ मिलाकर एक नया सूबा बनाना चाहता था जिसकी राजधानी ढाका हो। कर्जन को आशा थी कि इस नये प्रांत से "पूर्वी-बंगाल के मुसलमानों के बीच ऐसी एकता संभव हो सकेगी जैसी कि पुराने मुसलमान शासकों के दिनों में भी नहीं हो सकी थी।" उसे यह आशा थी कि ढाका "एक ऐसी राजधानी के रूप में उभरेगा जिसमें अगर मुसलमानों के हित प्रमुख नहीं होंगे तो कम से कम उसमें उनका शक्तिशाली प्रतिनिधित्व तो होगा।" इसीलिए कर्जन और उसके साथी बंगाल का विभाजन करके ढाका को राष्ट्रीय भावना से भरपूर कलकत्ता के मुकाबले प्रमुख राजनैतिक केन्द्र बनाना चाहते थे। हिंदूओं को प्रतिसंतुलित करने के लिए मुसलमानों का इस्तेमाल करके वे बंगाल में से मुस्लिम बाहुल्य वाला प्रान्त बनाना चाहते थे जिसमें डेढ करोड़ मुसलमान, एक करोड़ बीस लाख हिंदूओं के साथ रहते तथा बंगाल में वे बंगाली भाषियों को अल्पसंख्यक बना देना चाहते थे (जहाँ बंगाली बोलने वाले एक दशमलव नौ करोड़ लोग रहते, हिन्दी उडीया तथा अन्य भाषाएँ बोलने वाले साढ़े तीन करोड़ लोगों के सामने अल्पसंख्यक हो जाते)

यह शरारतपूर्ण खेल मुख्यतया शिक्षित भारतीय मध्यमवर्ग के राष्ट्रप्रेमियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए खेला गया था।

11.4 विभाजन

बंगाल को विभाजित करने की कर्जन की यह योजना धीरे-धीरे 1 जून 1903 में उसके सीमा पुनर्गठन के मिनट से लेकर 2 फरवरी 1905, जब विभाजन की योजना लंदन में गृह प्रशासन को भेजी गयी, के बीच साकार हुई। योजना उन्नीस जुलाई 1905 को भारत सरकार ने नये प्रांत "पूर्वी बंगाल तथा आसाम" के बनाये जाने की घोषणा कर दी, जिसमें चटगाँव, ढाका तथा राजशाही डिविजन और त्रिपुरा, मालदा तथा आसाम के इलाके शामिल थे। 16 अक्टूबर 1905 को बंगाल के तथा उसके 4 दशमलव 15 करोड़ लोगों के विभाजन के बाद यह नया प्रांत अस्तित्व में आ गया।

बोध प्रश्न 1

1 निम्नलिखित कथनों में से कौन से ठीक (√) या गलत (×) हैं:
जब बंगाल का विभाजन हो रहा था तब

i) भारत का वाइसराय लॉर्ड कर्जन था

ii) भारत सरकार के गृह विभाग का सचिव सर ए. फेजर था

iii) बंगाल का लेफ्टीनेंट गर्वनर एच.एच. रिसली था

iv) बिहार तथा उड़ीसा प्रथक प्रान्त थे।

2 बंगाल के विभाजन के पीछे कर्जन की असली मंशा क्या थी? अपना उत्तर लगभग दस लाइनों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.5 सरकार की गलत अवधारणा

बंगालियों के प्रति तिरस्कार दिखाते हुए तथा बहुत ही ढिठाई से बंगाल का विभाजन करते समय कर्जन और उसके साथियों ने इस कदम के विरोध में होने वाले प्रतिरोध के रूप के बारे में अपनी अटकलें लगाई थीं। उन्हें पता था कि पूर्वी बंगाल के बाबुओं को क्लर्की की नौकरियों की चिन्ता होगी। उन्हें यह भी पता था कि बंगाली जमींदारों को (जिनकी जागीरें पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में फैली थीं) दो अलग-अलग एजेन्टों तथा प्लीडरों के वर्गों की नियुक्ति से बढ़ने वाले खर्च की फिक्र होगी। कलकत्ता हाई कोर्ट के वकीलों को नये प्रात में अलग हाई कोर्ट खुल जाने के कारण वकालत में होने वाले नुकसान की चिन्ता होगी। कलकत्ता बन्दरगाह के आसपास जूट तथा चावल का व्यापार करने वालों को डर होगा कि चटगांव एक वैकल्पिक आयात-निर्यात केंन्द्र बन जाएगा। उन्हें यह भी ज्ञान था कि कलकत्ता के राष्ट्रवादी अपने श्रोताओं तथा अनुयायिओं के बड़े भाग की हानि से चिन्तित

होगे। लेकिन उन्हें आशा थी कि कुछ समय के बाद यह सभी चिन्तायें कम हो जाएंगी या ज्यादा से ज्यादा कुछ देर तक विरोध सभाए तथा प्रदर्शन होंगे जिनको सहा जा सकेगा या जिनकी उपेक्षा की जा सकेगी।

सरकार को बिल्कुल भी अनुमान नहीं था कि विभाजन से एक ऐसा तूफानी राजनैतिक आंदोलन पैदा होगा जो उसे सादरपूर्ण अप्रसन्नता व्यक्त करने के पारंपरिक तरीकों से विमुख करके अप्रत्याशित लड़ाकूपन को जन्म देगा जिसके कारण जल्दी ही वह आंदोलन स्वराज की लड़ाई में बदल जाएगा। प्रशासन ने बंगालियों के सत्तावाद के विरोध का बिल्कुल गलत अन्दाजा लगाया। बंगालियों में यह विरोध उस लंबे इतिहास की देन था जिसके दौरान वे किसी भी प्रकार के नाममात्र के केंद्रीय अंकुश से स्वतंत्र रहे थे। वे बंगालियों में विशेषकर पढ़े-लिखों में अपनी उपलब्धियों के प्रति गौरव एवं एकता की भावनाओं को भी ठीक से नहीं पढ़ पाये जो पूरी 19वीं शताब्दी के दौरान शैक्षिक बौद्धिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों के कारण प्राप्त हुई थी। आर्थिक तथा राजनैतिक गतिविधियों का केंद्र होने के अलावा कलकत्ता शहर जो अंग्रेजों के भारत की राजधानी था, बंगाली चेतना का भी केंद्र बन गया था। यहाँ बंगाल के हर भाग से विद्यार्थी आते थे तथा यहीं से प्रांत के हर हिस्से को, कभी-कभी तो उससे भी आगे अध्यापक तथा व्यावसायिक वर्ग के लोग (विशेषकर इंजीनियर, डॉक्टर वगैरा) भेजे जाते थे। एक शक्तिशाली साहित्यिक भाषा के पनपने में कलकत्ता का महत्वपूर्ण योगदान था। शहर में बहुत से उच्चस्तरीय अखबार तथा लेखकों का जुट था जो पर्चों, पत्रिकाओं तथा विकसित साहित्य का सृजन कर रहे थे।

कलकत्ता को केंद्र बनाकर ये शिक्षित बंगाली बीसवीं शताब्दी के आरंभ में साहित्य में (रवीन्द्र नाथ टैगोर के नेतृत्व में) विज्ञान में (जगदीश चंद्र बोस तथा प्रफुल्ल चंद्र राय के नेतृत्व में), राजनीति में (सुरेंद्र नाथ बैनर्जी, उभरते विपिन चंद्र पाल तथा अरविन्द घोष के नेतृत्व में) तथा धर्म के क्षेत्र में (स्वामी विवेकानंद के रूप में) अपनी उपलब्धियों से समूचे भारत को प्रेरित कर रहे थे। लगभग उसी समय उन्होंने इस बात को भी ध्यान में रखा कि बोअर लड़ाई ने तथाकथित अभेद्य ब्रिटिश कवच में कमजोरियों को प्रकट कर दिया था। उन्हें काफी प्रसन्नता हुई तथा उनमें आत्मविश्वास बढ़ा जब कमजोर माने जाने वाले पूर्व के देश जापान ने 1904-5 में जार के द्वारा शासित पश्चिमी देश रूस को हरा दिया। उनका यह बढ़ता हुआ आत्मविश्वास डराने-धमकाने तथा भेदभाव रखने वाली नस्लवादी कार्यवाहियों के प्रति तिरस्कार का भाव दिखा रहा था।

देश के अन्य भागों में अपने प्रतिपक्षों की तरह बंगाल के मध्यम वर्गीय शिक्षित हिन्दुस्तानी भी हिन्दुस्तान से ब्रिटेन की और "सम्पत्ति निकास" की सख्त आलोचना करते थे और हिन्दुस्तान में बार-बार होने वाले दुर्भिक्ष तथा प्लेग के फैलने से चिन्तित थे। उनकी अपनी आर्थिक हालत भी अच्छी नहीं थी क्योंकि उनके व्यवसायों में बहुत अधिक प्रतिस्पर्धा थी। साथ ही उनकी भू संपत्ति बँटवारे तथा उत्तराधिकार के नियम के कारण लाभकारी नहीं रही थी। सभी वस्तुओं के दाम एका-एक बढ़ जाने से हालत और भी खराब हो गई जिसका असर सभी लोगों पर पड़ा, मध्यम वर्ग पर भी। कीमतें बढ़ी 'सबसे अधिक 1905 और 1908 के बीच - जो अधिकतम राजनैतिक उथल पुथल के वर्ष थे'। (सुमित सरकार, आधुनिक भारत ,885-1947 दिल्ली, 1983 पृ.109) कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 1905 में बंगाल और बंगाली मध्यम वर्ग कर्जन के इस हमले के सामने घुटने टेकने को तैयार नहीं था। लेकिन कर्जन को इस बात का पूरा अहसास नहीं था।

11.6 बहिष्कार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा

बंगाल में विभाजन-विरोधी आंदोलन हालाँकि पारंपरिक नरमपंथी राष्ट्रीय तरीके से शुरू हुआ फिर भी इसमें तीव्र प्रचार तथा रोषपूर्ण विरोध के अंश थे। समाचार पत्रों में विभाजन योजना के विरुद्ध अभियान छेड़ा गया, इसके विरोध में बहुत सी सार्वजनिक सभायें की गयीं तथा सरकार को इस कदम को वापिस लेने के लिए ज्ञापन दिये गये। कलकत्ता के टाऊन

हॉल में बड़ी सभा आयोजित की गयी जिनमें जिलों से आये हुए प्रतिनिधियों ने भाग लिया तथा अपनी क्षतिग्रस्त भावनाओं को व्यक्त किया। यह सब बहुत ही प्रभावशाली था जिससे विभाजन के विरुद्ध मध्यम वर्ग की स्थिति बहुत ही स्पष्ट हो गयी थी। लेकिन भारत और ब्रिटेन के उदासीन प्रशासन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। इन तरीकों की असफलता के कारण 1905 के मध्य से नये तरीकों की खोज शुरू हुई और इसके फलस्वरूप ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार एक प्रभावशाली हथियार के रूप में सामने आया। बहिष्कार का सुझाव सबसे पहले 3 जुलाई 1905 को कृष्ण कुमार मित्र ने दिया जिसे बाद में 7 अगस्त 1905 को टाउन हॉल की एक सभा में प्रमुख लोगों ने मान लिया। इस खोज के बाद रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी ने विभाजन के दिन को **रक्षाबन्धन** (भाई चारे के रूप में एक दूसरे की कलाई पर धागा बाँधना) तथा अरान्धन (शोक के कारण घर में चूल्हा न जलाने की प्रथा) के रूप में मनाने का आह्वान् किया। इस कार्यवाही से आंदोलन को एक नया उत्साह मिला

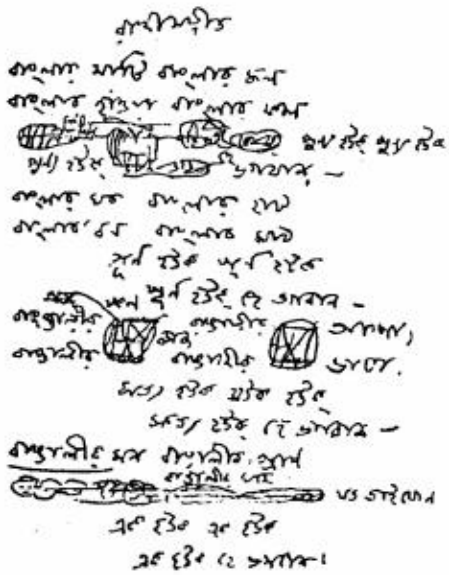

11. राखी संगीत:

ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के बाद :

- स्वदेशी का समर्थन किया गया और लोगों से राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में भारत में बनी वस्तुओं को खरीदने का अनुरोध किया गया,
- **चरखा** (सूत कातने का चक्र) देश की जनता की आर्थिक आत्मनिर्भरता की इच्छा का प्रतीक बन गया, तथा
- हथकरघा की बनी वस्तुओं आदि को बेचने के लिए आयोजित स्वदेशी मेले एक नियमित विशेषता बन गये

स्वदेशी या भारतीय उद्यम के लिए एक नया उत्साह पैदा हो गया। बहुत से विशिष्ट भारतीय उद्योग जैसे कि कलकत्ता पौटरीज, बंगाल कैमिकल्ज, बंग लक्ष्मी कॉटन मिल्स, मोहिनी मिल्स तथा नैशनल टैनरी शुरू किये गये। आंदोलन द्वारा सृजित उत्साह के अंतर्गत विभिन्न साबुन, माचिस तथा तम्बाकू बनाने वाले उद्योग और ऑयल मिल्स, वित्तीय, गतिविधियाँ जैसे स्वदेशी बैंक इंश्योरेंस तथा स्टीम नेवीगेशन कंपनियाँ आदि भी शुरू की गई ।

इस बीच ब्रिटिश वस्तुएँ बेचने वाली दुकानों के सामने धरनों के फलस्वरूप सरकार द्वारा नियंत्रित शैक्षिक संस्थानों का बहिष्कार भी शुरू हो गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा धरना दे रहे विद्यार्थियों के संस्थानों के अनुदान, छात्रवृत्तियाँ तथा मान्यता वापिस लेने की धमकियों के कारण (ऐसा 22 अक्तूबर 1905 के कुख्यात सर्कुलर द्वारा किया गया था जिसे कारलाइल बंगाल सरकार के मुख्य सचिव ने जारी किया था और जिसके कारण इसे 'कारलइल सर्कुलर' भी कहते हैं) तथा विद्यार्थियों को फाइन करने तथा उन्हें निष्कासित करने के फैसलों से बहुत ही बड़ी संख्या में विद्यार्थियों ने 'दासता' के इन स्कूलों और कालेजों को छोड़ देने का फैसला किया। स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार से स्वदेशी आंदोलन के नेताओं को बंगाल में समानान्तर शिक्षा व्यवस्था चलाने को

बाध्य होना पड़ा। जल्दी ही अपीलें जारी की गयीं, अनदान इकट्ठे किये गये तथा विशिष्ट व्यक्ति राष्ट्रीय शिक्षा कार्यक्रम बनाने लगे। इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप बंगाल टैक्नीकल इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई (जिसे 25 जुलाई 1906 को शुरू किया गया था और जो बाद में कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग एंड टैक्नोलौजी में परिवर्तित हो गया और जो आज के जादवपुर विश्वविद्यालय का आधार बना), बंगाल नैशनल कालेज तथा स्कूल (जिसे 15 अगस्त 1906 को स्थापित किया गया था और जिसके प्रिंसिपल बने थे अरविन्द घोष) तथा जिलों में विभिन्न राष्ट्रीय प्राइमरी स्कूलों एवं सैकेंडरी स्कूलों की भी स्थापना हुई।

11.7 समितियाँ तथा राजनैतिक प्रवृत्तियाँ

राष्ट्रीय शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए तथा बहिष्कार एवं स्वदेशी के संदेशों को प्रसारित करने के लिए बहुत-सी राष्ट्रीय स्वेच्छा संस्थायें या समितियाँ कलकत्ता और आस-पास के जिलों में बन गयीं। इनमें प्रमुख थीं डॉन सोसायटी (जिसका नाम उस समय की प्रसिद्ध पत्रिका 'डॉन' के नाम पर रखा गया था), एन्टी सर्कुलर सोसायटी (जो प्रारंभ में 'कारलायल सर्कुलर' के विरोध में बनायी गई थी), स्वदेशबांधव, व्रती, अनुशीलन, सुहरिद तथा साधना समितियाँ, इन समितियों का काम था स्वदेशी तथा बहिष्कार का प्रचार करना दुर्भिक्ष तथा महामारी के दिनों में राहत कार्य करना, शारीरिक एवं नैतिक ट्रेनिंग देना, दस्तकारी एवं राष्ट्रीय स्कूल खोलना, मध्यस्था कमेटियाँ बनाना तथा गाँवों में समितियाँ खोलना। इन्होंने लोक-गायकों तथा कलाकारों (जिनमें मुकुन्द दास ,भूषण दास तथा मुफीज्जुदीन बयाती प्रमुख थे) को स्थानीय बोलियों में स्वदेशी विषयों पर आधारित कला प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित किया। इन प्रयत्नों से महान साहित्यिक प्रतिभाओं जैसी रवीन्द्रनाथ टैगोर, रजनीकांत सेन, द्विजेन्द्र लाल रॉय, गिरीन्द्र मोहिनी दासी, सैयद आबू मोहम्मद, गिरीश चंद्र घोष, क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद तथा अमृत लाल बोस आदि की राष्ट्रीय रचनाओं का गाँवों के स्तर पर प्रचार बढ़ा। इन समितियों के सिद्धांतों में धर्मनिरपेक्षता से धार्मिक पुनर्जागरण तक संतुलित राजनीति से सामाजिक सुधारवाद तक (रचनात्मक, आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक कार्यक्रमों द्वारा) सभी कुछ था और राजनैतिक उग्रवाद भी इन समितियों की सीमा में था।

वास्तव में बंगाल में स्वदेशी आंदोलन में बहुत-सी राजनैतिक विचारधाराएँ जन-मानस का समर्थन प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे से होड़ कर रही थीं:

i) संतुलित राजनैतिक मत (जिसका प्रतिनिधित्व सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, कृष्णकुमार मित्र और नरेन्द्र कुमार सेन आदि कर रहे थे) अभी भी ब्रिटिश न्याय में आस्था रखे हुए था और आंदोलन को बहुत अधिक आगे खींचने के पक्ष में नहीं था। उदारवादी मौर्ली के ब्रिटेन में भारत सरकार के सचिव बनाये जाने पर ही उनकी आशायें आधारित थीं। लेकिन वर्तमान लड़ाकू मानसिकता के प्रति उनका अनुत्साह इतना अधिक साफ था कि वे जल्दी ही अपनी लोकप्रियता पूरी तरह से खो बैठे।

ii) सामाजिक सुधारवाद की दूसरी प्रवृत्ति जिसे रचनात्मक स्वदेशी के नाम से जाना गया का लक्ष्य राष्ट्रीय शक्ति को आत्म सहायता तथा आत्मनिर्भरता (जिसे रवीन्द्रनाथ टैगोर ने आत्मशक्ति का नाम दिया था) के द्वारा बढ़ाना था जिसके लिए स्थानीय उद्यम, राष्ट्रीय शैक्षिक प्रक्रियाएं आदि तथा गाँवों तथा शहरों के बीच की खाई को पाटने के लिए गांव सुधार समितिया स्थापित करने की आवश्यकता थी

वे सब जो संतुलित राष्ट्रीयवादियों के साथ सहमत नहीं थे वे शुरू-शुरू में रचनात्मक स्वदेशी के हिमायती थे। इसके प्रमुख प्रतिनिधि थे सतीश चंद्र मुखर्जी, अश्विनी कुमार दत्त, रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रफुल्ल चंद्र रॉय तथा नीलरतन सरकार।

iii) हालाँकि समाज सुधारवादियों का कार्यक्रम कई तरीकों से महत्वपूर्ण था, लेकिन उन उग्र दिनों में उसके आडम्बरहीन, सादा तथा उत्तेजनाहीन होने के कारण उसकी लोकप्रियता अधिक नहीं थी। वह न तो विपिनचंद्र पाल, अरविन्द घोष तथा ब्रह्मबांधव उपाध्याय जैसे राजनैतिक नेताओं के उल्लास का मुकाबला कर सकता था

और न ही बंगाल के अधीर, साहसिक युवा-वर्ग को संतुष्ट कर सकता था। ऐसे हालात में राजनैतिक उग्रवाद - तीसरी प्रवृत्ति का उभर कर आना स्वाभाविक ही था। इसको अभिव्यक्ति मिली न्यू इंडिया (जिसके संपादक थे विपिनचन्द्र पाल), बन्दे मातरम् (जिसके संपादक थे अरविन्द घोष), संध्या (जिसके संपादक थे ब्रह्मबांधव उपाध्याय) तथा युगान्तर (जिसके संपादक थे भूपेन्द्रनाथ दत्त) आदि पत्रिकाओं में। राजनैतिक उग्रवादी भारत के लिए स्वशासन (सैल्फ गवर्नमेंट) की माँग कर रहे थे जो किसी भी प्रकार से ब्रिटिश संरक्षण या ब्रिटिश प्रभुता के आधीन न हो (जैसा कि नरमपंथियों का विचार था) तथा जो ब्रिटिश संबधों तथा प्रभावों से अपना नाता तोड़ ले।

राजनैतिक उग्रवादी नेताओं ने स्वराज की स्थापना का नारा दिया और उसे प्राप्त करने के रास्तों की खोज का प्रयत्न किया। वे जल्दी ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बहिष्कार की नीति को ब्रिटिश वस्तुओं तथा शैक्षिक संस्थानों के दायरे से बढ़ाकर ब्रिटिश प्रशासन,ब्रिटिश अदालतों तथा ब्रिटिश सेवाओं तक ले जाना चाहिए ताकि भारत में ब्रिटिश प्रशासन की जड़ों को हिलाया जा सके। विपिनचंद्र पाल ने इसे 'सरकार को किसी भी प्रकार की स्वैच्छिक अवैतनिक सेवाएँ प्रदान करने का विरोध या 'निष्क्रिय विरोध' या 'अवज्ञा' की संज्ञा दी। अप्रैल 1907 में बंदे मातरम् में छापे गए कई लेखों में अरविन्द घोष ने इस योजना को और आगे बढ़ाया। उनका सुझाव था कि ब्रिटिश वस्तुओं ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था, ब्रिटिश न्यायतन्त्र तथा प्रशासन का 'सुयोजित ढंग से बहिष्कार ' किया जाना चाहिए तथा अन्यायपूर्ण नियमों का नागरिक उल्लंघन द्वारा सामाजिक बहिष्कार किया जाना चाहिए।

ब्रिटिश दमन के भारतीय सहनशीलता की सीमा के आगे बढ़ जाने की स्थिति में अरविन्द घोष ब्रिटिश विरोधी सशस्त्र संघर्ष करने के लिए तैयार थे। ब्रह्मबांधव उपाध्याय ने कहा कि– सैनिक की तो बात ही क्या अगर चौकीदार, कास्टेबल, डिप्टी, मुंसिफ या क्लर्क अपने-अपने कार्यों से इस्तीफा दे दें तो हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज कैसे चल पायेगा।

जिस उत्साह से राजनैतिक उग्रवाद के प्रतिपादकों ने स्वराज के मामले को सामने रखा और उसकी प्राप्ति के लिए निष्क्रिय विरोध का सुझाव दिया, उसके सामने सभी अन्य बातें गौण हो गईं, यहाँ तक कि बंगाल का विभाजन, जिससे इस आंदोलन की शुरूआत हुई थी, भी उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा। स्वराज के लिए संघर्ष के महत्व के मुकाबले बंगाल की एकता का मामला उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा, तथा अरविन्द घोष के शब्दों में (28 अप्रैल 1907, बंदे मातरम्) यह सबसे तुच्छ तथा सबसे संकीर्ण राजनैतिक उद्देश्य, लगने लगा। इस प्रकार एक प्रादेशिक मामले के राष्ट्रीयकरण तथा उसके साथ जुड़े राष्ट्रीय उद्देश्य के लक्ष्य की स्पष्टता ने राष्ट्रीय नेताओं को दो वर्ष के समय में ही असाधारण प्रगति का अवसर प्रदान कर दिया।

बोध प्रश्न 2

1 निम्नलिखित पत्रिकाओं को उनके संपादकों के नामों से जोड़िये।

i) बंदे मातरम्	क) विपिनचंद्र पाल
ii) संध्या	ख) अरविन्द घोष
iii) न्यू इंडिया	ग) ब्रह्मबांधव उपाध्याय

2 लगभग दस लाइनों में स्वदेशी आंदोलन के शुरू होने के कारणों की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....
.....
.....
.....

3 स्वदेशी आंदोलन के दौरान उभरी कार्यविधियों के बारे में लगभग 100 शब्दों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

4 स्वदेशी आंदोलन के दौरान उत्पन्न राजनैतिक प्रवृत्तियां क्या-क्या थीं? उत्तर पाँच लाइनों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....

11.8 जन – आंदोलन की संकल्पना : मजदूर और किसान

स्वराज का राष्ट्रीय उद्देश्य तथा सभी क्षेत्रों में बहिष्कार और निष्क्रिय विरोध द्वारा उसकी प्राप्ति जन-मानस से न केवल व्यापक चेतना की अपेक्षा करते थे बल्कि ब्रिटिश-विरोधी जन– आंदोलनों में उनकी एक निष्ठ सहभागिता भी आवश्यक मानते थे। स्वदेशी आंदोलन की प्रगति के साथ-साथ समूचा शिक्षित मध्यम वर्ग तो जागृत हो गया था, साथ ही जमींदार वर्ग के कुछ लोग, व्यावसायिक तथा व्यापारी-वर्ग के प्रतिनिधि भी राष्ट्रीय उद्देश्य के प्रति सहानुभूति रखने लगे थे। लेकिन गरीब वर्ग का अपार जनसमुदाय, विशेषकर मजदूर वर्ग तथा किसान, अभी इस आंदोलन में शामिल नहीं हुए थे।

11.8.1 मजदूर

लेकिन कुछ स्वदेशी कार्यकर्ताओं ने (विशेषकर अश्विनी कुमार बनर्जी, प्रभात कुसुम रायचौधरी, अलथ्नैसियस अपूर्व कुमार घोष तथा प्रेमतोष बोस) बंगाल के मजदूरों को संगठित करने का प्रयत्न किया और उनकी आर्थिक कठिनाइयों को राजनैतिक दिशा देने की कोशिश की।

इस दिशा में पहल की हावड़ा में बर्न कंपनी के 247 क्लर्कों ने जिन्होंने सितंबर 1905 में एक अपमानजनक कार्य-नियम के विरोध में हड़ताल कर दी। इसके बाद कलकत्ता ट्रामवेज, जूट मिलों तथा रेल वर्कशापों में हड़तालें हुई। कलकत्ता में कुलियों, वेटरों तथा

सफाई कर्मचारियों ने भी अपनी आर्थिक माँगों के लिए हड़ताल का सहारा लिया। इसी प्रकार का राजनैतिकरण छापाखानों, जूट मिलों और रेलवे के मजदूरों में भी देखा गया। सरकारी छापाखाने में एक उग्र हड़ताल के बाद पहली वास्तविक मजदूर यूनियन बनी जो थी छापाखानों के मजदूरों की यूनियन जिसकी स्थापना अक्टूबर 1905 में हुई।

इसी तरह के संघर्ष के फलस्वरूप जो इस्टर्न इंडियन रेलवे के मजदूरों ने शुरू किया था, जुलाई 1906 में रेलवेज यूनियन की स्थापना हुई। विपिनचन्द्र पाल, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती तथा लियाकत हुसैन जैसे स्वदेशी नेताओं ने आसनसोल, रानीगंज और जमालपुर के उत्तेजित मजदूरों को संगठित करने का प्रयत्न किया जिसका नतीजा यह हुआ कि 27 अगस्त 1906 को जमालपुर वर्कशाप में पुलिस ने गोली चलाई। जूट मजदूरों ने, भी, जो 1905 से इसी प्रकार की माँगों को लेकर संघर्ष कर रहे थे, अश्विनी कुमार बनर्जी के नेतृत्व में बज-बज में अगस्त 1906 में इंडियन मिल हैंड्सज यूनियन बना ली। लेकिन बाद में सरकार के प्रतिकूल रवैये के कारण इन सभी यूनियनों को धक्का लगा। चूँकि ये राष्ट्रवादी मजदूरों के प्रति सैद्धांतिक रूप से वचनबद्ध नहीं थे इसलिए 1907 के बाद मजदूरों को संगठित करने का उनका उत्साह हल्का पड़ गया।

11.8.2 किसान

स्वदेशी आंदोलन के नेताओं ने मजदूरों को संगठित करने का प्रयत्न तो किया लेकिन किसानों के बारे में उन्होंने बिल्कुल भी कोशिश नहीं की। हालाँकि समितियों की ग्रामीण इलाकों में बहुत-सी शाखायें थीं (जैसे स्वदेशबांधव समिति जिसकी बरिसाल जिले में 175 शाखायें थीं) जो जन-समुदाय को निष्क्रिय प्रतिरोध के प्रति जागरूक बनाती थीं लेकिन वे किसानों को संगठित करने में असफल रहीं। अधिकतर भूखे-नंगे किसानों के लिए उनके राष्ट्रीय नारे अस्पष्ट, दूरस्थ और यहाँ तक कि थोथा शब्दाडम्बर ही रहे। इसका असली कारण इन नेताओं में कृषि की दशा सुधारने या किसान-समुदाय की हालत को बेहतर बनाने वाले कार्यक्रमों के प्रति सच्ची रुचि का अभाव था। बंगाल के मध्यम वर्ग के लोग चाहे वे व्यवसायी हों या क्लर्क या व्यापारी, उनकी आर्थिक समृद्धि उनकी पैतृक जमीन से आमदनी पर निर्भर थी। उनकी आय के इस स्त्रोत के कारण किसानों के संदर्भ में वे शोषक वर्ग में आते थे और उनके अपने हितों और किसानों की आकांक्षाओं के बीच एक अन्तर्विरोध पैदा हो गया था। पहले ही बंगाली मध्यम वर्ग सरकार द्वारा 1885 के टेनैन्सी एक्ट के अंतर्गत खेतिहरों को दिये गये तुच्छ पट्टेदारी के हक से अप्रसन्न था। उनके प्रतिनिधियों को "गुस्ताख रैयतों" से चिढ़ थी और "भद्रलोक" (सभ्य समाज) होने के नाते वे इन "छोटे लोग(निम्न वर्ग) को तिरस्कारपूर्ण नजर से देखते थे।

स्वदेशी आंदोलन ने किसानों के ऋण के भार, समय-समय पर जमीन से बेदखल किये जाने और बेगार (बिना मजदूरी के जबर्दस्ती काम लेना) लिये जाने के विरुद्ध बिल्कुल भी आवाज नहीं उठाई। किसी भी समिति ने काश्तकारों को अत्याधिक कर और किराये के खिलाफ आंदोलन शुरू करने का आह्वान नहीं दिया। यहाँ तक कि अरविन्द घोष जैसे अतिवादी नेता ने भी ऐसा आंदोलन शुरू करने से इंकार कर दिया कि कहीं राष्ट्रवादी जमींदारों के हितों को हानि न पहुँचे (अप्रैल 1907 में बंदे मातरम् में अरविन्द घोष के लेख) इससे भी दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि स्वदेशी आंदोलन में कुछ देर बाद हिंदू पुनर्जागरण के प्रतीकों तथा शब्दावली पर जरूरत से ज्यादा जोर दिया जाने लगा जिसके फलस्वरूप मुस्लिम किसानों (जो पूर्वी बंगाल के किसानों में बहुसंख्यक थे) में इस आंदोलन के प्रति अधिक उत्साह नहीं रहा।

11.9 सांप्रदायिक समस्या

पारंपरिक समाजों में अक्सर राष्ट्रीय भावना को उभारने का एक लोकप्रिय तरीका धर्म का इस्तेमाल करना होता है और सामान्यतया इसके नतीजे नुकसानदायक (परिणाम

दुर्भाग्यपूर्ण) होते हैं। स्वदेशी आंदोलन का अनुभव भी इससे भिन्न नहीं था। बंगाल में नेताओं ने हिंदू धर्म और इस्लाम से जो राजनैतिक फायदा उठाना चाहा उससे दोनों समुदायों के बीच की खाई और गहरी हो गई। बंगाल के लोगों और इलाके का बँटवारा तथा हिंदू और मुसलमानों को एक-दूसरे से लड़वाना, यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जाने-पहचाने हथकंडे थे। इनकी शुरूआत हुई थी 1905 में लॉर्ड कर्जन, सर ऐन्ड्रू फ्रेजर और सर हर्बर्ट रिसले से और जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इसी नीति को बनाये रखा लॉर्ड मिन्टो (जो कर्जन के स्थान पर वाइसराय बन कर आया था), सर बमफिलडे फुलर (जो पूर्वी बंगाल और आसाम के पहले लेफ्टीनेंट गवर्नर थे) और सर लैंसलौट हेयर (जो फुलर के स्थान पर आये थे) ने। जहाँ मिन्टो बंगाली राजनीतिज्ञों की "शक्ति को कम किये जाने" का कायल था, वहाँ फुलर ने वास्तव में "जनसंख्या के दो मुख्य हिस्सों को (हिंदू और मुस्लिम) एक दूसरे के खिलाफ भड़काना" शुरू कर दिया और हेयर ने सरकारी नौकरियों के मामले में हिंदुओं के मुकाबले में मुसलमानों को विशेष सहायता देने के प्रस्ताव पर विचार किया।

शिक्षित मुसलमानों को आकर्षित करने के साथ-साथ प्रशासन ने उनमें कुलीन तत्वों को मुस्लिम राजनैतिक शक्ति के विषय में विचार करने को प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप अक्तूबर 1906 में ढाका के नवाब सलीमुल्लाह के नेतृत्व में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इसके अलावा, पूर्वी बंगाल के ग्रामीण इलाकों में मुल्लाओं और मौलवियों का बहुत असर था और वे अक्सर जमींदारों (जिनमें अधिकतर हिंदू थे) और काश्तकारों (जिनमें अधिकतर मुसलमान थे) के बीच अंतर्विरोध को धार्मिक विरोध के रूप में प्रस्तुत करते थे।

इस सबके बावजूद स्वदेशी आंदोलन के दौरान सांप्रदायिक सद्भाव के बारे में जोरदार तर्क दिये गये (जैसा कि संजीवनी के लेखों में हुआ)। हिंदू मुस्लिम भाईचारे के अत्यन्त सुन्दर दृश्य देखने को मिले (जैसे 23 सितम्बर 1906 को कलकत्ता में 10,000 विद्यार्थियों का संयुक्त प्रदर्शन)। कुछ विशिष्ट मुस्लिम नेताओं ने आंदोलन में भाग लिया (जैसे लियाकत हुसैन, अब्दुल हकीम गजनवी, अब्दुल रसूल, मनीरुज्जमान, इस्माइल हुसैन, सिराजी, अबुल हुसैन और दीन मोहम्मद)। लेकिन इन रचनात्मक कार्यों का अधिकतर प्रभाव शिक्षित, मध्यम वर्ग के राष्ट्रीय नेताओं को अपने अनुयायियों द्वारा उत्साहित करने के लिए हिंदू रूढ़िवादी प्रक्रियाओं, बिंबों तथा मिथकों के प्रयोग करने की कोशिशों से नष्ट हो गया।

बंदे मातरम्, संध्या तथा नवशक्ति जैसी राष्ट्रवादी पत्रिकाओं के हिंदूवादी उपदेशों, हिंदू इतिहास का गौरवगान, प्राचीन हिंदू राष्ट्र की स्मृति, स्वदेशी (ब्रिटिश वस्तुओं को न इस्तेमाल करना) की शपथ हिंदू देवता के समक्ष लेना, देवी काली के सामने आत्म-बलिदान का व्रत लेना तथा गीता से उद्धरणों आदि ने मुसलमानों को हिंदुओं के नजदीक लाने में रुकावटें पैदा की। यही नहीं इनके कारण दोनों समुदायों का एक-दूसरे के प्रति रवैया और भी कठोर हो गया। बीराष्टमी (विगत के आठ हिंदू वीरों की स्मृति में) का मनाया जाना, राष्ट्रीय शिक्षा कार्यक्रमों में पारंपरिक हिंदू मान्यताओं पर जोर देना, सार्वजनिक भाषणों में पौराणिक प्रतिमानों का प्रयोग, बंगालियों की "अन्तरात्मा के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि के रूप में देवी दुर्गा पर जोर देना आदि ने राष्ट्रीय आंदोलन को धार्मिक रूप दे दिया। विपिनचंद्र पाल ने ऐसे विकारों को इस आधार पर उचित बताया कि धर्म और राष्ट्रीय जीवन को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और "इन्हें अलग करने का अर्थ होगा वैयक्तिक जीवन से धार्मिक और नैतिक मूल्यों को अलग कर देना" (सुमित सरकार, द स्वदेशी मूवमेंट इन बैंगाल, 1903-1908, देहली, 1977-76) ब्रह्मबांधव उपाध्याय तो एक कदम और आगे बढ़ गये और उन्होंने अपने श्रोताओं से कहा: "तुम कुछ भी सुनो, कुछ भी सीखो, कुछ भी करो – हिंदू बने रहो, बंगाली बने रहो...।" बंदे मातरम् के संपादक अरविंद घोष तो इनसे भी कहीं आगे निकल गये जब उन्होंने हिंदू समाज के वर्ग विभाजन में जनतंत्र, यहाँ तक कि समाजवाद के बीज तक ढूँढ निकाले। ("कॉस्ट एंड डिमौक्रैसी, बंदे मातरम्, 21 सितम्बर 1907) आंदोलन की चरमसीमा के समय प्रमुख नेताओं द्वारा हिंदू जागरणवाद के प्रचार ने नवाब सलीमुल्लाह के आदमियों और मुल्लाओं को कर्जन की आशा के अनुसार मुसलमानों में सांप्रदायिक द्वेष फैलाने का अवसर प्रदान कर दिया।

इन परिस्थितियों में सांप्रदायिक तत्वों के लिए सांप्रदायिक दंगों का सहारा लेना आसान था। बंगाल के पूर्वी हिस्से में कई साम्प्रदायिक दंगे हुए, पहले ईश्वरगंज में, मई 1906 में मैमनसिंह जिले में उसके बाद मार्च 1907 में कोमिल्ला, जमालपुर, दीवानगंज और बख्शीगंज में । अप्रैल-मई 1907 में दुबारा मैमनसिंह में दंगे हुए। दंगा करने वालों को साम्प्रदायिकतावादियों द्वारा फैलाई गई इन अफवाहों से शह मिली कि ब्रिटिश सरकार ने ढाका में प्रशासन की बागडोर नवाब सलीमुल्लाह के हाथ में दे देने का फैसला कर लिया है। दंगों से दबा हुआ कृषक जमींदार संघर्ष स्वरूप उभर कर सामने आ गया क्योंकि दंगों का निशाना अक्सर हिंदू जमींदार और महाजन (पैसा ब्याज पर उधार देने वाले) थे। हालाँकि राष्ट्रवादियों को इन परिस्थितियों से खतरा महसूस हो रहा था फिर भी उन्होंने सारी बात को ठीक से समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने दंगे करने वालों को अंग्रेजों के भाडे के टट्टू करार दे दिया और इस बीमारी की जड़ में जाने की कोई कोशिश नहीं की। नतीजा यह हुआ कि धर्म की सरगर्मियाँ कम होने के बजाए बढ़ती रही।

11.10 क्रांतिकारी आतंकवाद का उदय

लेकिन किसी भी आंदोलन की सफलता उसमें जनता के व्यापक रूप से भाग लेने पर निर्भर करती है। परंतु स्वदेशी आंदोलन में इसका अभाव रहा। कृषकों तथा मजदूरों से उसे आंशिक सफलता मिलने के कारण, सांप्रदायिक उलझन को न सुलझा पाने के कारण 1907 के मध्य तक भी स्वदेशी आंदोलन अपनी चरम सीमा तक नहीं पहुँच पाया और न ही यह पूर्णतया एक जन-आंदोलन में ही बदल सका। इसके अलावा एक प्रबल साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन के रूप में इसे अपने शक्तिशाली विरोधी के दमनकारी कदम का शिकार होना पड़ा। प्रशासन ने सार्वजनिक स्थानों पर 'बंदे मातरम्' नारे लगाने पर रोक लगा दी, आंदोलन में किसी प्रकार से भी भाग लेने वाले सरकारी नौकरी के लिए अयोग्य करार दे दिए जाते थे तथा विद्यार्थियों को भाग लेने पर दण्ड देना पड़ता था या निकाल दिया जाता था। बरीसाल में गोरखों के दलों को आंदोलनकारियों को सबक सिखाने के लिए भेजा गया तथा पुलिस और अधिकारियों को उन पर शारीरिक अत्याचार तथा अपमान करने के लिए खुली छूट दे दी गई। चरम सीमा तो अप्रैल 1906 में पहुँची जब बरीसाल में प्रांतीय सभा में भाग ले रहे प्रतिनिधियों पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया। इसके बाद धरना देने वालों को सबक सिखाने के लिए बेंत मारे जाने लगे और उनके खिलाफ मुकदमे दर्ज किये जाने लगे, सार्वजनिक सभाओं और प्रदर्शनों पर रोक लगाई जाने लगी, विपिनचंद्र पाल और लियाकत हुसैन समेत बहुत से लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें सजायें दी गई। ताकत का मुकाबला ताकत से करने का प्रश्न – आतंक के विरुद्ध आतंक का करने का प्रश्न उभर कर सामने आ गया।

हिंसात्मक तरीका बंगाल के माध्यम वर्गीय युवाओं के रुमानी दुःसाहस को भी खूब पसन्द आया जो जन-आंदोलन के सफल न होने पर वैयक्तिक शौर्य के कार्यों में सांत्वना ढूंढते रहे और जब खुली राजनीति सरकार को प्रभावित नहीं कर सकी तो उन्होंने अपनी उम्मीदें गुप्त सभाओं पर टिका दी। हिंसा का रास्ता उनको भी पसन्द आया जिन्हें बहुत जल्दी थी और जिनकी सहनशक्ति समाप्त हो चुकी थी। युगान्तर ने अगस्त 1907 में लिखा 'यदि हम बेकार बैठे रहें और विरोध में खड़े होने से इंकार कर दें जब तक कि सारी जनता में दुःसाहस न भर जाये तो हम अनंत तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे.....।' उन्नत विशिष्ट वर्ग के सामने दमनकारियों के विरुद्ध हथियार उठाने का ही विकल्प रह गया था, जिससे वह घृणित ब्रिटिश अधिकारियों और उनके गुर्गो के दिलों में आतंक भर सकें और जन-साधारण के सामने मौत से जूझने वाला आदर्श स्थापित कर सकें। जल्दी ही कुछ समितियाँ विशिष्ट सीमित समितियों में बदल गयीं, जो चुनींदा हत्याओं के बारे में षडयंत्र रचने लगी तथा हथियार खरीदने के लिए धन जुटाने के लिए राजनैतिक डकैतियाँ डालने लगीं। इन क्रांतिकारी गतिविधियों की अगुवाई कलकत्ता के युगान्तर ग्रुप और ढाका की अनुशीलन समिति ने की।

प्रफुल्ल चकी मारा गया और कुख्यात ब्रिटिश मैजिस्ट्रेट किंगफोर्ड की हत्या पर हमले के आरोप में अठारह वर्षीय खुदीराम बोस को फाँसी दे दी गई हालाँकि किंगफोर्ड बच गया था। अप्रैल 1908 में कलकत्ता के माणिकतला क्षेत्र में बम बनाने की एक गुप्त फैक्टरी

पकड़ी गई तथा अरविंद घोष सहित बहुत से क्रांतिकारियों को गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन क्रांतिकारी आतंकवाद इस सदमें को सह गया। वह न केवल जारी रहा बल्कि देश-विदेश के अन्य भागों में भी फैल गया। यह हंगामाई तथा स्वदेशी आंदोलन की विरासत था।

बोध प्रश्न 3

1 किसानों ने स्वदेशी आंदोलन में भारी संख्या में भाग क्यों नहीं लिया। उत्तर 10 लाइनों में दीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

2 आपके विचार में 1906- 07 में सांप्रदायिक परिस्थिति खराब क्यों हुई? उत्तर 10 लाइनों में दीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

3 1907- 08 में "क्रांतिकारी आतंकवाद" का उदय कैसे हुआ? उत्तर 10 लाइनों में दीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

11.11 सारांश

क्रांतिकारी आतंकवाद के विकास ने भारत में ब्रिटिश सरकार को प्रातंकित तो किया लेकिन वह स्वदेशी आंदोलन की तरह उनके प्रभुत्व को चुनौती नहीं दे पाया न ही वह उन्हें किसी संकट में डाल पाया जो कि एक बढ़ते हुए जन संग्राम द्वारा ही संभव था। स्वदेशी आंदोलन का अन्ततः गुप्त संगठनों के रूप में बदल जाना इस बात का परिचायक है कि इस आंदोलन की कई कमियां और सीमायें थीं । लेकिन इन कमजोरियों के बावजूद विचारधारा के स्तर पर और राजनैतिक आंदोलन की प्रणाली और व्यवस्था के रूप में इस आंदोलन की सफलतायें न केवल आश्चर्यजनक थीं बल्कि नवीन और कई मायनों में अपने समय से कहीं आगे थीं।

स्वदेशी आंदोलन ने पहले के राष्ट्रवादियों के तरीकों– आवेदन तथा प्रार्थना करने को समाप्त किया तथा नरम राजनैतिक कार्यक्रम को लगभग अस्वीकार कर दिया। इसने हिन्दुस्तानी लोगों के सामने स्वराज या स्वतंत्रता का उद्देश्य रखा और उन्हें हिन्दुस्तान को ब्रिटिश साम्राज्यवादी शिकंजे से छुड़ाने के लिए प्रेरित किया। स्वराज की प्राप्ति के लिए इसने राष्ट्र के लिए जन विरोध का रास्ता चुना और संविधानवाद को पीछे धकेल दिया। इस प्रकार के विरोध की सफलता जन-समुदाय के भाग लेने पर निर्भर करती है इसीलिए स्वदेशी आंदोलन ने अपने लोकप्रिय आधार को विकसित करने का प्रयत्न किया और पूरी तरह जन-आंदोलन बन सकने में सफल न होने के बावजूद इसने आने वाली पीढ़ियों के सामने जन-आंदोलन का आदर्श रखा। इस सबके और अपने "रचनात्मक स्वदेशी" स्वरूप के कारण इस आंदोलन ने प्रथम विश्व महायुद्ध के बाद गांधी जी द्वारा शुरू किये गये जन आंदोलनों के लिए रास्ता बनाया। अहिंसा के सिद्धांत के सिवा गांधी जी का 1920 के बाद स्वराज को "असहयोग", "नागरिक अवज्ञा" तथा "रचनात्मक कार्यक्रमों" द्वारा प्राप्त करने का आंदोलन बंगाल के पंद्रह वर्ष पहले के स्वदेशी आंदोलन के बहिष्कार और निष्क्रिय विरोध से बहुत मिलता जुलता था। स्वदेशी आंदोलन ने कर्जन जैसे कट्टर साम्राज्यवादियों का कड़ा विरोध किया और उसके 1905 में चले जाने के बाद लॉर्ड मिन्टो की सरकार का भी विरोध किया। अगस्त 1906 में पूर्वी बंगाल और आसाम के लेफ्टीनेंट गवर्नर फुलर का इस्तीफा भी इसी आंदोलन का परिणाम था और अन्ततः 1911 में विभाजन को रद्द करके बंगाल के पुनर्एकीकरण में भी इसी आंदोलन का हाथ था। लेकिन समस्त भारत के संदर्भ में यह उस आंदोलन की मुख्य सफलता नहीं थी। इसकी मुख्य सफलता थी भारतीय राष्ट्रीयता को एक नयी कल्पनाशील दिशा देना तथा उसको कड़े साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन के ऊँचे स्तर पर पहुँचा देना।

जैसा कि सभी राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल की घटनाओं में होता है स्वदेशी आंदोलन ने भी बंगाल की सांस्कृतिक और बौद्धिक गतिविधियों पर अपनी गहरी छाप छोड़ी जिसका असर देश के विभिन्न भागों पर भी पड़ा। इसके कारण न केवल देश भक्ति से भरी रचनाओं, नाटकों और रंगमंच का सृजन हुआ बल्कि इसने रवीन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में बंगाल चित्रकला पद्धति को भी जन्म दिया, जगदीश चंद्र बोस और प्रफुल्ल चंद्र राय की देखरेख में वैज्ञानिक जिज्ञासा को जगाया, दिनेश चंद्र सेन के प्रयत्नों के द्वारा लोक-परंपराओं में रुचि पैदा की और राखालदास बैनर्जी, हरप्रसाद शास्त्री और अक्ष्य कुमार मित्र की सहायता से ऐतिहासिक अनुसंधान को बढ़ाया।

11.12 शब्दावली

सर्वसत्तावाद: एक ऐसी अवधारणा जिसमें लोगों की इच्छाओं को ध्यान में रखे बिना सत्ता को उन पर लादा जाता है।
सिद्धांतवादी: वे लोग जो किसी विशेष विचारधारा/सिद्धांत के प्रचार में रहते हैं।
राजनैतिक उग्रवाद: एक ऐसी अवधारणा जिसमें राजनैतिक समस्याओं का हल उग्रवादी तरीकों द्वारा ढूंढा जाता है।
राजनीतिकरण: ऐसी प्रक्रिया जिसके द्वारा राजनीति लोगों के जीवन के बारे में सोचने के ढंग का अंग बन जाती है।
नस्लवादी: दूसरे के मुकाबले अपनी नस्ल को समझने की भावना समझने को।
धार्मिक पुनरूत्थानवाद: एक ऐसी अवधारणा जिसमें धार्मिक विरास का सहारा वर्तमान के उद्देश्यों या विचारों को उचित ठहराने के लिए लिया जाता है।

11.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 i) ✓ ii) × iii) × iv) ×
2 देखिए भाग 11.3

बोध प्रश्न 2

1 i) ख ii) ग iii) क
2 देखिए भाग 11.5
3 देखिए भाग 11.6
4 देखिए भाग 11.7

बोध प्रश्न 3

1 देखिए भाग 11.8
2 देखिए भाग 11.9
3 देखिए भाग 11.10

खंड 1 और 2 के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए.आर. देसाई, *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*
रजनी पामदत्त, *आज का भारत*
तारा चन्द, *भारतीय स्वतन्त्रता–संग्राम का इतिहास,* खंड 2 और 3
बिपन चन्द्र, *भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय*
अयोध्या सिंह; *भारत का मुक्ति-संग्राम*
कार्ल मार्क्स, फ्रे. एंगेल्स, *भारत का प्रथम स्वातंत्र्य–संग्राम*
आर.एल. शुक्ला, (सं.), *आधुनिक भारत*

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGHY-01/CSSHY-01

इतिहास

आधुनिक भारत

1857–1964

खंड

3

आमूल परिवर्तनवादी प्रवृत्तियाँ, राष्ट्रवाद और महात्मा गांधी

इकाई 12

मार्क्सवादी तथा समाजवादी विचारधारा 5

इकाई 13

प्रथम विश्व युद्ध : कारण और परिणाम 19

इकाई 14

रूसी क्रांति : कारण, अवस्थाएँ और महत्व 32

इकाई 15

क्रांतिकारी आंदोलन : गदर पार्टी तथा होम रूल लीग 46

इकाई 16

भारत की राजनीति में महात्मा गांधी का आगमन और उनकी विचारधारा 62

विशेषज्ञ समिति

प्रो. रवीन्द्र कुमार (अध्यक्ष)
निदेशक, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
नयी दिल्ली

प्रो. एस. गोपाल
निदेशक
नेहरू स्मारक कोष
नयी दिल्ली

प्रो. सतीश चन्द्र (सी.एच.एस.)
प्रो. रोमिला थापर (सी.एच.एस.)
डा. मुजफ्फर आलम (सी.एच.एस.)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नयी दिल्ली

प्रो. सरोजिनी रेगानी
इतिहास विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

प्रो. बी. कानूनगो
इतिहास विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. पी.एल. मेहरा
डा. आर.आई. मलहोत्रा
इतिहास विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

प्रो. बी.एस. शर्मा
समकुलपति (शैक्षिक)
प्रो. बख्शीश सिंह (संयोजक)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

पाठ लेखक

सुश्री नलिनी तनेजा
पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनवरत शिक्षा
विद्यापीठ, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डा. इरफान हबीब
राष्ट्रीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी
एवं विकास अध्ययन संस्थान, नयी दिल्ली

सुश्री मृदु मुकर्जी (सी.एच.एस.)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

प्रो. एम.एस. जैन
इतिहास विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डा. के.एल. टुटेजा
इतिहास विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

प्रो. वी.एन. दत्त (पाठ संपादक)
इतिहास विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

प्रो. एस. भट्टाचार्य
परामर्शदाता, (सी.एच.एस.)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

संकाय सदस्य : इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

डॉ. कपिल कुमार
डॉ. ए.आर. खान
श्री अजय माहूरकर
श्री सलिल मिश्रा
सश्री संगीता जोशी

प्रो. बी.एन. कौल (संरचना संपादक)
निदेशक
दूर शिक्षा विभाग

अनुवाद

श्रीमती रेणु गुप्ता
खुर्शीद अनवर
डॉ. हरीश नारंग

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. बी.रा. जगन्नाथन
डॉ. कपिल कुमार
डॉ. राकेश कुमार

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

नई, 1998 (पुन मुद्रित)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय 1989

ISBN-81-7091-300-4

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGHY-01/CSSHY-01(1)/150

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. कपिल कुमार निदेशक (सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

आमूल परिवर्तनवादी प्रवृत्तियाँ, राष्ट्रवाद और महात्मा गांधी

इस पाठ्यक्रम के खंड-1 और 2 के अंतर्गत आपको औपनिवेशिक शासन के शोषण संबंधी पहलुओं से परिचित कराया गया था। उन खंडों से आपने यह भी जानकारी हासिल की कि किस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन इस शोषण के विरुद्ध संगठित रूप ले रहा था। परंतु हम राष्ट्रीय आंदोलन का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हो रही घटनाओं से अलग रखकर नहीं कर सकते क्योंकि साम्राज्यवादी और उपनिवेशवाद सारे विश्व में सक्रिय थे। वास्तव में, इस खंड की प्रथम तीन इकाइयों में (इकाई-12, 13, 14) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हो रही घटनाओं के प्रभाव की चर्चा की गयी है।

इकाई-12 में आपको मार्क्सवादी और समाजवादी विचारधारा से परिचित कराने का प्रयास किया गया है। इस विचारधारा ने राष्ट्रीय आंदोलन की दिशा को प्रभावित किया था, विशेष तौर से 1920 के उपरान्त। समाजवाद की प्रारंभिक अवस्थाओं की चर्चा करते हुए यह इकाई इस बात की भी व्याख्या करती है कि वैज्ञानिक समाजवाद का क्या अर्थ है।

प्रथम विश्व युद्ध विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों स्वार्थों के पारस्परिक टकराहट का परिणाम था। इकाई-13 के अंतर्गत विश्व युद्ध के कारणों और प्रभावों की चर्चा की गयी है। भारत को इस युद्ध ने किस प्रकार प्रभावित किया, इस संदर्भ में भी एक संक्षिप्त व्याख्या दी गयी है।

मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण यूरोप के कई देशों में समाजवादी आंदोलन सशक्त हो रहा था। 1917 में रूस में समाजवादी क्रांति सफल हुई। इकाई-14 के अंतर्गत रूस की क्रांति के कारणों और प्रभावों की चर्चा की गयी है। इस इकाई में यह बताने का प्रयास भी किया गया है कि इस क्रांति का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर क्या प्रभाव पड़ा।

19 वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आने लगीं। इकाई-15 में इन क्रांतिकारी प्रवृत्तियों के उद्‌भव और भारत में और भारत से बाहर प्रारंभिक क्रांतिकारियों के कार्यों की चर्चा की गयी है। गदर पार्टी के कार्यों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। इसके साथ-साथ 'होम रूल लीग' और होम रूल आंदोलन के विषय में भी चर्चा की गयी है।

इकाई-16 भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी के आगमन से संबंधित है। इसके अंतर्गत दक्षिणी अफ्रीका में रंग-भेद सरकार के विरुद्ध गांधी जी द्वारा चलाए गये संघर्ष का जिक्र किया गया है। इसके साथ-साथ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे किसान और श्रमिक आंदोलन के साथ गांधी जी के संबंधों की भी चर्चा की गयी है। और अंत में, इस इकाई के अंतर्गत आपको महात्मा गांधी की विचारधारा और उन्होंने अपनी विचारधारा को व्यावहारिक रूप किस प्रकार दिया इस से भी परिचित कराया गया है। रोलेट एक्ट और जलियांवाला बाग की घटना की भी चर्चा इस इकाई में की गयी है।

इस लिखित सामग्री के अतिरिक्त इकाई-15 से संबंधित एक ऑडियो कार्यक्रम भी बनाया गया है जो विश्वविद्यालय के अध्ययन केंद्रों पर उपलब्ध होगा।

इकाई 12 मार्क्सवादी और समाजवादी विचारधारा

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 समाजवाद की परिभाषा
12.3 समाजवादी विचारधारा की उत्पत्ति
12.4 समाजवादी विचारधारा का पूर्व-इतिहास
  12.4.1 सेंत साइमन
  12.4.2 चार्ल्स फुरियर
  12.4.3 राबर्ट ओवेन
12.5 मार्क्सवाद : आर्थिक व सामाजिक विश्लेषण
  12.5.1 मार्क्सवाद : राजनैतिक सिद्धांत
  12.5.2 मार्क्सवाद : क्रांति का सिद्धांत
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको समाजवादी धारणा के अर्थ और उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के यूरोप में इसकी उत्पत्ति तथा विकास से परिचित कराना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- समझ पायेंगे कि समाजवादी धारणा का क्या अर्थ है,
- वे कौन से घटक थे जिन्होंने यूरोप में समाजवादी विचारों के विकास में बढ़ावा दिया,
- समाजवादी विचारों व समाजवादी आंदोलन के विकास के मुख्य चरणों को ढूँढ पायेंगे,
- काल्पनिक तथा वैज्ञानिक समाजवाद में अंतर समझ पायेंगे,
- समाजवादी समाज के मूल सिद्धांतों को पहचान पायेंगे,
- सामाजिक व राजनैतिक सिद्धांत के क्षेत्र में कार्ल मार्क्स के योगदान के विषय में जान जायेंगे।

12.1 प्रस्तावना

आपने अनेकों बार समाजवादी व समाजवाद शब्द तथा पूँजीवादी व पूँजीवाद शब्द सुने होंगे। आपने यह भी सुना होगा कि संयुक्त राज्य अमरीका एक पूँजीवादी देश है और सोवियत संघ एक समाजवादी देश है।

शायद आपको यह स्पष्ट नहीं होगा कि वे कौन सी मुख्य विशेषताएँ हैं जो एक समाज को पूँजीवादी या समाजवादी बनाती हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि कई बार इन ऐतिहासिक धारणाओं का प्रयोग बहुत असावधानी से व उनके वैज्ञानिक अर्थ के स्पष्ट संदर्भ के बिना होता है। इसीलिए सबसे पहले आपको यह जानना आवश्यक है कि इस शब्द का सही-सही क्या अर्थ है।

आज विश्व की लगभग एक तिहाई जनता समाजवादी समाज में रहती है। सैंकड़ों करोड़ों अपने देश में समाजवाद की स्थापना के लिए लड़ रहे हैं। यह किस लिए लड़ रहे हैं क्या

आप जानते हैं। वे क्यों अपने समाज को समाजवादी समाज में बदलने के लिए जानें गँवाने को तैयार हैं? क्यों इतिहास में अब तक सैंकड़ों करोड़ों लोग समाजवादी उद्देश्य के लिए जानें दे चुके हैं? यह आप तभी समझ पायेंगे जब आपको मालूम होगा कि समाजवाद का अर्थ क्या है और समाजवादी समाज किस तरह का समाज है।

मनुष्य ने सबसे पहले समाजवादी समाज के बारे में कब सोचा? कहाँ के लोगों ने सर्वप्रथम इसके बारे में सोचा? और उन्होंने इसके बारे में इतिहास के एक खास चरण में ही क्यों सोचा? मानव ने हमेशा ही एक बेहतर समाज बनाने की कल्पना की है, किंतु कब और क्यों वह समाजवाद के बारे में सोचने लगा? आप शायद उन लोगों के विचारों के बारे में जानना चाहेंगे जो पूरे विश्व में एक शोषण-मुक्त समाज बनाना चाहते थे, ऐसा समाज जो समान हो और जहाँ विश्व के संसाधनों का उपयोग समान रूप से हो। ऐसे लोगों के विचार समाजवादी विचार के रूप में जाने जाते हैं और वे जिस तरह के समाज को बनाना चाहते थे उसे समाजवादी समाज के रूप में जाना जाता है। उनके आंदोलनों जिनका उद्देश्य समाजवादी समाज को बनाना था, समाजवादी आंदोलन के रूप में जाने जाते हैं।

सबसे प्रमुख समाजवादी विचारक कार्ल मार्क्स थे, किंतु वे अपने समय के सभी समाजवादी विचारकों से आगे निकल गये उन्होंने साम्यवादी (कम्युनिस्ट) समाज का खाका तैयार किया। उन्होंने इतिहास द्वारा समाज के वैज्ञानिक विश्लेषण को विश्व को बदलने के अपने विचारों का आधार बनाया। उन्होंने मानव-इतिहास की अंतिम अवस्था को एक ऐसी अवस्था के रूप में देखा जहाँ साम्यवादी समाज होगा। उन्होंने यह भी बताया कि ऐसा कैसे हो सकता है। इसीलिए उनके विचारों को अन्य समाजवादियों के विचारों से भिन्न रखने के लिए उनके अनुयायी अपने आपको कम्युनिस्ट (साम्यवादी) कहने लगे और उनके विचार मार्क्सवाद के नाम से पहचाने जाने लगे। हम इस पाठ में यह भी पढ़ेंगे कि समाजवादी विचारधारा में मार्क्सवाद का क्या योगदान था।

1917 की क्रांति के बाद सोवियत संघ ऐसा पहला देश था जिसमें समाजवाद, या वैसा समाज जिसके लिए कम्युनिस्ट संघर्ष कर रहे थे, की स्थापना हुई।

12.2 समाजवाद की परिभाषा

शुरुआत हम यह प्रश्न पूछ कर करते हैं कि समाजवाद क्या है?
समाजवाद वह सामाजिक व्यवस्था है जो समाजवादी सर्वहारा क्रांति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आती है। यह समाज का वह रूप है जो पूँजीवादी व्यवस्था को पलटने का परिणाम है। कोई भी समाज पूँजीवादी अवस्था से गुजरे बिना समाजवादी नहीं हो सकता। यह पूँजीवाद ही है जो समाजवादी आंदोलनों और इसकी विचारधारा के विकास के लिए और अंततः समाजवादी समाज की स्थापना के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। जब हम मार्क्स के विचारों की परिचर्चा करेंगे तब इसके बारे में और बातें करेंगे।

समाजवादी समाज उत्पादन के साधनों पर से निजी स्वामित्व को नष्ट करके इसके बदले में सार्वजनिक स्वामित्व की रचना करता है। इसका अर्थ है कि वे सभी संसाधन जिनसे धन-दौलत बनायी जा सकती है– भूमि, फैक्ट्रियाँ, खदान, बैंक– अब किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह की सम्पत्ति नहीं रहते। वे जन सामान्य की सम्पत्ति हो जाते हैं। इसका यह भी अर्थ है कि अब कोई सिर्फ इन साधनों का मालिक होने भर से, व अन्य व्यक्तियों से उस पर काम करा कर, धनी नहीं हो सकता। वे मजदूर ही, जो उस पर काम करते हैं, उसके असली मालिक हैं और वे उससे अपने ही श्रम द्वारा अर्जित धन-दौलत लेते हैं क्योंकि अब वे ही उन संसाधनों के मालिक हैं।

समाजवादी समाजों से पूर्व के सभी समाज, संसाधनों के मालिकों व उन संसाधनों से धन उत्पन्न करने के लिए काम करने वाले मजदूरों के बीच के वर्ग हित के अन्तर्विरोध पर आधारित वर्ग समाज है। समाजवादी समाज इस अन्तर्विरोध को समाप्त करता है क्योंकि

अब वे ही लोग उन संसाधनों के मालिक हैं जो उस पर काम करते है। इसीलिए समाजवादी समाज में एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण नहीं होता है और यह मानव समानता पर आधारित समाज है। यह समानता न सिर्फ राजनैतिक व कानूनी है जैसा कि पूँजीवादी समाजों में होता है बल्कि यह सामाजिक व आर्थिक भी है क्योंकि समाजवादी समाज में किसी सम्पत्ति, जो असमानता की जड़ है, का अंत हो जाता है। समाजवादी समाज इसीलिए सामाजिक न्याय द्वारा लक्षित समाज है।

यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं है कि लोग निजी रूप से कुछ नहीं रख सकते। समाजवादी समाज में लोगों को निजी सामान रखने का अवसर भी मिलता है जैसे घर की वस्तुएँ, वाहन, मकान, अपने संचित धन हेतु बैंक एकाउंट इत्यादि।

वे सिर्फ उन वस्तुओं के उत्पादन के साधनों का मालिक नहीं बनते जिनका उपयोग वे अन्य व्यक्तियों को उनके मेहनत के फल से वंचित रखने के लिए कर सकते हैं। वास्तविकता में समाजवादी समाज में बढ़े हुए उत्पादन के फलस्वरूप जैसे-तैसे धन-दौलत बढ़ती है, सिर्फ कुछ लोग ही नहीं बल्कि सभी लोग ज्यादा से ज्यादा निजी सामान रख सकते हैं।

समाजवादी समाज में उत्पादन में वृद्धि योजनाबद्ध उत्पादन से ही होती है। आपने पंचवर्षीय योजना के बारे में सुना होगा। यह समाजवादी समाज की केंद्रित योजना है जो समाज की सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यह तय करती है कि सभी लोगों के हितों से संबंधित किस आवश्यकता को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

समाजवादी समाज मजदूर जनता के हित में मजदूर जनता के राज्य की भी स्थापना करता है। वह यह सुरक्षित करता है कि हर एक अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और हर एक को उसके काम के अनुसार ही वेतन मिले। समाजवादी जनतंत्र सभी लोगों के लिए कुछ निश्चित सामाजिक अधिकारों की भी सुरक्षा करता है जैसे राज्य तथा सार्वजनिक मामलों के प्रबंध में हिस्सेदारी के अधिकार के अलावा रोजगार का अधिकार, आराम और अवकाश, स्वास्थ्य सुरक्षा, वृद्धावस्था में सुरक्षा, मकान, मुफ्त व समान शिक्षा।

एक समाजवादी समाज राजनीति और धर्म के पूर्ण अलगाव का आश्वासन देता है। इसका यह अर्थ नहीं कि लोग अपनी कोई निजी आस्था नहीं रख सकते। इसका सिर्फ यही अर्थ है कि वे धर्म को सार्वजनिक मुद्दा नहीं बना सकते या इसका उपयोग राजनीति में नहीं कर सकते या विद्यालयों में इसका प्रचार नहीं कर सकते इत्यादि। हम सभी अपने देश में होने वाले सांप्रदायिक दंगों से परिचित हैं तथा जानते हैं कि किस तरह सांप्रदायिक गुट सांप्रदायिक भावनाओं का शोषण करते हैं और इसीलिए धर्म को राजनीति से अलग करके उसे मात्र एक निजी आस्था के रूप में देखना तथा एक वैज्ञानिक मनोदशा का बनाना भी अत्यंत आवश्यक है।

एक समाजवादी समाज स्त्रियों को पूर्ण समानता भी प्रदान करता है। यह इस समानता के लिए छोटे बच्चों वाली स्त्रियों के लिए काम के कम घंटे, कार्य स्थल पर क्रेचों, ताकि दिन के समय वे अपने बच्चों को खिला-पिला सके, कार्यस्थलों पर कैंटीनों व सार्वजनिक रसोइयों, इत्यादि द्वारा भौतिक आधार भी तैयार करता है। विकसित पूँजीवादी देशों में भी ये सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं किंतु उनके लिए लोगों को व्यक्तिगत रूप से भारी कीमत चुकानी पड़ती है। वे मुनाफा कमाने के व्यापारिक उद्यम भर हैं और केवल धनी लोग ही इन सुविधाओं का उपयोग करने में समर्थ हो सकते हैं। यह बच्चों के लिए भत्ता देता है। बच्चों को पूरे समाज की जिम्मेदारी समझा जाता है यद्यपि परिवार ही उनकी देख-रेख व परवरिश करता है।

एक समाजवादी राज्य सभी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों और शोषण के खिलाफ चल रहे मजदूरों के आंदोलनों का भी समर्थन करता है। यहाँ हम यह भी बताना चाहेंगे कि समाजवादी विचारधारा से क्या अर्थ है।

समाजवादी विचारधारा विचारों का वह हिस्सा है जो समाज का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है और जो न केवल विश्व को समझना भर चाहता है बल्कि इसे बेहतर बनाने के लिए इसे बदलना भी चाहता है। यह मानव इतिहास के अनुभव को केवल राजाओं, शासकों और

विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के हितों की दृष्टि से ही नहीं देखता बल्कि उत्पीड़ित जनता के हितों की दृष्टि से देखता है। यह मानव सभ्यता को बनाने और विभिन्न चरणों के दौरान समाज में हुए परिवर्तनों को लाने में मजदूर वर्ग के योगदान पर जोर देता है यह एक ऐसे समाज का खाका बनाने का उद्देश्य रखता है जो समान, मानवीय और न्यायसंगत हो और ऐसे समाज की रचना के लिए ही मजदूर जनता को संगठित करने का प्रयास करता है। इसी उद्देश्य से यह पूँजीवादी समाज की आलोचना करता है और दिखाता है कि वह किसी तरह एक असमान तथा अन्यायसंगत समाज है। एक समाजवादी विचारधारा इसी कारण पूँजीवादी व्यवस्था के अंत का भी आह्वान करती है और मजदूर जनता के संगठनों तथा आंदोलनों को बनाने में मदद करती है।

12.3 समाजवादी विचारधारा की उत्पत्ति

समाजवादी विचारधारा कैसे उभरी? ऐतिहासिक रूप से समाजवादी विचारधारा पूँजीवादी यथार्थ के प्रतिक्रिया स्वरूप उभरी। चूँकि पूँजीवाद सर्वप्रथम पश्चिमी यूरोप में विकसित हुआ, इसके विरोध के रूप में समाजवादी सिद्धांत भी सर्वप्रथम यूरोप में ही विकसित हुआ। 1917 की रूसी क्रांति समाजवादी आदर्शों और समाज के समाजवादी परिवर्तन पर आधारित प्रथमक्रांति थी।

यूरोप में समाजवादी आंदोलनों के उत्थान की चर्चा करने से पहले उस ऐतिहासिक संदर्भ, जिसमें कि वे उभरे, का ब्यौरा देना आवश्यक है। बहुसंख्यक जनता पर होने वाले परिणामों सहित पूँजीवाद ही वह संदर्भ है जिसने समाजवादी विचारों को जन्म दिया। पूँजीवाद समाज का वह रूप है जो पश्चिम यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान अपनी विकसित अवस्था में फल-फूल रहा था। पूँजीवाद वह समाज है जहाँ उत्पादन के साधनों या धन प्राप्ति के स्रोतों जैसे भूमि, कारखाने, खदानें, कच्चा माल इत्यादि के मालिक कुछ गिने-चुने व्यक्ति होते हैं जो पूँजीपति के रूप में जाने जाते हैं।

किंतु माल के उत्पादन के लिए एक अन्य वस्तु की भी आवश्यकता है और वह है श्रम। क्योंकि यदि कारखानों, खदानों या भूमि पर कच्चे माल के साथ काम करने के लिए कोई नहीं होगा तो माल का उत्पादन कैसे होगा? उत्पादन के लिए श्रम सबसे जरूरी आवश्यकताओं में से एक है। इसी कारण कारखाना मालिक ऐसे मजदूरों को रोजगार पर लगाते हैं जिनके पास अपने काम करने वाले हाथों के सिवाय आय-प्राप्ति का कोई अन्य साधन नहीं है।

अत: आप देख सकते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में एक वर्ग उन लोगों का है जो उन साधनों के मालिक होते हैं जिनसे आय प्राप्त की जा सकती है और दूसरा वर्ग उन लोगों का है जो इन साधनों पर काम करते हैं। वे, आय साधनों के मालिक हैं, काम नहीं करते। किंतु, फिर भी दूसरे के श्रम का शोषण करते हैं। वे ही अमीर भी है। जो काम करते हैं गरीब हैं क्योंकि वे अपने द्वारा किये गये उत्पादन को बाजार में खरीद या बेच नहीं सकते।

किंतु अब आप मुझसे यह प्रश्न करेंगे कि इसमें गलत ही क्या है। आखिरकार पूँजीपति मजदूर को अपने लिए कराये गए काम का वेतन देता है तथा यदि एक को बाजार से लाभ मिलता है तो दूसरे को वेतन।

किंतु क्या आप जानते हैं कि मजदूरों को उनके द्वारा किये गये उत्पादन की पूरी रकम अदा नहीं की जाती। फैक्ट्री मालिक मजदूर को उसके द्वारा फैक्ट्री में किये गये काम के घंटों की संख्या के अनुसार अदायगी करता है। किंतु मजदूरों द्वारा फैक्ट्री में सामूहिक रूप से उत्पादित माल की कीमत ज्यादा है तथा वह बाजार में ऊँचे दामों में बेची जाती है और इस धन को फैक्ट्री मालिक अपने लिए रख लेता है। यह फैक्ट्री मालिक का लाभ है जिससे वह अमीर बनता है जबकि मजदूर जो कि वास्तविक उत्पादनकर्ता है गरीब रहता है।

असमानता का यह संबंध पूँजीवादी समाज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है और यही वह संबंध है जो समाजवादी समाज को अन्यायपूर्ण बनाता है। एक वर्ग मालिक बनकर जीता है, दूसरा

वर्ग कमा कर जिंदा रहता है। एक बिना काम किये जीता है, दूसरा जब तक काम न करे जीवित नहीं रह सकता।

अब क्या आप देख सकते हैं कि पूँजीवादी समाज असमानता, सामाजिक अन्याय और बहुसंख्यक जनता के शोषण का समाज है? और किस तरह निजी संपत्ति व मुनाफे का नतीजा यह असमानता है?

इस बढ़ती हुई पूँजीवादी फैक्ट्री व्यवस्था के विरोध में दी हुई समाजवादी विचारधारा उभरी।

मनुष्य समस्या के विषय में तभी सोच सकता है जब कोई समस्या हो। पूँजीवाद समाज की समस्या के बारे में मनुष्य तभी सोच पाया जब पूँजीवाद के परिणाम देखे और अनुभव किये गये। इसीलिए समाजवादी विचारधारा पूँजीवाद के विकास के साथ ही तब उभरी जब यह सोचना जरूरी हो गया कि फैक्ट्रियों में मजदूरों के जीवन-स्तर में कैसे सुधार लाया जाये।

किंतु क्या समाजवादी विचारक अचानक ही बुद्धिजीवी के बिना प्रकट हो गये। क्या उनसे पहले किसी और ने उत्पीड़ितों के बारे में नहीं सोचा?

नहीं, ऐसा नहीं हुआ।

किंतु मनुष्य संभावना के रूप में केवल उसी के बारे में सोच सकता है जो उसके समय और उम्र की संभावनाओं से अधिक दूर या अलग नहीं है। उदाहरण के लिए सोलहवीं शताब्दी में जब विज्ञान व तकनीक इतने विकसित नहीं थे, चाँद पर जाना केवल एक स्वप्न भर रहा होगा। मनुष्य को तब यह एक स्वप्न लगता था। बीसवीं शताब्दी में जब विज्ञान व तकनीक इतनी अधिक विकसित हो गई कि मनुष्य को लगने लगा कि चाँद पर जाना संभव है। यदि वह कोशिश करे तथा इस दिशा में काम करे तो ऐसा हो सकता है। और ऐसा हुआ भी। क्या आप सोच सकते हैं कि सोलहवीं शताब्दी में ऐसा हो सकता था। इसी तरह मनुष्य की बुद्धि सभी के जीवन की तमाम आवश्यकताओं को पूरा करने व सभी के लिए अच्छी जिंदगी की संभावनाएँ बनी थी सिर्फ पूँजीवाद और कारखानों के विकास के तहत जब उत्पादन इतना बढ़ गया कि सबकी जरूरतों-भौतिक व अन्य जरूरतें जैसे आराम, स्वास्थ्य तथा सभी के लिए शिक्षा को पूरा करने का विचार यथार्थवादी बना। इसीलिए मानव जीवन को बेहतर बनाने का विचार उसी समय से अस्तित्व में है जब से मनुष्य स्वयं अस्तित्व में है, किंतु समाजवाद का विचार उन्नसीवीं शताब्दी में ही कारखाना उद्योग के विकास के साथ ही उभरा।

पहले के विचारकों ने सामाजिक न्याय और समानता के विषय में विवाद किया था। किंतु उन्होंने न्याय और समानता को अपने समाज के शासकों, धनाढ्यों तथा शिक्षित दर्जे के लोगों के ही संदर्भ में देखा था। उदाहरण के लिए प्लेटो, जिसके विषय में आपने सुना होगा, ने अपने समय की दासता पर सवाल नहीं उठाये। मध्ययुगीन दंतकथाओं के उदान्त और वीर "नाईट" अपने समय के किसानों, जो कि अर्द्धगुलाम थे, के प्रति संवेदनशील नहीं थे। यह तो अठाहरवीं शताब्दी के प्रबुद्ध विचारक थे जिन्होंने सबकी मुक्ति का विचार दिया। किंतु मुक्ति का विचार सीमित था समाजवादियों ने इन विचारों को आगे बढ़ाया और मुक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक बनाया। वास्तव में हम समाजवादी विचारों के बारे में अठाहरवीं शताब्दी के प्रबुद्ध विचारकों की बुद्धिजीवी परंपरा के बिना सोच ही नहीं सकते। ठीक वैसे ही जैसे कारखाना उद्योग जो कि समाजवाद के लिए परिस्थितियाँ बनाती है, के बिना समाजवाद संभव नहीं था, प्रबुद्ध विचारकों के बिना समाजवादी विचार संभव नहीं थे। इतिहास में सब कुछ निरंतरता व अन्तर्विरोध के द्वारा विकसित होता है जो संघर्ष को इसकी ऊँची अवस्था तक तेज बनाता है। अतः समाजवादी विचारधारा न केवल पूँजीवाद की ही उपज है बल्कि अठाहरवीं शताब्दी के प्रबुद्ध बुद्धिजीवी परंपरा की देन भी है।

12.4 समाजवादी विचारधारा का पूर्व इतिहास

यह अज्ञात है कि "समाजवाद" और "समाजवादी" शब्दों का प्रयोग सबसे पहले किसने

किया। 1800 के आस-पास इंग्लैंड और फ्रांस दोनों जगह पूँजीवाद के विरोध में किताबें, पैम्फ्लैट और भाषण प्रकट होने शुरू हुए। आमतौर से यह जाना जाता है "समाजवाद" शब्द सबसे पहले 1832 में "ले ग्लोब" नाम की एक फ्राँसीसी पत्रिका में छपा हुआ देखा गया।

समाजवाद के वास्तविक पथप्रदर्शक फ्रांस में चार्ल्स फूरियेर व सेंत साइमन तथा इंग्लैंड के रार्बट ओवेन थे और प्रत्येक के इर्द-गिर्द एक बड़ा आंदोलन विकसित हुआ। उनकी किताबें पूरे यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका में व्यापक रूप से पढ़ी गयी। उन्होंने एक साथ मिलकर अपने समय की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक उन्नति के लिए महान योगदान दिया। उन्होंने पूँजीवादी समाज की कठोर आलोचन की। उन्होंने अपने लेखों में यह दिखाया कि किस तरह से यह एक अन्यायपूर्ण व असमान समाज है तथा यह भी कि किस तरह से बहुसंख्यक जनता को अच्छे जीवन से वंचित रखना इसका मुख्य परिणाम है। यद्यपि जैसा कि उन्होंने बताया पूँजीवाद ने उत्पादन बढ़ाने की जबरदस्त संभावनाओं को बनाया।

किंतु यह रखना महत्वपूर्ण है कि वे सिर्फ पूँजीवाद समाज की आलोचन से संतुष्ट नहीं थे। उनमें से हर एक ने अपने आदर्श समाज की झलक को, यानी समाज ऐसा होना चाहिए, को सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरण के साथ प्रस्तुत किया जिसमें वे अठाहरवीं शताब्दी के प्रबुद्ध विचारकों से कहीं ज्यादा आगे निकल गये।

प्रबुद्ध विचारकों ने कहा था कि हर चीज का विश्लेषण व फैसला तर्क तथा विवेक के आधार पर होना जरूरी है और विवेकपूर्ण सरकार वह है जो तर्क संगत कानून के अनुसार चलती है व अपने नागरिकों को राजनैतिक तथा वैधानिक स्वतंत्रता देती है। उन्होंने व्यक्ति के मौलिक अधिकारों जैसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धार्मिक सहिष्णुता, कानून के समक्ष समानता इत्यादि पर जोर दिया। क्योकि ये चीजें विवेकपूर्ण थी इसीलिए हर एक को उसका अधिकार होना चाहिए। उन्होंने जनप्रिय सर्वसत्ता या लोगों के द्वारा उनकी सरकार में हिस्सेदारी के अधिकार की भी बात की। आपने शायद मोन्टेस्क्यू के बारे में सुना हो जिसने "सत्ता के अलगाव" की बात की और कहा कि सभी अधिकार एक ही अधिकारी के हाथ में केंद्रित नहीं होने चाहिए। आपने शायद रूसी और उसकी आम इच्छा के बारे में भी सुना होगा।

समाजवादी विचारकों ने समानता की भी मांग की, किंतु उनकी योजना में समानता की भी माँग राजनैतिक अधिकारों या कानून के समक्ष समानता तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने सामाजिक और आर्थिक समानता की भी माँग की। वे न सिर्फ विशेषाधिकार की समाप्ति चाहते थे बल्कि वर्ग-भेद को ही खत्म करना चाहते थे।

दूसरे, वे पूँजीवाद का अंत चाहते थे। वे इसका अंत केवल इसलिए नहीं चाहते थे कि यह शोषक है। चूँकि वे पहचान गये थे कि यह इतिहास की शाश्वत अवस्था नहीं है। उन्होंने सोचा कि चूँकि यह असंगत है, इसमें निहित समस्याओं और अन्तर्विरोधों के कारण भी इसे तो समाप्त होना ही है। उन्होंने इतिहास को उत्पीड़ितों के हितों के परिपेक्ष्य से देखा और इसीलिए बिना किसी समझौते के पूँजीवाद का विरोध किया। उन्होंने लाभ के स्रोत के रूप में निजी सम्पत्ति का भी विरोध किया। इसीलिए वे उत्पादन के साधनों पर सामान्य या सामाजिक स्वामित्व चाहते थे इसी कारण वे समाजवादी कहलाये।

किंतु वे यह नहीं जानते थे कि इस नये तरह के समाज को अस्तित्व में कैसे लाना है। ऐसा होने का कारण यह है कि वे उस युग में जब पूँजीवाद इतना विकसित हो चुका था कि वे इसके द्वारा मजदूर जनता की दुर्गति को देख सकें किंतु अभी तक मजदूर वर्ग, जिसके हित प्रत्यक्ष और बिना किसी समझौते के पूँजीपतियों के विरुद्ध थे, ने इतनी वर्ग चेतना और संगठन विकसित नहीं किया था कि वे स्वतंत्र रूप से राजनैतिक कार्यवाही कर सकें। साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था की कार्य प्रणाली भी अभी तक स्पष्ट नहीं थी और अभी तक यह भी ज्ञात नहीं था कि पूँजीवाद में एक व्यवस्था के रूप में इतने अधिक न टाले जा सकने वाले संकट निहित हैं। इसीलिए उनके सिद्धांतों ने पूँजीवाद की अविकसित या प्रारंभिक अवस्था की झलक दी। वे समझ नहीं पाये कि मजदूर वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका क्या होगी। वे यह नहीं पहचान पाये कि मजदूरों और पूँजीपतियों के बीच का वर्ग-संघर्ष पूँजीवाद की आवश्यक विशेषता है। सच तो यह है कि वे वास्तव में पूँजीवाद व्यवस्था की कार्यप्रणाली को समझ

नहीं पाये। उन्होंने इस तथ्य को ध्यान में ही नहीं रखा कि मालिकों का लाभ इसी वजह से मजदूरों और पूँजीपतियों के हितों का सामंजस्य नहीं हो सकता।

उन्होंने इसके विपरीत ही सोचा। उनके लिए समाधान हृदय परिवर्तन या नये आदर्श मूल्यों के विकास में निहित था। ये नये आदर्श व सही शिक्षा, प्रचार तथा प्रयोगों द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं जो दूसरों के लिए उदाहरण का काम करेंगे। वे यह नहीं समझे कि अर्थव्यवस्था राजनैतिक संस्थाओं और सामाजिक जीवन में परिवर्तन के आधार पर बदलती है। इसी कारण वे काल्पनिक समाजवादियों के रूप में जाने जाते हैं।

12.4.1 सेंत साइमन

काल्पनिक समाजवादियों में से एक सेंत साइमन थे। उन्होंने अपने समय के समाज का विश्लेषण इस प्रकार किया कि समाज सम्पत्तिधारी निठल्लों और काम करने वाले उद्योगपतियों—दो मुख्य वर्गों से बना है। इसका अर्थ है कि दूसरे वर्ग यानी काम करने वाले में, उन्होंने न केवल मजदूरों व किसानों बल्कि धनी फैक्ट्री मालिकों, जो कि मजदूरों का शोषण करते हैं, को भी जोड़ा जैसा कि आप देख सकते हैं उन्होंने उद्योगपतियों व मजदूर वर्ग के बीच वर्गभेद नही देखा। परिणामस्वरूप उन्होंने निजी सम्पत्ति का विरोध नहीं किया जो कि जैसे हम देख चुके हैं, शोषण की जड़ है। उन्होंने सिर्फ गलत उपयोग का विरोध किया जो उनके विचारानुसार संभव था। उन्हें समाज के धीमे और शांतिपूर्वक परिवर्तन में भी विश्वास था। उन्होंने ऐतिहासिक अनुभव से यह नहीं सीखा कि कुछ लोग भले ही खुशी-खुशी उन फायदों को छोड़ दें जिनका उपयोग वे कर रहे हैं, किंतु पूरा वर्ग ऐसा नहीं करेगा। बाद में उनके अनुयायियों ने निजी सम्पत्ति का समापन तथा योजना के श्रम के मुताबिक माल के बँटवारे की माँग की। हालाँकि उन्होंने भी सोचा कि समाज के और आगे उन्नति करने से स्वतः ही समाजवाद का फल प्राप्त हो जाएगा। उन्होंने भी साधनों और बचत के बँटवारे यानी मजदूरों के शोषण के साधनों का विश्लेषण नहीं किया।

12.4.2 चार्ल्स फुरियेर

चार्ल्स फुरियेर के लेखों में औरतों की स्थिति सहित पूँजीवादी समाज की एक व्यवस्थागत आलोचना है। वह यह कहने वाले पहले व्यक्ति थे कि किसी समाज की आय सही-सलामती की अभिसूचना इस बात से पता चल जाती है कि वह अपनी औरतों के साथ कैसा बर्ताव करता है। उनके पास समाज के इतिहास की भी एक निश्चित परिकल्पना थी—बर्बर, सामंती व बुर्जआ चरण की मुक्त होड़। उन्होंने यह भी पहचान लिया कि पूँजीवादी समाज में कुछ गिने-चुने लोगों की धन-दौलत अधिकसंख्यकों की गरीबी से आयी है। वह इस बात के प्रति भी सचेत थे कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग में एक उत्थान की अवस्था होती है और एक अवसान की। उन्होंने अपने आपको समाज की गति के सिद्धांतों की खोज में लगा दिया ठीक वैसे ही जैसे वैज्ञानिकों ने धातु की गति के सिद्धांत को खोजा था। उन्हें पता था कि पूँजीवादी इतिहास की सिर्फ एक अवस्था है—कि इतिहास की प्रत्येक अवस्था उस स्थिति में होने वाले उत्पादन की स्थिति पर आधारित है।

किंतु सेंत साइमन की तरह वे भी यह नहीं देख पाये कि पूँजीवादी समाज में अन्याय का मूल कारण क्या है। अन्य काल्पनिक समाजवादियों की तरह ही उन्होंने भी सोचा कि लोगों के हृदय परिवर्तन के साथ समाज का शांतिपूर्ण परिवर्तन संभव है।

12.4.3 राबर्ट ओवेन

राबर्ट ओवेन अपने सोचने के ढंग में ज्यादा वैज्ञानिक थे। वे जान गये थे कि परिवेश चेतना का निर्धारण करती है, इसका अर्थ है कि मनुष्य न केवल वंशानुगत गुणों बल्कि अपने जीवन विशेष रूप से अपने विकास काल के परिवेश की देन है। उद्योग के विकास में उन्होंने समाज के पुनर्निर्माण का आधार देखा। उस समाज का जिसमें सबके लिए प्रचुर मात्रा में हो, क्योंकि जब तक पहले उत्पादन नहीं बढ़ेगा आपके पास सबके लिए प्रचुर मात्रा में कहाँ से आयेगा। उनके नये समाज की कल्पना ऐसी थी जिसमें सम्पत्ति सार्वजनिक होगी और उस पर सबके

लिए सार्वजनिक सामान बनाने हेतु काम होगा। उन्हें रिकार्डो के श्रम-मूल्य सिद्धांत पर विश्वास था यानी यह श्रम ही है जो तैयार की गई वस्तु का मूल्य निश्चित करती है। उन्होंने यह भी पहचान लिया कि पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर को उसके श्रम का पूरा (योग्य) मूल्य नहीं मिलता।

किंतु उन्हें हर चीज पैसे की गलती के कारण होती जान पड़ती थी। वह इस प्रक्रिया को नहीं समझ पाये जहाँ से यह असमान विनिमय आया। वे यह बताने में भी असमर्थ थे कि समाज का पुनर्निर्माण कैसे किया जायेगा। क्या उत्पादन के साधन उनके मालिकों द्वारा पूरी जनता को सरल ढंग से दे दिये जायेंगे या क्या उसको पाने के लिए जनता को लड़ाई लड़नी पड़ेगी? वह स्पष्ट नहीं थे। उन्होंने कुछ सहकारी समितियाँ स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने सोचा कि इसके द्वारा वे परिवर्तन का एक ऐसा माप दण्ड प्राप्त कर सकेंगे जो समाज को न्यायसंगत बनायेगा किंतु सहकारी समितियाँ किसी भी चीज में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं ला पायी क्योंकि वे मौजूदा समाज के दायरे के भीतर ही बनी थी। लेनिन ने काल्पनिक समाजवाद का अपनी पुस्तक "मार्क्सवाद के तीन स्रोत और तीन घटक" में उपयुक्त मूल्यांकन किया है इसमें उन्होंने कहा :

> इसने पूँजीवादी समाज की आलोचना की, इसकी निन्दा की और इसे कोसा, इसने इसके नष्ट होने का स्वप्न देखा, इसके पास बेहतर व्यवस्था की कल्पना दृष्टि थी और इसने अमीरों को शोषण की अनैतिकतता के बारे में समझाने की कोशिश की, किंतु काल्पनिक समाजवाद वास्तविक समाधान की ओर इशारा नहीं कर पाया। यह पूँजीवाद के तहत वेतन-गुलामी की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझा पाया, यह पूँजीवादी विकास के नियमों को उजागर नहीं कर पाया। यह नहीं दिखा पाया कि वे कौन सी सामाजिक शक्तियाँ हैं जिनमें नये समाज का निर्माता बन सकने का सामर्थ्य है।

बोध प्रश्न-1

संक्षेप में उत्तर दीजिए।

1) समाजवादी समाज और पूँजीवादी समाज में क्या फर्क है?
2) काल्पनिक समाजवादी कौन थे?
3) उन्हें काल्पनिक समाजवादी के रूप में क्यों देखा जाता था?
4) किस समय में उनके विचार सामने आये?
5) सही या गलत में उत्तर लिखिये :
   क) काल्पनिक समाजवादियों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था।
   ख) वे अविकसित पूँजीवाद की देन थे।
   ग) राबर्ट ओवेन मजदूरों के शोषण के कारणों को समझ गये थे।
   घ) काल्पनिक समाजवादी सामाजिक न्याय के प्रति चिंतित थे।

12.5 मार्क्सवाद : आर्थिक और सामाजिक समीक्षा

मार्क्सवाद उन वैज्ञानिक समाजवादी विचारों से संबंध रखता है जो यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुए। वह हस्ती कार्ल मार्क्स थी जिन्होंने इन विचारों को व्यक्त करने, विकसित करने व इन्हें विचारधारा के संकाय के रूप में एक निश्चित विशिष्टता देने के लिए सर्वाधिक कार्य किया। उन्ही के नाम से वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों को मार्क्सवाद के नाम से भी जाना जाता है। फ्रेड्रिक ऐंगल्स कार्ल मार्क्स के आजीवन मित्र और सहयोगी थे। सरल शब्दों में, 1848 में जब उनके द्वारा लिखा कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र प्रकाशित हुआ, तो पहली बार उनके विचारों ने यूरोप को झकझोर दिया। उसके बाद उनकी किताबों का अनेक भाषओं में अनुवाद हुआ। उनके विचार उत्पीड़ितों के संघर्ष, जिनके हितों व मुक्ति के वे साथी थे, का आधार बन गये।

मार्क्स और ऐंगेल्स के विचार किसी शून्य मे जादुई रूप में नहीं आये। उन्होंने जर्मन दर्शन अंग्रेजी राजनैतिक अर्थशास्त्र व फ्रांसीसी समाजवाद के महान प्रतिनिधियों की शिक्षा को

समाविष्ट किया, उसे आगे बढ़ाया। उन्होंने उसे नये ढंग से जोड़ा।

दार्शनिक रूप से मार्क्सवाद का अर्थ है इतिहास और जीवन का भौतिकवादी दृष्टिकोण, यानी लोग अपने समाज व राजनैतिक ढाँचे को किस ढंग से बनाते हैं इस बात पर निर्भर करता है कि वे किस ढंग से अपने जीवन की आवश्यकताओं का उत्पादन करते हैं, तथा वे किस ढंग से इसके लिए अपने श्रम को संगठित करते हैं और अंततः इस पर भी कि वे किस ढंग से सोचते हैं। संक्षेप में उन्होंने दिखाया कि यह परिवेश ही है कि जो चेतना का निर्धारण करती है इसके विपरीत नहीं, क्योंकि एक भौतिक पदार्थ पहले से ही अस्तित्व में है और इस बात से स्वतंत्र है कि लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं—उदाहरण के लिए, पेड़ अस्तित्व में था, इसीलिए लोगों ने उसे देखा, पहचाना और उसे एक नाम दिया। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया होता तो भी वह अस्तित्व में रहता। मानव इतिहास के अनुप्रयोग में मार्क्सवाद ने दिखाया कि जिसने इतिहास के खास दौर का निर्धारण किया वह थी मौजूदा उत्पादन-प्रणाली यानी एक समाज की उत्पादन शक्तियों और उत्पादन संबंध। दूसरे शब्दों में, समाज में जीने के भौतिक आधार आर्थिक व्यवस्था, जीने के साधनों का उत्पादन। वे कैसे करते हैं, व इसे करने के लिए वे अपने आपको कैसे संगठित करते हैं। दासता, सामंतवाद तथा पूँजीवाद ने भिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं व भिन्न वर्ग-संबंधों को प्रस्तुत किया। यहाँ पर आपको यह जानना आवश्यक है कि वह मार्क्स ही थे जिन्होंने भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं की समीक्षा व वर्गीकरण किया। उन्होंने दिखाया कि जीवन के भौतिक आधार ही समाज की प्रकृति का निर्धारण करते हैं व इन भौतिक आधारों के परिणामस्वरूप उभरे वर्ग-संघर्ष ही समाज के परिवर्तन तथा विकास का कारण बनता है।

ऐतिहासिक विकास तथा परिवर्तन का निर्देशक व प्रमुख कारण मानव विचारों में परिवर्तन नहीं बल्कि वर्ग सघर्ष है। इसके बदले में वर्ग संघर्ष इस वास्तविकता का फल था कि लोगों का कुछ हिस्सा या वर्ग तो विशेषाधिकार प्राप्त व शासक वर्ग था। तथा दूसरा अधिकार विहीन उत्पीड़ित व शोषित वर्ग था। बदले में उनकी भिन्न व अन्तर्विरोधी स्थितियाँ उनके आय-साधनों के संबंध पर आधारित थीं—चाहे वे उनके मालिक हों और उस पर काम करने के लिए दूसरों को रोजगार पर लगाते हों या चाहे वे उस पर काम करके दूसरों के लिए लाभ कमाते हों। स्वाभाविक है कि दोनों के हित एक दूसरे के विरोधी थे व जिसका सामंजस्य नहीं हो सकता। संक्षेप में मार्क्सवाद ने दिखाया कि प्रचलित अर्थव्यवस्था समाज का आधार थी जिसने इसके अन्य क्षेत्रों को निर्धारित किया और वर्ग संघर्ष ऐसे किसी भी समाज का अभिन्न अंग थी जहाँ संसाधन किसी की निजी सम्पत्ति थी तथा जो दूसरों के श्रम पर जीवित रहने का जरिया बन गई थी। इसीलिए इतिहास में जब तक निजी सम्पत्ति अस्तित्व में है वर्ग संघर्ष को टाला नहीं जा सकता यानी समाजवादी क्रांति के आने तक, जहाँ संसाधनों का सामूहिक स्वामित्व होगा, यह ऐतिहासिक विकास की हर अवस्था का आवश्यक हिस्सा है। इन्हीं विचारों से ऐतिहासिक भौतिकवाद बना।

इन्हीं विचारों को आधार बनाकर उन्होंने दिखाया कि किस तरह से प्रत्येक समाज एक सी ही विकासावस्था से गुजरा-आदिम, साम्यवादी, दासता, सामंतवाद, पूँजीवाद, समाजवाद और किस तरह भले ही भिन्न देशों में कुछ विशेषताएँ फर्क हों इनमें से किसी भी अवस्था का छूट जाना संभव नहीं था।

किंतु मार्क्सवाद और ऐंगेल्स ने न केवल ऐतिहासिक विकास की समझ को व्यक्त किया, बल्कि इतिहास की उनकी अपनी अवस्था का बखूबी विश्लेषण करने के प्रति भी उनका विशेष रूप से ध्यान था। ऐसा इसलिए कि वे न केवल विश्व को समझना भर चाहते थे बल्कि इसे बदलना भी चाहते थे। इसे बदलने के लिए यद्यपि सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक था कि मौजूदा वस्तुस्थिति की कार्यप्रणाली कैसी है, इसीलिए उनका दूसरा प्रमुख योगदान पूँजीवाद समाज की पूर्ण व कटु आलोचना करना था खासतौर से इसके परिणामस्वरूप पूँजीपति जिस तरह मजदूर वर्ग का शोषण कर रहे थे। यह होता कैसे है इसके विषय में हम इस पाठ में पहले ही चर्चा कर चुके हैं। यह मार्क्स और ऐंगेल्स ही थे जिन्होंने इस विषय पर काम किया। इस तरह उन्होंने आर्थिक सिद्धांत को भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने दिखाया कि किस तरह पूंजीवाद में एक मजदूर दिन का एक हिस्सा अपने और अपने परिवार के खर्चे की कीमत (वेतन) निकालने में बिताता है, जबकि दिन के

बाकी हिस्सों में वह बिना सुविधाओं के काम करता है, क्योंकि अब वे अपने पाये जाने वाले वेतन से कहीं अधिक न ज्यादा उत्पादन कर रहा है तथा जिसके द्वारा यह अधिशेष मूल्य की रचना करता है तथा जो पूँजीपति के मुनाफे का स्रोत है और वह जरिया है जिसके चलते मजदूर को अपने श्रम का फल नहीं मिलता। अतः पूँजीवाद सिर्फ एक आर्थिक व्यवस्था ही नहीं है, यह कुछ निश्चित सामाजिक संबंधों का समूह भी है यानी पूँजीपति और मजदूर के बीच का विशिष्ट संबंध जो मजदूर के हित के खिलाफ है व जो सामाजिक रूप से न्यायसंगत भी नहीं है। मजदूर व्यवस्था का आवश्यक अंग है क्योंकि श्रम के बिना कोई भी उत्पादन नहीं किया जा सकता अतः यहाँ श्रम का एक निश्चित सामाजिक संगठन है किंतु यह सामाजिक संगठन पूंजीपतियों के स्वामित्व वाली पूँजी या धन के द्वारा शासित है और जो मजदूरों के पास नहीं है।

बोध प्रश्न-2

1 नीचे कुछ वाक्य दिये गये हैं, बताइए कौन से सही (✓) या गलत (×) हैं
   क) मार्क्सवाद काल्पनिक समाजवाद से पहले आया।
   ख) मार्क्सवाद का अर्थ विचारों पर आधारित जीवन तथा इतिहास की समझ था।
   ग) मार्क्सवाद का अर्थ था जीवन तथा इतिहास का भौतिकवादी दृष्टिकोण।
   घ) मार्क्स की इतिहास की समझ में वर्ग प्रमुख नहीं था।
   ङ) पूँजीवाद मात्र एक आर्थिक व्यवस्था है।

2. किस तरह पूँजीवाद सिर्फ एक आर्थिक व्यवस्था नहीं है। चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

12.5.1 मार्क्सवाद : राजनैतिक सिद्धांत

पूँजीवाद के इस आर्थिक विश्लेषण द्वारा मार्क्स और ऐंगेल्स ने अपने राजनैतिक सिद्धांत व्यक्त किये। उन्होंने इशारा किया कि पूँजीवाद खुद ही पूँजीवादी समाज का तख्ता पलटने की परिस्थितियाँ पैदा करता है, यानी पुराने समाज के गर्भ में ही नये समाज के बीज अंकुरित होने

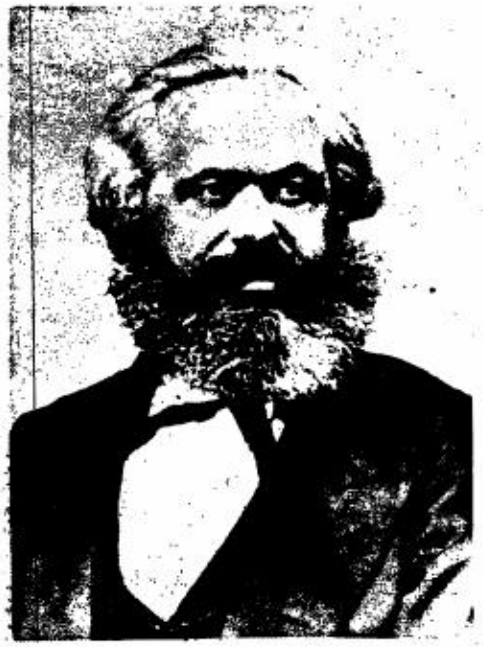

चित्र 1 कार्ल मार्क्स

हैं। सर्वप्रथम, उन्होंने यह बताया कि पूँजीवाद समय-समय पर खतरों से घिरा रहेगा। ये खतरे खुद इसी की प्रकृति से आते हैं। जहाँ पूँजीवाद ज्यादा से ज्यादा उत्पादन करता है, लोग ज्यादा से ज्यादा गरीब होते जाते हैं और जो उत्पादन है उसको खरीदने में असमर्थ होते हैं। मार्क्स के अनुसार यह अधिक उत्पादन और कम खपत के खतरे तथा पूँजीपति व मजदूर के हितों के असामजस्य जैसी स्थिति की ओर धकेलती है। यह पूँजीवाद का मुख्य अन्तर्विरोध भी है। अधिक मुनाफा पाने के लिए पूँजीपति मजदूर को कम से कम वेतन देता है, किंतु अपना माल बेचने के लिए मजदूर के पास खरीदने के लिए ज्यादा से ज्यादा पैसे होने चाहिए यानी उसे उन्हें ज्यादा वेतन देना चाहिए क्योंकि उनके पास आय का कोई अन्य जरिया नहीं है। जाहिर है कि वह यह दोनों काम एक साथ नहीं कर सकता। कुछ समय के लिए पूँजीवाद नये बाजारों के पुर्नआबंटन के लिए युद्ध छेड़कर या मजदूरों को आकर्षित करने के लिए सुधार के कुछ कदम उठाकर इन खतरों से उभर सकता है। किंतु यह अनंत नहीं चलता रह सकता क्योंकि अन्तर्विरोध खुद व्यवस्था में ही है। इसलिए पूँजीवाद के आर्थिक विश्लेषण से मार्क्स और ऐंगेल्स ने यह राजनैतिक निष्कर्ष निकाला कि पूँजीवाद के बदलने को टाला नहीं जा सकता।

उन्होंने कहा कि वह वर्ग जो इस व्यवस्था को बदलेगा मजदूर वर्ग या सर्वहारा है। उन्होंने बताया कि बडी फैक्ट्रियों की स्थापना से उसमें मजदूर वर्ग यानी सर्वहारा वर्ग भी उभरता है जिनके पास काम करके कमाने के सिवाय और कुछ नहीं है। इसीलिए निजी सम्पत्ति पर आधारित पूँजीवाद जैसी व्यवस्था में इस वर्ग का कुछ भी दाँव पर नहीं लगा है। इसीलिए पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष में उनके पास अपनी बेडियों को खोने के सिवाय और कुछ नहीं है। दूसरे पूँजीवाद के तहत सर्वहारा समाज का सबसे अधिक उत्पीड़ित हिस्सा है और इस कारण बदलाव में सबसे ज्यादा रुचि रखने वाला हिस्सा है। तीसरे, सर्वहारा के पास उस व्यवस्था जो उसका शोषण करती है, के खिलाफ लड़ने के सिवाय अन्य कोई दीर्घकालिक रास्ता नहीं था, क्योंकि यदि पूरे दिन में एक मजदूर जो काम करता है उसका अधिकतर हिस्सा उसे खुद को नहीं बल्कि पूँजीपति को धनी बनाने में चला जाता है तो वह कैसे स्वतंत्र रहकर एक अर्थपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है इसलिए पूँजीवाद को बदलना सर्वहारा के लिए एक आवश्यक और मनपसंद कार्य भी बन गया क्योंकि इसी पर उसके काम के कम घंटे, आराम, संस्कृति स्त्री पुरुषों के बीच समानता और अच्छे स्वास्थ्य व शिक्षा का अधिकार निर्भर करेगा।

मार्क्स और ऐंगेल्स ने यह भी संकेत किया कि मजदूर वर्ग की मुक्ति के साथ ही समाज के अन्य हिस्सों की भी मुक्ति मिल सकती है। क्योंकि यह मजदूर वर्ग ही है जो समाज की सबसे निचली तह को बनाता है। साथ ही परिस्थितियों के चलते मजदूर वर्ग ही पूँजीवाद के बदलने के संघर्ष में समझौता न करने वाला एकमात्र वर्ग हो सकता है। अतः मार्क्स और ऐंगेल्स पूँजीवाद के अपने आर्थिक विश्लेषण में जिस दूसरे मुख्य राजनैतिक निष्कर्ष पर पहुँचे वह यह है कि यह मजदूर वर्ग ही है जो संघर्ष का नेतृत्व करेगा और समाजवादी क्रांति का सेनापति होगा। अतः पूँजीवाद ने स्वयं ही नष्ट होने के साधन जुटाए।

संक्षेप में, उन्होंने कहा कि पूँजीवाद के पहले या उसके बिना कोई समाजवाद नहीं हो सकता, पूंजीवाद अपनी फैक्ट्रियों द्वारा उत्पादन बढ़ाने की संभावना बनाता है ताकि हर एक को उसके काम के मुताबिक बाँटने के लिए पर्याप्त हो। पूँजीवाद अपनी फैक्ट्री व्यवस्था द्वारा मजदूर वर्ग को भी जन्म देता है जो इसे पलट सकता है।

12.5.2 मार्क्सवाद : क्रांति का सिद्धांत

मार्क्स ने सवाल किया क्या पूँजीपति स्वेच्छा से और अपने आप अपने लाभ को छोड़ देंगे? कुछ विशिष्ट पूँजीपति शायद अपने लाभ का कुछ अंश दान के रूप में दे देंगे। लेकिन इससे ज्यादा कुछ नहीं। उन्होंने ऐसा अपने निजी विचार के रूप में नहीं कहा। उन्होंने विभिन्न युगों में मानव समाज के इतिहास की ओर इशारा किया – लोगों ने बिना संघर्ष किये कुछ नहीं पाया, समाज के विशेषाधिकार प्राप्त हिस्से ने तब तक कुछ नहीं दिया जब तक लड़ाई से उनका सामना नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि इसीलिए मजदूर वर्ग की मुक्ति केवल मजदूर वर्ग के वर्ग-संघर्ष से ही हो सकती है।

लेकिन यह संघर्ष क्या रूप धारण करेगा– क्या यह शांतिपूर्ण हो सकता है? इसके जवाब में मार्क्स का यह कहना था : सशक्त फौजें व राज्य तंत्र शासक वर्ग के हाथों में है और वे इसका प्रयोग अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए ही करते हैं। पूँजीवाद के समाजवाद में परिवर्तन शांतिपूर्वक नहीं हो सकता। मजदूर वर्ग को क्रांति द्वारा राज्य शक्ति पर कब्जा करना होगा और एक नये राज्य द्वारा समाजवादी राज्य का निर्माण करने का आश्वासन देना होगा जो सर्वहारा का अधिनायकवाद होगा।

लेकिन क्या यह लड़ाई मजदूर वर्ग और पूँजीपति के बीच होने वाली केवल एक आर्थिक लड़ाई ही होगी? नहीं मार्क्स के अनुसार यह केवल एक आर्थिक लड़ाई नहीं होगी और हालांकि मजदूर वर्ग क्रांति की प्रेरक सामाजिक शक्ति होगी इसमें दूसरे भाग भी हिस्सा लेंगे। दूसरों के सामाजिक भूल के कारण यद्यपि उनकी भूमिका केवल गौण होगी और कभी-कभी ठुल-मिल भी। मार्क्स ने बताया कि पूँजीवाद का विकास गिने-चुने हाथों में धन के व्यापक केन्द्रीयकरण और अधिकतर लोगों में बढ़ती हुई गरीबी की स्थिति की ओर ले जाता है। पूँजीवाद के संकट ने न केवल मजदूर वर्ग पर प्रभाव डाला, मध्यम वर्ग पर भी, खासतौर से निम्न मध्यम वर्ग और किसानों पर इसका प्रभाव पड़ा। इसीलिए पूँजीवाद के खिलाफ लड़ाई न केवल मजदूर वर्ग द्वारा बल्कि मध्यम बुद्धिजीवी वर्ग के कुछ हिस्सों, व मध्यम वर्ग द्वारा भी लड़ी जाएगी जो मजदूर वर्ग के राजनैतिक निर्णय को अपनायेंगे क्योंकि वह राजनैतिक व सामाजिक रूप में न्याय संगत है तथा गाँवों में रहने वाले कृषि मजदूरों द्वारा भी जो कि समान रूप से शोषित हैं पर चूँकि मध्यम वर्ग का सामाजिक मूल निजी संपत्ति की जड़ में है, वे कभी भी समझौता न कर सकने वाली भूमिका नहीं निभा पायेंगे–उनमें हमेशा ढुलमुलापन रहेगा। यदि उनका एक भाग क्रांति के साथ होगा तो दूसरा बुर्जाआ की या पूँजीपतियों के साथ। अत: मुख्य भूमिका मजदूर वर्ग की ही होगी। जैसा कि मार्क्स ने जोर देकर कहा। दूसरे, लड़ाई कई क्षेत्रों में लड़ी साधनों पर पूँजीपतियों का स्वामित्व है, यह एक राजनैतिक लड़ाई होगी, क्योंकि राजनैतिक ढाँचा पूँजीपतियों के प्रभुत्व में है, सामाजिक असमानता व नैतिकता के कारण, सामाजिक होगी क्योंकि यह एक अधिक मानवीय समाज के लिए है।

राज्य शक्ति पर कब्जा करने का पहला प्रयास 1871 में पेरिस के मजदूर वर्ग द्वारा हुआ था। आपने पेरिस कम्यून के बारे में जरूर सुना होगा। पेरिस कम्यून की स्थापना करने में हजारों मजदूरों ने अपनी जानें गवाँ दीं लेकिन उन्होंने शासक वर्ग के पुराने राजकीय तंत्र को नष्ट नहीं किया। इसीलिए पेरिस कम्यून चल नहीं पाया। इसे निर्दयता से कुचल दिया गया। इस अनुभव ने मार्क्स की इस समझ के सत्य को प्रत्यक्ष रूप से दिखा दिया कि समाजवादी राज्य की स्थापना के आश्वासन को पूरा करने के लिए सर्वहारा का अधिनायकवाद तब तक जरूरी है जब तक कि समाज से शासक वर्ग के आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक आधार की शक्ति को समाप्त नहीं कर दिया जाता। इसे समझना अत्यंत महत्वपूर्ण है कि मार्क्स शासक वर्ग की शारीरिक रूप से समाप्ति या हत्या की वकालत नहीं कर रहे थे – वे इसी बात की वकालत कर रहे थे कि उस तबके को शासक वर्ग बने रहने की और इजाजत न दी जाये। संक्षेप में वे पूर्ण समानता-आर्थिक समानता भी-पर आधारित एक वर्गविहीन समाज की वकालत कर रहे थे।

क्रांति किस तरह से लायी जाये, इसके बारे में कहने को उनके पास कुछ और भी था। उन्होंने कहा था कि इसके उत्तराधिकार में प्राप्त अर्न्तविरोधों और इसमें मजदूर वर्ग की स्थिति के चलते पूंजीवाद के पलटने को टाला नहीं जा सकता। किंतु वे कोई ज्योतिष नहीं थे। वे एक समाज वैज्ञानिक थे। वे कोई भविष्यवाणी नहीं कर रहे थे। वे भविष्य में समाज के विकास की संभावनाओं व उस सामान्य रुख को दिखा रहे थे जिसकी ओर समाज अग्रसर था तथा कैसे इसके परिणाम अंतत: इसे समाजवाद की ओर ले जायेंगे। उन्होंने भविष्य में होने वाली क्रांतियों की कोई सही समय सूची नहीं दी। उन्होंने दिखाया कि कैसे यह वर्ग संघर्ष पर निर्भर होगा जो पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच का संघर्ष है व इन संघर्षों के परिणाम क्या होंगे मजदूर वर्ग को सफल होने के लिए सर्वप्रथम क्रांतिकारी सिद्धांतों की सही समझ होनी चाहिए और इसके लिए उसे अच्छी तरह से संगठित होना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने मजदूर वर्ग के बीच राजनैतिक शिक्षा और मजदूर वर्ग के संघर्ष को नेतृत्व देने के लिए मजदूर वर्ग पार्टी की स्थापना पर जोर दिया।

मार्क्स ने न केवल सिद्धांतों में ही योगदान दिया उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा पर आधारित मजदूरों की सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सभा की स्थापना की। दूसरे शब्दों में, यह इस बात को मान्यता देता है कि दुनियाँ के संपूर्ण मजदूर वर्ग के हित समान हैं, इसीलिए, उन्हें एकजुट होकर लडना चाहिए। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय पुरुष मजदूर सभा का नारा था– "दुनिया के मजदूरों एक हो।"

मजदूर वर्ग द्वारा सफल क्रांति सर्वप्रथम रूस में 1917 में हुई। रूस के मजदूर वर्ग ने न केवल उद्योग पर से निजी सम्पत्ति की समाप्ति की, उसने किसान वर्ग के साथ मिलकर भूमि का राष्ट्रीयकरण किया। उसने एक नये राज्य की रचना की – मजदूर जनता के शासन पर आधारित एक समाजवादी राज्य की। उसने समाजवादी जनतंत्र पर आधारित आर्थिक समानता व सामाजिक न्याय की स्थापना की। इसके विषय में आप एक अलग पाठ में पढेंगे।

बोध प्रश्न 3

1 निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत बताइये।
   क) मार्क्सवाद के अनुसार परिवेश की चेतना का निर्धारण करता है।
   ख) पूँजीवाद समाज न्यायसंगत समाज है।
   ग) क्रांति की प्रमुख शक्ति मजदूर वर्ग है।
   घ) पूँजीवाद अत्यधिक उत्पादन और कम उपभोक्ता से चरित्रित है।
   ङ) पूँजीवाद से समाजवादी समाज में परिवर्तन शांतिपूर्वक ढंग से हो सकता है।

2. पूँजीवाद में पूँजीपति को मुनाफा कैसे प्राप्त होता है और मजदूरों का शोषण कैसे होता है?

.....

.....

3 पूँजीवाद का मुख्य अन्तर्विरोध क्या था?

.....

.....

4 वे राजनैतिक निष्कर्ष क्या थे जो मार्क्स व ऐंगेल्स ने अपने पूँजीवाद के आर्थिक विश्लेषण से निकाले थे?

.....

.....

5 क्या पूँजीवाद के खिलाफ संघर्ष शांतिपूर्वक हो सकता है?

.....

.....

12.6 सारांश

इस इकाई में आपने देखा :

- किस तरह से समाजवादी व्यवस्था पूर्ण सामाजिक व आर्थिक समानता के पक्ष में है।
- कि, यह अन्यायपूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था का अन्तर्विरोध ही था जिसने समाजवादी विचारधारा के उभार को बढ़ावा दिया।
- कि सर्वप्रथम, चेतना की कमी के कारण समाजवादी विचारधारा ने तर्क दिया कि पूँजीवाद के अन्याय को हृदय से नैतिकताओं में परिवर्तन से हटाया जा सकता है।
- यद्यपि पूँजीवाद की अन्दरूनी शोषण व्यवस्था की समझ के साथ, समाजवादी विचारधारा ने इस असमानता को और बढ़े हुए रूप से बनाया।
- समाजवादी समाज, अधिसंख्यक यानी सर्वहारा के राज्य की स्थापना के द्वारा ऐसी परिस्थितियाँ बनाता है जहाँ पूर्ण सामाजिक व आर्थिक समानता का आश्वासन हो।
- कि यह कार्ल मार्क्स थे जिन्होंने पूँजीवाद के साम्यहीन ढाँचे व आर्थिक आधार को सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत मे ठोस रूप से जोड़ा। ऐसा करने से काल्पनिक

समाजवाद इत्यादि विचारों पर आधारित सामाजिक सिद्धांत, जो सामाजिक परिवर्तन व अन्यायपूर्ण ढाँचों को हटाने के सिद्धांत रूप से जोड पाने में असमर्थ थे, से अलग हट गये। ऐसा करने में उन्होंने हमें एक सामाजिक सिद्धांत दिया– जो अर्थशास्त्र, राजनीति व इतिहास को आपस में जोड़ता है।

12.7 शब्दावली

उत्पादन के साधन : उत्पादन की व्यवस्था के भौतिक तत्व। आय के साधन जैसे भूमि, कारखाने, कच्चा माल इत्यादि जिससे धन प्राप्त किया जाता है।
उत्पादन प्रणाली : एक समाज के जीवन की जरूरतों के उत्पादन का तरीका साथ ही उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की प्रकृति व समाज के विभिन्न भागों का इससे संबंध।
क्रांति : जिंदगी का वह परिवर्तनकारी मोड़ जो एक नयी सामाजिक व्यवस्था की ओर ले जाती है। एक सामाजार्थिक व्यवस्था से दूसरे अधिक प्रगतिशील व्यवस्था में परिवर्तन।
समाजवादी क्रांति : क्रांति का चरित्र इसके द्वारा पूरे किये जाने वाले कार्यों व इसमें हिस्सा लेने वाली शक्तियों से निर्धारित होता है। समाजवादी क्रांति की उत्तमता के स्तर पर एक फर्क किस्म की क्रांति है क्योंकि यह उत्पादन साधनों पर से निजी स्वामित्व समाप्त करके शोषण को ही समाप्त करती है और शोषण से मुक्त एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करती है। इससे पहले के अन्य सभी समाज शोषित थे क्योंकि उत्पादन के साधन निजी (कुछ) हाथों में थे।

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1 भाग 12.2 पैरा 1-7 देखिए साथ ही भाग 12.3 पैरा 2-7 देखिए
2 उपभाग 12.4.1, 12.4.2, 12.4.3 देखिए
3 भाग 1, 2, 4 पैरा 3-9 देखिए
4 भाग 12.4 देखिए
5 क) गलत, भाग 12.4 देखिए
ख) सही, भाग 12.4 देखिए
ग) गलत, उपभाग 12.4.3 देखिए
घ) सही, भाग 12.4 से उपभाग 12.4.3 तक देखिए।

बोध प्रश्न-2

1 क) गलत
ख) गलत
ग) सही
घ) गलत
ङ) गलत
2 भाग 12.5 का आखिरी पैरा देखिए।

बोध प्रश्न-3

1 क) सही, भाग 12.5 देखिए
ख) गलत, पूरी इकाई को ध्यानपूर्वक देखिए
ग) सही, उपभाग 12.5.1 और 12.5.1 देखिए
घ) सही, उपभाग 12.5.2 पैरा 2 देखिए
ङ) गलत, उपभाग 12.5.2 देखिए

इकाई 13 प्रथम विश्व युद्ध : कारण एवं परिणाम

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 प्रथम विश्व युद्ध के कारण
  13.2.1 गुप्त संधि प्रणाली
  13.2.2 सैन्यवाद
  13.2.3 राष्ट्रवाद
  13.2.4 साम्राज्यवाद की अपनी आवश्यकताएँ
  13.2.5 समाचार पत्र प्रेस एवं जनमत
  13.2.6 तत्कालिक कारण
13.3 युद्ध के परिणाम
  13.3.1 मानव जीवन की क्षति
  13.3.2 सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन
  13.3.3 जनतांत्रिक आदर्श
  13.3.4 1919 का पेरिस सम्मेलन
  13.3.5 शक्ति संतुलन का समाचार
  13.3.6 नवीन अंतर्राष्ट्रीय साधन
13.4 विश्व युद्ध और भारत
13.5 सारांश
13.6 शब्दावली
13.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- विश्व इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना के रूप में प्रथम विश्व युद्ध के महत्व की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- 1914 की भयावह परिस्थिति के कारणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- इस युद्ध में शामिल देशों तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, दोनों पर युद्ध के परिणामों के विषय में जान सकेंगे,
- भारत पर युद्ध के प्रभावों के विभिन्न पक्षों को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

प्रथम विश्व युद्ध के विषय पर जानकारी प्राप्त करते समय सर्वप्रथम यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह युद्ध 19वीं शताब्दी के अंतिम दो-तीन दशकों में यूरोप तथा विश्व के अन्य भागों में होने वाले घटना क्रम का परिणाम था, इन पृष्ठों पर आपके समझ यह स्पष्ट हो सकेगा कि यद्यपि यह केवल एक युद्ध था किंतु अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर इसका अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। इस युद्ध ने उस समय के अनेक सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक संरचनाओं को ध्वस्त कर दिया। यहाँ हमारा मुख्य उद्देश्य इस युद्ध के मुख्य कारणों एवं परिणामों से आपको अवगत कराना है।

13.2 प्रथम विश्व युद्ध के कारण

प्रथम विश्व युद्ध के कारण इतने पेचीदे हैं कि उनकी यथोचित व्याख्या करने का अर्थ होगा यूरोप का 1870 के बाद की राजनैतिक कूटनीति का इतिहास लिखना। दरअसल इसके कारण

ढूँढ़ने की प्रक्रिया में हमें 1789 अथवा लुई XIV के समय तक भी जाना पड़ सकता है। इस युद्ध के कारणों की गहराई में जाने के लिए यूरोप के विभिन्न देशों के अंतर्गत काफी लंबे समय तक क्रियाशील रहने वाली विभिन्न शक्तियों एवं प्रवृत्तियों की संयुक्ता पर दृष्टिपात करना होगा। आइए, हम प्रथम विश्व युद्ध के कुछ मुख्य कारणों पर विचार करें।

13.2.1 गुप्त संधि प्रणाली

इस युद्ध का बुनियादी कारण गुप्त संधि प्रणाली था। दरअसल यह प्रणाली बिस्मार्क की देन थी जिसने 1870 के फ्रैंको-प्रशियन युद्ध के बाद जर्मनी के शत्रु देशों के विरुद्ध इस प्रकार की संधि का तंत्र तैयार करने का प्रयास किया, इस कदम ने धीरे-धीरे यूरोप को हथियार बंद विरोधी खेमों में बाँट दिया जो कि एक दूसरे से टकराते रहे। जैसा कि अनुमान लगाया जा सकता है कि संधि प्रणाली कुछ अवसरों पर एक खेमे के सभी सदस्यों के बीच शांति स्थापित करने में सहायक रही। तथा साथ ही मित्र तथा सहयोगी गुटों पर युद्ध आरंभ करने पर भी रोक लगाती रही। तथापि इस प्रणाली के कारण युद्ध आरंभ हो जाने की परिस्थिति में यूरोप की सभी शक्तियों का युद्ध में शामिल होना अवश्यभावी हो गया।

सन् 1871 से 1890 तक बिस्मार्क यूरोपीय राजनीति का सूत्रधार रहा। नए जर्मन साम्राज्य के चांसलर के रूप में वह शांति चाहता था। उसने घोषणा की कि जर्मनी एक "संतुष्ट" राष्ट्र है। वह जानता था कि युद्ध जो कि जर्मनी को शक्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्व दे सका है, यदि पुनः छिड़ गया तो उसकी बर्बादी का ही कारण बनेगा। अतः बिस्मार्क यथा स्थिति तथा गुप्त गठबंधन प्रणाली के फलस्वरूप उभरे शक्ति संतुलन का बनाए रखने का समर्थक बन गया। वह जानता था कि फ्रांस, विशेषकर 1870 के अपमान के बाद, जर्मनी का ऐसा कट्टर शत्रु बन चुका था जिससे समझौता करना संभव नहीं था। अतएव बिस्मार्क ने अपनी सारी कूटनीतिक क्षमता एवं राजनैतिक अंतर्दृष्टि जर्मनी की रक्षा के लिए संधि तैयार करने में लगा दी। फ्रांस जर्मनी का शत्रु था तथा बिस्मार्क की सफलता फ्रांस के कूटनीतिक अलगाव में थी। इसी नीति का अनुसरण करते हुए जर्मनी ने 1879 में आस्ट्रिया के साथ इस दोतरफा बचनबद्धता के साथ संधि की कि यदि रूस दोनों में से किसी भी एक शक्ति पर आक्रमण करता है तो दूसरा उसकी सुरक्षा में सहयोग देगा। तीन वर्ष बाद सन् 1882 में बिस्मार्क ने ट्यूनिस के मुद्दे पर चली आ रही फ्रांस-इटली शत्रुता को बढ़ावा दिया तथा इटली को आस्ट्रिया के साथ चली आ रही पुश्तैनी शत्रुता समाप्त करने के लिए प्रेरित किया। सन् 1882 में जर्मनी, इटली एवं आस्ट्रिया के मध्य एक तीन पक्षीय गुप्त संधि एक ओर फ्रांस तथा दूसरी और रूस के विरुद्ध रक्षात्मक संधि के रूप में की गयी।

फ्रैंको-प्रशियन युद्ध के बाद से फ्रांस शक्तिहीन हो चुका था। यह मजबूत संधि उसके लिए काफी बड़ी समस्या प्रस्तुत कर रही थी। जब तक बिस्मार्क शक्ति का केंद्र रहा उसने शक्ति संतुलन की प्रणाली बनाए रखी जिसे उसने 1887 में रूस के साथ पुनर्रक्षा संधि के साथ पूरा किया। फ्रांस का शेष यूरोप से अलगाव बढ़ता ही जा रहा था। किंतु 1890 के बाद जब बिस्मार्क जर्मनी का चांसलर न रहा तो उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी कौशल पूर्ण कूटनीतिज्ञता का रास्ता छोड़ दिया। बर्लिन कांग्रेस में पूर्वीय प्रश्न के समाधान को लेकर रूस एव जर्मनी के संबंधों में कुछ कटुता आई। फ्रांस ने इस नयी परिस्थिति का लाभ उठाया एवं सावधानीपूर्वक कार्य करते हुए 1891 में रूस के साथ संधि बनाने में सफलता पायी। इस प्रकार द्विपक्षीय संधि तैयार हुई जिसने न केवल फ्रांस के अलगाव को समाप्त किया बल्कि तीनपक्षीय संधि के समझ प्रतिवादी शक्ति के रूप में उभरी। जर्मनी में बिस्मार्क की कूटनीति के समापन के साथ ब्रिटेन के कूटनीतिज्ञों में नीति को लेकर पुर्नविचार आरंभ हुआ। जर्मन सम्राट की दृष्टि में यह "तथ्य" ठीक नहीं था कि "जर्मनी" एक "संतुष्ट" शक्ति है। इस विचार के साथ उसने विश्व साम्राज्य स्थापित करने की नीति की घोषणा की। उसने यह भी घोषणा की कि जर्मनी का भविष्य समुद्रों पर आधारित है। जर्मनी की यह नीति ब्रिटेन के लिए चेतावनीपूर्ण थी जिसने उसे "श्रेष्ठ अलगाव" से बाहर आने पर मजबूर किया और उसे द्विपक्षीय गठजोड़ के निकट लाया। ब्रिटेन में फ्रांस के साथ सारे मतभेद समाप्त करते हुए मित्रवत् गठजोड़ (Entente Cordiace) पर समझौता किया। उसके बाद इसी प्रकार का समझौता 1907 में रूस के साथ किया। इस प्रकार फ्रांस, रूस एव इंग्लैंड ने तीन पक्षीय मित्र गठजोड़ (Triple Entente) के नाम से एक अलग राजनैतिक संधि तैयार की। तीनपक्षीय मित्र गठजोड (Triple Entente) के तीन पक्षीय संधि (Triple Alliance) के साथ टकराने के

साथ ही यूरोप की स्थिति "हथियार बंद शांति" समान हो गयी। यूरोप की महाद्वीपीय शक्तियाँ हालाँकी एक-दूसरे के साथ युद्ध तो नहीं कर रही थीं लेकिन अपने पड़ोसियों के प्रति ईर्ष्यालु रुख अपना रही थीं, जिसके कारण यूरोप के पूरे वातावरण में डर एवं शंका के बादल मँडरा रहे थे। सभी शक्तियाँ किसी बड़े टकराव की शंका से ग्रस्त होकर तेजी से सैन्यीकरण करती जा रही थी जो कि यूरोप के दो विरोधी खेमों में बँट जाने का परिणाम था। यूरोप के दो विरोधी हथियार बंद खेमों में बँट जाने को साम्राज्यवाद के उद्भव एवं विकास के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। यह वैसी परिस्थिति थी जिसमें यूरोपीय देश व्यापार एवं सीमाओं के विस्तार में तेजी से आगे बढ़ने के लिए तत्पर होकर नए-नए उपनिवेश तैयार कर रहे थे और इसी प्रक्रिया में एक दूसरे से स्पर्धा कर रहे थे। जाहिर है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी भौतिक शक्ति सिद्ध करने की दृष्टि से अपने को सैन्यशक्ति एवं राजनैतिक निपुणता में श्रेष्ठ बनाना आवश्यक था।

13.2.2 सैन्यवाद

सैन्यीकरण दरअसल गुप्त समझौतों की प्रणाली से सीधे जुड़ा हुआ था एवं युद्ध का दूसरा महत्वपूर्ण कारण था। बड़ी संख्या में सेनाएं रखना दरअसल क्रांति के दौरान फ्रांस से शुरू हुआ था और बाद के दिनों में नैपोलियन के आधीन बढ़ता गया। जर्मनी के एकीकरण के दौरान बिस्मार्क ने इस नीति का प्रभावशाली ढंग से विस्तार एवं विकास किया। 1870 के फ्रैंको-प्रशियन युद्ध के बाद सभी महाशक्तियों ने अधिक से अधिक मात्रा में सैनिक एवं समुद्री हथियार बढ़ाने आरंभ कर दिए। हथियारों की यह दौड़ सुरक्षा के नाम पर तीव्र की जा रही थी। इसके कारण राष्ट्रों के बीच भय एवं शंका का वातावरण बन गया। यदि किसी एक देश ने अपनी सैन्य शक्ति बढ़ायी अथवा किसी विशेष स्थान पर रेलवे लाइने बिछाने का कार्य किया तो उसके पड़ोसी देश तुरंत डरकर वही कार्य स्वयं करने लगते। यह सिलसिला निरंतर चलता रहा एवं प्रतिदिन हथियारों का जमाव बढ़ता गया। यह कार्य 1912-13 के बालकान युद्धों के बाद और भी तेज हो गया। ऐंग्लो-जर्मन समुद्री शत्रुता भी युद्ध का एक कारण बना।

सैन्यीकरण के फलस्वरूप थल एवं समुद्री सेना कार्य हेतु मानवीय संसाधनों के रूप में कार्यकर्त्ताओं की एक बड़ी संख्या भी आवश्यक थी जो कि मनोवैज्ञानिक रूप से शीघ्र युद्ध की "अनिवार्यता" में ढाले जाते थे। इन लोगों के लिए युद्ध शीघ्र पदोन्नति एवं महत्व के दरवाजे खोलने वाला था। ऐसा नहीं है कि वे अपने नीजि स्वार्थों के लिए ही युद्ध चाहते थे, फिर भी युद्ध की सारी तैयारी को व्यवहार में लाने के अवसर की चाह ने अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव अवश्य ही छोड़ा होगा।

13.2.3 राष्ट्रवाद

युद्ध का अन्य महत्वपूर्ण कारण पूरे यूरोप में चलने वाली राष्ट्रवाद की लहर थी। यह राष्ट्रवाद दरअसल फ्रांसीसी क्रांति की देन थी। इटली एवं जर्मनी ने अपने-अपने देशों में राष्ट्रवाद के अभूतपूर्व उद्भव को एक मजबूत राजनैतिक शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया। इटली एवं जर्मनी का एकीकरण इसीलिए संभव हो सका क्योंकि कैवर (Cavour) एवं बिस्मार्क राष्ट्रवादी चेतना उभारने में सफल रहे थे। साथ ही इसी प्रक्रिया में लोगों के अंदर जातीय गर्व की भावना का भी विकास होने लगा। और वे अपने देशों को शेष देशों से ऊपर एवं बेहतर समझने लगे जिसके कारण उनका शेष देशों, विशेषकर पड़ोसी देशों के साथ अहंकारपूर्ण व्यवहार दिखाना स्वाभाविक ही था। राष्ट्रवादी भावना की अति ने राष्ट्रों के बीच पहले से बनी हुई खाई को और गहरा कर दिया। उदाहरण के लिए जर्मनी एवं ब्रिटेन जैसे राष्ट्रों के बीच बढ़ी हुयी शत्रुता के पीछे इस अति राष्ट्रवादी चेतना का काफी बड़ा हाथ रहा। इसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों के बीच थल एवं जल सैन्यीकरण की होड़ और तेज हो गयी। इसी आक्रामक राष्ट्रवादी भावना के कारण एशिया, अफ्रीका एवं बालकान में अपने-अपने स्वार्थों को लेकर यूरोपीय शक्तियाँ आपस में एक दूसरे से टकरा रही थीं। फ्रांसीसी जनता की इसी आक्रामक राष्ट्रवादी भावना के कारण ही उनके अंदर अल्सस एवं लोरेन की क्षति को लेकर बदले की भावना बनी रही, जिसने फ्रांस को जर्मनी का सबसे बडा शत्रु बना दिया। 1886 के बाद फ्रांस एवं जर्मनी के संबंध निरंतर तनावपूर्ण बने रहे। नैपोलियन III के साथ वह पीड़ित राष्ट्रीय जनमत था जो प्रशिया की शक्ति के प्रति ईर्ष्या की भावना में और भी कटुता ला रहा था। अंधी राष्ट्रवादिता के उभार के परिणामस्वरूप

1870 में फ्रैंको-प्रशियन युद्ध छिड़ा एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में लोकप्रिय पागलपन का एक नया दौर शुरु हुआ। इसी दौरान अधूरी इटली का भी नारा उठा जो कि आस्ट्रिया से इतालवी भाषी वेरिस्ते एवं त्रेंतिनों जिले हड़पने की इटली राष्ट्रवादी आकाक्षां की अभिव्यक्ति थी। इसके लिए इटली ने जर्मनी से सहयोग मांगा।

जार साम्राज्य के पश्चिम में विद्रोही राष्ट्र विद्यमान थे। 1870 के बाद पोल एवं यूकरेनियाई, लिथूनियाई एवं फिन जातियाँ जार साम्राज्य से मुक्त होने के जबरदस्त प्रयास कर रही थीं। इन राष्ट्रों के प्रति रूस की नीति, विशेषकर अलेक्जैंडर III के आधीन 1881-1894 के दौरान, इनके रूसीकरण का जोरदार प्रयास रहा। जिसके नतीजे में इन राष्ट्रीय समूहों के सबसे अधिक देशभक्त तत्व रूसी सामाजिक क्रांतिकारियों की ओर आकर्षित हुए जिन्होंने तुरंत ही पूरे क्षेत्र में संबंध स्थापित कर लिए। इन स्थानीय आंदोलनों में कट्टरवादी भावनाएँ निहित थीं जो कि इस दौरान अपने उत्थान पर थीं।

अंततोगत्वा, असंतुष्ट बालकान जनता की असंतुष्ट राष्ट्रीय आकाक्षांओं ने बालकान प्रायद्वीप को बारूद का ढेर बना दिया जिसने पूरे यूरोप को तुरंत ही अपनी आग के घेरे में ले लिया। वास्तव में युद्ध की ओर धकलने वाली तमाम घटनाओं के पीछे राष्ट्रवाद की ही प्रेरक भावना थी।

13.2.4 साम्राज्यवाद की अपनी आवश्यकताएँ

हमारे उद्देश्य के संबंध में साम्राज्यवाद का अर्थ एकक्षत्र पूंजीवादी दौर में विश्वस्तर पर पूंजीवादी संचय है, साम्राज्यवाद ने उत्पादन में निरंतर वृद्धि को बढ़ावा दिया जिसके कारण संबद्ध राष्ट्र नए बाजारों एवं कच्चे माल के स्रोतों की खोज में जुट गए। परिणामतः इस होड़ में लगी जनसंख्या में काफी वृद्धि हुई जिसका एक हिस्सा विश्व के उन हिस्सों में जाने के लिए तत्पर था जिन पर अभी किसी का अधिकार नहीं था। औद्योगिक क्रांति के कारण बचत पूंजी में भी वृद्धि हुई जो कि देश से बाहर निवेश की जा सकती थी। इस स्थिति ने आर्थिक शोषण एवं राजनैतिक स्पर्धा को तेज कर दिया। इन तमाम घटनाओं के कारण महान शक्तियों ने चीन में स्वतंत्र प्रभाव क्षेत्र के रूप में क्षेत्र प्राप्त करने के लिए तुर्की एवं अन्य स्थानों में रेलमार्ग बनाने के लिए आपस में अफ्रीका का विभाजन आरंभ कर दिया। 19वीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ में बाजारों, कच्चे माल तथा उपनिवेशों के लिए संघर्ष और भी तेज हो गया क्योंकि जर्मनी और इटली भी 19वीं शताब्दी के अंतिम दो-तीन दशकों में इस होड़ में शामिल हो गए। 1914 तक यूरोप की सभी महानशक्तियों ने अफ्रीका का कोई न कोई हिस्सा प्राप्त कर लिया था। रेलमार्ग बनाने में, जोकि आर्थिक साम्राज्यवाद का सबसे अधिक महत्वपूर्ण पक्ष है क्योंकि इसमें आर्थिक लाभ के साथ-साथ राजनैतिक पक्ष भी शामिल होता है, इंग्लैंड के रेलमार्ग केप से केरो तक फैल गए, रूस ने साइबेरिया तक तथा जर्मनी ने बगदाद रेलमार्ग तैयार कर लिए। प्रथम रेलमार्ग जर्मन, फ्रांसीसी एवं बेल्जियम हितों से टकराया, दूसरे ने रूस-जापान युद्ध में भूमिका निभाई तथा तीसरे के कारण जर्मनी तथा तीनपक्षीय मित्र संधि के बीच निरंतर संघर्ष चलता रहा।

सामान्यतः किसी देश के साम्राज्यवादी रुख अपनाने के पीछे आर्थिक हित और उसके साथ जुड़े हुए राजनैतिक उद्देश्य छिपे होते थे। उपनिवेश प्राप्त करने की देशों की नीति के पीछे कुछ प्रभावशाली, क्रियाशील राजनैतिक नेताओं का हाथ होता था जो इस दिशा में सोचते अन्यथा उपनिवेश प्राप्त करने की अनिवार्यता नहीं होती थी। ब्रिटेन ने 1860 के दशक में अथवा 1870 के दशक में और इसके बाद भी उपनिवेश प्राप्त करने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया यद्यपि कि जनसंख्या, निर्यात एवं पूंजी बचत की आर्थिक आवश्यकताएँ लंबे समय से बनी हुई थीं। इटली एवं रूस में से किसी के पास भी निर्यात के लिए अतिरिक्त उत्पादन अथवा पूंजी नहीं थीं फिर भी वे उपनिवेश प्राप्त करने की होड़ में लग गए। जर्मनी जो कि औद्योगिक रूप से फ्रांस से कहीं आगे था। बिस्मार्क की उपनिवेश विरोधी नीति के कारण उपनिवेश प्राप्त करने की दौड़ में धीमा रहा। बिस्मार्क जर्मनी को केवल यूरोप की ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में देखना चाहता था। दरअसल साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने के पीछे कुछ ही लोगों की सोच थी जिनमें विशेषकर, बुद्धिजीवी, अर्थशास्त्री, देशभक्त पत्रकार एवं राजनीतिज्ञ शामिल थे जो इस नीति का प्रचार कर रहे थे।

साम्राज्यवाद के राजनैतिक उद्देश्यों के अतिरिक्त अन्य पक्ष भी शामिल थे जो उपनिवेश

प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रेरित कर रहे थे। इनमें से एक पक्ष तो अन्वेषणकर्ताओं एवं साहसिक गतिविधियों में लगे लोगों की वैज्ञानिक खोजों में रुचि अथवा साहस एवं जोखिम भरे कार्यों के प्रति रूझान अथवा धन एवं शक्ति और प्रभाव की लालसा रखता था। उपनिवेशवाद को बढ़ावा देने में ईसाई मिशनरियों की भूमिका भी काफी महत्वपूर्ण रही। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध डेविड लिविंगस्टोन था जोकि लंदन मिशनरी सोसाइटी द्वारा अफ्रीका भेजा गया था। लगभग सभी यूरोपीय शक्तियों ने पूरे अफ्रीका एवं एशिया में इन *मिशनरियों की गतिविधियों में हिस्सा लिया। अन्य मुख्य ईसाई मिशनरियों जिन्होंने बड़े* पैमाने पर अफ्रीका में अपनी भूमिका निभाई वे चार्ल्स गॉर्डन, सन जॉन कर्क एवं लार्ड लुगार्ड थे।

13.2.5 समाचार पत्र, प्रेस एवं जनमत

महायुद्ध का अन्य मुख्य कारण पूरे यूरोप में समाचार पत्रों द्वारा जनमत को प्रदूषित करना था। समाचार पत्र अक्सर विदेशों की स्थिति को तोड़-मरोड़ कर अपने देश के अंदर राष्ट्रवादी भावनाएँ उभारते थे। कई मौकों पर जबकि कठिन अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर शांतिपूर्ण समाधान संभव हो सकते थे, इन समाचार पत्रों के इस प्रकार के रवैये के कारण टकराव की संभावना रखने वाले देशों के अंदर स्थिति खतरनाक बन गयी। मुख्य समाचार पत्र अक्सर राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रयी राजनीति में परिणाम प्रस्तुत करने के उद्देश्य से अनावश्यक रूप से आगे बढ़ जाते थे। 1870 में बिस्मार्क के ई.एम.एस. तार को प्रकाशित करने के कारण पेरिस में अति राष्ट्रवादी जनमत को बढ़ावा मिला। और उसने फ्रैंको-प्रशियन युद्ध की संभावनाओं को प्रबल बना दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यूरोपीय राजनीति में तनाव पैदा करने में प्रेस ने कितनी बड़ी भूमिका निभाई।

13.2.6 तात्कालिक कारण

आस्ट्रियन हैब्सबर्ग साम्राज्य सन् 1900 के बाद से उभरते हुए राष्ट्रवाद की चेतावनी से जूझ रहा था। बहुराष्ट्रीय साम्राज्य पर निरंतर नियंत्रण बनाए रखना दुष्कर था। ऐसी परिस्थिति में जबकि विएना में राजनैतिक एवं सैनिक नेतृत्व काउंट बर्च टोल्ड एवं कोनार्ड के हाथों में था, यह काम और भी मुश्किल हो गया था। आस्ट्रिया को सर्बिया के संदर्भ में एक और पाइडमॉट (Piedmont) अथवा एक और प्रशिया नजर आया और उन्हें जर्मनी एवं इटली के एकीकरण की प्रक्रिया में बिस्मार्क एवं कैवर के हाथों 1859 एवं 1866 में देश की अपमानजनक हार का स्मरण आया। 1914 तक सर्बिया के नेतृत्व में राष्ट्रीय एकीकरण के लिए स्लाव जनता का इसी प्रकार का आंदोलन उभरा। यद्यपि कि यह देश काफी छोटा था एवं इसकी जनसंख्या केवल पचास लाख के आसपास थी किंतु इसके जनमानस में ऐसी शक्ति एवं ऊर्जा थी जो भावी युगोस्लाविया की नींव रख सकती थी।

सर्बिया केवल हैब्सबर्ग के लिए ही चिंता का कारण नहीं था किंतु जर्मनी के एकीकरण में बाधा था एवं बालकानों के मध्य मित्रसंधि के प्रभाव का केंद्र बिंदु भी था। सर्बिया जर्मन-आस्ट्रियाई-तुर्की संधि में धुरी का काम कर सकता था। इस प्रकार साराजीवो द्वारा उत्पन्न किया गया संकट केवल आस्ट्रिया एवं सर्बिया के बीच का झगड़ा न रह गया बल्कि दोनों महान् संधियों की शक्ति परीक्षा का कारण बन गया। वह घटना जिसके कारण युद्ध आरंभ हुआ एक धर्मांध व्यक्ति द्वारा जिसके संबंध सर्बियाई सरकार से स्थापित नहीं किए जा सके, हैब्सबर्ग के सिद्धांत के उत्तराधिकारी की हत्या थी। 28 जून 1914 के आर्कड्यूक फ्रैंज फर्डिनांड और उसकी पत्नी ने साराजीवों की राजधानी बोसनियन का दौरा किया और आस्ट्रियाई सेरो, गार्विलो प्रिंसिप के द्वारा उसकी हत्या कर दी गयी। विएना ने हत्या को सर्बिया द्वारा युद्ध भड़काने का प्रयास घोषित किया और, ऐसी माँगे प्रस्तुत कीं जो नकारी ही जानी थी, फलतः 28 जुलाई को विएना की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी गयी। संधि की भावना बनी ही हुई थी और दो हथियार बंद शक्तियाँ अंततोगत्वा टकरा कर ही रही। ब्रिटेन के विदेश सचिव ने इस परिस्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा था, "पूरे यूरोप में अंधेरा छा रहा है और हम अपने जीवन में फिर रोशनी न देख सकेंगे।"

बोध प्रश्न-1

1 नीचे दिए गए वक्तव्य पढ़े और सही (√) अथवा गलत (×) के निशान लगाएँ।

i) प्रथम विश्व युद्ध के कारणों को जानने के लिए यूरोप के 19वीं शताब्दी के इतिहास

को जानना अत्यावश्यक है।

ii) द्विपक्षीय संधि, तीनपक्षीय संधि के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में गठित हुआ था।

iii) राष्ट्रीयवाद के उत्थान से यूरोपीय देशों में एक दूसरे के प्रति शंका एवं बैर का वातावरण बन गया।

iv) यूरोप में साम्राज्यवादी आवश्यकताओं के विस्तार ने युद्ध के तात्कालिक कारण का काम किया।

2 तीनपक्षीय संधि में शामिल देशों के नाम बताएँ। संधि का उद्देश्य क्या था?

.....

.....

3 यूरोपीय देशों पर सैन्यवाद का क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

13.3 युद्ध के परिणाम

आप देखेंगे कि 1914 का युद्ध कई मामलों में मानवीय इतिहास में अनोखा रहा है। इससे पहले भी यूरोपीय देशों के बीच युद्ध होते रहे थे जिनमें कई देश शामिल होते थे। किंतु यह युद्ध अत्यधिक संगठित देशों के बीच का टकराव था। जिनके पास संपूर्ण आधुनिक टेकनालॉजी के संसाधन मौजूद थे और आक्रमण एवं रक्षा के सभी दाँव पेंच उन्हें मालूम थे। यह प्रथम युद्ध था जिसके पनपने एवं सुदृढ़ होने में पूरे 19वीं शताब्दी का समय लगा था। युद्ध में शामिल शक्तियों ने इस युद्ध में पूरी निष्ठा एवं उत्तेजना के साथ हिस्सा लिया क्योंकि उनका विश्वास था कि यह युद्ध ऊँचे आदर्शों एवं अस्तित्व में बने रहने के लिए लड़ा जा रहा था। यह युद्ध जल, थल एवं आकाश में सभी तरीकों से लड़ा गया था। युद्ध में नये आर्थिक संसाधन और यहाँ तक मनोवैज्ञानिक युद्ध नीति का भी उपयोग किया गया क्योंकि युद्ध में शामिल देशों का विश्वास था कि यह युद्ध जनयुद्ध था। यह युद्ध जनसमूहों के बीच का युद्ध था केवल सेनाओं और जनसेनाओं के बीच का नहीं। युद्ध तुरंत ऐसी स्थिति में पहुँच गया जहाँ सेनाओं अथवा सेनाओं के लिये यह बहुत मुश्किल हो गया था कि वे इसके भविष्य पर नियंत्रण रख सकें। स्वाभाविक ही था कि ऐसे युद्ध के दूरगामी परिणाम होते। यहाँ हम उनमें से कुछ परिणामों पर विचार करेंगे

13.3.1 मानव जीवन की क्षति

युद्ध के दौरान मानव जीवन और भौतिक संपदा के रूप में काफी बड़ा नुकसान हुआ। लाखों जाने गयीं। सबसे अधिक नुकसान रूस का हुआ और वहाँ मरने वालों की संख्या बीस लाख तक पहुँच गयी थी। इसी प्रकार जर्मनी के भी लगभग बीस लाख लोग मारे गये, फ्रांस और उसके उपनिवेशों को मिलाकर तेरह लाख के आसपास लोग मारे गए और ऐसी ही कुछ स्थिति आस्ट्रिया की भी रही। ब्रिटेन के भी लगभग दस लाख लोगों ने अपनी जाने गँवायीं। अमरीका के लगभग एक लाख लोग इस युद्ध में मारे गये। कुल मिलाकर लगभग एक करोड़ लोगों ने अपनी जानें गँवायीं और इनमें से अधिकतर चालीस वर्ष से भी कम आयु के थे। इस संख्या के दुगने लोग घायल हुए और अधिकांश हमेशा के लिए अपंग हो गये। एक फ्रांसीसी अनुमान के अनुसार 1914 और 1917 के बीच हर मीनट एक फ्रांसीसी अपनी जान गँवाता रहा। निश्चित रूप से मरने की ये दर किसी भी यूरोपीय युद्ध में नहीं देखी गयी थी। इतनी बड़ी संख्या में मानव-जीवन के नुकसान ने लिंग और आयु दोनों स्तरों पर जनसंख्या की संरचना को बुरी तरह प्रभावित किया। महिलाओं में जान का नुकसान कम हुआ था। इस प्रकार जहाँ 1911 में ब्रिटेन में प्रति 1000 पुरुष पर 1067 महिलायें थीं, 1921 में ये अनुपात प्रति 1000 पुरुष 1093 महिलायें पर हो गया। इस परिवर्तन के कारण समाज में विभिन्न प्रकार की समस्याओं का उभरना स्वाभाविक ही था।

13.3.2 सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन

उन सभी देशों में जहाँ नारी उत्थान आंदोलन 1914 के पहले शुरू हो चुका था, युद्ध के कारण उनमें काफी तेजी आ गयी। 1918 में ब्रिटेन में तीस वर्ष से ऊपर की महिलाओं को संसदीय चुनाव में मत देने का अधिकार प्राप्त हो गया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि युद्ध के लिए संपूर्ण राष्ट्रीय प्रयास की आवश्यकता थी और आधुनिक युद्ध में असैनिक जन समूहों में उत्साहवर्धन और औद्योगिक उत्पादन बढ़ाना उतना ही महत्वपूर्ण बन चुका था जितना कि सैनिकों को लेकर युद्ध करना। महिलाओं ने सभी गतिविधिओं में भाग लिया। फैक्ट्रियों में काम किया, दुकानों, दफ्तरों एवं स्वैच्छिक सेवाओं में भाग लिया तथा अस्पतालों और स्कूलों को चलाया। उन्होंने पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम किया और उनके समक्ष बराबरी का दावा पेश किया। उनके लिये अब उद्योगों और व्यापारों में काम करना आसान हो गया था क्योंकि काम के परंपरागत् तरीके अब समाप्त कर दिये गये थे। युद्ध क्षेत्र में बराबर के सहयोगी होने के कारण समाज के अंदर वर्ग और धन के बंधन काफी हद तक कमजोर पड़ गये थे। सामाजिक मूल्यों में भी काफी बड़ा परिवर्तन आया और युद्ध से फायदा उठाने वाले लोग समाज के अंदर विशेष रूप से नफरत की निगाह से देखे जाने लगे।

यूरोप में हुए पिछले युद्धों के मुकाबले में इस युद्ध की लागत में अद्भुत रूप से बढ़ोतरी हुई—नेपोलियन के साथ 20 वर्ष के युद्ध में ब्रिटेन के ऋण में आठ गुना बढ़ोतरी हुई जबकि 1914 से 1918 के बीच यह ऋण बारह गुना हो गया। ऐसा अनुमान है कि युद्ध में शामिल देशों का लगभग 1860 खरब (186 बिलियन) डालर का नुकसान हुआ। इतनी बड़ी धनराशि ध्वंसकारी कार्यों में लगने से निश्चित रूप से मानवीय कार्यों, चाहे वह शिक्षा हो अथवा स्वास्थ्य या कोई अन्य कार्य, का काफी बड़ा नुकसान हुआ क्योंकि यही धन इन कार्यों में भी लगाया जा सकता था। युद्ध से पूर्व विश्व व्यापार को बढ़ावा देने वाले सारे प्रयास बुरी तरह प्रभावित हुए। यह आर्थिक उथल-पुथल युद्ध का सबसे अधिक चिन्ताजनक परिणाम रही। युद्ध ने यूरोप की औद्योगिक प्रभुसत्ता समाप्त कर दी और चार वर्ष के बाद जब यूरोप ने इस झटके से उभर कर फिर से इस क्षेत्र में हाथ डाला तो बाकी देशों से स्वयं को काफी पीछे पाया। अमरीका ने निर्यात में काफी प्रगति की और दक्षिण अमरीका एवं भारत में काफी स्थानीय उद्योग पनपे। जापान ने कपड़ा व्यापार में प्रवेश किया और चीन, भारत और दक्षिणी अमरीका के बाजार माल से भर दिए। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का नक्शा एकदम बदल गया। जब यूरोपीय नेताओं ने सामान्य स्थिति बनाने का आह्वान किया, जिसका अर्थ 1913 की विश्व स्थिति में जाना था, तो उनके विचार में यह नहीं आया कि आधुनिक युद्ध भी एक प्रकार की क्रांति है और 1913 का विश्व इतिहास का उसी प्रकार से हिस्सा बन चुका था जिस प्रकार हैब्सबर्ग एवं रोमानोफ साम्राज्य इतिहास का हिस्सा थे। जैसा कि कहा जा चुका है, युद्ध के बाद के सभी आर्थिक नारे किसी न किसी रूप में यूरोप को विश्वयुद्ध से पहले के स्तर पर लाने से संबंधित जैसे, पुनर्निर्माण, क्षतिपूर्ति, पूर्ववत् संबंध, युद्ध ऋणों के भुगतान और सोने स्तर को पूर्ववत् बनाना आदि।

युद्ध के बाद के दौर में बालकान में राष्ट्रवाद की जड़े इतनी मजबूत हो चुकी थी कि वे एक संतुलित राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से कम स्तर रखने वाले किसी भी समाधान के विरुद्ध हिंसात्मक रुख अपना रहे थे, नए-नए औद्योगिक राष्ट्र अपनी रक्षा के लिए प्रयासरत् थे जबकि—पुराने औद्योगिक केंद्र नए विरोधियों के मुकाबले में अपनी टूटी हुई अर्थव्यवस्था की सुरक्षा चाहते थे।

फ्रांस को अल्सेस (Alsaece), एवं लोरेन (Larraine) उसके साथ बने रहने तथा 15 वर्षों तक सार (Saar) कोयला खदानों को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेने के कारण आर्थिक पुनर्निर्माण में काफी सहायता मिली। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी आर्थिक समस्याएँ भी थीं जो केवल जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति करने से नहीं सुलझ सकती थीं। उदाहरण के लिए बेल्जियम के महत्वपूर्ण रेलमार्ग 2400 मील की रेल पटरी ध्वस्त हो जाने के कारण बर्बाद हो गए थे और युद्ध के अंत तक केवल 20 लोकोमोटिव देश में बचे थे, इसकी 51 स्टील मिलों से आधी से अधिक बिल्कुल तबाह हो गयीं और शेष बुरी तरह प्रभावित हुईं; दरअसल इस प्रकार का नुकसान प्रत्येक राष्ट्र को हुआ था। पुनर्निर्माण के आरंभिक चरण वास्तव में काफी दुष्कर थे क्योंकि अपग सैनिकों के लिए काम उपलब्ध कराना, बेघर हुए लोगों को घर उपलब्ध कराना, उद्योगों को सामान्य गति देना सरल कार्य न था।

13.3.3 जनतांत्रिक आदर्श

अपनी तमाम तबाहियों के बावजूद युद्ध के परिणामस्वरूप जनतांत्रिक आदर्श एवं विचार भी उभरे जो कि युद्ध के पूर्व जनमानस के लिए अपरिचित संकल्पनाएँ थीं: युद्ध की घोषणा विश्व को जनतांत्रिक मूल्यों के लिए सुरक्षित बनाने के लिए की गयी थीं। स्वाभाविक ही था कि नए-नए स्वतंत्र राष्ट्र अपने देश में जनतांत्रिक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए तत्पर थे। एक के बाद एक देश प्रजातांत्रिक संविधान तैयार करते जा रहे थे। स्वयं जर्मनी ने इस दिशा में पहल करते हुए वीमर (Weimar) गणराज्य की स्थापना में आज तक का सबसे संपूर्ण जनतांत्रिक संविधान लिखा। इस संविधान का आधार ब्रिटेन, स्विटजरलैंड, फ्रांस एवं अमरीकी प्रजातंत्र थे। किन्तु नए प्रजातंत्र का सबसे कमजोर पक्ष यह था कि यह उस सामाजिक ढांचे पर लादा जा रहा था जो कि आश्चर्यजनक रूप से बहुत ही कम परिवर्तित हुआ था। जनसमूहों को एक सूत्र में बाँधने में केवल एक ही सामान्य भावना थी और वह थी अपने राष्ट्र की हार एवं सहयोगी राष्ट्रों द्वारा शांति के शर्तों के विरुद्ध लौकिक राष्ट्रीय रोष। नयी सत्ता देर तक नहीं टिक सकती थीं क्योंकि उसमें प्रजातांत्रिक आधारों पर प्रशासन चलाने की संरचनात्मक योग्यता नहीं थी।

इसी प्रकार अन्य यूरोपीय राष्ट्रों में जहाँ भी प्रजातंत्र की नींव पड़ी, अपने अधूरे स्वरूप के कारण उनकी स्थिति डाँवाडोल रही। युद्ध के बाद थोड़े समय के लिए पूरे यूरोप में प्रजातांत्रिक मूल्य फैले। युद्ध ने पूरे विश्व को इस भावना से ओत-प्रोत किया। किन्तु शीघ्र ही ऐसा महसूस किया गया कि संसदीय प्रणाली की सरकारों ने पश्चिमी राजनैतिक मूल्य उन राष्ट्रों पर थोप रहे थे जिन्हें स्वराज्य का थोड़ा बहुत ही ज्ञान था और कुछ के पास बिल्कुल नहीं था। युद्ध के द्वारा उभरी राष्ट्रवादी भावना का चरमसीमा पर पहुँचना इन प्रयोगों के लिए उत्तरदायी था किन्तु पश्चिम का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन अभी भी इतना अधिक प्रगति नहीं कर सका था जिसके कारण इस प्रक्रिया में कठिनाई हो रही थी। यूरोपीय शक्तियों के उपनिवेशों में भी स्वराज्य एवं स्वतंत्रता प्राप्त करने की भावना जोर पकड़ रही थी।

13.3.4 1919 का पेरिस सम्मेलन

1815 की विएना कांग्रेस की अपेक्षा 1919 का पेरिस सम्मेलन का स्वरूप अधिक प्रतिनिधि बोधक था। राजाओं की जगह अधिकतर देशों के प्रधान मंत्री एवं विदेश मंत्री अपने देश का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। केवल राष्ट्रपति बुडरोन विल्सन एवं किंग एलबर्ट इसके अपवाद थे। कुल बत्तीस राष्ट्रों ने इस सम्मेलन में प्रतिनिधित्व किया। सम्मेलन ने जो कुछ भी सफलता अर्जित की उसमें समय, स्थान प्रतिनिधि संघटन, संगठन एवं सम्मेलन की कार्यवाही की प्रक्रिया आदि सभी की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

जहाँ तक समय का प्रश्न है, यह सम्मेलन जर्मनी के साथ युद्ध विराम पर समझौता करने के नौ हफ्ते बाद रखा गया। ऐसा करते हुए अमरीका एवं ब्रिटेन की आंतरिक राजनैतिक स्थिति भी ध्यान में रखी गयी थी। राष्ट्रपति विल्सन ने स्वयं सम्मेलन में हिस्सा लेने का निश्चय किया जिसके कारण दिसंबर में उनके द्वारा कांग्रेस में "संघीय राष्ट्र" संदेश पारित करने तक सम्मेलन नहीं किया जा सका। ब्रिटेन में भी लॉयड जार्ज सम्मेलन से पूर्व चुनाव करवाना चाहते थे जो कि मध्य दिसंबर में पूरे हुए। विजय के उल्लास में "कैसर (Kaiser) को फाँसी दो", "जर्मनी क्षतिपूर्ति करो" और "वीरो की मातृभूमि" जैसे नारे उठे। चुनाव परिणामों से हाउस ऑफ कॉमन्स के स्वरूप में भारी परिवर्तन आया क्योंकि "संसद में ऐसी कठोर मुद्रा वाले लोगों का प्रवेश हुआ जैसे कि उन्होंने युद्ध में महत्वपूर्ण कार्य किए हों।" चुनाव के समय को देखते हुए इसके परिणाम आश्चर्यजनक न थे।

सम्मेलन स्थल का चुनाव भी काफी सोच-विचार कर किया गया था। आरंभ में विएना में सम्मेलन करने का सुझाव आया था लेकिन राष्ट्रपति विल्सन ने पेरिस को प्राथमिकता दी जहाँ कि भारी संख्या में अमरीकी सेनाएँ तैनात थी। यह सांकेतिक भी हो सकता था क्योंकि 1871 में वर्साइल्स में हॉल ऑफ मिरर के समक्ष प्रथम जर्मन साम्राज्य की घोषणा की जा चुकी थी इसके अतिरिक्त प्रधान मंत्री जार्ज क्लिमेंस्यू (George Clemencoy) जोकि सम्मेलन में सबसे अनुभवी नेता थे और स्वाभाविक रूप से सम्मेलन की अध्यक्षता करने वाले थे, को सेडन (Sedan) का पूरी तरह स्मरण था जबकि फ्रैंको-प्रशियन युद्ध में फ्रांस की हार हुई थीं और इसे ध्यान में रखते हुए सम्मेलन का स्थान पेरिस चुनना उस हार का जवाब हो सकता था।

सम्मेलन प्रतिनिधियों का चुनाव और भी अधिक महत्वपूर्ण था। इसमें केवल सहयोगी मित्र राष्ट्रों का ही प्रतिनिधित्व नहीं था बल्कि "संबद्ध शक्तियाँ" भी इसमें प्रतिनिधित्व कर रही थीं। युद्ध के अंतिम दिनों में मुख्यत: इस उद्देश्य से कई देश युद्ध में शामिल हो गए थे कि वे अंतिम समझौते में हिस्सेदारी कर सकें। जिन तीन मुख्य पक्षों को प्रतिनिधित्व नहीं मिला था वे थे : गैर संबद्ध शक्तियाँ, रूसी जोकि अभी भी गृह युद्ध एवं हस्तक्षेप के युद्ध का सामना कर रहे थे और भूतपूर्व शत्रु, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, बुलगारिया और तुर्की, इन शक्तियों की अनुपस्थिति भविष्य की परिस्थितियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी। विशेष रूप से जर्मनी की अनपस्थिति से डिकटाट (Dictat) (जो कि उस पर लादी गयी व्यवस्था थी और जिसके लिए न तो जर्मनी अपने को उत्तरदायी समझता था और न ही उसके लिए जर्मनी की दृष्टि में कोई सम्मान था) के रूप में यूरोप को शांति प्राप्त हुई थी। समझौते की प्रक्रिया में यह कदम सबसे ज्यादा कमजोर पक्ष सिद्ध हुआ।

चित्र 2 : रूसी और जर्मन सैनिक साथ-साथ

अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद, पेरिस सम्मेलन विश्व में किसी भी मौके पर हुआ सबसे बड़ा एवं महत्वपूर्ण सम्मेलन था, सम्मेलन में 32 प्रतिनिधि मण्डल शामिल थे जोकि विश्व की तीन चौथाई जनसंख्या का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। किन्तु क्योंकि स्वयं युद्ध बड़ी शक्तियों के बीच का युद्ध था इसलिए इस मौके पर भी सारा नियंत्रण दस लोगों की एक समिति के हाथ में था। इस समिति में पाँच बड़े राष्ट्र; अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली एवं जापान के दो दो सदस्य शामिल थे। शीघ्र ही जापान ने कार्यवाही में रुचि लेना बंद कर दिया और अलग-थलग रहा। अप्रैल 1919 के अंत तक इटली ने भी हाथ खींच लिया और अंतत: विख्यात "तीन बड़े राष्ट्र" सारी कार्यवाही चलाते रहे। जैसा कि आप जानते हैं कि इन "तीन बड़े राष्ट्रों" का प्रतिनिधित्व अमरीकी राष्ट्रपति 'विल्सन', फ्रांसीसी प्रधान मंत्री क्लीमेंस्यू एवं ब्रिटेन के प्रधान मंत्री लॉयड जार्ज कर रहे थे। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सम्मेलन अंतत: दो विरोधी हितों वाले व्यक्तियों के बीच समझौता था। विल्सन आदर्शवादी थे और प्रजातंत्र तथा लीग ऑफ नेशन्स के प्रति कटिबद्ध थे। दूसरी ओर क्लीमेंस्यू पुरानी परंपरा के यथार्थवादी थे और जर्मनी, जोकि फ्रांस की सुरक्षा पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाए हुए था, के प्रति द्वेष की भावना से ओत-प्रोत थे।

इस प्रकार सम्मेलन आदर्शवाद एवं यथार्थवाद के मूल्यों के बीच टकराव के रूप में परिवर्तित हो गया। इसके अतिरिक्त, सभी राष्ट्रों एवं अधिकतर राजनेताओं के अंतर्द्वंद्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सम्मेलन का स्वरूप वैसा ही था जैसा कि 1919 के दौर में लोगों की मानसिकता बन चुकी थी। सम्मेलन एक ओर आशा एवं आदर्शों एवं दूसरी ओर उत्पीड़ित जनता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिशोध एवं प्रतिकार की भावना के तनावों के बीच घिरी हुई थी। आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसी पृष्ठभूमि के संदर्भ में यह सम्मेलन संतोषजनक परिणाम क्यों नहीं दे सका। ऐसी परिस्थिति में जहाँ लचीलापन आवश्यक था वहाँ सम्मेलन ने कठोर रुख अपनाया और जहाँ कठोरता एवं दृढ़ता की आवश्यकता थी वहाँ कमजोरी सामने आई। इतिहासकार डेविड थामसन (David Thamson) के शब्दों में "इतिहास में पेरिस सम्मेलन एक स्पष्ट असफलता का प्रतीक है, लेकिन यह असफलता मानव बुद्धि की असफलता और अंशत: सांगठनिक एवं कार्यविधियात्मक असफलता थी। इसका कारण अति यथार्थवाद अथवा आदर्शवाद की कमी नहीं बल्कि दोनों का गलत इस्तेमाल था।"

13.3.5 नया शक्ति संतुलन

जैसा कि आपने पहले पढ़ा है, महायुद्ध केवल युद्ध ही नहीं था बल्कि जीवन के हर पहलू में एक क्रांति थी। सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में भयानक उथल-पुथल की भाँति ही विश्व में शक्ति संतुलन के अस्थायी पुनर्विनरण की समस्या भी थी। इस युद्ध के परिणामस्वरूप पुराने रूस, आस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी एवं तुर्की साम्राज्यों का राजनैतिक एवं सैनिक पतन हो चुका था। युद्ध से पूर्व के जर्मनी एवं आस्ट्रिया का प्रभुत्व एक समय के लिए समाप्त हो गया। शांति के संस्थापकों का बुनियादी उद्देश्य यह निश्चित करना था कि जर्मनी पर नियंत्रण रखा जा सके और सैनिक रूप में उसे कमजोर किया जा सके। राष्ट्रीय गठन, आर्थिक उपयुक्तता एवं सैन्य सुरक्षा से संबंधित उभरती हुई नयी वास्तविकताओं की दृष्टि से पूर्वी एवं मध्य यूरोप का नए सिरे से नक्शा तैयार करने की भी एक समस्या थी।

जर्मनी को कमजोर बनाने के लिए कई उपाय किए गए। जर्मन सेनाओं को उनके द्वारा प्राप्त किए गए संपूर्ण भू-भागों से हट जाने का निर्देश दिया गया। अल्सेस एवं लोरेन फ्रांस को दोबारा प्राप्त हो गए। जर्मनी को राइन नदी (Rhine) के बाएँ किनारे को किलाबंद करने की अनुमति नहीं थी। उसकी सेना की संख्या घटाकर 100,000 कर दी गयी और हथियारों के उत्पादन पर पाबंदी लगा दी गयी। इसी प्रकार की कार्यवादी नौसेना एवं उपनिवेशों के संदर्भ में भी की गयी। जर्मन नौसेना दस हजार टन के 6 लड़ाकू जहाज 12 नाशक जहाज एवं 12 पनडुब्बी नावों से अधिक नहीं रख सकती थी। सबमैरीन जहाज रखने की उन्हें अनुमति नहीं थी। उन्हें उपनिवेशों पर से अपने सारे अधिकार समाप्त करने थे। एक निर्देश के तहत जर्मन साम्राज्य सहयोगी शक्तियों के बीच उस समय उनके द्वारा अधिकृत क्षेत्रों के आधार पर बाँटा गया। बाद में लीग ऑफ नेशन्स को इन क्षेत्रों में प्रशासन की निगरानी की जिम्मेदारी सौंपी गयी।

दूसरी महत्वपूर्ण समस्या, जैसा कि बताया जा चुका है, पूर्वी यूरोप के पनगंठन की थी, पश्चिमी यूरोपीय शक्तियों के समक्ष "पूर्वी प्रश्न" बड़े लंबे समय से बना हुआ था। महायुद्ध ने इस समस्या को और भी अधिक बढ़ा दिया। पुराने आस्ट्रियाई साम्राज्य पर इटली एवं पूर्वी यूरोप में उभरे नए राष्ट्रों को अपने अधिकतर क्षेत्र सौंप देने के लिए दबाव डाला गया। हैब्सवर्ग का दूसरा आधा भाग और भी कठोर बर्ताव का शिकार बना। इसका सबसे अधिक फायदा सर्बिया को हुआ जो कि युगोस्लाविया के नए दक्षिणी स्लाव राज्य में परिवर्तित हुआ।

स्वयं तुर्की युद्ध में हार के परिणामस्वरूप आंतरिक राजनैतिक उथल-पुथल के दौर से गुजरा। मुस्तफा कमाल ने सेवरज़ (Sevreg) संधि जो कि तुर्की एवं सहयोगी शक्तियों के बीच हुई थी, के विरुद्ध राष्ट्रवादी उथल-पुथल को नेतृत्व प्रदान किया। इस दबाव के कारण 1923 में "लाजेन संधि" के नाम से एक नई संधि पर हस्ताक्षर किए गए। कमाल ने अरब बाहुल्य प्रदेशों पर से सारे दावे वापस ले लिए और तुर्की राज्य के इस्लामी आधार को त्याग दिया। मुस्तफा कमाल की अध्यक्षता में एक नए तुर्की गणराज्य की स्थापना हुयी, जैसा कि आप समझ सकते हैं, पूर्वी यूरोप के इस पुनर्गठन ने लगभग उतनी ही समस्याओं को जन्म दिया जितनी समस्याओं का इसने समाधान प्रस्तुत किया। इससे कई मध्यम शक्तियों का जन्म हुआ जैसे पोलैंड, रूमानिया व युगोस्लाविया। इससे अरब राष्ट्रीयता और फिलिस्तीन में यहूदी

राष्ट्र बनाने की आशाओं को बढ़ावा मिला जिससे कई जटिलतायें पैदा हुयीं जो अभी भी अंतर्राष्ट्रीय तनाव का कारण हैं। इस पुनर्गठन से अल्पसंख्यकों के अधिकारों और उनकी रक्षा की नयी समस्या सामने आयीं।

पूर्वी यूरोप का यह पूरा पुनर्गठन दरअसल यूरोप में बोलशेविक विचारों के फैलने के डर को देखते हुए किया गया था। इतिहासकार डेविड थॉमसन के शब्दों में :

"फिनलैंड से लेकर पोलैंड एवं रूमानिया तक पूर्वी राज्यों को अधिक से अधिक विस्तृत एवं मजबूत बनाने के जोरदार प्रयास जारी थे जिससे कि यह क्षेत्र कम्यूनिज्म के ज्वार को आगे न बढ़ने देने में रक्षा पंक्ति रूप में, उसके प्रभाव में रुकावट डालने वाले क्षेत्र के रूप में कार्य कर सकें।"

13.3.6 अंतर्राष्ट्रीय साधन

लीग ऑफ नेशन्स का गठन "शक्ति की राजनीति" की पुरानी प्रणाली के विकल्प के रूप में अंतर्राष्ट्रीय संस्था तैयार करने के उद्देश्य से किया गया था। यह संस्था झगड़ों के शांतिपूर्ण समाधान का साधन थी जिसने पुरानी गुप्त कूटनीतिज्ञता एवं स्वतंत्र गठबंधनों और शक्ति संतुलन के प्रयासों की पुरानी प्रणाली का विकल्प प्रस्तुत किया। आप जानते हैं कि 1914 में यूरोपीय संदर्भ में विश्व की परिस्थितियाँ कितनी असामान्य थी। ये परिस्थितियाँ "अंतर्राष्ट्रीय अराजकता" के रूप में व्याख्यायित की जाती हैं, हालाँकि यह स्थिति अर्ध-अराजक थी जबकि औपनिवेशिक, राजवंशीय एवं राष्ट्रीय झगड़ों ने पूरे यूरोप को युद्ध की भयानक आग में झोंक दिया।

लीग ऑफ नेशन्स की योजना राष्ट्रपति विल्सन ने बड़े उत्साह के साथ प्रस्तुत की। अंततः यह योजना ब्रिटेन एवं फ्रांस के प्रस्तावों को शामिल करके संशोधित की गयी। एक तरह से लीग यूरोप की एकबद्धता की संकल्पना का विस्तृत रूप में पुनर्प्रस्तुतीकरण था जोकि अब विश्व की एकबद्धता की संकल्पना के रूप में था। दूसरी ओर लीग में कुछ नयापन एवं भिन्नता भी थी क्योंकि इसके अंतर्गत प्रत्येक सहभागी को सभी झगड़ों को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने तथा किसी भी आक्रमण की स्थिति जिम्मेदारी की भागीदारी की शपथ लेनी थी।

लीग किसी भी रूप में सरकार तो नहीं थी लेकिन सरकारों द्वारा शांति स्थापित करने में सहयोगी के तौर पर इस्तेमाल की जा सकती थी। ऐसा प्रकट होता है कि यह संस्था काफी अर्थपूर्ण एवं समीचीन थी लेकिन युद्धोपरांत विश्व के संदर्भ में केवल कुछ ही मान्यताओं की दृष्टि से इसे सफलता मिली। इसकी मुख्य मान्यता यह थी कि सभी सरकारें शांति चाहेंगी जो कि मारकाट एवं बर्बादी के विरुद्ध पनपी भावनाओं के संदर्भ में एक औचित्यपूर्ण मान्यता थी। यह मान्यता इस दृष्टि से और भी औचित्यपूर्ण लगती थी और जैसा कि पिछले पृष्ठों पर आपने पढ़ा है कि प्रजातांत्रिक सरकारों की संख्या बढ़ रही थी और ये प्रजातांत्रिक सरकारें पिछली नौकरशाहियों एवं राजवंशी साम्राज्यों के मुकाबले में अधिक शांतिप्रिय स्वरूप की थीं। लेकिन जैसा कि बताया जा चुका है कि यह प्रजातांत्रिक संविधान कमजोर सिद्ध हुआ और प्रजातांत्रिक आदर्शों को अपनाने में इनकी रुचि थोड़े ही समय तक रही। ऐसी आशा कि संतुष्ट राष्ट्रवाद अब शांति की ओर मुड़ेगा तुरंत ही गलत सिद्ध हो गयी। इस प्रकार इन मान्यताओं के दृष्टिकोण से लीग ऑफ नेशन्स को मजबूत स्थायित्व और आवश्यक कार्यशक्ति प्राप्त न हो सकी।

अमरीका का लीग का सदस्य बनने में असफलता और जर्मनी और रूस के लीग से बाहर होने के कारण लीग केवल समझौतों के लिए आधार ही तैयार कर सकी। जापान ने भी केवल नाममात्र के लिए रुचि दिखाई। केवल ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल, फ्रांस एवं इटली ही इसके सदस्य थे। इटली ने भी शीघ्र ही अपने फासीवादी नेता मुसोलिनी की आक्रमक नीति के तहत लीग की अवहेलना कर दी। लीग शांति स्थापित करने के अपने मुख्य उद्देश्य में असफल रही, यद्यपि कि कुछ छोटे-मोटे झगड़े सुलझाने में इसे सफलता अवश्य मिली। जब भी राष्ट्रों ने ईमानदारी के साथ समाधान के प्रावधान के समक्ष झगड़े प्रस्तुत किए, लीग ने सफलता पायी। लीग ने आलैंड (Aaland) द्वीप से संबंधित फिनलैंड और स्वीडेन के झगड़े का समाधान प्रस्तुत करने में असफलता अर्जित की। तीन मौकों पर लीग ने झगड़ा ग्रसित बालकान क्षेत्र में सफलतापूर्वक हस्तक्षेप किया। इसने ईराक एवं तुर्की के सीमा संबंधित झगड़े भी

सुलझाए। जैसा कि बताया जा चुका है कि लीग के पास अपने निर्णय लागू करने के प्रभावशाली साधन नहीं थे और इसलिए जहाँ भी बड़ी शक्तियों के बीच तनाव उत्पन्न हुआ वहाँ लीग शांति स्थापित करने में सफल न हो सकी।

लीग की दो महत्वपूर्ण सहयोगी संस्थाएँ इंटरनेशनल कोर्ट ऑफ जस्टिस और इंटरनेशनल लेबर आर्गेनाइजेशन (आई. एल. ओ.) थी। पहली संस्था का कार्य राष्ट्रों के झगड़े निपटाना था और दूसरी संस्था श्रम से संबंधित समस्याओं में हस्तक्षेप करती थी। आज के संदर्भ में ये दोनों संस्थाएँ संयुक्त राष्ट्र (यूनाइटेड नेशन्स) की संरचना का महत्वपूर्ण भाग है।

13.4 विश्वयुद्ध और भारत

यद्यपि भारत युद्ध से प्रत्यक्ष रूप से नहीं जुड़ा हुआ था लेकिन इसके प्रभावों से यह नहीं बच सका। विश्व युद्ध ने भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था को व्यापक रूप से प्रभावित किया। यह देखना महत्वपूर्ण है कि भारतीय जनसंख्या के विभिन्न वर्गों पर विश्व युद्ध का विभिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ा। भारत के सबसे निर्धन वर्गों के लिए युद्ध का अर्थ निर्धनता में और अधिक वृद्धि थी। युद्ध के कारण लोगों पर भारी कर भी लगाए गए। युद्ध की आवश्यकताओं ने कृषि उत्पादनों एवं अन्य रोजमर्रा की आवश्यकताओं को दुर्लभ बना दिया। परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुयी। ऐसी भयावह स्थिति में जनता सरकार के विरुद्ध होने वाले किसी भी आंदोलन में शामिल होने को तैयार हो गई। नतीजे के तौर पर युद्ध के वर्ष तीव्र राष्ट्रवादी राजनैतिक आंदोलन के भी वर्ष हो गए। शीघ्र ही असहयोग आंदोलन के रूप में गांधी के नेतृत्व में एक विस्तृत जन आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसके विषय में आप अगली इकाई में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

दूसरी ओर युद्ध के कारण उद्योगपतियों को बेहद लाभ पहुँचा। युद्ध के कारण ब्रिटेन में आर्थिक संकट पैदा हो गया था और युद्ध की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उन्हें भारतीय उद्योगपतियों पर निर्भर होना पड़ा। उदाहरण के लिए इस अवधि में जूट उद्योग काफी तेजी से बढ़ा। इस दृष्टि से युद्ध के कारण भारत में औद्योगिक उन्नति हुई। भारतीय उद्योगपतियों ने इस अवसर का भरपूर लाभ उठाया। और वह उसे युद्ध के बाद भी सुरक्षित रखना चाहते थे। इसीलिए वे स्वयं को संगठित करने और संगठित राष्ट्रीय आंदोलन में सहयोग करने को तैयार थे।

इस प्रकार युद्ध के साथ भारतीय जनसमुदाय के विभिन्न वर्गों के अंदर राष्ट्रीयता की भावना भी आयी, यद्यपि विभिन्न वर्गों के अंतर्गत इसकी प्रक्रिया भिन्न रही। भारत की स्वतंत्र आर्थिक प्रगति भी स्वरूप लेने लगी जिसे विकसित होने में अगले कई वर्ष लगने थे। आगे की इकाई में इस विषय की विस्तृत व्याख्या की जाएगी।

बोध प्रश्न-2

1 विश्वयुद्ध के कारण विभिन्न देशों में आए सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों पर एक नोट लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 लीग ऑफ नेशन्स की दो सहयोगी संस्थाओं के नाम लिखिए। उनके कार्यक्षेत्र क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

3 निम्न वक्तव्यों में से कौन से सही (√) हैं और कौन से गलत (×)?
   i) पिछले अधिकतर युद्धों के विपरीत प्रथम विश्व युद्ध केवल सेनाओं के बीच ही नहीं लड़ा गया बल्कि जनता के बीच भी लड़ा गया।
   ii) युद्ध के दौरान मानव जीवनों के नुकसान ने यूरोपीय जनसंख्या की संरचना को लिंग और आयु वर्ग दोनों ही रूपों में प्रभावित किया।
   iii) विश्व युद्ध के कारण जनतांत्रिक विचारों एवं मूल्यों के फैलने में रुकावट आयी।
   iv) युद्ध से भारतीय जनसंख्या के सभी वर्ग समान रूप से प्रभावित हुये।

13.5 सारांश

यहाँ हमारा उद्देश्य आपके समक्ष प्रथम विश्वयुद्ध के मुख्य कारण और परिणाम प्रस्तुत करना था। आपने महसूस किया होगा कि 1914 में सहयोगी राष्ट्रों का एकमात्र सामान्य उद्देश्य यूरोप से जर्मनी का प्रभुत्व समाप्त करना था। उन्होंने युद्ध रूस में समाजवादी क्रांति लाने, पुराने साम्राज्यों को नष्ट कर देने, नए अरब राष्ट्र स्थापित करने अथवा लीग ऑफ नेशन्स में नये प्रयोग करने के लिए नहीं आरंभ किया था। युद्ध का सबसे अधिक फायदा युद्ध में अंशतः शामिल देशों अथवा गैर शामिल देशों को पहुँचा। अमरीका एक बड़े आर्थिक शक्ति के रूप में उभरा। जापान ने प्रशान्त महासागर में नौसेना शक्ति और महत्वपूर्ण आर्थिक शक्ति प्राप्त की, और भारत ने स्वराज्य प्राप्त करने की ओर काफी महत्वपूर्ण प्रगति की। विजयी सहयोगी राष्ट्रों ने कुछ विशेष लक्ष्य प्राप्त कर सकने के बावजूद विश्व के समक्ष बर्बादी, ऋण, निर्धनता, शरणार्थी, अल्पसंख्यकों की समस्यायें और अपनी आंतरिक गुटबंदी के रूप में कष्टदायक विरासत पेश की।

13.6 शब्दावली

सैन्यवाद : मजबूत सैनिक आधार बनाने की नीति।
श्रेष्ठ अलगाव : उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में यूरोप के झगड़ों में गैर हस्तक्षेप की बर्तानवी नीति के संदर्भ में प्रयोग किये जाने वाला शब्द।
पूर्वी प्रश्न : यूरोप से मध्य पूर्व देशों की समस्याओं से संबंधित शब्द। उदाहरण के लिए तुर्की साम्राज्य के पतन की समस्या, तुर्की साम्राज्य में स्वतंत्रता के लिए यूरोपीय राष्ट्रीयता के संघर्ष और तुर्की में यूरोपीय शक्तियों के हितों में टकराव।

13.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1 (i) √ (ii) √ (iii) √ (iv) ×
2 उपभाग 13.2.1 पढ़ें।
3 उपभाग 13.2.2 पढ़ें।

बोध प्रश्न-2

1 उपभाग 13.3.2 देखें।
2 उपभाग 13.3.6 देखें।
3 (i) √ (ii) √ (iii) × (iv) ×

इकाई 14 रूसी क्रांति : कारण, अवस्थाएँ, महत्व

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 रूसी क्रांति के बारे में पढ़ने की आवश्यकता क्यों है
14.3 रूसी क्रांति के कारण
  14.3.1 कृषि संबंधी स्थिति तथा किसान-वर्ग
  14.3.2 मजदूर, उद्योगीकरण और क्रांति
  14.3.3 राष्ट्रीयता का प्रश्न
  14.3.4 राजनैतिक दल : नेतृत्व
14.4 क्रांति के चरण
14.5 क्रांति की प्रकृति और महत्व
  14.5.1 आर्थिक पक्ष
  14.5.2 सामाजिक पक्ष
  14.5.3 राजनैतिक पक्ष
  14.5.4 अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष
14.6 भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आदोलन पर प्रभाव
14.7 सारांश
14.8 शब्दावली
14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद :

- विश्व को प्रभावित करने वाली घटना के रूप में रूसी क्रांति के महत्त्व का विश्लेषण कर सकेंगे,
- रूसी क्रांति के कारणों की व्याख्या कर सकेंगे,
- क्रांति के दौर में हुई घटनाओं का वर्णन कर सकेंगे,
- भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से इसका संबंध जोड़ पायेंगे, और
- समझ पायेंगे कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक शब्दावली में समाजवादी समाज का क्या अर्थ है।

14.1 प्रस्तावना

रूसी क्रांति अक्टूबर 1917 में हुई। यह बोल्शेविक क्रांति के नाम से भी जानी जाती है। यह समाजवादी क्रांति है। पिछली इकाई (इकाई 13) में आपने पढ़ा कि समाजवाद क्या है और यह पूँजीवादी समाज से कहीं अधिक विकसित न्यायसंगत और समानतावादी है। रूसी क्रांति का उद्देश्य रूस में एक ऐसे ही समाज की स्थापना करना था। इस क्रांति का नेतृत्व रूसी समाजवादी जनवादी मजदूरी पार्टी (Russian Socialist Democratic Labour Party) (RSDLP) और खास तौर से बोल्शेविकों ने किया था। आर. एस. डी. एल. पी. ने मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व किया जो क्रांति की नेतृत्वकारी शक्ति थी। किसान वर्ग ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वास्तविकता तो यह है कि रूसी क्रांति रूस के मजदूर वर्ग द्वारा ही लायी गयी क्योंकि वे ही सबसे अधिक शोषण से उत्पीड़ित थे। इसलिए उस सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था, जो उनका शोषण कर रही थी, का तख्ता पलटने में उन्हीं का हित सबसे अधिक था।

चित्र 3 : "उन्होंने क्रांति को रोकने का प्रयास किया?" एक कार्टून

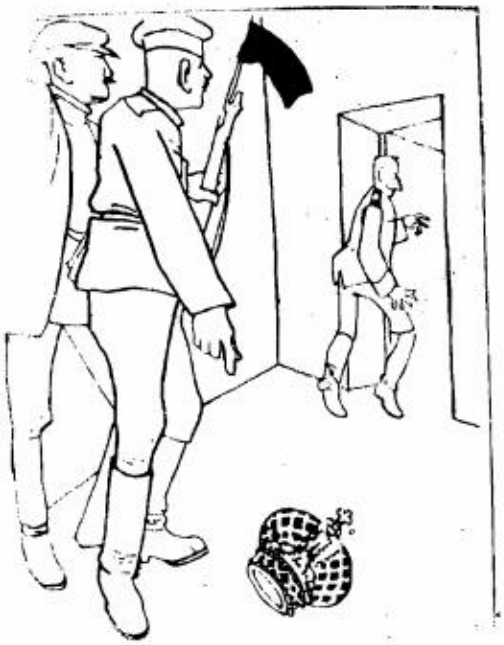

चित्र 4 : "अपना ताज साथ ले जाओ" एक कार्टून

14.2 रूसी क्रांति के बारे में पढ़ने की आवश्यकता क्यों है

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आधुनिक भारतीय इतिहास के पाठ्यक्रम में आपको रूसी क्रांति के बारे में क्यों बताया जा रहा है?

आपके लिए यह जान लेना महत्वपूर्ण है कि सारी घटनाएँ, वह चाहे कितनी भी हिला देने वाली क्यों न हों, एक ऐतिहासिक संदर्भ में ही घटती है और फिर भविष्य में मानव विकास हेतु उस ऐतिहासिक संदर्भ का हिस्सा बन जाती हैं। समाजवादी विचारों की उत्पत्ति ने खासतौर से साम्यवाद ने मनुष्य की सामाजिक व राजनैतिक बनावट की वास्तविकता की समझ के साथ-साथ मानव इतिहास को ही बदल डाला। रूसी क्रांति ने अपने आचरण से बता दिया कि शोषित समाज को मिटा कर नये मुक्त और न्यास संगत समाज की स्थापना संभव है। इसका भारी असर तब से ही हो रहे सभी मुक्ति आंदोलनों तथा विदेशी शासन और साम्राज्यवाद से स्वतंत्रता पाने वाले आंदोलनों पर पड़ा। इसने भारत में हो रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन और खास तौर से मजदूर जनता के क्रांतिकारी संघर्ष को भी प्रोत्साहन दिया इसलिए आपके लिए रूसी क्रांति का अध्ययन आवश्यक है।

14.3 रूसी क्रांति के कारण

1917 तक रूस की मजदूर जनता अपनी अमानवीय स्थिति को और ज्यादा सहन करने के लिए तैयार नहीं थी। साथ ही तब तक उनका राजनैतिक स्तर पर संगठन हो चुका था। इसलिए वे पुरानी सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था को पलटने में समर्थ थे। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि तब ही क्यों?

1917 के पूर्ववर्ती दशकों में रूसी समाज एक महत्वपूर्ण बदलाव के दौर से गुजर रहा था तथा ये बदलाव पुरानी व्यवस्था के लिए खतरा बन चुके थे। इन बदलावों से उत्पन्न नयी सामाजिक व आर्थिक शक्तियों के हित व महत्वाकांक्षाए भिन्न थीं। अतः 1971 तक रूस में नये और पुराने के बीच एक तीव्र अन्तर्विरोध और ध्रुवीकरण पैदा हो गया। रूसी क्रांतिकारी

आंदोलन ने नयी शक्तियों की जनवादी आशाओं का प्रतिनिधित्व किया जबकि दूसरी ओर रूसी शासन पुराने शासक वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहा था। रूस में 1917 तक एक तंत्रीय सत्ता रही, जहाँ किसी भी किस्म के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था नहीं थी। राजनैतिक संगठन बनाने का अधिकार नहीं था। नियंत्रण बहुत सख्त था और मनमाने ढंग से गिरफ्तारियाँ हुआ करती थीं। धार्मिक सहिष्णुता नहीं थी तथा रूसी के अलावा अन्य जातियों का शोषण होता था। रूसी साम्राज्य एक बहु राष्ट्रीय साम्राज्य था व जिसने अपनी शक्ति का प्रयोग यूरोप के तमाम जनवादी आंदोलनों के विरुद्ध किया। यह यूरोप के "सिपाही" (पुलिसमैन) के नाम से भी जाना जाता था।

रूसी एकतंत्र भूमिसम्पन्न कुलीन वर्ग तथा बुर्जुआ वर्ग के समर्थन से मजबूत बना रहा। इसके बदले में एकतंत्र सत्ता की जिम्मेदारी थी कि रूसी समाज में इन वर्गों के विशेषाधिकार की स्थिति बनी रहे अत: 1917 तक न केवल नयी और पुरानी शक्तियों के बीच अपितु इन नयी सामाजिक शक्तियों तथा रूसी शासन के बीच भी अन्तर्विरोध था। इसलिए रूसी क्रांतिकारी आंदोलन ने रूसी एकतंत्रीय सत्ता का तख्ता पलटने का प्रयास किया।

14.3.1 कृषि संबंधी स्थिति तथा किसान-वर्ग

कृषि दासता से मुक्ति के बावजूद भी रूसी किसान वर्ग समाज का सबसे अधिक शोषित हिस्सा रहा। भूमि-सम्पन्न कुलीन वर्ग की प्रभुसत्ता कायम रही। हालाँकि किसान वर्ग स्वतंत्र हो गया किन्तु किसानों को अपनी स्वतंत्रता का मूल्य चुकाना पड़ रहा था वह भी इतना ज्यादा कि वे लगातार कर्ज से दबे रहते थे। किसान वर्ग राज्य को दिये जाने वाले करों के बोझ से भी दबा हुआ था। परिणामस्वरूप किसान-वर्ग में भारी असंतोष को बढ़ावा मिला और बीसवीं शताब्दी के शुरू के वर्षों में किसान आंदोलनों की उग्रता व उनकी संख्या बढ़ी। कृषि पिछड़ी हुई दशा में ही रही क्योंकि किसानों के पास अपनी जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए पूँजी नहीं थी। भूमि सम्पन्न कुलीन वर्ग नई तकनीक लगाना नहीं चाहता था क्योंकि उनके पास गरीब किसानों के रूप में सुलभ श्रमिक उपलब्ध थे।

चूँकि कृषि रूसी अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख हिस्सा था और किसान इसकी जनसंख्या का एक बड़ा भाग, कृषि संबंधी और किसान वर्ग की समस्याएँ रूसी क्रांति का एक महत्वपूर्ण कारण बन गयीं और इसीलिए किसान वर्ग भी क्रांतिकारी आंदोलन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया।

14.3.2 मजदूर, उद्योगीकरण और क्रांति

रूस में उद्योगीकरण की प्रकृति ने एक ऐसे मजदूर आंदोलन को जन्म दिया जो अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक राजनैतिक और जुझारू था। उद्योगीकरण के प्रथम चरणों में ही बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना हुई जिनमें एक बड़ी संख्या में मजदूरों को रखा गया। इस कारण एक बड़ी मजदूर संख्या के बीच सर्वमान्य शिकायतों और साथ ही एक समान संघर्ष को उभरने का मौका मिला। इसके अलावा सत्ता ने उद्योगीकरण प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रूसी बुर्जुआ वर्ग उतना मजबूत और विकसित नहीं था जितना पश्चिम यूरोपीय देशों में, वहाँ बुर्जुआ वर्ग ने उद्योगीकरण प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अत: रूसी बुर्जुआ वर्ग का एकतंत्रीय सत्ता से मजबूत संबंध था। उसके विपरीत रूसी मजदूर वर्ग का आंदोलन एकतंत्रीय सत्ता और रूसी बुर्जुआ वर्ग यानी पूँजीपति दोनों के ही खिलाफ था।

14.3.3 राष्ट्रीयता का प्रश्न

रूसी साम्राज्य बहुराष्ट्रीय साम्राज्य था। शासन करने वाला राजवंश साम्राज्य के रूसी भाग से उभरा था तथा इसने रूसीकरण की नीति का अनुसरण किया यानी दूसरी जातियों अर्थात् राष्ट्रों की भाषा, साहित्य और संस्कृति को दबाया। इन क्षेत्रों का आर्थिक रूप से भी शोषण होता था। यह संबंध वास्तव में औपनिवेशिक प्रकृति का था। इन क्षेत्रों का उपयोग केवल रूस के निजी औद्योगिक विकास के लिए कच्चा माल प्राप्त करने भर के लिए किया गया। ये राष्ट्रगत जातियाँ जैसे कोकेशियन, कजाक, करागिज, पोलिश इत्यादि अत्यधिक असन्तुष्ट

थीं और उन्होंने मौजूदा सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था को पलटने के क्रांतिकारी आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमि अदा की।

14.3.4 राजनैतिक दल : नेतृत्व

कोई भी क्रांतिकारी दल तभी सफल हो सकता है जबकि वह मौजूदा परिस्थितियों की सही समीक्षा कर सके, उचित योजना बना सके और उसके पास जनसाधारण के लाभ के लिए कुछ हो। रूसी क्रांति में भी अनेक राजनैतिक दल सक्रिय थे, उन्होंने जनसाधारण खासकर मजदूर और किसान वर्ग की चेतना को राजनैतिक शिक्षा, राजनैतिक प्रचार व आंदोलन द्वारा जागरूक करने में एक सार्थक भूमिका निभायी। उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन की एकता बनाये रखने के लिए तथा उसके दिशानिर्देश के लिए मजदूरों और किसानों के संगठन भी बनाये, उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में निम्नलिखित महत्वपूर्ण राजनैतिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी जैसे जनप्रिय प्रवृति, समाजवादी क्रांतिकारी, उदारवादी तथा सामाजिक-जनवादी मार्क्सवादी खासतौर से बोल्शेविक क्रांति के बाद के दशक में लेनिन बोल्शेविक पार्टी और रूसी क्रांति के महत्वपूर्ण नेता थे। अन्य महत्वपूर्ण नेताओं में त्रोत्सकी, बुखारिन और स्तालिन थे।

14.4 क्रांति के चरण

रूसी क्रांतिकारी आंदोलन उन्नीसवीं शताब्दी में उभरा। शुरू में इसमें केवल मध्यम-वर्गीय बुद्धिजीवी शामिल थे। जैसे-जैसे मजदूरों और किसाना का असंतोष बढ़ने लगा तथा वे अपनी शोषित परिस्थितियों के प्रति जागरूक होने लगे, उन्होंने भी रूसी एक तंत्रीय सत्ता के खिलाफ संघर्ष शुरू किया। बीसवीं शताब्दी के आरभ तक रूसी क्रांतिकारी आंदोलन जनसाधारण पर आधारित आंदोलन बन गया, जिसमें मजदूरों व किसानों ने निर्णायक व निश्चित भूमिका निभायी।

चित्र 5 : "1905 की क्रांति" वी. मकोव्सकी द्वारा बनाया गया चित्र, जनवरी 1905

रूसी एकतंत्रीय सत्ता पर पहला प्रमुख हमला 1905 में हुआ। इसे 1905 की क्रांति या 1917 की क्रांति के "ड्रेस रिहर्सल" के नाम से भी जाना जाता है। मजदूर और किसान "जनतांत्रिक गणराज्य" की माँग करने लगे। पहली बार एक विशाल आम हड़ताल हुई। सेना की कुछ टुकड़ियों ने भी विद्रोह कर दिया। 1905 की क्रांति के दौरान ही पहला सोवियत अस्तित्व में आया। यह मजदूर जनता का क्रांतिकारी संगठन था। यह क्रांति एकतंत्रीय सत्ता का तख्ता पलटने में कामयाब नहीं हुई, किन्तु मजदूरों और किसानों द्वारा एक क्रांति के दौर में प्राप्त किये अनुभव उनके लिए मूल्यवान साबित हुए।

इस क्रांति के बाद के 5-6 वर्ष अत्यधिक दमन के वर्ष थे। इन वर्षों में बहुत से क्रांतिकारी गिरफ्तार कर लिये गये और मजदूर संगठनों को भी भंग कर दिया गया।

प्रथम विश्व युद्ध, जिसका रूसी अर्थव्यवस्था और रूसी जनता दोनों पर प्रतिकूल असर पड़ा, ने भी जनता को राजनीति से जोड़ा तथा साथ ही एकतंत्रीय सत्ता विरोध सभी राजनैतिक ताकतों को एक सूत्र में पिरो दिया।

इस राजनैतिक वातावरण में, पेत्रोग्राद में ब्रेड की कमी से, फरवरी क्रांति भड़क उठी। कुछ ही दिन बाद 'एकतंत्रीय सत्ता नष्ट हो' की आवाज गूँज उठी। पूरे शहर में लाल झंडे फहरा रहे थे। जल्द ही यह लहर दूसरे शहरों व गाँवों में भी फैल गयी। अंत में सेना भी क्रांतिकारियों के पक्ष में हो गयी। एकतंत्रीय सत्ता को कोई समर्थन न मिल सका। फरवरी क्रांति के परिणामस्वरूप एकतंत्रीय सत्ता का तख्ता पलट गया और अस्थायी सरकार की स्थापना हुई। इस क्रांति में मजदूरों और किसानों ने प्रमुख भूमिका निभायी और बुर्जुआ वर्ग ने भी इसका समर्थन किया। यह बुर्जुआ जनवादी क्रांति थी। अब जिस अस्थायी सरकार की स्थापना हुई वह बुर्जुआ व भूमि सम्पन्न कुलीन वर्ग द्वारा ही शासित थी और उन्हीं के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी।

चित्र 6 : "स्वतंत्रता समानता बन्धुत्वता" एक पोस्टकार्ड, फरवरी, 1917

चित्र 7 : एक पुलिस स्टेशन के करीब लड़ाई फरवरी 1917 एन. समोकिश द्वारा बनाया गया चित्र

इसी कारण अस्थायी सरकार ने एकतंत्रीय सत्ता की नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं किया। फिर भी वह राजनैतिक स्वतंत्रता देने को मजबूर थी क्योंकि फरवरी क्रांति के फलस्वरूप किसानों व सैनिक प्रतिनिधियों के सोवियतें बन चुके थे, जैसा कि 1905 में हुआ। इनमें रूस की कामगार जनता के हितों का प्रतिनिधित्व हुआ। इस कारण शुरू से ही दोनों के बीच अन्तर्विरोध था जो 1907 की क्रांति तक बना रहा। 1917 में अस्थायी सरकार का भी तख्ता पलट दिया गया।

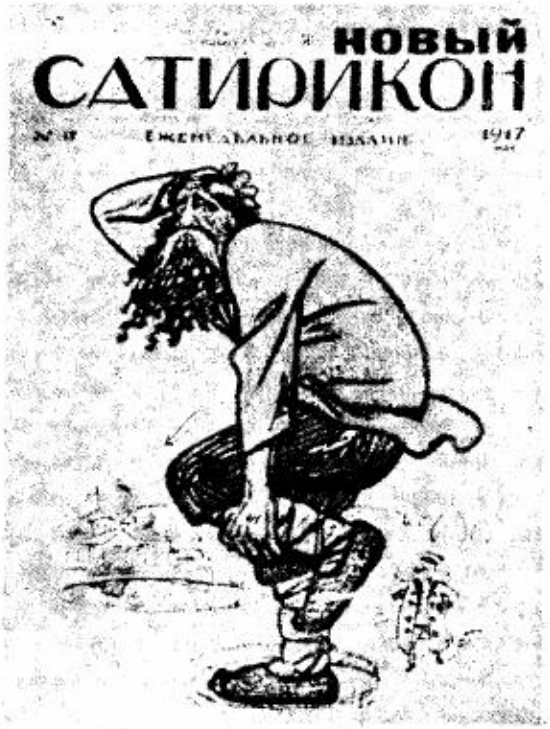

चित्र 8 : अस्थाई सरकार की भूमि संबंधी नीति का मजाक उड़ाता हुआ कार्टून। जमींदार "तुम एक पाँव पर क्यों खड़े हो?" किसान, "दूसरा पाँव रखने के लिये जगह नहीं है। सारी जमीन आपकी है। मुझ पर मुकदमा चल सकता है।"

चित्र 9 : मजदूर और सैनिक साथ-साथ, जुलाई 1917

अतः फरवरी 1917 और अक्टूबर 1917 के बीच के समय में सर्वहारा समाजवादी क्रांति के लिए परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। मजदूर, किसान व सैनिक अपनी परस्पर निर्भरता समान हितों और अस्थायी सरकार के खिलाफ अपने विरोध के प्रति सचेत हुए। अस्थायी सरकार अब उनके सामने स्पष्टतः शासक वर्ग के दलाल के रूप में प्रकट हो चुकी थी। इस दौरान कई क्रांतिकारी दल लड़खड़ा गये। उदाहरण के लिए समाजवादी क्रांतिकारी व मेन्शेविक दल जिनके विषय में हम पहले भी बतला चुके हैं, जनसाधारण के हितों का ही प्रतिनिधित्व करते थे किन्तु वे यह नहीं समझ पाये कि जनसाधारण उनसे कहीं ज्यादा आगे निकल चुका है। वे यह समझ नहीं सके कि समाजवादी क्रांति यानी क्रांति के दूसरे चरण के लिए यही समय उचित था। उन्होंने यह नहीं सोचा कि बुर्जुआ वर्ग पहले से ही क्रांति को आगे बढ़ाने के खिलाफ था। सिर्फ बोल्शेविक ही यह सब समझ पाये। वह एकमात्र राजनैतिक दल था जो समय की माँग को पूरा कर सका। उन्होंने तत्काल बिना संयोजन किये व बिना हरजाना लिये युद्ध खत्म करने की माँग के साथ यह भी माँग की कि किसानों को भूमि मिले, उद्योगों पर मजदूरों का नियंत्रण हो, राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार हो और सबसे मुख्य माँग रोटी की थी। शांति, भूमि, रोटी और जनतंत्र तात्कालिक और सर्वव्याप्त नारा बन गया। अतः बोल्शेविक दल जनसाधारण का नेतृत्व करने, जनसाधारण के आम संगठनों में बहुमत पाने, तथा मजदूरों, किसानों और सैनिकों को अपने पक्ष में रखने में कामयाब हुआ। अक्टूबर 1917 की क्रांति सफल हो पायी क्योंकि यह जनप्रियता पर आधारित थी।

चित्र 10 : "अस्थाई सरकार और बुर्जुवा वर्ग मुर्दाबाद" एक बच्चे द्वारा बनाया गया चित्र, 1917

बोध प्रश्न-1

1 आपको रूसी क्रांति के विषय में क्यों पढ़ना चाहिए?

.....

.....

.....

.....

.....

2 रूस में समाजवादी क्रांति के लिए परिस्थितियाँ कब तैयार हुईं?

.....

.....

.....

.....

.....

3 रूसी क्रांति को किस दल ने नेतृत्व प्रदान किया।

.....

.....

.....

.....

.....

4 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

i) रूस का राजा.....के नाम से जाना जाता था।
ii) रूस में राजनैतिक व्यवस्था की संरचना.....थी।
iii) शोषित जनता का बहुसंख्यक हिस्सा.....थे।
iv) रूस के महत्वपूर्ण राजनैतिक दल.....थे।
v) एकतंत्रीय सत्ता का स्थान.....में पलटा गया।
vi) एकतंत्रीय सत्ता का स्थान.....ने लिया।
vii) यह.....की माँगों का प्रतिनिधित्व करती थी।
viii) मजदूर जनता का क्रांतिकारी संगठन.....के नाम से जाना जाता था।

5 निम्नलिखित कथन को पढ़िये और सही (√) या गलत (×) का निशान लगाइये।

i) क्रांति से पहले रूस की जनता आरामदायक जिंदगी बिता रही थी।

ii) क्रांति के पहले का रूसी समाज अन्यायपूर्ण और असमानतावादी समाज था।

iii) यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा रूस का मजदूर वर्ग आंदोलन कहीं अधिक जुझारू और क्रांतिकारी थी।

iv) बोल्शेविकों ने विश्वयुद्ध को जारी रखने की माँग उठायी।

14.5 रूसी क्रांति की प्रकृति और महत्व

अक्टूबर क्रांति ने रूस में पूँजीवाद के आधार को मिटा कर समाजवाद की नींव डाली किन्तु नीतियों के स्तर पर इन सबका क्या अर्थ है?

14.5.1 आर्थिक पक्ष

अर्थव्यवस्था की दृष्टि से रूसी क्रांति का अर्थ है निजी सम्पत्ति का अंत तथा सभी सम्पत्ति के मालिकाना *हकों का राज्य के आधीन हो जाना, किन्तु आपको यह समझना चाहिए कि इसका* अर्थ यह नहीं था कि लोगों का निजी माल-असबाब उनसे छीन लिया गया। निजी सम्पत्ति के उन्मूलन से अर्थ है कि उत्पादन के सभी साधनों जैसे लाभ आय देने वाले साधनों को राज्य की सम्पत्ति बना दिया गया। इनमें फैक्ट्रियाँ भूमि तथा बैंक इत्यादि आते हैं। अब कोई भी व्यक्ति इन उत्पादन के साधनों का निजी मालिक बनकर श्रम से लाभ नहीं उठा सकता था।

इस क्रांति द्वारा उद्योगों पर मजदूरों के नियंत्रण की स्थापना भी हुई। इसका अर्थ है कि वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा उत्पादन- प्रक्रिया पर नियंत्रण रख सकते थे तथा फैक्ट्री में मजदूरों के अधिकारों की भी सुरक्षा कर सकते थे। इस कदम का आधार यह विचार था कि जो उत्पादन करता है उसे अपने प्रतिनिधियों द्वारा निर्णय लेने में (केन्द्रीय स्तर तक) हिस्सेदार होना चाहिए।

अतः मजदूरों के नियंत्रण से संबंधित एक महत्वपूर्ण कदम यह भी था कि पूरे देश खासतौर से कामगार जनता की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर एक अर्थव्यवस्था की स्थापना करना।

इस केंद्रित अर्थव्यवस्था द्वारा उनका प्रयास आर्थिक विकास की गति को बढ़ाना तथा इस विकास के लाभ को बहुसंख्यक जनता तक पहुँचाना था। इसके द्वारा उन्होंने उत्पादन में अराजकता तथा अपव्यय को रोकने का प्रयास किया। हालाँकि पंचवर्षीय योजना देर से यानि 1928 में शुरू की गई। वास्तव में योजना एक महत्वपूर्ण योगदान था जो रूसी क्रांति ने विश्व को दिया। भारत में भी योजनाबद्ध आर्थिक विकास के लिए उसी आदर्श को अपनाया गया।

कृषि के क्षेत्र में भूमि का राष्ट्रीयकरण हुआ। इसका अर्थ है कि भूमि के मालिकाना हक केवल राज्य को ही थे और भूमि किसानों के बीच केवल उपयोग के लिए बाँटी जाती थी। किन्तु किसान उसे बेच या गिरवी नहीं रख सकता था और न ही वह इसका उपयोग दूसरों के श्रम का शोषण कर अपने लाभ हेतु कर सकता था। नवम्बर 1917 के भूमि आदेश द्वारा जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी गई और भूमि किसानों को हस्तान्तरित कर दी गई। 1928 में कृषि के सामूहिकीकरण से सामूहिक उत्पादन और कृषि क्षेत्र में सामाजिक संबंधों में विकास हुआ।

14.5.2 सामाजिक पक्ष

उत्पादन-प्रक्रिया में निजी संपत्ति को समाप्त कर क्रांति ने सामाजिक असमानता की जड़ें ही काट दीं। इसने एक वर्ग विहीन समाज की नींव डाली। हर एक व्यक्ति को अपने कार्य के अनुसार ही वेतन मिलता था एक मजदूर और प्रबंधक के वेतन में या एक मजदूर और कलाकार या अध्यापक के वेतन में ज्यादा अंतर नहीं था। जैसा कि आप जानते हैं कि पूँजीवादी समाज में एक ही कार्य-स्थान पर काम करने वाले मजदूर व संचालकों के या मजदूर तथा डॉक्टर, अध्यापक, इंजीनियर इत्यादि के जीवन स्तर में जमीन-आसमान का फर्क

होता है। सोवियत राज्य ने सभी नागरिकों के लिए कुछ निश्चित सुविधाओं जैसे मुफ्त चिकित्सा, सबके लिए मुफ्त और समान शिक्षा, बेरोजगारी भत्ता, संस्कृति और संस्कृति विकास के लिए समान अवसर इत्यादि की भी जिम्मेदारी ली। ये वास्तव में जनता संविधान द्वारा दिये गये अधिकार थे।

सोवियत जनता के लिए यह सब तत्काल ही प्राप्य नहीं था। चूँकि इन सबके लिए उत्पादन और बाह्य ढाँचा साथ-साथ ही तैयार हो रहा था। किन्तु यह महत्वपूर्ण है कि राज्य ने व्यक्ति के अच्छे जीवन स्तर की जिम्मेदारी ली बशर्ते वह अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करें।

चित्र 11 : "महिलाओं को समानाधिकार", एक पोस्ट कार्ड, 1917

संविधान द्वारा स्त्रियों के समान अधिकार की न केवल जिम्मेदारी ली गई बल्कि इस समानता को लागू करने के लिए भौतिक आधार तैयार किया गया। छः महीने के प्रसूति अवकाश, कार्य-स्थलों पर क्रेचों, सार्वजनिक कैंटीनों (जहाँ खाना सस्ता व उचित दर का था) इत्यादि की व्यवस्था थी। इन सबका उद्देश्य सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों की पूर्ण हिस्सेदारी को संभव बनाना था। इसका पूँजीवादी समाज पर भारी असर पड़ा। समाजवादी समाज की इस चुनौती का सामना करने के लिए उन्हें भी कुछ निश्चित सुधार कार्यवाहियाँ करनी पड़ीं। वास्तव में पश्चिम में कल्याण राज्य की धारणा रूसी क्रांति द्वारा जनता को दिए गए लाभ की ही प्रतिक्रिया है। अन्यथा पश्चिम की मजदूर जनता समाजवादी समाज की उत्तमता को फौरन पहचान जाती।

चित्र 12 : "साक्षरता साम्यवाद की ओर ले जाती है" एक पोस्टर

चित्र 13 : "ज्ञान दासता की बेड़ियों को तोड़ देगा" एक पोस्टर

रूसी क्रांति का एक अन्य महत्वपूर्ण योगदान था धर्म का राजनीति तथा राज्य से अलगाव। यह माना गया कि धर्म एक विशुद्ध निजी मामला होना चाहिए, विद्यालयों में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए, धर्म का कोई सार्वजनिक उपयोग नहीं होना चाहिए, जब आप इस बात पर गौर करेंगे कि हमारे देश में धर्म के नाम पर क्या कुछ नहीं घटा है तब आप इस कदम की महत्ता को पहचानेंगे। धर्म खत्म नहीं हुआ था, धार्मिक व्यक्तियों पर मुकदमें नहीं चलाए गए थे, जैसी कि आम धारणा है।

14.5.3 राजनैतिक पक्ष

राजनैतिक तौर पर रूसी क्रांति के फलस्वरूप सर्वहारा अधिनायकवाद के सिद्धांत पर आधारित मजदूर जनता के राज्य की रचना हुई। यह स्पष्ट किया गया कि क्रांति के विरोधी जनता के हित को खत्म कर सकते थे वास्तव में रूसी क्रांति के तुरंत बाद दस अन्य देशों ने रूसी भूमिसम्पन्न कुलीन वर्ग और बुर्जुआ वर्ग का पक्ष लिया तथा क्रांति और रूस के मजदूरों का विरोध किया। इसीलिए, कुछ समय के लिए राजनैतिक व्यवस्था में मजदूर वर्ग का प्रभुत्व

होना आवश्यक हो गया।

किन्तु यह राज्य अन्य पूँजीवादी राज्यों की तुलना में कहीं अधिक जनतांत्रिक था क्योंकि इसमें अल्पमतों (जिन्हें कि क्रांति से पूर्व विशेषाधिकार प्राप्त थे) के ऊपर जनता के बहुमत (किसी भी समाज की बहुमत मजदूर जनता ही होती है) का शासन सुनिश्चित था। इसके अलावा इसे तब तक एक अस्थायी अव्यवस्था के रूप में देखा गया जब तक कि शासक वर्ग कि शक्ति पूरी तरह से नष्ट नहीं हो जाती तथा वे क्रांति को नष्ट करने में पूर्णतः असमर्थ नहीं हो जाते। अतः बुर्जुआ जनतंत्र को समाजवादी जनतंत्र में बदलना था।

रूसी नागरिकों द्वारा उपयोग की जाने वाली स्वतंत्रता न केवल राजनैतिक स्वतंत्रता थी अपितु अर्थिक स्वतंत्रता भी थी। रूसी नागरिकों से न केवल कानूनी और सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई बल्कि आर्थिक समानता भी मिली। अतः रूसी क्रांति द्वारा नयी व्यवस्था में स्वतंत्रता का दायरा भी बढ़ गया।

14.5.4 अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में भी रूसी क्रांति युगान्तकारी थी। सबसे पहले बोल्शेविकों ने राजतंत्र सत्ता तथा अस्थायी सरकार द्वारा किये गये सभी गुप्त समझौतों को समाप्त कर दिया। ऐसा महसूस किया गया कि जनता को सरकार की कार्य पद्धति के विषय में जानने का अधिकार है और किसी भी देश की जनता को बाद-विवाद तथा हस्तक्षेप द्वारा अपने देश की विदेश नीति को प्रभावित करने का अधिकार होना चाहिए।

दूसरे बोल्शेविकों ने एक आज्ञाप्ति द्वारा बिना संयोजन किये और बिना हरजाना लिये तुरंत युद्ध समाप्त का प्रस्ताव रखा। पूरे विश्व में वह ही एक ऐसा राजनैतिक दल था जिसने इस तरह की घोषणा को लागू किया। उन्होंने निकटवर्ती तथा दूरवर्ती पूर्व के कई इलाकों से जिनके लिए रूसी सरकार लड़ रही थी, अपना दावा वापिस ले लिया। उन्होंने अपने आपको साम्राज्यवाद का विरोधी घोषित कर दिया तथा विदेशी आधिपत्य के खिलाफ चल रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों को अपना सहयोग दिया। बोल्शेविकों ने उन इलाकों में, जहाँ जार का साम्राज्य था, सभी राष्ट्रीयताओं में आत्म निर्णय साथ ही संबंध-विच्छेद के अधिकारों को भी मान्यता दी। उन इलाकों में, जहाँ भूमिसम्पन्न कुलीन वर्ग तथा बुर्जुआ वर्ग तो अलग होना चाहता था किन्तु मजदूर और किसान सोवियत रूस का ही हिस्सा होना चाहते थे, बोल्शेविकों ने जनसाधारण की इच्छा को मान्यता दी और अक्टूबर क्रांति को सुदृढ़ करने में उनके साथ लड़ाई लड़ी। अधिकतर राष्ट्रों के मजदूर और किसान बोल्शेविकों के साथ थे क्योंकि वे जानते थे कि बोल्शेविकों की हार का मतलब है जमीदारों और पूँजीपतियों के शोषण का खात्मा।

14.6 भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन पर रूसी क्रांति का प्रभाव

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा उत्पन्न सामाजिक परिस्थितियों, इसके शोषण की व्यवस्था तथा इस शोषणपूर्ण व्यवस्था द्वारा उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक ताकतों का ही परिणाम था। किन्तु साथ ही वह समकालिक विश्व की महत्वपूर्ण लहर से भी प्रभावित था, जिसमें से सबसे महत्वपूर्ण थी समाजवादी शक्तियाँ जो कि रूसी क्रांति की देन थीं।

1905 की क्रांति भारतीय नेताओं के लिए महान प्रेरणा थी। बंगाल के विभाजन के खिलाफ उठी उत्तेजना जो कि स्वदेशी आंदोलन में प्रकट होती है 1905 की क्रांति के तुरंत बाद हुई। 1912 में मजदूर वर्ग ने बाल गंगाधर तिलक की रिहाई की माँग पर आधारित प्रथम राजनैतिक हड़ताल आयोजित की।

अक्टूबर क्रांति का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु रूसी क्रांति की सफलता के बाद भारतीय नेताओं ने यह महसूस किया कि न तो संवैधानिक तरीकों से

कुछ पाया जा सकता है और न बम की राजनीति से ही कुछ हासिल किया जा सकता है। अब यह स्पष्ट हो गया कि जनसाधारण का राजनैतिक संघर्ष में सम्मिलित होना जरूरी और निर्णायक है। अतः 1920 में मजदूर और किसान पार्टियाँ, आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा मजदूरों किसानों के बढ़ते संघर्ष असहयोग आंदोलन इन विचारों और संगठनों का प्रत्यक्ष परिणाम था।

रूसी क्रांति द्वारा भारत में समाजवादी विचारों का प्रचार व प्रसार भी बढ़ा। वस्तुतः शुरू में भारतीय कम्युनिस्टों का प्रशिक्षण सोवियत रूस में ही हुआ था। भारत में भी मार्क्सवाद के प्रभाव से तथा जनसाधारण के संघर्ष में हिस्सा लेने के फलस्वरूप बहुत कांग्रेसी जन कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन की नींव डाली। ए.के. गोपालन व ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद ऐसी दो प्रमुख हस्तियाँ हैं। कम्यूनिस्ट आंदोलन के बढ़ने से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक बिल्कुल ही नया आयाम मिल गया। तब से वर्ग संघर्ष यानी भारतीय पूँजीपति वर्ग के खिलाफ मजदूरों का संघर्ष भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष का एक अभिन्न अंग बन गया।

वामपंथ के विकास ने सम्पूर्ण स्वतंत्रता आंदोलन को उग्रता प्रदान की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर ही एक कांग्रेस समाजवाद गुट बना। जवाहरलाल नेहरू सोवियत रशिया खासतौर पर उसके साम्राज्यवाद विरोधी प्रयासों से प्रभावित हुए। इस समय के भारतीय नेताओं की शब्दावली में समाजवाद एक व्यापक शब्द बन गया। तीसरे दशक में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक ऐसे स्तर पर पहुँच गया जहाँ वामपंथ ने राष्ट्रीय आंदोलन के पूँजीवादी नेतृत्व को गम्भीर चुनौती दी। वामपंथी विचारों से प्रभावित विद्यार्थियों और लेखकों ने संगठन भी बनाये।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन सोवियत यूनियन के नेतृत्व में साम्राज्यवाद के खिलाफ विश्वस्तरीय संघर्ष का एक हिस्सा बन गया और भारतीय नेताओं द्वारा भी यह इसी रूप में पहचाना जाने लगा। यदि रूसी क्रांति जिसने साम्राज्यवाद को विश्व स्तर पर कमजोर कर दिया, सफल न होती तो भारतीय जनता की ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई और अधिक कठिन साबित होती। यह कोई संयोग नहीं था कि फ़ासीवाद की हार तथा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न पूँजीवादी संकटों के पश्चात् औपनिवेशिकता की समाप्ति की प्रक्रिया में तेजी आई।

चीनी क्रांति, यूरोप में जनतंत्रों की स्थापना तथा भारतीयों की स्वतंत्रता की प्राप्ति, सोवियत यूनियन के साम्राज्यवाद के खिलाफ अटल संघर्ष से दृढ़ प्रतिज्ञ ही हुई।

भारत में आर.आई.एन. विद्रोह तथा तेभागा और तेलंगाना आंदोलनों ने (1946-48) जिसके बारे में आप बाद में पढ़ेंगे, भारतीय राजनैतिक स्वतंत्रता के इतिहास में प्रमुख भूमिका निभाई। ये आंदोलन भारतीय कम्युनिस्टों के नेतृत्व में हुए जो अपने आपको कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल के नेतृत्व में आयोजित आंदोलन का हिस्सा मानते थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी योजना व रणनीति भारतीय परिस्थितियाँ तथा भारत के वर्ग शक्तियों की अंतर्संबंधो के आधार पर बनायी, परंतु फिर भी इसका नेतृत्व रूसी एकतंत्र सत्ता के खिलाफ हुये सफल क्रांतिकारी आंदोलनों से प्राप्त अनुभवों ने किया। रूस भारत की तरह आर्थिक रूप से एक पिछड़ा हुआ देश था इसलिए रूसी क्रांति के अनुभव भारत के लिए प्रासंगिक थे, रूसी अनुभव और विशिष्ट भारतीय परिस्थितियों में इसकी अनुप्रयोगता की संभावना के कारण भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भारतीय जनता के संघर्ष को द्वि-स्तरीय क्रांति के रूप में पहचाना।

अंग्रेजों ने भारत में जनसाधारण के प्रत्येक संघर्ष को कम्यूनिस्टों के द्वारा चलाया गया संघर्ष माना और उसे बोल्शेविक साजिश समझा। रूसी क्रांति के कुछ महीनों के बाद वे एक घोषणा पत्र जारी करने पर मजबूर हो गये। यह घोषणा पत्र मोंटाग्यू घोषणा के नाम से जाना जाता है तथा इसमें उन्होंने स्व-सरकार की संस्थाओं के क्रमशः विकास का वायदा किया। वे स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत राष्ट्रों की बोल्शेविक शांति आज्ञाप्ति पर हुई प्रतिक्रिया से बुरी तरह बौखला गये।

1921 में जब पूरे उत्तर प्रदेश में किसान सभा की स्थापना हुई तब टाइम्स के संवाददाता ने लिखा कि भारत में किसान सोवियत की स्थापना हो गई है। कम्युनिस्ट ज्यादातर भूमिगत हो

कार्य करने पर मजबूर थे और उन्हें भीषण दमन का सामना करना पड़ता था। मेरठ साजिश जाँच केस उसी का एक उदाहरण है। इसके द्वारा वे बोल्शेविक खतरे से बचने का प्रयास कर रहे थे अतः भारत में रूसी क्रांति का सकारात्मक और तीव्र प्रभाव पड़ा। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में उग्रता आयी। इसके अलावा भारत में ब्रिटिश नीतियों पर भी इस क्रांति का असर हुआ। राष्ट्रीयता की लहर के प्रति ब्रिटिश ने दमनकारी रवैया अपनाया। अंग्रेजों ने भारतीय समाज के प्रतिक्रियावादी हिस्से को अपने पक्ष में शामिल करने का प्रयास किया। बोल्शेविक खतरे से निपटने में असमर्थता के कारण उन्होंने भारतीय कम्युनिस्टों को राष्ट्र विरोधी के रूप में दर्शाया ताकि उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन की प्रमुख धारा से काटकर अलग किया जा सके। रूसी क्रांति ने एक सुदृढ़ साम्राज्यवाद विरोधी परिपेक्ष्य के विकास में सहयोग दिया तथा स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रीय नेता भी स्पष्ट और निश्चित रूप से विश्व के जनतांत्रिक संघर्ष के पक्ष में थे। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि रूसी क्रांति की सफलता और इसके द्वारा सोवियत जनता को प्राप्त उपलब्धियों से भारत सहित बहुत से विकासशील देशों के सामने नये प्रश्न उभर कर सामने आये—प्रश्न जैसे किस तरह का विकास, किसके लिए विकास आदि।

इसने ठोस यथार्थ के धरातल पर इसी विचार को प्रतिपादित किया कि किसी भी विकास का आधार बहुसंख्यक जनता के हित और उनकी सुरक्षा की भावना ही होनी चाहिए। इसे जनता की महत्त्वाकांक्षाओं को किसी न किसी रूप में पूरा करना ही चाहिए। उत्तमता के स्तर पर एक भिन्न समाज का निर्माण भारत जैसे देशों में विकास और सामाजिक न्याय जैसी समस्याओं के समाधान के रूप में क्रांति और समाजवाद की आवश्यकता को सर्वोपरि बना दिया।

बोध प्रश्न – 2

1 क्रांतिकारी शासन द्वारा कौन से आर्थिक परिवर्तन किये गये?

.....

.....

.....

.....

.....

2 सोवियत यूनियन के सभी नागरिकों को कौन-सी सामाजिक सुविधायें दी गयीं?

.....

.....

.....

.....

.....

3 बोल्शेविकों की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के दो पहलू बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

4 भारत के लिए रूसी क्रांति का अनुभव क्यों महत्वपूर्ण है?

.....

.....

.....

.....

.....

14.7 सारांश

1917 की घटनाएँ विभिन्न कारणों से महत्वपूर्ण हैं : प्रथम वे रूस की राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक ढाँचे में क्रांतिकारी परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरे उन्होंने न्यायसंगत व

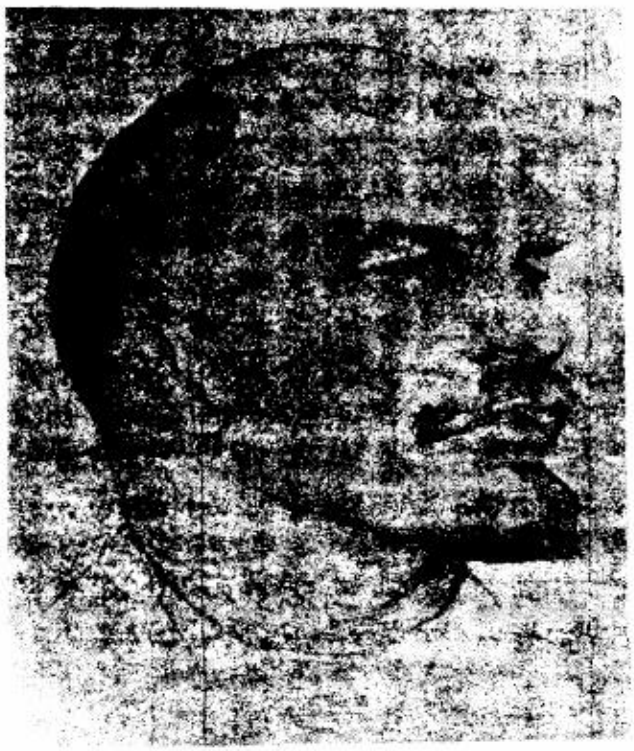

चित्र 14 : लेनिन

समान समाज की स्थापना के लिए कार्यरत शक्तियों को सक्रिय बना दिया। क्रांति के बाद का रूसी समाज सबके लिए स्व-विकास के समान अवसर के सिद्धांत पर आधारित था। तीसरे, रूसी क्रांति ने विश्व की तमाम उत्पीड़ित जनता व राष्ट्रों की स्वाधीनता व उत्तम व्यवस्था के लिए होने वाले संघर्षों को प्रोत्साहन दिया। खासतौर से भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष ने रूसी क्रांति से गति और एक निश्चित दिशा निर्देश पाया। और अंत में, रूसी क्रांति के अनुभवों ने विश्व को सामाजिक मुक्ति, आर्थिक विकास और राजनैतिक परिवर्तन का नया आदर्श दिया।

14.8 शब्दावली

एकतंत्र : एकमात्र राजतंत्र, ऐसा शासन जिसमें सभी राजनैतिक ताकतें राजा के हाथों में ही केंद्रित हों

बोल्शेविक : 1903 में जब रूसी सामाजिक जनवादी पार्टी दो गुटों में बँट गयी तब जिस गुट ने केन्द्रीय समिति में बहुमत प्राप्त किया वे बोल्शेविक के नाम से जाने गये। रूसी भाषा में बोल्शेविक का अर्थ है "बहुमत"। ये बोल्शेविक ही थे जो क्रांति के महत्त्वपूर्ण नेता थे। उन्होंने क्रांति को दृढ़ किया। उन्हीं के नाम से रूसी क्रांति को बोल्शेविक क्रांति के नाम से भी जाना जाता है।

राष्ट्रीयता : एक जाति या राष्ट्र से संबंधित यानी सामान्य सीमा, भाषा और संस्कृति का प्रयोग करने वाले।

योजना : इस बात की रूपरेखा बनाना कि कुछ प्रमुखताओं, उद्देश्य और अवधि को ध्यान में रखकर एक अर्थव्यवस्था को कैसे चलाया जाये।

राष्ट्रयीताओं के आत्मनिर्णय का अधिकार : किसी भी राष्ट्र और जाति को स्वतंत्र होने और अपना राजनैतिक भविष्य खद निश्चित करने का अधिकार।

जार : रूसी भाषा में राजा शब्द के लिए प्रयुक्त शब्द।
मजदूरों का नियंत्रण : मजदूरों का अपने प्रतिनिधियों द्वारा उत्पादन-प्रक्रिया के निर्णयों में तथा अपने अधिकारों की सुरक्षा हेतु हिस्सेदारी।

14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1) भाग 14.2 देखिए
2) भाग 14.3 पढ़िये
3) उपभाग 14.3.4 देखिये
4) i) जार ii) एकतंत्र iii) किसान iv) जनप्रिय, समाजवादी क्रांतिकारी और सामाजिक जनतंत्र v) 1917 vi) अस्थायी सरकार vii) पूँजीपति और भूमिसम्पन्न कुलीन वर्ग viii) सोवियत
5) i) (×) ii)(√) iii) (√) iv) (×)

बोध प्रश्न-2

1) उपभाग 14.5.1 देखिये
2) उपभाग 14.5.2 देखिये
3) उपभाग 14.5.4 देखिये
4) भाग 14.6 देखिये

इकाई 15 क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ, गदर पार्टी और होम रूल लीग

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ
  15.2.1 क्रांतिकारी आतंकवाद के कारण
  15.2.2 आरंभिक गतिविधियाँ
15.3 गदर आंदोलन
  15.3.1 आंदोलन की पृष्ठभूमि
  15.3.2 आरंभिक गतिविधियाँ
  15.3.3 संगठन की ओर
  15.3.4 योजना एवं कार्यवाही
15.4 गदर आंदोलन : मुख्य घटनाएँ
  15.4.1 आंदोलन की आखिरी स्थिति
  15.4.2 दमन
  15.4.3 असफलता तथा उपलब्धियाँ
15.5 होम रूल लीग
  15.5.1 प्रमुख घटनाएँ, जिनसे लीगों का निर्माण हुआ
  15.5.2 दो अलग-अलग लीग
  15.5.3 तिलक की होम रूल लीग
  15.5.4 एनी बिसेंट की होम रूल लीग
  15.5.5 ब्रिटिश रवैये में परिवर्तन
  15.5.6 होम रूल लीग का पतन
15.6 सारांश
15.7 शब्दावली
15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

बीसवीं शताब्दी के शुरू में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में एक नया पहलू जुड़ा। क्रांतिकारी आंतकवाद का राजनैतिक हथियार के रूप में उदय हुआ। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- उन कारणों को पहचान पायेंगे जिन्होंने क्रांतिकारी आतंकवाद के उभरने में सहायता दी,
- क्रांतिकारियों की प्रारंभिक गतिविधियों तथा उनके पतन के कारणों के बारे में जान पायेंगे,
- गदर आंदोलन की योजना को समझ सकेंगे और उसका विवरण दे सकेंगे,
- गदर आंदोलन की उपलब्धियों की विवेचना कर सकेंगे, और
- होम रूल लीग की गतिविधियों तथा राष्ट्रीय आंदोलन में उनके योगदान के बारे में जान पायेंगे।

15.1 प्रस्तावना

1907 तक पहला देशव्यापी जन-आंदोलन-स्वदेशी आंदोलन-लगभग समाप्त हो गया था; दूसरा मुख्य प्रयास प्रथम विश्व युद्ध के बाद हुआ। बीच के वर्षों में, राष्ट्रीय आंदोलन की राजनैतिक गतिविधियों में तीन प्रयोग हुए, जिनमें से प्रत्येक ने राष्ट्रीय चेतना जगाने और उसे बढ़ाने में अपने-अपने तरीके से योगदान दिया। पहला प्रयोग था क्रांतिकारी आतंकवाद का जिसका उदय स्वदेशी आंदोलन के पतन के साथ हुआ तथा अन्य दो प्रयोग-गदर पार्टी तथा होम रूल आंदोलन-प्रथम विश्व युद्ध के वर्षों में हुए।

15.2 क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ

क्रांतिकारी आतंकवाद राजनैतिक गतिविधि का एक ऐसा रूप था जिसे राष्ट्रीय युवा वर्ग की अत्यधिक प्रेरित पीढ़ी ने अपनाया था। इस वर्ग को प्रचलित राजनैतिक गतिविधियों में अपनी रचनात्मक शक्तियों को व्यक्त करने का पर्याप्त अवसर नहीं मिला था।

15.2.1 क्रांतिकारी प्रवृत्तियों के कारण

गरम दल द्वारा नरम दल (उदारवादी) की राजनीति की आलोचना ने उन्हें इस बात का विश्वास दिला दिया था कि प्रार्थना तथा तर्कों द्वारा ब्रिटिश शासकों को परिवर्तित करने का प्रयास बेकार था। उन्होंने स्वदेशी आंदोलन में इस आशा और विश्वास से सक्रिय रूप से भाग लिया था कि आंदोलन के उग्र तरीकों जैसे कि बहिष्कार, सत्याग्रह आदि द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन को उसके विशिष्ट खाँचे से बाहर निकाला जा सकेगा, उन्हें आशा थी कि इस आंदोलन द्वारा ब्रिटिश सरकार को घुटने टेकने पर मजबूर किया जा सकेगा। जैसा कि आप इकाई-11 में पढ़ चुके हैं, स्वदेशी आंदोलन जनता के बहुत बड़े हिस्से को लामबन्द करने में केवल आंशिक रूप से ही सफल हो सका। और न ही व बंगाल के विभाजन को वापिस करवा सका। यह असफलता लगभग निश्चित ही थी क्योंकि इसके द्वारा जनमानस को लामबन्द करने का यह पहला प्रयास था और दूसरे इनके तरीके इनकी वकालत करने वालों और इनको मानने से घबराने वालों, दोनों ही के लिए नये और अपरिचित थे। इसलिए अपनाने वाले कुछ हिचकिचाहट से ही उन्हें अपना रहे थे। इसके कारण युवा वर्ग में अशान्ति तथा निराशा की भावना आ गई। यह वर्ग महसूस करने लगा कि जन-जागृति के लिए शायद कुछ और अधिक नाटकीय करने की आवश्यकता थी।

गरम दल (उग्रवादी) द्वारा आंदोलन की कमियों का विश्लेषण करने या इस गतिरोध में से बाहर निकाल सकने के नये रास्ते सुझाने में असफलता के कारण इस भावना को और भी बल मिला। इसका नेतृत्व करने वाले वर्ग के ही एक हिस्से ने जिनमें अरविन्द घोष भी शामिल थे, इस प्रवृत्ति का समर्थन किया। जो इससे सहमत नहीं थे वे इसकी खुली आलोचना करने के बजाय चुप रहे, शायद यह सोच कर कि इससे सरकार को फायदा होगा।

क्रांतिकारी आतंकवाद की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलने का एक कारण सरकार द्वारा स्वदेशी आंदोलन का क्रूर दमन भी था। उदाहरण के लिए, 27 अप्रैल 1906 की बरीसाल राजनैतिक कान्फ्रेंस में शरीक शांतिपूर्ण भीड़ पर पुलिस ने अकारण हमला कर दिया जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय अखबार "युगान्तर" ने कहा कि "बल को बल से ही रोका जाना चाहिए"। सूरत में 1907 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गरम दल और नरम दल में विभाजन के बाद सरकार की दमन की क्षमता काफी बढ़ गयी क्योंकि गरम दल के दमन से नरम दल सरकार से नाराज नहीं होता। संविधान संशोधन के वायदों के लालच से नरम दल को बहका कर सरकार ने गरम दल पर पूरी तरह हमला बोल दिया ; तिलक को 6 साल के लिये बर्मा में निर्वासित कर दिया गया, अरविन्द घोष को क्रांतिकारी षड़यंत्र केस में गिरफ़्तार कर लिया गया। इस दौर में राष्ट्रवादी युवा वर्ग की एक पूरी पीढ़ी-विशेषकर बंगाल में :

- दमन के कारण नाराज़ हो गयी
- उदार दल के रास्ते की व्यर्थता के बारे में निश्चित रूप से कायल हो गयी
- अशान्त थी कि गरम दल न तो सरकार से तुरंत कोई रियाएतें ही ले पाने में सफल हुआ और न ही जन-समुदाय को पूरी तरह लामबन्द करने में।

यह युवा पीढ़ी इसलिए वैयक्तिक वीरता की कार्यवाहियों या क्रांतिकारी आतंकवाद की ओर उन्मुख हुई। यह वही रास्ता था जिसे पहले आयरलैंड के राष्ट्रवादियों और रूसी शून्यवादियों ने अपनाया था। हालाँकि वे मानते थे कि साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए अंततः जनता द्वारा हथियारबन्द बगावत आवश्यक थी, उन्हें इस काम की कठिनाई, विशेषकर सेना की वफादारी को खत्म करने के प्रयत्न में मुश्किलों का भी पूरा अहसास था। इसलिए तुरंत कार्यवाही के लिए उनके सामने एक ही रास्ता था : ब्रिटिश अधिकारियों, विशेषकर जो बदनाम हों, की हत्या। ऐसा इसलिए किया गया :

- कि अधिकारियों में दहशत फैल जाये ;

- लोगों की उदासीनता तथा डर दूर हो जाये तथा;
- उनकी राष्ट्रीय चेतना जागृत हो जाये।

15.2.2 प्रारंभिक गतिविधियाँ

हालाँकि 1907-1908 के आस-पास ही क्रांतिकारी आतंकवाद की प्रवृत्ति सही मायने में ताकत बन सकी, परन्तु इससे पहले भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं :

- 1897 में पूना के चापेकर भाइयों—दामोदर और बालकृष्ण—ने दो ब्रिटिश अफ़सरों की हत्या की थी।
- महाराष्ट्र में 1904 तक वी.डी. सावरकर तथा उनके भाई गणेश ने **मित्रमेला** और **अभिनव भारत** जैसी गुप्त समितियों का संगठन किया।
- 1905 के बाद से ही कई अखबारों तथा लोगों ने इस तरह की राजनैतिक गतिविधियों का समर्थन शुरू कर दिया था। 1907 में, बंगाल के लेफ़्टीनेंट गवर्नर पर कातिलाना हमला किया गया, हाँलाकि वह असफल हो गया।

चित्र 15 : प्रफुल्ल चाकी

लेकिन इस प्रवृत्ति की असली शुरुआत अप्रैल 1908 में मानी जाती है जब खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चाकी द्वारा उस गाड़ी पर बम फेंका गया जिसमें उनके अनुसार मुज्जफरपुर का बदनाम जिला न्यायधीश किंग्सफोर्ड यात्रा कर रहा था। लेकिन दुर्भाग्यवश उसमें दो अंग्रेज औरतें यात्रा कर रही थीं जिनकी अनजाने में हत्या हो गयी। पकड़े जाने के बदले प्रफुल्ल चाकी ने स्वयं को गोली से मार देना बेहतर समझा लेकिन खुदीराम को गिरफ्तार कर लिया गया और बाद में फाँसी पर चढ़ा दिया गया। सरकार ने इस अवसर को अरविन्द घोष और उसके भाई बारिन तथा कई अन्यों को एक षडयंत्र केस में फँसाने के लिए भी इस्तेमाल किया, जिसमें अरविन्द स्वयं तो छूट गये लेकिन उनके भाई सहित अन्य कई लोगों को निर्वासन तथा कठोर कारावास जैसी सजायें दी गयीं।

गुप्त संस्थाओं की स्थापना तथा क्रांतिकारी गतिविधियाँ

अंग्रेजी सरकार के दमन के फलस्वरूप गुप्त संस्थायें बनने लगीं, बहुत-सी हत्यायें हुईं तथा हथियार खरीदने के लिए कई "स्वदेशी" डकैतियाँ डाली गई। बंगाल में जो क्रांतिकारियों का केंद्र था, क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन "अनुशीलन" और "युगान्तर" जैसी संस्थाओं द्वारा किया गया। महाराष्ट्र में पूना, नासिक और बंबई क्रांतिकारियों की गतिविधियों के केंद्र बन गये। मद्रास में "भारत माता ऐसोसिऐशन" के वांची अय्यर ने गरम दलीय नेता चिदम्बरम पिल्लई की गिरफ्तारी का विरोध कर रही भीड़ पर गोली चलाने वाले अफसर की हत्या कर दी। लंदन में मदनलाल धींगरा ने इंडिया हाउस के अफसर कर्जन वाइली की हत्या कर दी तथा रासबिहारी बोस ने 23 दिसम्बर 1912 को दिल्ली में प्रवेश कर रहे वाइसराय लार्ड हार्डिंग पर कातिलाना हमला किया। श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाल हरदयाल, वी.डी. सावरकर, अजीत सिंह और मैडम कामा ने यूरोप में केंद्र स्थापित किये जहाँ से वे क्रांतिकारी संदेश प्रसारित करते रहे तथा स्वदेश में अपने सहयोगियों की सहायता करते रहे। कुल मिलाकर 1908-1918 के बीच 186 क्रांतिकारी या तो मारे गये या पकड़े गये।

15.2.3 क्रांतिकारी प्रवृत्ति का पतन

कठोर दमन, क्रूर नियमों और लोकप्रियता के अभाव के कारण क्रांतिकारी आतंकवाद की लहर धीरे-धीरे धीमी पड़ गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैयक्तिक वीरता के कामों के कारण क्रांतिकारियों को कुछ लोकप्रियता, प्रशंसा और हमदर्दी मिली और खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चाकी जैसे कई क्रांतिकारी लोग प्रसिद्ध हो गये। लेकिन जैसा कि इसकी प्रवृत्ति से ही स्पष्ट था, इस प्रकार की राजनैतिक कार्यवाही का अनुकरण केवल कुछ व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता था, जन-समुदाय द्वारा नहीं। आम जनता अभी भी ऐसे आंदोलन की प्रतीक्षा में थी जो उनकी कमजोरियों को समझते हुये उनकी शक्ति का उचित उपयोग कर सके।

बोध प्रश्न-1

1 क्रांतिकारी आतंकवाद की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाले दो मुख्य कारण बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

2 क्रांतिकारी आतंकवादियों द्वारा की गई तीन मुख्य कार्यवाहियों का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 क्रांतिकारी किन क्षेत्रों में सबसे अधिक सक्रिय थे?

.....

.....

.....

.....

.....

चित्र 16 : खुदीराम बोस

15.3 गदर आंदोलन

1914 में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया और बहुत से भारतीय राष्ट्रवादियों को लगा कि ब्रिटेन की कठिनाइयों से लाभ उठाने का यह एक अत्यन्त दुलर्भ अवसर था। उन्हें लगता था कि लड़ाई में व्यस्त ब्रिटेन उनकी राष्ट्रीय चुनौती का समुचित उत्तर नहीं दे पायेगा। यह चुनौती दो विभिन्न प्रकार के राष्ट्रवादियों द्वारा दी गई : उत्तरी अमेरिका में रहने वाले गदर क्रांतिकारियों द्वारा और भारत में तिलक और एनी बिसेंट की होम रूल लीग द्वारा। हम पहले गदर आंदोलन की चर्चा करेंगे।

15.3.1 आंदोलन की पृष्ठभूमि

गदर क्रांतिकारियों में अधिकतर वे पंजाबी प्रवासी थे जो 1904 के बाद उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट पर जाकर बस गये थे। इनमें अधिकतर कर्ज के बोझ तले दबे, पंजाब के जमीन के लिए इच्छुक किसान थे इनमें विशेषकर जालंधर और होशियारपुर इलाके के किसान थे। इनमें से बहुत से ब्रिटिश भारतीय फौज में नौकरी कर चुके थे। इससे उनमें प्रवास के लिए आवश्यक विश्वास पैदा हो गया था और उनके पास उसके लिए पर्याप्त साधन भी थे। स्थानीय लोगों के विद्वेषपूर्ण रवैये जिसमें गोरे मजदूरों की यूनियनें भी शामिल थीं, प्रतिबंधक प्रवासी नियमों जिनमें भारत सचिव की मिलीभगत शामिल थी, इन सब ने भारतीय समुदाय को अहसास दिला दिया कि यदि उन्हें अपने विरुद्ध नस्लवादी भेदभाव का मुकाबला करना है तो उन्हें स्वयं को संगठित करना होगा। उदाहरण के लिए, एक भारतीय विद्यार्थी तारक नाथ दास जो उत्तरी अमरीका में भारतीय समुदाय के आरंभिक नेताओं में से था और जिसने फ्री हिन्दुस्तान नामक अखबार भी शुरू किया था, यह अच्छी तरह जान गया था कि ब्रिटिश सरकार भारतीय मज़दूरों को फीजी में तो काम करने को प्रोत्साहित कर रही थी क्योंकि वहाँ के ज़मींदारों को मजदूरों की आवश्यकता थी लेकिन वह उत्तरी अमरीका में भारतीयों के प्रवास को हतोत्साहित कर रही थी क्योंकि उसे डर था कि वे वहाँ आज़ादी के वर्तमान विचारों से प्रभावित हो जायेंगे।

15.3.2 आरंभिक गतिविधियाँ

प्रवासी भारतीय समुदाय में राजनैतिक गतिविधि की हलचल 1907 में ही शुरू हो गई जब रामनाथ पुरी नामक एक राजनैतिक प्रवासी ने **सर्कुलर-ए-आज़ादी** नामक पर्चा छापा जिसमें उसने स्वदेशी आंदोलन की सहायता का वचन दिया था। तारक नाथ दास ने **फ्री हिन्दुस्तान** निकालना शुरू किया और जी.डी. कुमार ने **स्वदेश सेवक** नामक पत्र गुरुमुखी में निकाला जिसमें उसने सामाजिक सुधारों की हिमायत की और हिन्दुस्तानी सिपाहियों को बगावत करने का सुझाव दिया। 1910 तक दास और कुमार ने सियैटल (अमरीका) में युनाइटेड इंडिया हाउस की स्थापना कर ली जहाँ वे हर हफ़्ते हिन्दुस्तानी मज़दूरों के गुटों को भाषण दिया करते थे। उन्होंने खालसा दीवान सोसायटी के साथ भी घनिष्ट संबंध स्थापित किये जिसके फलस्वरूप 1913 में लंदन में कोलोनियल सैक्रेट्री और भारत में वायसराय तथा अन्य अफसरों से मिलने के लिए एक शिष्टमंडल भेजने का फैसला किया गया। एक महीना इंतज़ार करने के बाद भी वे कोलोनियल सैक्रैट्री से मिलने में सफल नहीं हो सके लेकिन पंजाब में वे लेफ़्टीनेंट गवर्नर और वायसराय से मिलने में सफल हो गये। पंजाब में उनकी यात्रा के दौरान पंजाब के विभिन्न शहरों में बहुत-सी जन-सभायें आयोजित की गईं। जनता तथा अखबारों से बहुत सहायता मिली।

इसी बीच 1913 के शुरू में हाँगकाँग में मलाया प्रदेशों में काम करने वाले एक सिक्ख पुजारी भगवान सिंह कनाडा में वैंकूवर शहर गये और खुलेआम ब्रिटिश शासन के खिलाफ हिंसक बगावत करने का प्रचार किया। उनके प्रचार का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्हें तीन महीने बाद कनाडा से निकल जाने को कहा गया लेकिन उनके विचारों ने श्रोताओं में नयी चेतना जगा दी थी।

15.3.3 संगठन की ओर

ब्रिटिश भारतीय सरकार के रवैये से हताश होकर, उत्तरी अमरीका के भारतीय समुदाय को लगा कि विदेशों में उनकी घटिया स्थिति का कारण उनका एक गुलाम देश का नागरिक होना है। लगातार राजनैतिक संघर्षों, राष्ट्रीय चेतना और भाईचारे की भावना के फलस्वरूप उत्तरी अमरीका के इस समुदाय को एक केंद्रीय संगठन एवं नेता की आवश्यकता महसूस हुई। यह नेता उन्हें लाला हरदयाल के रूप में मिला। जो 1911 में राजनैतिक प्रवासी के रूप में अमरीका आये थे और स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में तथा अमरीकी बुद्धिजीवियों, उग्रवादियों तथा मज़दूरों को अराजकतावादी तथा श्रमिकसंघवादी आंदोलनों के बारे में भाषण दिया करते थे लेकिन जिन्होंने भारतीय प्रवासियों के जीवन में अधिक रुचि नहीं दिखाई थी। दिसम्बर 1912 में दिल्ली में वाइसराय पर बम द्वारा हमले की खबर से उनके व्यवहार में परिवर्तन आया क्योंकि उन्हें लगा कि क्रांतिकारी भावना अभी जीवित थी। उन्होंने भारतीय प्रवासी समुदाय का नेतृत्व संभाल लिया तथा मई 1913 में पोर्टलैंड में **हिन्दी एसोसियेशन** की स्थापना से एक केंद्रीय संगठन की आवश्यकता भी पूरी हो गई। बाद में इस संगठन का नाम बदल कर **हिन्दुस्तान गदर पार्टी** रख दिया गया। इसकी पहली मीटिंग में बाबा सोहन सिंह भाकना इसके अध्यक्ष चुने गये और लाला हरदयाल जरनल सेक्रेटरी तथा पंडित काशी राम मरोली इसके कोषाध्यक्ष बने। इस मीटिंग में अन्य लोगों के अलावा भाई परमानन्द तथा हरनाम सिंह "टुंडीलाट" ने भी भाग लिया था। 10,000 डालर की रकम भी वहीं जमा कर ली गई और फैसला किया गया कि सैन फ्रांसिस्कों में **युगान्तर आश्रम** नाम से एक मुख्यालय की स्थापना की जायेगी और गदर नामक एक साप्ताहिक अखबार निकाला जायेगा जो मुफ्त बाँटा जायेगा।

चित्र 17 : लाला हरदयाल

15.3.4 योजना एवं कार्यवाही

राजनैतिक कार्यवाही की योजना लाला हरदयाल द्वारा सुझाई गई थी और इसे हिन्दी ऐसोसियेशन ने स्वीकार किया था, यह योजना इस समझ पर आधारित थी कि ब्रिटिश शासन को केवल हथियारबंद विद्रोह द्वारा ही उखाड़ फेंका जा सकता था और ऐसा करने के लिए आवश्यक था कि बड़ी संख्या में भारतीय प्रवासी भारत जायें और यह संदेश जनता तथा हिन्दुस्तानी फौज के सिपाहियों तक पहुँचायें। लाला हरदयाल यह भी मानते थे कि अमरीका में मिली आज़ादी को अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़ने में इस्तेमाल किया जाना चाहिए, अमरीकियों

के विरुद्ध नहीं क्योंकि विदेश में रहने वाले हिन्दुस्तानियों को तब तक बराबरी का दर्जा नहीं मिल सकता था जब तक कि वे अपने ही देश में स्वतंत्र नहीं हो जाते। इस समझ को स्वीकार करते हुए राष्ट्रवादियों ने एक जबर्दस्त अभियान छेड़ दिया और जिन फ़ैक्ट्रियों और फ़ार्मों पर हिन्दुस्तानी प्रवासी काम करते थे उनका दौरा करने लगे।

अख़बार की शुरुआत और उसका प्रभाव

पहली नवम्बर 1913 को **गदर** अख़बार की शुरुआत की गई; पहला अंक उर्दू में छपा लेकिन एक महीने बाद उसका गुरुमुखी अंक भी आ गया। **गदर** अख़बार की रूपरेखा राष्ट्रवाद के संदेश को सीधे-सादे लेकिन प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त करने के हिसाब से तैयार की गई थी। उसके नाम का ही अर्थ था विद्रोह ताकि उसकी मंशा के बारे में किसी प्रकार का संदेह न रहे। उसके ऊपर "अंग्रेज़ी राज का दुश्मन" छपा हुआ था। इसके अलावा, हर अंक के मुखपृष्ठ पर "अंग्रेज़ी राज का कच्चा चिट्ठा" छपता था जिसमें अंग्रेज़ी शासन के 14 नकारात्मक प्रभावों का विवरण रहता था। चिट्ठा वास्तव में अंग्रेज़ी शासन की समस्त आलोचना का सारांश था जिसमें भारतीय संपत्ति की लूट, ज़मीन के ऊँचे लगान, प्रति व्यक्ति निम्न आय, लाखों भारतीयों की जान लेने वाले अकाल का बार-बार पड़ना, फौज पर लम्बे-चौड़े खर्च, स्वास्थ्य पर नगण्य खर्च तथा हिन्दु-मुसलमानों को लड़वा कर "विभाजन और शासन" की नीति आदि का ज़िक्र रहता था। चिट्ठे की आखिरी दो बातें इस सबके समाधान की ओर यह कह कर संकेत करती थीं कि करोड़ों भारतीयों के मुकाबले में हिन्दुस्तान में मौजूद अंग्रेज़ों की संख्या बहुत ही कम थी और 1857 के पहले विद्रोह के बाद छप्पन वर्ष बीत गये थे और एक अन्य विद्रोह के लिए समय आ गया था।

चित्र 18 : "गदर" अखबार

गदर जिसका प्रसार उत्तरी अमरीका के भारतीय प्रव्रासियों में खूब था, जल्दी ही फिलिपाइन्स, हाँग-काँग, चीन, मालाया प्रदेशों, सिंगापुर, त्रिनिदाद तथा होंडूरस के प्रवासियों तक भी पहुँचने लगा और इन केंद्रों में मौजूद हिन्दुस्तानी सेनाओं में भी। इसे भारत भी भेजा जाता था। इसने प्रवासी समुदायों में जबर्दस्त चेतना पैदा की तथा इसे पढ़ने और इसमें उठाये गये मुद्दों पर बहस के लिए कई वर्ग बनाये गये और चन्दे के ढेर लग गये। सबसे अधिक लोकप्रिय थीं इसमें छपने वाली कवितायें जिन्हें जल्दी ही **गदर की गूंज** नाम से संकलित किया गया। इन्हें भारतीयों के सम्मेलन में पढ़ा और गाया जाता था। इन कविताओं में क्रांतिकारी भावना तथा धर्मनिरपेक्षता का भाव भरा था जैसा कि नीचे की पंक्तियों से स्पष्ट है:

न पंडित की जरूरत है न मुल्ला की
न फरियाद, न प्रार्थना गीत गाना है
इनसे डोलती है नैया हमारी
उठाओ तलवार लड़ने जाना है।

"गदर" ने पंजाबियों से अपील की कि वे 1857 के अपने अंग्रेज़ों की हिमायत की भूमिका का उधार अब उन्हें उखाड़ फेंकने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करके चुका दें। वे अंग्रेज़ों द्वारा बनाई गई वफ़ादार सिपाहियों की अपनी छवि का भी खंडन करें और सिर्फ़ विद्रोही बनें जिनका एकमात्र उद्देश्य स्वतंत्रा प्राप्त करना था। गदर का संदेश इतनी तेज़ी से घर कर गया कि स्वयं हरदयाल उन लोगों की तीव्र प्रतिक्रिया से चकित रह गये जो कुछ करने के लिए बेचैन थे।

बोध प्रश्न-2

1 गदर आंदोलन के उदय के कारण बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

2 गदर पार्टी के कौन-कौन से उद्देश्य थे?

.....

.....

.....

.....

.....

3 गदर आंदोलन के चार महत्वपूर्ण नेताओं के नाम बताइये

.....

.....

.....

4 गदर अख़बार ने क्या संदेश प्रसारित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

15.4 गदर आंदोलन : मुख्य घटनायें

1914 में घटी तीन मुख्य घटनाओं ने गदर आंदोलन की आगे की दिशा निर्धारित की, लाला हरदयाल की गिरफ्तारी, ज़मानत और स्विट्ज़रलैंड भाग जाना, कामागाटा मारू जहाज़ की यात्रा और प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत:

i) मार्च 1914 में हरदयाल को गिरफ़्तार कर लिया गया। संभवतः इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण था ब्रिटिश सरकार का दबाव जो चाहती थी कि वे गदर आंदोलन के नेतृत्व से हट जायें लेकिन जो कारण बताया गया वह था, उनकी अराजकतावादी गतिविधियाँ। उन्हें ज़मानत पर छोड़ दिया गया और उनकी पार्टी ने फैसला किया कि वह ज़मानत से भाग कर स्विट्ज़रलैंड चले जायें।

ii) इस बीच, कनाडा के प्रवास कानूनों का उल्लंघन करने के लिए, जिनके अनुसार "सीधे अपने जहाज़ पर आने वालों" के सिवा सभी अन्य के आने पर प्रतिबंध था, सिंगापुर में रह रहे एक हिन्दुस्तानी कांट्रेक्टर गुरदित्त सिंह ने **कामागाटा मारू** नामक जहाज

किराये पर लिया और पूर्वी तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के विभिन्न भागों में रहने वाले 376 भारतीय यात्रियों को लेकर वैंकूवर के लिए रवाना हो गया। रास्ते में गदर पार्टी के कार्यकर्ता जहाज़ पर आते, भाषण देते तथा साहित्य बाँटते। उनके प्रवास की पूर्व सूचना मिलने पर वैंकूवर के प्रैस ने "बढ़ते हुए पूर्व के आक्रमण" की चेतावनी दे दी और अपने कानूनों को और कड़ा करके कनाडा की सरकार इस चुनौती का सामना करने को तैयार हो गई।

चित्र 19 : कोमागाटा मारू

कनाडा पहुँचने पर, जहाज़ को बंदरगाह में जाने नहीं दिया गया तथा पुलिस ने उसकी घेराबंदी कर दी। वैंकूवर में "समुद्रतट समिति" जिसके नेता हुसैन रहीम, सोहन लाल पाठक और बलवन्तसिंह थे, के प्रयत्नों के बावजूद तथा अमरीका में बर्कातुल्ला, भगवान सिंह, रामचंद्र और सोहन सिंह भकना के शक्तिशाली अभियान के बावजूद, कामागाटा मारू को कनाडा की जल सीमा के बाहर निकाल दिया गया। उसके जापान पहुँचने से पहले प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया तथा ब्रिटिश सरकार ने ऐलान कर दिया कि जहाज़ के कलकत्ता पहुँचने से पहले किसी यात्री को उतरने नहीं दिया जायेगा।

वापसी की यात्रा में जिस बन्दरगाह पर भी यह जहाज पहुँचा वहाँ भारतीय प्रवासियों में रोष की लहर दौड़ गई और ब्रिटिश विरोधी भावना बढ़ने लगी। जब जहाज़ कलकत्ता के पास ब्रज-बज नामक स्थान पर पहुँचा तो पुलिस के द्वेषपूर्ण रवैये के कारण संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में 18 यात्रियों की मृत्यु हो गई, 202 को गिरफ्तार कर लिया गया तथा बाकी भाग निकलने में सफल हो गये।

iii) तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण घटना जिसने सारी परिस्थिति में एक नाटकीय परिवर्तन ला दिया वह थी तीसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत। यही वह अवसर था जिसके इंतज़ार में गदरवादी तैयार बैठे थे ताकि अंग्रेज़ों की कठिनाइयों का पूरा लाभ उठाया जा सके। यह अवसर उनकी आशाओं से पहले ही आ गया। अभी उनकी तैयारी भी पूरी नहीं हुई थी। फिर भी पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ताओं की विशेष सभा हुई और यह फैसला किया गया कि काम का समय आ गया था। यह विचार किया गया कि दल की सबसे बड़ी कमजोरी हथियारों की कमी थी जिसे हिन्दुस्तानी सिपाहियों को विद्रोह के लिए उकसा

कर पूरा किया जा सकता था। गदर पार्टी ने एक पत्र **ऐलाने-जंग** (युद्ध की घोषणा) जारी कर दिया जिसे विदेशों में रहने वाले भारतीयों में बाँटा गया। गदर के कार्यकर्ताओं ने लोगों में प्रोत्साहन जगाने के लिए यात्राएँ भी आरंभ कर दी कि वे हिन्दुस्तान लौट कर संगठित विद्रोह की तैयारी करें। परिणाम बहुत ही उत्साहवर्धक था और भारी संख्या में लोगों ने स्वयं को और अपनी सारी सम्पत्ति को राष्ट्र के नाम समर्पित करने की पेशकश की। इससे उत्साहित होकर गदर पार्टी ने हिन्दुस्तान चलने का आह्वान किया तथा 1914 के पूर्वार्ध से क्रांतिकारियों के जत्थे विभिन्न रास्तों से होकर हिन्दुस्तान पहुँचने लगे।

15.4.1 आंदोलन का आखिरी दौर

हिन्दुस्तान में प्रवेशाधिकार घुसपैठ के विरुद्ध एक नये अध्यादेश से युक्त होकर हिन्दुस्तानी सरकार ताक लगाये बैठी थी। लौटने वाले प्रवासियों की पूरी तरह जाँच-पड़ताल की गई और लौटने वाले लगभग 8000 में से 5000 को "सुरक्षित" मान कर बिना रोक-टोक के आने दिया गया। शेष में से कुछ को गाँवों में नज़रबंद कर दिया गया और काफी लोगों को हिरासत में ले लिया गया। फिर भी कुछ कट्टर कार्यकर्ता पंजाब पहुँचने में सफल हो गये।

पंजाब में सुरक्षित पहुँचने वालों में करतार सिंह सराबा नाम का एक नौजवान तथा बुद्धिमान विद्यार्थी भी था जिसने गदर पार्टी की सदस्यता अमरीका में प्राप्त की थी और जो गदर अख़बार के निकालने में प्रमुख योगदान देता था। उसने तुरंत लौटने वाले प्रवासियों से सम्पर्क स्थापित करने, उन्हें संगठित करने का काम शुरू कर दिया। वह सभाएँ करने लगा तथा योजना बनाने के काम में जुट गया। गदर कार्यकर्ता गाँवों के दौरे करके, पार्टी के पर्चे बाँट कर, मेलों में लोगों को संबोधित करके और अन्य कई प्रयत्नों द्वारा लोगों को विद्रोह के लिये प्रेरित करने लगे। लेकिन 1914 का पंजाब उनकी आशाओं से भिन्न था और लोग गदर द्वारा काल्पनिक विद्रोह के लिए तैयार नहीं थे। कार्यकर्ताओं को सरकार के वफ़ादार तत्वों के विरोध का भी सामना करना पड़ा जिसमें खालसा दीवान का प्रमुख भी शामिल था जिसने उन्हें तनखैया या पतित सिखों और अपराधी का दर्जा देकर सरकार द्वारा उन्हें दबाने के प्रयत्नों में पूरा सहयोग दिया।

आम जनता में लोकप्रियता के अभाव से निराश होकर गदर क्रांतिकारियों ने दूसरा प्रयास सिपाहियों में अपना संदेश फैला कर उन्हें विद्रोह के लिये तैयार करने का किया। नवम्बर 1914 के विद्रोह का प्रयत्न संगठन तथा केंद्रीय नेतृत्व के अभाव के कारण असफल हो गया। फरवरी 1915 में रास बिहारी बोस से सम्पर्क और उन्हें नेतृत्व तथा संगठन सौंप देने के बाद एक अधिक संगठित प्रयत्न किया गया लेकिन यह भी असफल रहा क्योंकि सरकार संगठन में घुस-पैठ करके इससे पहले ही कार्रवाई कर ली थी। बोस बच निकलने में सफल हो गये लेकिन अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और **गदर** आंदोलन को प्रभावशाली ढंग से दबा दिया गया।

15.4.2 दमन

इसके बाद दमन का जो दौर चला वह बहुत ही भयानक था : 42 लोगों को फाँसी की सजा सुनाई गई और अन्य को लंबी अवधि का कारावास दिया गया। इसके फलस्वरूप पंजाब में राष्ट्रवादी नेतृत्व की एक पूरी पीढ़ी की राजनैतिक हत्या कर दी गई। बर्लिन में रह रहे हिन्दुस्तानी क्रांतिकारियों द्वारा जर्मन सहायता प्राप्त करने और विदेशों में भेजे गये हिन्दुस्तानी सिपाहियों में विद्रोह कराने के प्रयत्न भी असफल हुए। राजा महेन्द्र प्रताप और बर्कातुल्लाह द्वारा अफगानिस्तान के अमीर की मदद प्राप्त करने के प्रयत्नों में भी असफलता हाथ आई। इस प्रकार हिंसक विद्रोह द्वारा अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने में सफलता शायद इन क्रांतिकारियों के भाग्य में लिखी ही नहीं थी।

15.4.3 उपलब्धियाँ एवं असफलताएँ

क्या इस कारण हम गदर आंदोलन को असफल मान सकते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि हथियारबंद क्रांति संगठित करने और अंग्रेजों को बाहर निकाल फेंकने के अपने उद्देश्य में तुरंत सफल न होने के कारण उनके प्रयत्न पूरी तरह विफल हुए? इस मापदण्ड से तो

1920-22, 1930-34 तथा 1942 के सभी बड़े आंदोलन असफल माने जायेंगे क्योंकि इनमें से कोई भी तुरंत स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ। लेकिन अगर सफलता का मापदण्ड राष्ट्रीय भावनाओं को आगे बढ़ाना, मुकाबला करने की नई परंपरायें बनाना, आंदोलन के नये तरीके ढूँढना तथा धर्म-निरपेक्षता, जनतंत्र तथा सत्रता की विचारधारा का प्रसार करना था तो भारत के स्वतंत्रता संग्राम में गदर आंदोलन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जायेगी।

उपलब्धियाँ : गदर पार्टी के लोग राष्ट्रीय विचारधारा को लोकप्रिय बनाने में सफल हुए विशेषकर उपनिवेशवाद के मूल्यांकन करने तथा इस समझ का प्रसार करने में कि हिन्दुस्तान की गरीबी और पिछड़ेपन का मुख्य कारण अंग्रेज़ी शासन था। यह प्रसार उन्होंने देश तथा विदेश में रहने वाले भारतीयों में किया। उन्होंने अत्यधिक उत्साही राष्ट्रवादियों का एक दल तैयार किया जो बाद में कई दशकों तक राष्ट्रीय आंदोलन तथा बाद में पंजाब और देश के अन्य भागों में वामपन्थी तथा किसान आंदोलन तैयार करने में प्रमुख भूमिका अदा की। यद्यपि दमन के फलस्वरूप उनमें से कई लोग स्थायी तौर पर और अन्य लोग कई वर्षों तक आंदोलन से अलग रहे।

गदर विचारधारा मूलतः अत्यंत समतावादी तथा जनतंत्रवादी थी। उनका उद्देश्य था हिन्दुस्तान में एक स्वतंत्र गणतंत्र की स्थापना करना। हरदयाल ने जो प्रारंभिक अवस्था में अराजकतावादी तथा श्रमिकसंघवादी आंदोलनों से प्रभावित हुए थे, इस आंदोलन को एक समतावादी स्वरूप प्रदान किया। वे अक्सर आयरिश, मैक्सिकन तथा रूसी क्रांतिकारियों का ज़िक्र किया करते थे जिसके कारण इस आंदोलन को अंधे राष्ट्रवाद से भी बचा सकें और उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी दे सकें।

लेकिन गदर आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि उसके अधिकतर अनुयायी पंजाबी सिक्ख प्रवासियों में से होने के बावजूद उन्होंने कभी भी फिरकापरस्ती का इज़हार नहीं किया बल्कि वे अपने दृष्टिकोण में पूरी तरह धर्म-निरपेक्ष बने रहे। धर्म को महत्व देने को तुच्छ और संकीर्णता समझा जाता था जिसे क्रांतिकारी निन्दनीय समझते थे। वे खुले दिल से सिक्खों और पंजाबियों के सिवा दूसरों को भी नेता स्वीकार करते थे : हरदयाल हिन्दू थे, बर्कातुल्लाह मुसलमान थे, रास बिहारी बोस बंगाली हिन्दू थे। वे समस्त भारत के नेताओं का सम्मान करते थे--तिलक, सावरकर, खुदीराम बोस, तथा अरविन्द घोष उनके हीरो थे। वे यह भी समझते थे कि सिक्खों को "लड़ाकू कौम" घोषित करने में उपनिवेशवादी शासन का हाथ था ताकि वे वफादार सिपाही बने रहें। गदर दल ने इस मिथ्या छवि को भंग करने का भरसक प्रयत्न किया। उन्होंने बन्दे मातरम् को आंदोलन के नारे के रूप में लोकप्रिय बनाया और सत श्री अकाल जैसे धार्मिक नारे को नहीं अपनाया। सोहन सिंह माखना, जो बाद में गदरी बाबा के नाम से प्रसिद्ध हुए और सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय एवं वामपंथी नेता बने, के अनुसार "हम सिक्ख या पंजाबी नहीं थे देशप्रेम ही हमारा धर्म था।"

कमज़ोरियाँ : गदर आंदोलन की अपनी कमजोरियाँ भी थीं जिनमें मुख्य थी आंदोलन के लिए तैयारी के स्तर को अधिक महत्व देना। कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी सेना की परिस्थितियों को पूरी तरह समझे बिना ही लड़ाई का बिगुल बजा दिया। प्रतिदिन नस्लवादी अपमान, अपरिचित परिस्थितियों में रहने के कारण आई विमुखता की भावना आदि के शिकार भारतीय प्रवासियों में राष्ट्रीय चेतना जगाने के उनके अभियान का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा क्योंकि उनकी संख्या कम होने के कारण उन्हें संगठित करना बहुत आसान था और इसी से वे भ्रमित हो गये कि सारे भारत की जनता भी इस प्रकार तैयार थी। उन्होने ब्रिटिश शासकों की ताकत, उनकी विचारधारा के प्रभाव का भी गलत अन्दाज़ लगाया और समझा के हिन्दुस्तान की जनता को सिर्फ विद्रोह का नारा देने की जरूरत थी। इस महत्वपूर्ण कमजोरी की जो कीमत गदर आंदोलन और समूचे राष्ट्रीय आंदोलन को चुकानी पड़ी वह काफी अधिक थी क्योंकि अगर गदर आंदोलन के नेतृत्व के एक बडे भाग को शासन द्वारा कार्यक्षेत्र से अलग न किया जाता तो राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप, विशेषकर पंजाब में, कुछ और ही होता क्योंकि अपनी राष्ट्रवादी एवं धर्मनिरपेक्ष विचारधारा के कारण गदर दल ने उन फिरकापरस्त भावनाओं को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होती जिन्होंने आने वाले वर्षों में अपना सिर उठाया।

बोध प्रश्न-3

1 1914 की कौन सी तीन महत्वपूर्ण घटनाओं ने गदर आंदोलन को प्रभावित किया।

.....

.....

.....

.....

.....

2 गदर नेताओं ने हिन्दुस्तान में क्या कार्ययोजना बनाई थी?

.....

.....

.....

.....

.....

3 गदर आंदोलन की मुख्य उपलब्धियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

4 गदर आंदोलन की मुख्य कमज़ोरियाँ क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

15.5 होम रूल लीग

प्रथम विश्व महायुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों की एक अन्य कम नाटकीय लेकिन अधिक प्रभावशाली प्रतिक्रिया हुई - लोकमान्य तिलक एवं ऐनी बिसेंट की होम रूल लीग।

15.5.1 लीगों के बनने में सहायक घटनायें

मांडाले, बर्मा में छह वर्ष की लबी कैद काटने के बाद जब तिलक वापस हिन्दुस्तान लौटे तो सबसे पहले उन्होंने अपना ध्यान स्वयं तथा अन्य उग्रवादियों के कांग्रेस में वापस जाने की ओर दिया जिसमें से उन्हें 1907 में सूरत में निकाल दिया गया था। 1907 में भी वे विभाजन से खुश नहीं थे। अब तो वह एकता के और भी हामी बन गये। इसके अतिरिक्त, किसी भी प्रकार की राजनैतिक गतिविधियों के लिए कांग्रेस की मुहर आवश्यक थी क्योंकि लोगों के दिमाग में कांग्रेस राष्ट्रीय आंदोलन का विशिष्ट चिह्न बन गई थी। साथ ही, विभाजन ने अंग्रेज़ों को ही लाभ पहुँचाया था जिन्होंने पहले तो गरम दल को दमन करके अलग कर दिया और फिर नरम दल की भी उपेक्षा ऐसे संशोधन लाकर कर दी जो अपेक्षाओं से बहुत ही कम थे। 1908 के बाद से राजनैतिक गतिविधियों के पूर्ण अभाव से नरम दलीय पर मिसेज़ ऐनी बिसेंट का भी काफी दबाव था क्योंकि वे हिन्दुस्तान में भी आयरिश होम रूल लीग की तरह का आंदोलन चलाना चाहती थीं और वह उग्रवादियों के वापस लिए जाने पर ज़ोर दे रही थीं। एनी बिसेंट जिनकी उम्र 1914 में 66 वर्ष की थी, 1893 में इंग्लैंड से थियोसौफिकल सोसाइटी

का काम करने हिन्दुस्तान आई थीं। वह पहले मुक्त विचारधारा, क्रांतिकारी विचारधारा तथा फेबियनवाद की समर्थक रह चुकी थीं। उन्होंने मद्रास के निकट अदयार में अपना मुख्य कार्यालय बनाया था और उन शिक्षित भारतीयों में से बहुत को थियोसौफिकल सोसायटी का सदस्य बना लिया था जिनके समुदायों में किसी प्रकार का सांस्कृतिक पुनर्उत्थान नहीं हुआ था। इसी को आधार बाना कर वह राजनैतिक आंदोलन आरंभ करना चाहती थीं।

15.5.2 दो लीग

दिसम्बर 1914 के कांग्रेस के अधिवेशन में उग्रवादियों को पुनः प्रवेश नहीं मिल पाया लेकिन 1915 में लगातार प्रयत्नों के कारण, जिन्हें एनी बिसेंट और तिलक ने समाचार पत्रों तथा स्थानीय एसोसियोशनों के द्वारा शुरू किया था, दिसंबर 1915 में उन्हें पुनः प्रवेश मिल गया। फिरोज़शाह की मृत्यु के बाद उनके विरोध में काफी कमी आई थी क्योंकि वे उनके विरोधियों में सबसे प्रमुख थे। कांग्रेस जिसमें अभी भी नरम दलीय सत्ता में थे, स्थानीय स्तर की कांग्रेस समितियों को दुबारा शुरू करने व सितम्ब 1916 तक लोगों को शिक्षित करने के कार्यक्रम को शुरू नहीं कर पाई। इसीलिए तिलक और एनी बिसेंट ने 1916 में अपने-अपने संगठन-होम रूल लीग-शुरू कर दिये। दोनों लीगों ने अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों को साफ-साफ सीमित कर लिया। तिलक की लीग को महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, और बरार में काम करना था और एनी बिसेंट वाली लीग को शेष भारत में।

चित्र 20 : तिलक

15.5.3 तिलक का होम रूल लीग

तिलक की होम रूल लीग को जिसे अप्रैल 1916 में बेलगाम में हुई बंबई की क्षेत्रीय कांफ्रेंस में शुरू किया गया था। इसे छह ब्रांचों में संगठित किया गया था जिनमें से एक-एक मध्य महाराष्ट्र, बंबई शहर, कर्नाटक तथा मध्य प्रदेश में थी और दो बरार में थीं। इसने मराठी में 6 और अंग्रज़ी में 2 पैम्फलैट जारी किये जिनकी 47,000 प्रतियाँ बिकीं। पैम्फलैट कन्नड़ और गुजराती में भी निकाले गये। इसके अतिरिक्त सबसे प्रमुख भूमिका अदा की तिलक द्वारा महाराष्ट्र के दौरे ने जिसमें उन्होंने भाषण दिये और होम रूल की माँग के बारे में बताया। "हिन्दुस्तान उस बेटे की तरह था जो अब व्यस्क हो गया था।" उन्होंने कहा, " अब उसे उसके ट्रस्टी या पिता से वह सब मिलना चाहिए जो उसका हक था।" उनके उस समय के भाषणों में धार्मिकता की अपील बिल्कुल नहीं थी। उन्होंने साफ़-साफ़ कहा:

चित्र 21 : तिलक की होम रूल लीग का प्रतिनिधि मंडल

> "परायापन का संबंध धर्म, व्यापार तथा व्यवसाय से जुड़ा नहीं है; यह तो रुचि का प्रश्न है। जो भी ऐसा कोई काम करता है जो इस देश के हित में है, चाहे वह मुस्लिम हो या अंग्रेज़, वह विदेशी नहीं है।"

और न ही उनके विचारों से कोई संकुचित क्षेत्रीय भाषाई प्रभुत्व या जाति-पाँति का पक्षपात झलकता है। वे सभी भाषाओं व संस्कृतियों की प्रगति के पक्ष में थे और चाहते थे कि शिक्षा भारतीय भाषाओं में दी जाये। वे छुआछूत के पूरी तरह विरुद्ध थे: उन्होंने कहा "अगर भगवान भी छुआछूत को मानता है तो उसे भगवान ही नहीं मानूँगा"। उन्होंने ब्राह्मणों से कहा कि वे गैर-ब्राह्मणों की मांगों का विरोध न करें और साथ ही गैर-ब्राह्मणों से अनुरोध किया कि वे नौकरियों की कमी जैसी समस्याओं को ब्राह्मण-गैर-ब्राह्मण के दृष्टिकोण से न देखें क्योंकि इसका असली कारण ब्राह्मणों में शिक्षा का अधिक प्रसार था। जैसे ही तिलक का आंदोलन जनता में फैलने लगा, सरकार ने यह कह कर उन पर चोट की कि वह 60,000 रुपये "सुरक्षा-राशि" के रूप में जमा करायें अन्यथा उन पर एक साल के लिए "सद्व्यवहार" की रोक लगा दी जायेगी। तिलक निचली अदालत में तो केस हार गये लेकिन नवम्बर 1916 में उच्च न्यायालय में उन्हें बरी कर दिया। सरकार द्वारा उनका मुँह बन्द करने के असफल प्रयत्न से आंदोलन को बल मिला जिसके फलस्वरूप तिलक ने घोषणा कर दी कि होम रूल को अब वैधानिक मान्यता मिल गई थी। अप्रैल 1917 तक लीग के सदस्यों की संख्या 14,000 हो गई थी।

15.5.4 एनी बिसेंट की होम रूल लीग

इस बीच एनी बिसेंट की लीग भी काफी सक्रिय थी। सितम्बर 1916 में लीग के औपचारिक उद्घाटन से पहले ही प्रचार फंड ने 26 अंग्रेज़ी पैम्फ़लैट्स की 300,000 प्रतियाँ बेच डाली थीं जिनमें हिन्दुस्तान में चल रहे शासन के स्वरूप तथा सैल्फ-गवर्नमेंट (स्वशासन) की माँग की व्याख्या की गई थी। भारतीय भाषाओं में पैम्फलेट निकाले गये, स्थानीय शाखाओं ने भाषणों तथा चर्चा-सभाओं का आयोजन किया तथा पुस्तकालयों की स्थापना की गई। अडयार के मुख्यालय में एनी बिसेंट तथा उनके सहयोगियों ने जिनमें अरूंडेल, सी.पी. रामस्वामी अय्यर तथा बी.पी. वाडिया शामिल थे, न्यू इंडिया और कॉमनवील नामक पत्र निकाले। न्यू इंडिया में अरूंडेल का "होम रूल" कॉलम खबरों तथा निर्देश का माध्यम था। थियोसौफ़िकल सोसायटी के वर्तमान सदस्यों के अलावा, इलाहाबाद से जवाहरलाल नेहरू, कलकत्ता से बी. चक्रवर्ती तथा जे. बनर्जी समेत बहुत से नये सदस्यों ने लीग में शामिल होने का फैसला किया।

होम रूल लीग बहुत से उदारवादी कांग्रेसियों की सहायता प्राप्त करने में भी सफल हो सकी क्योंकि वे कांग्रेस की गतिविधियों से असंतुष्ट थे। गोखले के सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी के सदस्यों ने दौरे करके भाषण दिये, पैम्फ़लेट छापे तथा होम रूल की माँग का समर्थन किया; उत्तर प्रदेश में उदारवादी कांग्रेसियों ने छोटे शहरों तथा गाँवों के दौरों में होम लीग वालों का साथ दिया। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी क्योंकि होम लीग के समर्थक उदारवादियों ही के कार्यक्रम को जोर-शोर से आगे बढ़ा रहे थे।

दिसम्बर 1916 में लखनऊ में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में भी होम रूल के समर्थकों को अपनी शक्ति दिखाने का अवसर मिला और वे इसमें बड़ी संख्या में शामिल हुए। तिलक व एनी बिसेंट ने कांग्रेस व मुस्लिम लीग में संधि कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिस पर इसी अधिवेशन में हस्ताक्षर किये गये। तिलक ने इस आलोचना का कि हिन्दू मुसलमानों के प्रति बहुत अधिक सहृदयता दिखा रहे थे, उत्तर इस प्रकार दिया :

> "मुझे विश्वास है कि मैं समूचे भारत का सामूहिक रूप से प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ जब मैं यह कहता हूँ कि अगर स्वशासन (Self Government) सिर्फ मुसलमान समुदाय को दिया जाता है तो हम बिल्कुल भी आपत्ति नहीं करेंगे..... यदि यह अधिकार हिन्दुस्तान के किसी एक समुदाय को दिया जाता है तो भी हम कोई आपत्ति नहीं करेंगे।"

"जब आपको एक तीसरे दल के विरुद्ध लड़ना होता है तो यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि हम इस मंच पर इकट्ठे खड़े हों, जाति, धर्म तथा राजनैतिक विचारों की विविधता होते हुये भी

हम एक हों।" हालाँकि इसमें कोई संदेह नहीं कि कांग्रेस-लीग संधि में मुसलमानों के लिए अलग चुनाव-क्षेत्र का स्वीकार किया जाना बहुत ही विवादास्पद था लेकिन उसकी आलोचना बहुसंख्यक वर्ग द्वारा सहृदयता न दिखाने के लिए कतई नहीं कि जा सकती थी।

अधिवेशन की समाप्ति पर होम रूल लीगों की संयुक्त सभा हुई जिसमें 1000 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सभा को तिलक और बिसेंट दोनों ने संबोधित किया। वापसी पर दोनों नेताओं ने उत्तर, मध्य तथा पूर्वी भारत का दौरा किया।

सरकार द्वारा एक बार फिर दमन की नीति अपनाने से आंदोलन को और बल मिला। जून 1917 में बिसेंट, वी.पी. वाडिया तथा अरूंडेल को हिरासत में ले लिया गया। परिणामस्वरूप जो लोग पहले अलग थे, वे भी आंदोलन में शामिल हो गये और विरोध प्रकट करने लगे। जिन्ना, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा मदन मोहन मालवीय इनमें प्रमुख थे। ए.आई.सी.सी. की जुलाई 1917 की मीटिंग में तिलक ने निष्क्रिय विरोध का सुझाव दिया तथा गांधी के उस सुझाव को स्वीकार किया गया जिसमें कहा गया था कि एक हजार ऐसे व्यक्तियों के हस्ताक्षर इकट्ठे किये जाएँ जो हिरासत के सरकारी निर्देश का विरोध करके बिसेंट के हिरासत स्थल पर जाएँ। गाँवों के दौरे व सभाएँ आयोजित की गईं तथा आंदोलन में एक नई शक्ति दिखाई दी।

15.5.5 अंग्रेज़ी रवैये में परिवर्तन

इस आंदोलन की बढ़ती हुई शक्ति को देख कर ब्रिटेन में सरकार ने दबाव कम करने का फैसला किया। इस बदलती हुई नीति का संकेत भारत के लिए सैक्रेट्री ऑफ स्टेट, मौंटेग्यू द्वारा हाउस ऑफ कॉमन्स में इस घोषणा से मिला "सम्राट की सरकार की पॉलिसी" है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अखंड भाग के रूप में हिन्दुस्तान में ज़िम्मेदार सरकार की स्थापना की प्रगति के प्रयास के लिये प्रशासन की हर शाखा के साथ हिन्दुस्तानियों को सम्बद्ध किया जाना चाहिए ताकि धीरे-धीरे स्वशासन संस्थाओं का विकास हो सके।" यह घोषणा 1909 में करते समय मोर्ले (वायसराय) ने कहा था कि स्वशासन को बढ़ावा गवर्नमेंट या होम-रूल की माँग को देशद्रोह नहीं माना जा सकता था और यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं था कि ब्रिटेन भारत को स्वशासन प्रदान करने वाला था। इस वक्तव्य में कहा गया था कि इन संशोधनों के स्वरूप तथा समय का फैसला अकेले ब्रिटिश सरकार ही करेगी। इससे अंग्रेज़ों को भारतीयों के हाथ शासन सौंपने की प्रक्रिया को लगातार स्थगित करते रहने का काफी अवसर मिल गया।

इस नई नीति का तुरंत लाभ यह हुआ कि सितंबर 1917 में एनी बिसेंट को छोड़ दिया गया। तिलक के सुझाव पर कांग्रेस के 1917 के वार्षिक अधिवेशन में बिसेंट को अध्यक्ष चुन लिया गया। इस समय उनकी प्रतिष्ठा चरम-सीमा पर थी तथा आंदोलन भी प्रगति के लिए एकदम तैयार था।

15.5.6 होम रूल लीगों का पतन

लेकिन 1918 में होम रूल लीग आंदोलन धीरे-धीरे ढीला पड़ गया। इसका एक कारण उदारवादियों द्वारा अपना समर्थन वापस ले लेना था जिन्हें एक बार फिर संशोधन की आशा दिखाई पड़ने लगी थी और जो होम रूल लीग के सदस्यों द्वारा नागरिक अवज्ञा की बढ़ती हुई बातचीत से संशंकित थे। जुलाई 1918 में सुधार योजना के प्रकाशन से राष्ट्रवादियों में और भी विभाजन हो गया : कुछ उसे ठुकरा देना चाहते थे जबकि अन्य उन्हें कार्यान्वित किये जाने का अवसर दिये जाने के हक में थे। संशोधन तथा निष्क्रिय विरोध के दोनों ही प्रश्नों पर स्वयं एनी बिसेंट के विचारों में विरोधाभास था। कुल मिलाकर तिलक के विचारों में एकरूपता थी कि ये संशोधन ब्रिटेन द्वारा दिये जाने और हिन्दुस्तान द्वारा स्वीकार किये जाने के लायक नहीं थे, लेकिन एनी बिसेंट के ढुलमुल विचारों के कारण वह कुछ अधिक कर सकने की स्थिति में नहीं थे। 1918 के अंत में उन्होंने **इंडियन अनरेस्ट** (Indian Unrest) के लेखक वेलैंटाइन चिरौल (Valentine Chirol) के विरुद्ध एक मान-हानि का मुकदमा दायर किया और उसके लिये इंग्लैंड जाने का फैसला किया जिसके कारण कई महत्वपूर्ण महीनों तक वे कार्यक्षेत्र से अनुपस्थित रहे। आंदोलन लगभग नेतृत्वहीन हो गया।

होम रूल आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि राजनैतिक समझ से युक्त राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं का एक ऐसा दल तैयार करना था जिन्होंने आने वाले जन-आंदोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने गाँवों तथा शहरों में जो सम्पर्क स्थापित किये थे वे आने वाले वर्षों में अमूल्य साबित हुए। होम रूल के विचार के प्रसार से राष्ट्रीय भावनाओं को बल मिला।

यह सच है कि होम रूल आंदोलन के नेता स्वयं आगे का रास्ता दिखाने में असमर्थ रहे और इस चेतना को जन-आंदोलन में बदलने में असफल रहे। लेकिन उन्होंने अगले आंदोलन के लिए एक मंच तैयार करने की भूमिका तैयार की—एक ऐसा मंच जिसे महात्मा गांधी के व्यक्तित्व ने एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया।

बोध प्रश्न-4

1 तिलक व एनी बिसेंट ने उग्रवादियों के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में दुबारा प्रवेश के लिए प्रयत्न क्यों किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2 दोनों होम रूल लीगों के उद्देश्यों की विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 लीगों का राजनैतिक प्रभाव क्या हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

15.6 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि किस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन में क्रांतिकारी प्रवृत्तियाँ उभरीं। अनुशीलन व युगान्तर जैसी क्रांतिकारी समितियाँ आंदोलन की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ थीं। क्रांतिकारी गतिविधियाँ देश के किसी एक भाग तक सीमित नहीं थीं, बल्कि वे देश के बाहर भी प्रकट हुईं। गदर पार्टी इसका सर्वप्रमुख उदाहरण है। सरकार ने दमनचक्र से इन आंदोलनों को दबा दिया। लेकिन फिर भी ये आंदोलन ब्रिटिश विरोधी चेतना जगाने तथा उसे बढ़ावा देने में सफल हुए। लेकिन उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी जनता से अलगाव था।

होम रूल लीग स्वशासन के संदेश को जनता तक ले गई। सच तो यह है कि उन्होंने उस राजनैतिक वातावरण की पृष्ठभूमि तैयार की जिसमें गांधी जी ने अपनी नई विचारधारा—अहिंसा तथा सत्याग्रह—के साथ प्रवेश किया।

15.7 शब्दावली

अराजकतावादी आंदोलन : एक ऐसा आंदोलन जिसमें राजनैतिक शासन बदलने के उद्देश्य से वैयक्तिक हिंसा पर ज़ोर दिया गया था। यह संगठित राजनीति में विश्वास नहीं रखता है।

अंध राष्ट्रवाद : एक प्रबल विश्वास जो मानता है कि अपना राष्ट्र अन्य सभी राष्ट्रों तथा अन्तर्राष्ट्रीय आंदोलनों से सर्वोपरि है।

फेबियानिज़्म : एक मान्यता कि समाजवाद सिर्फ शान्तिपूर्ण ढंग से ही प्राप्त किया जा सकता है।

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1 देखिए उपभाग 15.2.1
2 देखिए उपभाग 15.2.2
3 देखिए उपभाग 15.2.2

बोध प्रश्न-2

1 देखिए उपभाग 15.3.1
2 देखिए उपभाग 15.3.4
3 देखिए उपभाग 15.3.3

बोध प्रश्न-3

1 देखिए भाग 15.4
2 देखिए उपभाग 15.4.1
3 देखिए उपभाग 15.4.3
4 देखिए उपभाग 15.4.3

बोध प्रश्न-4

1 देखिए उपभाग 15.5.1
2 देखिए उपभाग 15.5.3 तथा 15.5.4
3 देखिए उपभाग 15.5.5 तथा 15.5.6

इकाई 16 भारत की राजनीति में महात्मा गांधी जी का आगमन और उनकी विचारधारा

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी का संघर्ष
  16.2.1 भारतीयों की स्थिति
  16.2.2 अभियान-1
  16.2.3 अभियान-2
16.3 भारत में गांधी जी का आगमन
16.4 भारतीय राजनीति में प्रादुर्भाव
  16.4.1 चंपारन
  16.4.2 खेड़ा
  16.4.3 अहमदाबाद
16.5 रौलट सत्याग्रह
  16.5.1 रौलट एक्ट
  16.5.2 आंदोलन
  16.5.3 महत्ता
16.6 गांधी जी की विचारधारा
  16.6.1 सत्याग्रह
  16.6.2 अहिंसा
  16.6.3 धर्म
  16.6.4 हिन्द स्वराज
  16.6.5 स्वदेशी
16.7 सारांश
16.8 शब्दावली
16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान सकेंगे कि :

- दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों को किस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था,
- प्रवासी भारतीयों की स्थिति में सुधार करने के लिए महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में क्या प्रयास किये,
- चंपारन और खेड़ा में किसान आंदोलन क्यों हुआ और गांधी जी ने किसानों के लिए क्या कार्य किये,
- अहमदाबाद के श्रमिकों की हड़ताल के दौरान गांधी जी की क्या भूमिका रही,
- रौलट सत्याग्रह में गांधी जी का क्या योगदान था, और उनकी विचारधारा क्या थी।

16.1 प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उसकी विचारधारा, दिशा और स्वरूप को परिवर्तित करने में महात्मा गांधी ने अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय राजनीति में उनके आगमन के उपरांत संघर्ष का एक नया दौर प्रारंभ हुआ। अंग्रेजों के विरुद्ध जनता को लामबंद करना अब इस संघर्ष का आधार बना। इस समय से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक गांधी जी राष्ट्रीय आंदोलन पर छाये रहे। इस इकाई के अंतर्गत हम आपको दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी द्वारा छेड़े गये संघर्ष से अवगत कराएंगे और इसके साथ-साथ 1920 तक भारत में गांधी जी की राजनीतिक गतिविधियों का भी ज़िक्र करेंगे। यह एक ऐसा काल है जिसे गांधी जी की

धारणाओं की प्रारंभिक अवस्था का काल कहा जा सकता है– एक ऐसी अवस्था जिसमें गांधी जी भारत के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ को समझने का प्रयास कर रहे थे। इस युग में ही गांधी जी ने संघर्ष के नये तरीकों का प्रयोग किया। इस इकाई में हम उनकी विचारधारा पर भी चर्चा करेंगे और यह देखेंगे कि अपनी विचारधारा को उन्होंने राजनीति में किस प्रकार से एक व्यावहारिक रूप दिया।

16.2 दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी का संघर्ष

मोहनदास करमचंद गांधी, जो कि महात्मा गांधी के नाम से लोकप्रिय हुए, का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 के दिन पोरबंदर (काठियावाड़, गुजरात) में एक परंपरागत हिन्दू परिवार में हुआ था। 1881 में शिक्षा ग्रहण करने के लिए गांधी जी इंग्लैंड गये, उन्होंने लंदन में मैट्रीक्यूलेशन पास किया और वकील बनने की योग्यता प्राप्त की। 1891 में यह युवा वकील भारत लौटा और बंबई के उच्च न्यायालय में वकालत प्रारंभ की। एक वकील के रूप में जब उसे सफलता नहीं मिली तो उसने राजकोट जाकर अर्ज़ी लिखने का कार्य प्रारंभ किया जिससे कि उसे लगभग 300 रुपये महीने की आमदनी होती थी। 1893 में गाँधी जी डरबन गये। यह यात्रा उन्होंने भारतीय फ़र्म दादा अबदुल्ला एण्ड कंपनी के मुकदमें के संदर्भ में की थी। यह कंपनी दक्षिण अफ्रीका में व्यापाररत थी। यद्यपि गांधी जी केवल एक वर्ष के लिए वहाँ पर गये किन्तु वे 1914 तक (इस बीच वे दो बार भारत भी आये) वहाँ रहे! दक्षिण अफ्रीका में गाँधी जी ने रंग भेद के खिलाफ संघर्ष किया। वास्तव में वहाँ की सरकार की रंग भेद नीति के कारण भारतीय समुदाय को कोई भी ऐसा मानवीय अधिकार प्राप्त नहीं था जो कि एक सभ्य जीवन जीने के लिए आवश्यक था।

16.2.1 भारतीयों की स्थिति

उन दिनों लगभग दो लाख भारतीय, दक्षिण अफ्रीका में रहते थे। इनमें से अधिकांश अनुबंधित मज़दूर और स्वतंत्र मज़दूर थे। कुछ व्यापारी थे और कुछ उनके क्लर्क और सहायक। खेत बागान मालिक अनुबंधित मजदूरों के साथ अर्ध दासों जैसा व्यवहार करते थे। अन्य भारतीयों को रंग भेद की नीति से उत्पन्न अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, जो कि नागरिक अधिकार, व्यापारिक और सम्पत्ति के अधिकार से संबंधित थीं। अपने दैनिक जीवन में उन्हें अनेक प्रकार के अपमानों का सामना करना पड़ता था :

- प्रत्येक भारतीय को बिना किसी फ़र्क के कुली कहकर पुकारा जाता था,
- भारतीयों को फुटपाथ पर चलने की अनुमति नहीं थी और रात में वे बिना परमिट के नहीं निकल सकते थे,
- भारतीय रेलगाड़ी में प्रथम और द्वितीय श्रेणी में यात्रा भी नहीं कर सकते थे और अक्सर उन्हें रेल के डिब्बे के पायदान पर ही खड़े होकर यात्रा करने पर बाध्य किया जाता था,
- जो होटल पूर्णतः यूरोपियों के लिए आरक्षित थे उनमें भारतीयों को जाने की अनुमति नहीं थी,
- ट्रांसवाल में भारतीयों को रहने के लिए और व्यापार के लिए एक निश्चित क्षेत्र दिया गया था। यह क्षेत्र स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर थे, न तो वहाँ पानी और बिजली की ही उचित व्यवस्था थी और न ही नालियों की,
- इसके अतिरिक्त जो पहले अनुबंधित मजदूर रह चुके थे उन्हें तीन पाऊंड मतगणना का कर देना पड़ता था।

16.2.2 अभियान-1

रंग भेद की इस नीति का अनुभव गांधी जी को दक्षिण अफ्रीका पहुँचते ही हो गया था। डरबन के एक न्यायालय में यूरोपीय न्यायाधीश ने गांधी जी को अपनी पगडी उतारने का हुक्म दिया था, परंतु गांधी जी ने ऐसा करने से इनकार कर दिया और विरोध में कमरे से बाहर चले गये। इसी प्रकार परेडोरिन जाते हुए गांधी जी को प्रथम श्रेणी में यात्रा करने की अनुमति नहीं दी गयी और उनसे वैन वाले डिब्बे में जाने को कहा गया। जब गांधी जी ने ऐसा करने से इनकार किया तो उन्हें बलपूर्वक डिब्बे से बाहर फेंक दिया गया। परंतु नैटल की सरकार ने

जब एक ऐसा विधेयक प्रस्तावित किया जो कि प्रवासी भारतीयों से मताधिकार वापस ले लिए जाने का सुझाव रखता था तो गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष छेड़ने के लिए तत्पर हो गये।

जब विदाई के समय गांधी जी के सम्मान में एक भोज दिया गया तो उस समय गांधी जी ने उपर्युक्त प्रस्तावित बिल को पारित किये जाने के संदर्भ में खबर पढ़ी। गांधी जी इससे उत्तेजित हो उठे और उन्होंने यह कहा कि "हमारे कफ़न में यह पहली कील है।" भारतीय व्यापारियों ने इस बिल के विरूद्ध गांधी जी से सहयोग माँगा। गांधी जी ने भारत लौटने के अपने इरादे को स्थगित कर दिया। वास्तव में यह विदाई समारोह, बिल के विरूद्ध संघर्ष की एक सभा के रूप में बदल गया।

संघर्ष को मज़बूत करने के लिए गांधी जी का पहला प्रयास यह था कि नैटल में रहने वाले भारतीय समुदाय के विभिन्न घटकों को एकता के सूत्र में बाँध सकें। इस उद्देश्य से प्रेरित हो 1893 में उन्होंने इंडियन नैटल ओरगेनाइज़ेशन नामक सभा की स्थापना की। इसके साथ-साथ गांधी जी का यह भी प्रयास था कि भारतीयों के कष्टों का अधिक से अधिक प्रचार किया जा सके जिससे कि उन्हें भारत और इंग्लैंड की स्त्रियों और जनता से मदद मिल सके। भारत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस विधेयक के विरोध में एक प्रस्ताव पारित किया और इसी प्रकार इंग्लैंड में भी कुछ अखबारों और गणमान्य व्यक्तियों ने दक्षिण अफ्रीकी में भारतीयों के हितों की रक्षा के लिए किये जा रहे संघर्ष के प्रति सहानुभूति प्रकट की।

नैटल में रह रहे लगभग 400 भारतीयों ने उक्त विधेयक के विरूद्ध सरकार को अर्ज़ी दी, परंतु नैटल की विधान सभा ने बिल पारित कर दिया और यहाँ तक कि वहाँ के राज्यपाल ने भी उस पर सहमति दे दी। गांधी जी ने लगभग 10 हज़ार भारतीयों से हस्ताक्षर करवा कर एक लंबी अर्ज़ी इंग्लैंड के औपनिवेशिक सचिव को भेजी जिसमें यह अपील की गयी थी कि महारानी विक्टोरिया इस विधेयक को सहमति न दें। इस प्रकार सशक्त विरोध के कारण लंदन के औपनिवेशिक कार्यालय ने इस बिल को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यह अंग्रेजी साम्राज्य के एक हिस्से के बाशिंदों के विरूद्ध साम्राज्य के दूसरे हिस्से में भेद करता है। लेकिन इसका नैटल में रहने वाले यूरोपियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने कुछ परिवर्तन कर बिल को पारित कर दिया। अब इस परिवर्तित बिल के अनुसार किसी भी गैर यूरोपीय देशों के व्यक्ति को जिन देशों में कि अभी तक ऐसा संगठन नहीं है, जो कि संसदीय मताधिकार प्रणाली पर स्थापित हो, मतदान का अधिकार नहीं दिया जाएगा, जब तक की उसे गर्वनर जरनल से जाकर न मिल जाये। इस परिवर्तित विधेयक को मान्यता दे दी गयी

गांधी जी ने रंग भेद के विरूद्ध अपना संघर्ष लेख आदि लिखकर जारी रखा क्योंकि वे जनता की सहायता प्राप्त करना चाहते थे। इससे दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले कई यूरोपीय उत्तेजित हो उठे। 1886 में जब गांधी जी अपने परिवार के साथ नैटल पहुँचे तो उनका विरोध करने के लिये लगभग 4,000 यूरोपियों का समूह वहाँ था। कुछ लोगों ने उनपर हमला भी किया परंतु एक उच्च सैनिक अधिकारी की पत्नी द्वारा गांधी जी बचा लिये गये। यह घटना भी गांधी जी के अपना संघर्ष जारी रखने से निरूत्साहित नहीं कर पायी। अपनी अगली भारत यात्रा में गांधी जी ने क्वेटा में कांग्रेस के अधिवेशन में हिस्सा लिया और इस अधिवेशन में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की स्थिति पर एक प्रस्ताव पास कराने में सफलता प्राप्त की। 1902 में गांधी पुनः दक्षिण अफ्रीफ लौटे और 12 वर्ष तक वहाँ पर रह कर उन्होंने रंग भेद के विरूद्ध संघर्ष किया। 1903 में उन्होंने 'इंडियन ओपीनियन' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया जिसके द्वारा उनके संघर्ष का प्रचार किया जाता था। 1904 में गांधी जी अपने कुछ अनुयायियों के साथ डरबन के निकट फ़ौनिक्स नामक स्थान पर रहने लगे। यहाँ के लोग अत्यंत ही साधारण तरीके से अपना जीवन व्यतीत करते थे। फ़ौनिक्स की महत्ता यह है कि आगे चलकर इसके सभी निवासियों ने गांधी जी के सत्याग्रह में हिस्सा लिया।

गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश हाई कमिशन को एक बार यह बताया था कि:

> "हम भारतीय राजनैतिक स्वतंत्रता नहीं चाहते हैं, परंतु हम यह चाहते हैं कि हम अन्य ब्रिटिश बाशिंदों के साथ शांति और भ्रातृत्व के साथा सम्मान पूर्वक रह सकें।"

परंतु भारतीयों को अपमानित करने के लिये 1906 में ट्रांस्वल की सरकार ने एक और कानून पारित किया। इस कानून के द्वारा प्रत्येक भारतीय के लिये, जो कि 8 वर्ष की आयु से ऊपर था, यह आवश्यक था कि वह अपना पंजीकरण कराये और पंजीकरण फार्म पर अपने अंगूठे और उँगलियों की छाप दे। पंजीकरण कराने के लिए एक निश्चित तारीख दी गयी थी और उस तारीख तक यदि कोई अपना पंजीकरण नहीं कराता है तो उसे एक अपराध मानते हुए सजा दी जा सकती थी या देश से निकाला भी जा सकता था। भारतीयों से किसी भी समय पंजीकरण सर्टिफिकेट दिखाने को कहा जा सकता था और पुलिस अधिकारियों को यह अधिकार दिया गया था कि वह किसी भी भारतीय के घर में घुस कर उसके कागजात देख सकते थे। इस बिल का विरोध करने के लिए गांधी जी ने जोहन्सबर्ग के अंपायर थियेटर में एक सभा आयोजित की। अपने सम्मान और प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए भारतीय किसी भी प्रकार के संघर्ष के लिए तत्पर थे। इस सभा में गांधी जी ने कहा था कि :

> "मेरे जैसे लोगों के लिए केवल एक ही रास्ता सामने है, हम मर सकते हैं लेकिन ऐसे कानून के आगे झुकेंगे नहीं। शायद यह रास्ता न अपनाना पड़े, परंतु यदि और लोग पीछे हटते हैं और मैं अकेला भी रह जाता हूँ तो भी मैं अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ूँगा।"

अंततः इस सभा में हिस्सा ले रहे प्रत्येक भारतीय ने भगवान को साक्षी मानते हुए यह शपथ ली कि यदि इस विधेयक को कानून बनाया गया तो वे इसके आगे नहीं झुकेंगे।

चित्र 22 : दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रही गांधी

भारतीयों के कड़े विरोध के बावजूद ट्रांसवाल की विधानसभा ने इस बिल को पारित कर दिया। इस समय गांधी जी एक प्रतिनिधि मंडल लेकर इस उद्देश्य से इंग्लैंड गये कि वे अंग्रेज़ी सरकार से इस बिल को अस्वीकार (वीटो) करवा देंगे, परन्तु यह प्रयास असफल रहा। यह घोषणा की गई कि अप्रैल, 1907 से यह नया कानून लागू होगा। इस विधेयक के विरुद्ध संघर्ष के लिए गांधी जी ने आंदोलन की एक नई तकनीक—सत्याग्रह—अपनाई। पैसिव रेसिसटेन्स ऐसोसिएशन नामक संगठन की स्थापना की गयी। इस संगठन ने भारतीय मूल के लोगों से *यह अपील की कि वे पंजीकरण कार्यालयों का बहिष्कार करें। ट्रांसवाल सरकार के सभी* प्रयासों के बावजूद 30 नवम्बर 1907 तक केवल 519 भारतीयों ने अपने को पंजीकृत कराया। पंजीकरण विधेयक का विरोध करने के कारण गांधी जी को 2 माह की साधारण कैद की सज़ा दी गयी।

इस समय गांधी जी ने जनरल स्मट्स से मुलाकात करना स्वीकार किया और उनके एक मित्र अलबर्ट कार्टराइट ने इस मुलाकात का आयोजन किया। इस मुलाकात के दौरान जनरल स्मट्स ने गांधी जी को यह आश्वासन दिया कि यदि भारतीय स्वैच्छिक रूप से पंजीकरण कर लें तो इस कानून को रद्द कर दिया जाएगा। गांधी जी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और इस पर विचार करने के लिए भारतीयों की एक सभा बुलाई। कई भारतीयों ने गांधी जी द्वारा इस प्रस्ताव को स्वीकार किये जाने पर आपत्ति प्रकट की, क्योंकि उन्हें जनरल स्मट्स से किसी भी प्रकार के न्याय की आशा नहीं थी। कुछ भारतीयों ने तो गांधी जी पर यह आरोप भी लगाया कि उन्हें जनरल स्मट्स ने कोई लालच दे दिया था। अगले दिन जब गांधी जी स्वैच्छिक रूप से अपना पंजीकरण कराने के लिए पंजीकरण कार्यालय की ओर जा रहे थे तो एक पठान ने उन पर हमला भी किया।

शीघ्र ही स्मट्स अपने शब्दों से पीछे हट गया और उन्होंने कानून को रद्द करने से इंकार कर दिया। भारतीयों ने स्वैच्छिक पंजीकरण के लिए जब अपनी अर्जी सरकार से वापस मांगी तो सरकार ने उन्हें देने से इंकार कर दिया। गांधी जी ने पुनः सत्याग्रह आंदोलन प्रारंभ किया। उन्होंने यह घोषणा की कि भारतीय अपना पंजीकरण सर्टिफिकेट जलाएँगे और इसके जो भी परिणाम निकलें उन्हें शांति के साथ भोगेंगे। अनेक भारतीयों ने पंजीकरण सर्टीफिकेट को आग की लपटों के हवाले कर दिया। इसी समय ट्रांसवाल सरकार ने एक अप्रवासी कानून बनाया जिसका उद्देश्य भारत से आकर बसने वाले नये लोगों को रोकना था। गांधी जी ने यह घोषणा की कि सत्याग्रह आंदोलन इस कानून के विरुद्ध भी होगा।

नैटल में रह रहे अनेक भारतीयों ने सत्याग्रह आंदोलन में हिस्सा लिया और उन्हें सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। जेल में सत्याग्रहियों से कड़ा श्रम कराया गया। जेल में गांधी जी के साथ भी दुर्व्यवहार किया गया। परंतु ट्रांसवाल सरकार की दमनकारी नीति गांधी जी और उनके आंदोलन को कमज़ोर करने में असफल रही। सत्याग्रही छोटे-छोटे समूहों में

गिरफ्तारियाँ देते रहे। उनके परिवारों को सत्याग्रह फंड द्वारा आर्थिक सहायता दी गयी। वास्तव में सत्याग्रह सभा को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और भारत के कई अन्य धनिक, जैसे कि रतन, टाटा, हैदराबाद के निज़ाम आदि पैसा दे रहे थे। आगे चलकर सत्याग्रही टालस्टाय फार्म नामक स्थान पर रहने लगे, यहाँ पर वे साधारण जीवन व्यतीत करते थे और वह सब सीखते थे, जो कि एक सच्चे सत्याग्रही के लिए आवश्यक था।

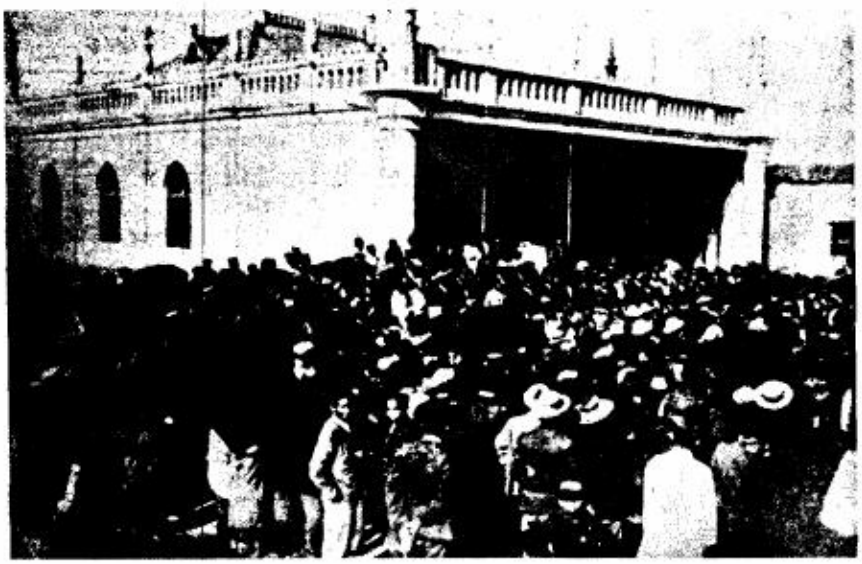

चित्र 23 : दक्षिण अफ्रीका में विरोध करते हुए भारतीय

बोध प्रश्न-1

1 लगभग 10 पंक्तियों में यह लिखिए कि भारतीयों को दक्षिण अफ्रीका में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित में से कौन से वक्तव्य सही या गलत हैं? सही (√) या गलत (×) का निशान लगाएँ।

i) दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने व्यक्तिगत तौर पर रंग भेद का अनुभव नहीं किया।

ii) इंडियन नैटल ओरगेनाइज़ेशन की स्थापना इस उद्देश्य से की गयी थी कि भारतीयों में भाई-चारे की भावना जागृत की जा सके।

iii) लगभग 5 हज़ार यूरोपियों ने नैटल में गांधी जी का समर्थन किया।

iv) पंजीकरण विधेयक गांधी जी के कहने पर लागू किया गया था।

16.2.3 अभियान-2

1913 में एक और प्रकोप भारतीयों पर हुआ। दक्षिण अफ्रीका के सुप्रीम कोर्ट ने अपने एक निर्णय के द्वारा उन सभी शादियों को रद्द घोषित कर दिया जो कि ईसाई धर्म विधि से नहीं हुई

थीं और जिनका विवाह कार्यालय में पंजीकरण नहीं हुआ था। दूसरे शब्दों में इस निर्णय के द्वारा समस्त हिन्दू-मुस्लिम और पारसी शादियाँ अवैध हो गयीं और इस प्रकार इन शादियों से उत्पन्न सतान भी अवैध हो जानी थी। गांधी जी ने इस निर्णय के दुष्परिणामों के विरुद्ध अपील की और कानून में परिवर्तन लाने को कहा, परंतु तत्काल इसका कोई सकारात्मक नतीजा नहीं निकला। अतः गांधी जी ने अपने संघर्ष को तीव्र कर दिया। अनेक भारतीय महिलाओं ने, जिनका सम्मान दाव पर लगा हुआ था, विरोध कार्यक्रम में हिस्सा लिया। 6 नवम्बर, 1913 के दिन गांधी जी ने ट्रांसवाल की सीमा को पार करने के लिए एक यात्रा प्रारंभ की। उनके साथ जो सत्याग्रही थे उनमें 127 स्त्रियाँ, 57 बच्चे और 237 पुरुष थे। गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार की दमनकारी नीति के बावजूद आंदोलन में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं आई। भारत में इस समय गोपाल कृष्ण गोखले ने इस उद्देश्य से सारे देश का दौरा किया कि गांधी जी के आंदोलन के लिए सहयोग जुटाया जा सके। भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंग ने भी इस समय यह माँग की कि दक्षिण अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध अत्याचार करने का जो आरोप है, उसकी निष्पक्ष जाँच की जाए। इस प्रकार लार्ड हार्डिंग की लंदन और प्रेटोरिया में आलोचना की गयी।

अंततः स्मट्स ने समझौता करना चाहा। वार्तालाप प्रारंभ हुआ और एक ऐसे प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किये गये जो कि भारतीयों की मुख्य समस्याओं का निदान करता था। स्वतंत्र श्रमिकों पर से 3 पाउंड का कर हटा लिया गया। भारतीय तौर तरीकों से किये गये विवाहों को मान्यता प्राप्त हुई और केवल दक्षिण अफ्रीका में आने के लिए ही आदिवासी सर्टिफिकेट पर अंगूठे का निशान लगाया जाना था। इस प्रकार लगभग 8 वर्ष तक चलने वाले सत्याग्रह को वापस ले लिया गया।

गांधी जी को ब्रिटिश साम्राज्य से सहानुभूति थी और 1906 तक उनकी अंग्रेजी न्याय में अत्यधिक आस्था थी। 1899 में बोअर युद्ध के दौरान उन्होंने इंडियन एम्बूलेंस कार्पस

चित्र 24 : दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी

संगठित कर अंग्रेजी सरकार की सहायता भी की थी परंतु शीघ्र ही अंग्रेजों के प्रति उनका यह मोह दूर होने लगा क्योंकि उन्होंने यह महसूस किया कि उनकी याचना के प्रति अंग्रेजों का रवैया बाहरी व्यक्ति का था। अपने साथियों और सहयोगियों के कष्टों को दूर करने के लिए

सत्याग्रह उनके लिए एक अंतिम विकल्प था। परंतु अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति उनकी सहानुभूति समाप्त नहीं हुई। उनकी सहानुभूति इस आशा पर आधारित थी कि एक न एक दिन अंग्रेज उन नियमों को व्यावहारिक रूप अवश्य देंगे जिनको कि सैद्धांतिक आधार पर मानते थे।

दक्षिण अफ्रीका में हुए संघर्ष ने गांधी जी के जीवन और हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को कई प्रकार से प्रभावित किया। उदाहरण के लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह की तकनीक गांधी जी का मुख्य अस्त्र बन गयी जिस पर आगे चलकर गांधी जी और कांग्रेस ने भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष किया। अंग्रेज इतिहासकार ज्युडिथ ब्राउन ने यह धारणा व्यक्त की कि सत्याग्रह गांधी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में अपनाया गया मात्र एक चतुराई से परिपूर्ण हथियार था। लेकिन यदि हम गांधी जी के संघर्ष पर संपूर्ण दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधी जी को सत्याग्रह में पूर्ण आस्था थी और यह किसी विशिष्ट परिस्थिति में अपनायी गयी रणनीति मात्र नहीं थी। गांधी जी के अनुभवों का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव यह महसूस करना था कि हिंदू और मुस्लिम एकता अति आवश्यक है और इसे प्राप्त करना सम्भव भी है। इसी कारण उन्होंने भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में हिंदू-मुस्लिम एकता को अत्यधिक महत्व दिया। इसके अतिरिक्त दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि गांधी जी किसी एक क्षेत्र के या किसी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि नहीं थे वरन् वे संपूर्ण भारतीय जनता के नेता थे। वास्तव में यह इस प्रकार की उनके प्रति धारणा का बन जाना ही था जो कि भारतीय राजनीति में उनके आगमन में सहायक सिद्ध हुआ।

बोध प्रश्न-2

1 निम्नलिखित में से कौन से वक्तव्य सही या गलत हैं। (√) या (×) का निशान लगाएँ।
   i) 1913 के सुप्रीम कोर्ट के निर्णय ने शादियों को वैध करार दिया।
   ii) दक्षिण अफ्रीका में चलाये जा रहे आंदोलन के लिए गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत में समर्थन हासिल करने का प्रयास किया।
   iii) अंग्रेजी न्याय में गांधी जी की कोई आस्था नहीं थी।

2 दक्षिण अफ्रीका में किये गये संघर्ष ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को किस प्रकार प्रभावित किया। लगभग 5 पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

16.3 भारत में गांधी जी का आगमन

भारत आने से पहले गांधी जी इंग्लैंड गये और इसी बीच प्रथम विश्व युद्ध प्रारंभ हो गया। ऐसी स्थिति में गांधी जी ने अंग्रेजी सरकार की सहायता करना अपना कर्तव्य समझा। उन्होंने भारतीयों का एक एम्बूलैंस दल संगठित करने का निर्णय लिया परंतु कुछ समय उपरांत अंग्रेज अधिकारियों से मतभेद उत्पन्न होने के कारण वे इससे अलग हो गये। 1915 में उन्हें अंग्रेजी सरकार द्वारा केसर-ए-हिंद का खिताब भी दिया गया। 9 जनवरी 1915 के दिन जब गांधी जी भारत लौटे तो उनका भव्य स्वागत किया गया। गोपाल कृष्ण गोखले भारत में उनके राजनीतिक गुरू थे। गोखले चाहते थे कि गांधी 'सर्वेन्ट्स ऑफ इंडियन सोसाइटी' में शामिल हों पर इस सोसाइटी के कुछ सदस्यों के कड़े विरोध के कारण गांधी जी इसके सदस्य नहीं बन पाए। गोखले ने गांधी से इस समय यह वादा लिया कि भारत में राजनीतिक विषयों पर वे एक वर्ष तक अपना मत जाहिर नहीं करेंगे। वायदे का पालन करते हुए 1915 और 1916 में गांधी जी ने अपना अधिकांश समय भारत के विभिन्न स्थानों का दौरा करने में बिताया। वे सिन्ध, रंगून, बनारस और मद्रास आदि स्थानों पर गये। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांतिनिकेतन की भी यात्रा की और वे हरिद्वार तथा कौमुदी मेले में भी गये। इन सब यात्राओं से यह लाभ

हुआ कि गांधी जी को भारतीयों और उनकी स्थिति के संदर्भ में अत्यधिक जानकारी हासिल हुई। 1915 में ही गांधी जी ने अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे अपने आश्रम की स्थापना की थी। यहाँ पर वे अपने निकट सहयोगियों के साथ रहते थे जिनको एक सच्चे सत्याग्रही का प्रशिक्षण दिया जाता था।

इस समय गांधी जी राजनीतिक मुद्दों में अधिक दिलचस्पी नहीं ले रहे थे। अधिकांश सभाओं में वे केवल अपने दक्षिण अफ्रीका के अनुभवों और जो विचारधारा उनकी वहाँ पर बनी थी, के बारे में ही बोलते थे। जिस समय एनीबेसेंट ने गांधी जी से "होम रूल लीग" की स्थापना में सहयोग देने के लिए कहा तो उन्होंने यह कह कर इनकार कर दिया कि वे युद्ध के दौरान अंग्रेजी सरकार को परेशान नहीं करना चाहते। गांधी जी ने 1915 के कांग्रेस अधिवेशन में भी हिस्सा लिया, लेकिन इस समय स्वायत्त शासन जैसे महत्वपूर्ण विषय पर बोलने को उन्होंने टाल दिया। कांग्रेस में गरम दल को वापस शामिल करने के जो एकता के प्रयास हो रहे थे उनका गांधी जी ने स्वागत किया, लेकिन इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे किसी गुट में नहीं हैं। उन्होंने संगठित कांग्रेस के अधिवेशन में हिस्सा लिया, परंतु ऐसे मुद्दों पर बोलने से इनकार कर दिया जिनसे यह अभिप्राय लगाया जा सकता था कि वे किसी विशिष्ट गुट से संबद्ध हैं। यहाँ पर उन्होंने केवल अनुबंधित मजदूरों की भर्ती के संबंध में भाषण दिया और इस प्रथा की समाप्ति की माँग के लिए एक प्रस्ताव पारित किया गया।

16.4 भारतीय राजनीति में प्रादुर्भाव

भारतीय राजनीति में गांधी जी का सक्रिय प्रादुर्भाव 1917-18 के काल में हुआ जो कि तीन स्थानीय समस्याओं से संबंधित था। ये समस्याएँ थी; चंपारन और खेड़ा में किसानों का संघर्ष और अहमदाबाद में मजदूरों का संघर्ष। यहाँ पर गांधी ने सत्याग्रह की तकनीक का इस्तेमाल किया और अंततः इन्हीं स्थानीय संघर्षों के माध्यम से वे संपूर्ण भारत के नेता के रूप में उभर कर आये।

16.4.1 चंपारन

उत्तरी बिहार के तिरहुत मंडल में चंपारन एक ऐसा स्थान था जहाँ पर कि एक लंबे समय से कृषकों में असंतोष फैला हुआ था। यूरोपीय बागान मालिकों ने इस क्षेत्र में 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से नील के बागान और फैक्टरियाँ स्थापित की थीं। 1916-17 में चंपारन का अधिकांश क्षेत्र केवल तीन भू-स्वामियों के आधीन था। ये भू-स्वामी—बेतिया, राम नगर और मंधुबन जागीरों के मालिक थे। इनमें बेतिया की जागीर सबसे बड़ी थी और उसमें लगभग 1500 गाँव आते थे। भू-स्वामी स्वयं जागीर की देखभाल न कर उसे ठेके पर दे देते थे और ठेकेदारों में सबसे प्रभुत्वशाली वर्ग यूरोपीय बागान मालिकों का था। यहाँ पर असंतोष का मुख्य कारण यह था कि किसानों को भूमि पर स्थाई अधिकार प्राप्त नहीं था। उन्हें बागान मालिकों से जमीन के पट्टे लेने होते थे और ऐसे पट्टे उन्हें इस शर्त पर दिये जाते थे कि वे एक निश्चित भू-भाग पर केवल नील की ही खेती करेंगे। इसके बदले में बागान मालिक किसानों को कुछ अग्रिम धन राशि भी देते थे।

जिस व्यवस्था के अन्दर नील की खेती की जाती थी वह "तिन-कथिया" कहलाती थी। इसमें किसान को अपनी भूमि के 3/20 हिस्से पर केवल नील की ही खेती करनी होती थी और अधिकांशतः उसकी भूमि के सबसे अधिक उपजाऊ हिस्से पर उसे नील की खेती करने के लिए बाध्य किया जाता था। तिन-कथिया व्यवस्था में यद्यपि 1908 में कुछ सुधार लाने की कोशिश की गयी थी, परंतु इससे किसानों की गिरती हुई हालत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। बागान मालिक किसानों को अपनी उपज एक निश्चित धनराशि पर केवल उन्हें ही उपजाने के लिए बाध्य करते थे और यह धनराशि बहुत कम होती थी। इस समय जर्मनी के वैज्ञानिकों ने कृत्रिम नीले रंग का उत्पादन कर लिया था, जिसके परिणामस्वरूप विश्व के बाजारों में भारतीय नील की माँग गिर गयी थी। चंपारन के अधिकांश बागान मालिकों ने यह महसूस किया था कि नील के व्यापार से अब उन्हें अधिक मुनाफा नहीं होगा। परंतु मुनाफे को बनाये रखने के लिए उन्होंने अपने घाटे को किसानों पर लादना शुरू कर दिया। इसके

लिए जो रास्ते उन्होंने अपनाए उसमें किसानों से यह कहा गया कि यदि वे उन्हें एक बड़ा मुआवजा दे दें तो किसानों को नील की खेती से मुक्ति मिल सकती थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने लगान में अत्यधिक वृद्धि कर दी और कई प्रकार के अवैध कर किसानों पर लगाये।

EMERGENCE OF GANDHI

World War I roused unrest and the peace, instead of bringing us relief and progress, brought us repression, ordinances and Martial Law in the Punjab. A bitter sense of humiliation and a passionate anger filled our people. ... In the unending tale of conquest by which one race subjugates another, the mentality of the servile race is a mockery and an insult. Even the manhood of our country was being crushed and the inexorable and terrible process of exploitation was deepening our poverty and sapping our vitality. We had become a subject nation.

For what could we do now, charge this vicious process? We seemed to be helpless in the grip of some all-powerful monster, our limbs were paralysed, our minds deadened. ...

And then Gandhi came. He was like a powerful current of fresh air that made us stretch ourselves and take deep breaths; like a beam of light that pierced the darkness and removed the scales from our eyes; and a whirlwind that swept away things top most of all the working of people's minds. He did not descend from the top, he seemed to emerge from the millions of India, speaking their language and instantly drawing sympathy to them and to... Get off the backs of these peasants and workers, he told us, all you who live by their exploitation, get rid of the system that gives you power and wealth. Political freedom ... new to us, but not entirely unknown to some India of the past. ... We are only partially conscious of some India of the past as a... But all this was obscured. The essence of his teaching was that means and ends and action allied to them always accepted the welfare of the masses in view. The greatest gift to individuals or a nation, so we had been told in our ancient books, was ..., fearlessness, not merely bodily courage but the absence of fear from the mind. ... But the dominant impulse in India under British rule was that of fear, pervasive, oppressing, strangling fear; fear of the army, the police, the widespread secret service; fear of the official class, fear of being marked as ... opposed to authority, fear of not satisfying the police, fear of unemployment and starvation, which were always on the horizon. It was against this all-pervading fear that Gandhi's quiet and determined voice was raised. Be not afraid.

Suddenly as it were, the black pall of fear was lifted from the people's minds, not wholly, of course, but to an amazing degree. As fear is close companion to detachment, so much follows fearlessness. The Indian people did not become much more truthful than they were, nor did they change their essential nature overnight, nevertheless a sea-change was visible as the need for disguise and furtive behaviour lessened. It was a psychological change, almost as if some aspect in psychoanalysis, which had gone deep into the patient's past, found out the origins of his complexes, exposed them to his view, and thus rid him of their burden.

Jawaharlal Nehru

चित्र 25 : गांधी जी के आगमन पर जवाहरलाल नेहरू के विचार

जब 1916 में लखनऊ में हो रहे कांग्रेस अधिवेशन में चंपारन के किसानों की समस्याओं का जिक्र किया गया तो गांधी जी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। परंतु अंततः चंपारन के एक किसान राजकुमार शुक्ल ने गांधी जी को चंपारन आने के लिए बाध्य किया। जब गांधी जी मोतीहारी (चंपारन का जिला-कार्यालय) पहुँचे तो उनकी उपस्थिति को जन शांति के लिए एक खतरा समझा गया। उन्हें चंपारन छोड़ने का आदेश दिया गया, परंतु गांधी जी ने वहाँ की जनता के प्रति अपने दायित्व को समझते हुए इस आदेश को मानने से इनकार कर दिया। तत्काल ही उन्हें गिरफ्तार कर उन पर जिला न्यायालय में मुकदमा चलाया गया। परंतु बिहार सरकार ने कमिश्नर और जिला न्यायालय को यह आदेश दिया कि इस मुकदमे को वापस ले लिया जाए और गांधी जी को जानकारी हासिल कराने में सहायता दी जाए। इसके साथ-साथ गांधी जी को भी यह चेतावनी दी गयी कि वे कोई बखेड़ा खड़ा न करें। परंतु उन्हें किसानों के कष्टों के बारे में जानकारी हासिल करने की पूर्ण स्वीकृति दे दी गयी।

सरकार ने "चंपारन एगरेरियन कमेटी" का गठन किया। गांधी जी भी इस कमेटी के एक सदस्य थे। इस कमेटी ने यह सिफारिश की कि तिन-कथिया व्यवस्था समाप्त कर दी जाये और इसके साथ ही कई अन्य प्रकार के कर भी समाप्त कर दिये जाएँ जो कि किसानों को देने पड़ते थे। बढ़ाये गये लगान की दरों में कमी की गयी और जो वसूली अवैध रूप से किसानों से की गयी थी उसका 25 प्रतिशत किसानों को लौटाया जाना था। कमेटी की इन सिफारिशों को 1919 के 'चंपारन एगरेरियन एक्ट' के रूप में पारित किया गया।

यद्यपि यह आंदोलन किसानों की समस्याओं से संबंधित था परंतु गांधी जी के अधिकांश सहयोगी शिक्षित मध्यम वर्ग से थे, जैसे कि राजेन्द्र प्रसाद, गोरख प्रसाद, आचार्य कृपलानी आदि। स्थानीय महाजनों और गाँवों के मुखियारों ने भी गांधी जी को सहयोग दिया था लेकिन सर्वाधिक सहयोग किसानों और उनके स्थानीय नेताओं ने दिया था। गांधी जी ने स्वयं वहाँ पर बहुत ही साधारण जीवन व्यतीत किया। वे पैदल या बैलगाड़ी पर यात्रा करते थे और किसानों से उन्हीं की भाषा में बातचीत करते थे।

16.4.2 खेड़ा

किसानों के पक्ष में गांधी जी ने दूसरी बार हस्तक्षेप गुजरात के खेड़ा जिले में किया। यहाँ पर उनकी सत्याग्रह की तकनीक को वास्तव में एक इम्तहान से गुजरना पड़ा। खेड़ा अधिक उपजाऊ क्षेत्र था और यहाँ पर उगने वाली खाद्य फसलों, तंबाकू, और रुई को अहमदाबाद में एक सुलभ बाजार प्राप्त था। यहाँ पर कई धनी किसान थे जो कि पट्टीदार कहलाते थे। इसके अतिरिक्त कई छोटे किसान और भूमिहीन कृषक भी यहाँ पर रहते थे।

1917 में अधिक बारिश के कारण खरीफ की फसल को नुकसान हुआ। इसी समय मिट्टी का तेल, लोहा, कपड़ों और नमक की कीमतों में भी वृद्धि हुई जिसने कि किसानों के जीवन स्तर को प्रभावित किया। किसानों ने इस समय यह माँग की कि पूरी फसल न होने के कारण लगान माफ किया जाए। लगान कानून के अंतर्गत ऐसा प्रावधान मौजूद था कि यदि कुल उपज सामान्य उपज के मुकाबले केवल 25 प्रतिशत हो तो पूरा लगान माफ किया जा सकता था। बंबई के दो वकीलों, श्री वी जे पटेल और जी.के. पारख ने इस संबंध में छान-बीन की और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उपज का एक बड़ा हिस्सा नष्ट हो चुका था, परंतु सरकार इससे सहमत नहीं थी। खेड़ा के कलक्टर ने यह निर्णय लिया कि लगान माफ करने की माँग का कोई औचित्य नहीं है। सरकारी धारणा यह थी कि किसानों ने यह माँग नहीं कि थी वरन् इसके लिए उन्हें बाहर के लोगों ने भड़काया था जो कि होम रूल लीग और गुजरात सभा से संबंध रखते थे। गांधी जी स्वय इस समय गुजरात सभा के अध्यक्ष थे। सच्चाई यह थी कि यहाँ आंदोलन प्रारंभ करने की पहल न तो गांधी जी ने ही की थी और न ही अहमदाबाद के राजनीतिज्ञों ने। यह माँग तो वास्तव में मोहन लाल पाण्डे जैसे स्थानीय गाँव के नेताओं ने उठायी थी।

छान-बीन करने के बाद गांधी जी ने यह धारणा व्यक्त की कि सरकारी अफसरों ने उपज का बढ़ा-चढ़ा कर मूल्य लगाया था और किसानों का यह वैध अधिकार था कि वे लगान न दें।

इसमें उन्हें कोई सुविधा नहीं प्रदान की जा रही थी लेकिन सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। कुछ हिचकिचाहट के बाद गांधी जी ने यह निर्णय लिया कि 22 मार्च, 1918 से सत्याग्रह का प्रारंभ नदियाद में एक सभा करके किया गया। इस सभा में गांधी जी ने किसानों को यह राय दी कि वे अपना लगान न दें। किसानों के उत्साह को बढ़ाने के लिए और उनके हृदय से सरकार का भय निकालने के लिए गांधी जी ने अनेक गाँवों का दौरा किया।

इस सत्याग्रह में इन्दुलाल याज्ञिक, बिट्ठल भाई पटेल और अनसुइया साराभाई ने भी गांधी जी की मदद की। 21 अप्रैल के दिन सत्याग्रह अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। 2,337 किसानों ने यह शपथ ली कि वे लगान नहीं देंगे। अधिकांश पट्टाधारियों ने सत्याग्रह में हिस्सा लिया परंतु सरकार ने अपनी दमनकारी नीति के द्वारा कुछ गरीब किसानों को लगान देने के लिए बाध्य किया। इस समय रबी की फसल अच्छी हुई जिससे कि लगान न देने का मुद्दा कुछ कमजोर पड़ा। गांधी जी यह समझने लगे थे कि किसान सत्याग्रह से थकने लगे हैं। जब सरकार ने यह आदेश जारी किया कि लगान की वसूली केवल उन्हीं किसानों से की जानी चाहिए जो कि उसको दे सकते हैं और गरीब किसानों पर इसके लिए दबाव नहीं डाला जाना चाहिए, तो गांधी जी ने सत्याग्रह को समाप्त करने की घोषणा की। वास्तव में इस सत्याग्रह का सब गाँवों पर समान असर नहीं पड़ा था। खेड़ा के 559 गाँवों में से केवल 70 गाँवों में ही यह सफल रहा था और यही कारण था कि गांधी जी ने केवल थोड़ी सी रियायत मिलने पर ही सत्याग्रह वापस ले लिया था लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इस सत्याग्रह के द्वारा गुजरात के ग्रामीण क्षेत्र में गांधी जी के सामाजिक आधार का विकास हुआ था।

16.4.3 अहमदाबाद

गांधी जी ने अपना तीसरा अभियान अहमदाबाद में छेड़ा, जब उन्होंने मिल मालिकों और श्रमिकों के मध्य संघर्ष में हस्तक्षेप किया। अहमदाबाद, गुजरात के एक महत्वपूर्ण औद्योगिक नगर के रूप में विकसित हो रहा था परंतु मिल मालिकों को अक्सर श्रमिकों की कमी का सामना करना पड़ा था और उन्हें आकर्षित करने के लिए वे मजदूरी की ऊँची दर देते थे। 1917 में अहमदाबाद में प्लेग की महामारी फैली। अधिकांश श्रमिक शहर छोड़कर गाँव जाने लगे। श्रमिकों को शहर छोड़कर जाने से रोकने के लिए मिल मालिकों ने उन्हें "प्लेग बोनस" देने का निर्णय किया जो कि कभी-कभी साधारण मजूरी का लगभग 75% होता था। जब यह महामारी समाप्त हो गयी तो मिल मालिकों ने इस भत्ते को समाप्त करने का निर्णय लिया। श्रमिकों ने इसका विरोध किया। श्रमिकों कि धारणा थी कि युद्ध के दौरान जो महँगाई हुई थी, यह भत्ता उसकी भी पूर्ति करता था। मिल मालिक 20% की वृद्धि देने को तैयार थे, परंतु मूल्य वृद्धि को देखते हुए श्रमिक 50% की वृद्धि माँग रहे थे।

गुजरात सभा के एक सचिव गांधी जी को अहमदाबाद की मिलों में कार्य करने की दशाओं के बारे में सूचित करते रहते थे। एक मिल मालिक अम्बालाल साराभाई से उनका व्यक्तिगत परिचय था, क्योंकि उसने गांधी के आश्रम के लिए धनराशि दी थी। इसके अतिरिक्त अम्बालाल की बहन अनसुइया साराभाई गांधी जी के प्रति आदर भाव रखती थी। गांधी जी ने अम्बालाल साराभाई से विचार-विमर्श करने के उपरांत इस समस्या में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया। श्रमिक और मिल मालिक इस बात पर सहमत हो गए कि पूरी समस्या को एक मध्यस्थता कराने वाले बोर्ड के ऊपर छोड़ दिया जाए जिसमें कि तीन प्रतिनिधि मजदूरों के हों और तीन मिल मालिकों के। अंग्रेज़ कलेक्टर इस बोर्ड के अध्यक्ष होने थे। गांधी जी इस बोर्ड में श्रमिकों के प्रतिनिधि के रूप में मौजूद थे, परंतु अचानक मिल मालिक बोर्ड से पीछे हट गये। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि गांधी जी को श्रमिकों की तरफ से कोई अधिकार नहीं दिया गया था और इस बात की कोई गारंटी नहीं थी कि श्रमिक इस बोर्ड के निर्णय को स्वीकार करेंगे। 22 फरवरी से मिल मालिकों ने ताला बंदी की घोषणा की।

ऐसी परिस्थिति में गांधी जी ने पूरी स्थिति का विस्तृत रूप से अध्ययन करने का निर्णय लिया। उन्होंने मिलों की आर्थिक स्थिति के बारे में जानकारी हासिल की और उनके द्वारा दी जा रही मजूरी की दरों की तुलना बंबई में दी जा रही मजूरी की दरों से की। इस अध्ययन के उपरांत गांधी जी ने यह निष्कर्ष निकाला कि मजदूरों को 50% के स्थान पर 35% बढ़ोत्तरी की माँग करनी चाहिए। गांधी जी ने मिल मालिकों के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारंभ किया। श्रमिकों से यह शपथ लेने को कहा गया कि जब तक मजूरी में 35% वृद्धि नहीं होती। वे काम पर नहीं जाएँगे और शांतिपूर्वक सत्याग्रह करते रहेंगे। अनेक स्थानों पर सभाएँ हुईं और गांधी जी ने इनमें भाषण दिये। इस स्थिति के ऊपर उन्होंने कुछ लेख भी लिखे।

12 मार्च के दिन मिल मालिकों ने यह घोषणा की कि वे ताला बंदी हटा रहे हैं और उन श्रमिकों को कार्य पर वापस लेंगे जो कि 20% वृद्धि स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत 15 मार्च को गांधी जी ने यह घोषणा की कि जब तक कोई समझौता नहीं होता वे भूख हड़ताल पर रहेंगे। इस समय गांधी जी का उद्देश्य यह था कि जो मजदूर अपनी शपथ के बावजूद काम पर वापस जाने की सोच रहे थे उन्हें उससे रोका जा सके। अंततः 18 मार्च के दिन एक समझौता हुआ, इसके अनुसार, श्रमिकों को उनकी शपथ को देखते हुए पहले दिन की मजूरी 35% वृद्धि के साथ हासिल होनी थी और दूसरे दिन उन्हें 20% की वृद्धि, जो कि मिल मालिकों द्वारा प्रस्तावित की जा रही थी, मिलनी थी। तीसरे दिन ही तब तक, जब तक कि एक मध्यस्थता के द्वारा निर्णय नहीं लिया जाता उन्हें 27½% की वृद्धि मिलनी थी। अंततः मध्यस्थ ने गांधी जी के प्रस्ताव को मानते हुए मजदूरों के पक्ष में 35% की वृद्धि का निर्णय दिया।

बोध प्रश्न-3

1 लगभग 10 पंक्तियों में चंपारन के किसान आंदोलन के प्रति गांधी जी के दृष्टिकोण के बारे में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2 अहमदाबाद के श्रमिकों की क्या समस्याएँ थीं? लगभग 5 पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

3 निम्नलिखित में कौन-से वक्तव्य सही या गलत हैं। (✓) या (×) का निशान लगाएँ।

i) गांधी जी होम रूल लीग में शामिल हो गये थे।

ii) गांधी जी कांग्रेस में किसी भी गुट में शामिल नहीं हुये।

iii) गांधी जी को चंपारन राजकुमार शुक्ल लाये थे।

iv) खेड़ा के किसानों को सरकार से कोई शिकायत नहीं थी।

16.5 रौलट सत्याग्रह

1917-18 में गांधी जी ने राष्ट्रव्यापी मुद्दों पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया था। उन्होंने ऐनीबीसेंट की नज़र बंदी का विरोध किया था और अली बंधुओं (मुहम्मद अली और शौकत अली), की जेल से रिहाई की भी माँग की थी। अली बंधु 'खिलाफत' को लेकर गिरफ्तार किये गये थे। उस समय के अन्य राजनीतिक नेताओं की भाँति गांधी जी ने सुधार प्रस्तावों में कोई विशेष रुचि नहीं ली थी लेकिन जिस समय अंग्रेजी सरकार ने रौलट ऐक्ट को पारित करने का निर्णय लिया तो गांधी जी ने राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय रूप से हिस्सा लेने का निर्णय लिया।

16.5.1 रौलट ऐक्ट

1917 में भारतीय सरकार ने जस्टिस सिडनी रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी का गठन किया था जिसका उद्देश्य क्रांतिकारियों के कार्यों की जाँच-पड़ताल करते हुए उनके दमन के लिये कानून प्रस्तावित करना था। स्थिति का जायजा लेने के उपरांत रौलट कमेटी ने कानून

में कई प्रकार के परिवर्तन किये जाने का सुझाव रखा। इन सुझावों को ध्यान में रखते हुए भारतीय सरकार ने राष्ट्रीय काउंसिल के सम्मुख दो विधेयक 6 फरवरी, 1919 के दिन प्रस्तुत किये। सरकार का यह दावा था कि षड्यंत्रकारी अपराधों को रोकने के लिए यह विधेयक केवल अस्थायी आधार पर अपनाये जा रहे हैं।

ये विधेयक वास्तव में जो प्रतिबंध युद्ध के दौरान लगाये गये थे उन्हें स्थाई रूप देने के उद्देश्य से प्रेरित थे। इनके अंतर्गत अपराधियों पर एक विशेष न्यायालय के द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता था जिसमें कि तीन हाई कोर्ट के जज सदस्य होने थे। इस न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील का कोई प्रावधान नहीं था और न्यायालयों की कार्यवाही भी खुले तौर पर नहीं होनी थी। किसी भी व्यक्ति को बिना वारेंट के गिरफ़्तार किया जा सकता था या उसकी तलाशी ली जा सकती थी। बिना मुकदमा चलाये ही किसी भी व्यक्ति को दो वर्ष तक जेल में रखा जा सकता था। भारतीय राष्ट्रवादियों की यह धारणा थी कि यह बिल उस गैर सरकारी और सरकारी जनमत को संतुष्ट करने के लिए लाये गये थे जिसने कि मोन्टेग्यू सुधार प्रस्तावों का विरोध किया था।

16.5.2 आंदोलन

सारे देश में इन बिलों की आलोचना की गयी। गांधी जी ने भी इनके विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। उनके अनुसार जो शक्तियाँ सरकार को दी जा रही थीं वे खतरे से खाली नहीं थीं और वाइसराय को बहुत पहले से ही आपातकालीन शक्तियाँ प्राप्त थीं। उन्होंने यह भी कहा कि ये ऐसे दमनकारी बिल हैं जो कि सुधारों के सभी प्रस्तावों को रद्द कर देते हैं। गांधी जी केवल बिलों के प्रावधान के ही विरोधी नहीं थे बल्कि उस प्रक्रिया के भी विरोधी थे जिसमें कि जनमत की अवहेलना करते हुए इन्हें लागू किया जाना था। 24 फ़रवरी 1919 के दिन बंबई में इन बिलों का विरोध करने के लिए गांधी जी ने एक सत्याग्रह सभा का संगठन किया। इस

THE INDEPENDENT, THURSDAY, MARCH 20, 1919

IMPERIAL LEGISLATIVE COUNCIL.

BLACK BILL NO. I "PASSED."

THE HON. MR. SINHA RESIGNS

SOLEMN MOCKERY OF THE DEBATE.

चित्र 26 : रौलट ऐक्ट पर एक अंग्रेजी अखबार में टिप्पणी

सभा के सदस्यों ने यह शपथ ली कि वे अत्यन्त ही सभ्य तरीके से, जिनका कि निर्णय एक कमेटी द्वारा लिया जाएगा, इन बिलों का विरोध करेंगे और इस संघर्ष में वे सच्चाई का रास्ता अपनाते हुए किसी भी प्रकार की हिंसा से दूर रहेंगे। सत्याग्रह आंदोलन का प्रारंभ करते हुये गांधी जी ने यह कहा था : "मेरा यह पक्का विश्वास है कि हमें कष्ट सहकर ही अपनी मुक्ति प्राप्त होगी, न कि अंग्रेजों द्वारा टपकाये गये सुधारों से। वह क्रूर शक्ति इस्तेमाल करते हैं जबकि हम आत्मा की शक्ति।"

सारे देश में विरोध के बावजूद सरकार अपने निर्णय पर अड़ी रही। समस्त गैर सरकारी सदस्यों द्वारा इनके खिलाफ़ मत दिये जाने के बावजूद काउंसिल ने एक बिल पारित कर दिया। 21 मार्च, 1919 के दिन वाइसराय ने बिल को अपनी सहमति प्रदान कर दी। इस समय उदारवादी नेताओं के गुट ने जिसमें कि सर डी.ई वादी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, तेज बहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री शामिल थे, गांधी जी द्वारा सत्याग्रह प्रारंभ किये जाने का विरोध किया। उनका तर्क था कि सत्याग्रह सुधारों की प्रक्रिया में बाधा डालेगा। वे यह भी समझते थे कि आम नागरिक सभ्य तरीके से रौलट ऐक्ट का विरोध नहीं कर पायेगा। ऐनीबीसेंट ने भी सत्याग्रह का विरोध किया क्योंकि वह यह समझती थी कि ऐसा करना खतरनाक होगा।

चित्र 27 : जलियाँवाला बाग की दीवारों पर गोलियों के निशान

परंतु होम रूल लीग में जो युवा सदस्य थे उन्होंने गांधी को अपना समर्थन दिया। वास्तव में देश के विभिन्न क्षेत्रों में युवा वर्ग ही सबसे आगे आया। लखनऊ के अब्दुल बारी और कुछ मुस्लिम लीग के सदस्यों ने भी गांधी जी को अपना समर्थन दिया। मुहम्मद अली जिन्ना ने भी रौलट बिल का तीव्र विरोध किया और सरकार को चेतावनी दी कि यदि वह भारत की जनता पर यह "कानून विहीन कानून" थोपती है तो इसका भयंकर परिणाम होगा।

सत्याग्रह का प्रारंभ करने के लिए गांधी जी ने देशवासियों को हड़ताल करने को कहा। इस दिन कोई कार्य नहीं होना था। जनता को उपवास रखना था। प्रार्थना करनी थी और इस प्रकार बिलों का विरोध करना था। आरंभ में हड़ताल की तिथि 30 मार्च रखी गयी थी परंतु बाद में इसे बदलकर 6 अप्रैल कर दिया। विभिन्न क्षेत्रों में और विभिन्न नगरों में हड़ताल को सफलता मिली। दिल्ली में 30 मार्च के दिन ही हड़ताल की गयी और इस दिन पुलिस की गोली से 10 व्यक्ति मारे गये। अन्य बड़े नगरों में हड़ताल 6 अप्रैल को हुई और जनता ने व्यापक सहयोग दिया। गांधी जी ने हड़ताल को एक महान सफलता बतायी। 7 अप्रैल को गांधी जी ने सत्याग्रहियों को यह सुझाव दिया कि वे प्रतिबंधित साहित्य संबंधी कानून को और समाचार पत्रों के पंजीकरण संबंधी कानूनों को न मानें। इन कानूनों का विरोध करना, विशेष तौर से इसलिए चुना गया था क्योंकि अन्य कानूनों को व्यक्तियों द्वारा तोड़ने पर हिंसा हो सकती थी। इसके लिए 4 किताबों को, जिनमें गांधी जी कि "हिन्द स्वराज" भी शामिल थी, जिसे बंबई सरकार ने 1910 में प्रतिबंधित कर दिया था, बिक्री के लिये चुना गया।

8 तारीख को गांधी जी बंबई से दिल्ली और पंजाब के लिये रवाना हुये। सरकार ने यह माना कि उनका पंजाब आगमन खतरनाक हो सकता है। अत: दिल्ली के निकट गांधी को गाड़ी से उतारकर वापस बंबई भेज दिया गया। शीघ्र ही गांधी जी की गिरफ्तारी की खबर फैल गयी। इससे बंबई में स्थिति तनावपूर्ण हो गयी और अहमदाबाद व वीरांदम में हिंसा भी हुई। अहमदाबाद में सरकार को मार्शल लॉ लगाना पड़ा।

सर्वाधिक हिंसा पंजाब में, विशेष तौर से अमृतसर में फैली। अमृतसर में जिस समय गांधी जी की गिरफ्तारी की खबर पहुँची तो उसी समय वहाँ के दो स्थानीय नेताओं, डॉ किचलू और डॉ सत्यपाल को भी गिरफ्तार किया गया था (10 अप्रैल)। जनता हिंसा पर उतारू हो गयी और कुछ सरकारी कार्यालयों में आग लगा दी गयी। 5 अंग्रेजों की हत्या कर दी गयी और एक अंग्रेज़ महिला से अभद्र व्यवहार भी किया गया। शहर पर से नागरिक प्रशासन का नियंत्रण लगभग समाप्त हो गया। 13 अप्रैल के दिन जनरल डायर ने जलियाँवाला बाग में निहत्थे लोगों की शांतिपूर्ण सभा पर गोलियाँ चलवाईं। अधिकांश लोगों को इस बात की कोई खबर ही नहीं थी कि सरकार द्वारा सभा करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया है और जनरल डायर ने बिना किसी चेतावनी के गोलियाँ चलवाई थीं। डायर ने आगे चलकर यह स्वीकार किया कि उसका उद्देश्य मात्र सभा को तितर-बितर करना नहीं था, वह तो जनता को मानसिक तौर से भयभीत करना चाहता था। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इस गोली कांड में 379 व्यक्ति मारे गये थे परंतु गैर सरकारी आँकड़े इससे तीन गुना अधिक थे। 13 अप्रैल की रात को ही पंजाब में मार्शल लॉ लगा दिया गया।

16.5.3 महत्ता

यह स्पष्ट है कि रौलट ऐक्ट के विरुद्ध चलाया गया आंदोलन किसी योजनाबद्ध तरीके पर आधारित नहीं था। सत्याग्रह सभा केवल ऐक्ट के विरुद्ध प्रचार हेतु साहित्य प्रकाशित कर रही थी या उसके विरुद्ध दस्तख़ इकट्ठे कर रही थी। एक संगठन के रूप में कांग्रेस कहीं पर भी नजर नहीं आ रही थी। अधिकांश क्षेत्रों में जनता ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध अपनी सामाजिक और आर्थिक शिकायतों के कारण स्वयं हिस्सा लिया था।

लेकिन एक बात स्पष्ट है कि गाँधी जी द्वारा किये गये सत्याग्रहों ने विभिन्न वर्गों और समुदायों के लोगों को एक स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया था। यह इस बात से भी स्पष्ट होता है कि यद्यपि गांधी जी ने पंजाब की यात्रा नहीं की थी तथापि इस आंदोलन में पंजाब की जनता ने व्यापक रूप से हिस्सा लिया था। लेकिन यह आंदोलन अभी भी शहरों में ही तीव्र रूप ले पाया था, भारत के ग्रामीण क्षेत्र तक इसका फैलाव नहीं हो पाया था।

आंदोलन के दौरान जो हिंसा की घटना हुई थीं, विशेष तौर से अहमदाबाद में, उन्हें देखते हुए गांधी जी ने सत्याग्रह वापस ले लिया। गांधी जी ने यह स्वीकार किया कि उन्होंने यह आंदोलन शुरू करके एक महान भूल की थी क्योंकि जनता अभी सत्याग्रह के लिए आवश्यक अनुशासन को नहीं समझ पाई थी। परंतु इस आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह निकला कि गांधी जी एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उभर कर सामने आये। राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व में उनकी स्थिति सबसे ऊपर हो गयी और वे कांग्रेस के कार्यों को भी निर्णयात्मक रूप

से प्रभावित करने लगे। 1917 के कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में गांधी जी ने प्रस्ताव किया कि यद्यपि सुधारों में कुछ कमियाँ मौजूद हैं तथापि भारतीयों को उनके लागू करने में सहयोग देना चाहिए। लेकिन सितम्बर 1920 में गांधी जी ने सरकार से सहयोग की अपनी नीति बदल दी और असहयोग आंदोलन प्रारंभ करने का निर्णय लिया।

चित्र 28 : अमृतसर कांग्रेस

बोध प्रश्न-4

1 लगभग 5 पंक्तियों में रौलट ऐक्ट के प्रावधानों की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2 भारतीयों की रौलट ऐक्ट के प्रति क्या प्रतिक्रिया थी? लगभग 10 पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 जलियाँवाला बाग की घटना पर पाँच पंक्तियाँ लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

16.6 गांधी जी की विचारधारा

अब हम गांधी जी की विचारधारा के मुख्य पहलुओं पर विचार करेंगे परंतु उन पर व्याख्या करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि ऐसे कई प्रभाव थे जिन्होंने गांधी जी की विचारधारा को उभारने और उसे एक निश्चित दिशा देने में योगदान दिया। अपनी आत्मकथा में गांधी जी ने यह स्वीकार किया है कि उनके अभिभावकों के दृष्टिकोण और उनके रहने के स्थान पर मौजूद सामाजिक और धार्मिक वातावरण ने उनको व्यापक रूप से प्रभावित किया था। उनकी प्रारंभिक विचारधारा को "वैष्णव मत" और जैन धर्म की परंपराओं ने विशेष तौर से प्रभावित किया था। गांधी जी "भगवद् गीता" से भी प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त ईसा के "पहाड़ पर उपदेश" (Sermon on the Mount), टालस्टाय, थोरो और रस्किन के लेखों ने भी उनके चिंतन को प्रभावित किया था। लेकिन इसके साथ-साथ उनकी विचारधारा के विकास और दिशा निर्धारण में सर्वाधिक योगदान, जीवन में उनके अपने व्यक्तिगत अनुभवों का था।

16.6.1 सत्याग्रह

गांधी जी की विचारधारा का सबसे मुख्य पहलू सत्याग्रह का था। जैसा कि पहले ही जिक्र किया जा चुका है कि यह तरीका गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में विकसित किया था। परंतु 1919 के उपरान्त भारत के स्वाधीनता संग्राम में यह एक महत्वपूर्ण पहलू बना। गांधी जी के अनुसार हिंसा के स्थान पर सत्याग्रह का प्रयोग स्वयं कष्ट सहकर इस प्रकार किया जाना चाहिए था कि शत्रु को अपनी बात मनवाने के लिए बदला जा सके। सत्याग्रह के विचार की व्याख्या करते हुए पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है:

> "इसमें स्वयं चुना हुआ कष्ट और विरोधियों के लिए अपमान शामिल है। यदि इसका प्रभाव पड़ता है तो इसलिए पड़ता है कि जिन ख्यालों से इसे इस्तेमाल किया जा रहा है उसमें उनकी नैतिकता पर प्रभाव डाला जाता है। जिस कार्य के लिए इसे प्रयोग किया जाता है, उसके औचित्य के प्रति उनके अंदर विश्वास जगाया जाता है। उनकी शक्ति को उन्हें यह दर्शा कर कमज़ोर किया जाता है कि उनके कार्यों द्वारा जो कष्ट दूसरों को हो रहे हैं, इससे उनमें हीनता की भावना उत्पन्न हो।"

गांधी जी ने सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध के बीच अंतर किया। उन्होंने यह लिखा है कि :

> "निष्क्रिय प्रतिरोध एक कमजोर व्यक्ति का वह अस्त्र है जिसमें कि हिंसा और शारीरिक शक्ति का प्रयोग अपने उद्देश्य की पूर्ति के हेतु किया जाता है; जबकि सत्याग्रह शक्तिशाली व्यक्ति का अस्त्र है और इसमें किसी भी प्रकार की हिंसा का प्रयोग नहीं है।"

वास्तव में गाँधी जी के लिए सत्याग्रह मात्र एक राजनीतिक अस्त्र नहीं था वरन् वह जीवन दर्शन और सिद्धांतों के व्यवहार का एक हिस्सा था। गांधी जी का यह विश्वास था कि मानव जीवन का अंतिम उद्देश्य, सत्य की खोज है और क्योंकि कोई भी वास्तविक सत्य को नहीं समझ सकता इसलिए उसे दूसरे व्यक्ति के सच की खोज में बाधा नहीं डानी चाहिए

16.6.2 अहिंसा

अहिंसा सत्याग्रह का आधार था। गांधी जी ने लिखा

> "जब कोई व्यक्ति अहिंसात्मक होने का दावा करता है तो उससे यह अपेक्षा की जाती है कि जिसने उसको हानि पहुँचाई है उससे वह गुस्सा भी नहीं होगा। वह उसके बुरे की कामना भी नहीं करेगा; वह उसकी अच्छाई चाहेगा और वह उसको किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट भी नहीं देगा। बुरा करने वाला चाहे किसी भी प्रकार की हानि उसे पहुँचाये वह उसे सह लेगा। अतः अहिंसा से अभिप्राय पूर्ण भोलेपन से, अहिंसा से अभिप्राय किसी के प्रति बुरी भावना रखने का पूर्ण अभाव है।"

गांधी जी ने इस बात पर महत्व दिया कि साधारण व्यक्ति को अपने राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रयोग करना चाहिए। परंतु कभी-कभी गांधी जी जो निर्णय लेते थे उसमें पूर्ण अहिंसा की कमी नज़र आती थी। जैसा कि उन्होंने बार-बार यह कहा कि अन्याय के सामने कायर दिखने की अपेक्षा हिंसा बेहतर है। यहाँ पर 1918 में गांधी जी द्वारा सेना में भर्ती किये जाने के प्रयास में उनके सहयोग को उदाहरण के तौर पर रखा जा सकता है। युद्ध के लिए भर्ती में सहयोग देना अहिंसा के सिद्धांत के विपरीत था परंतु गांधी जी ने यह सहयोग इस आशा से दिया था कि युद्ध के बाद अंग्रेजी सरकार से भारतीयों को कुछ सुविधाएँ प्राप्त होंगी।

व्यक्तिगत रूप में सत्याग्रह कई प्रकार के रूप ले सकता था जैसे कि उपवास, अहिंसात्मक धरना, विभिन्न प्रकार का असहयोग और सविनय अवज्ञा, यह जानते हुए भी कि उसके लिए कानूनी संरक्षण भी मिलेगा। गांधी जी का यह पूर्ण विश्वास था कि सत्याग्रह के यह रूप सच्चे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनाये गये सच्चे तरीके हैं। गांधी जी के आलोचकों ने यह धारणा व्यक्त की है कि सत्याग्रह की तकनीक को इस्तेमाल करके गांधी जी जन आंदोलनों को नियंत्रित करना चाहते थे। उनकी यह धारणा है कि पूँजीपति और जमींदार, गांधी जी के अहिंसात्मक तकनीक से प्रसन्न थे क्योंकि इसके द्वारा हिंसात्मक सामाजिक क्रांति को रोका जा सकता था। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधी और कांग्रेस के द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन में सत्याग्रह के अस्त्र के प्रयोग द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष में एक जुट किया गया।

16.6.3 धर्म

गांधी जी की विचारधारा के संदर्भ में चर्चा करते हुए धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण को जानना आवश्यक है। गांधी जी के लिए धर्म किसी एक विशेष धार्मिक समुदाय की सैद्धांतिक व्याख्या न होकर, समस्त धर्मों में निहित मूलभूत सत्य था। गांधी जी ने धर्म की व्याख्या सच्चाई के लिए संघर्ष के रूप में की। वे यह मानते थे कि धर्म को किसी व्यक्ति की निजी राय बताकर पीछे नहीं ढकेला जा सकता क्योंकि धर्म व्यक्तियों की समस्त गतिविधियों को प्रभावित करता है। उनकी यह धारणा थी कि भारत राजनीतिक कार्रवाई के लिए धर्म एक आधार प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि गांधी जी ने खिलाफ़त के प्रश्न को संघर्ष का मुद्दा बनाया जिससे कि मुसलमानों को अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध आंदोलन में लाया जा सके। परन्तु गांधी जी द्वारा "राम राज्य" जैसे धार्मिक विचारों का प्रयोग राष्ट्रीय आंदोलन में साम्प्रदायिकता की समस्या को हल नहीं कर पाया।

16.6.4 हिन्द स्वराज

गांधी दर्शन का एक महत्वपूर्ण पहलू हमें उनकी पुस्तक "हिन्द स्वराज" (1909) में मिलता है। इस पुस्तक में गांधी जी ने इस बात की ओर संकेत किया है कि वास्तविक शत्रु, अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व न होकर आधुनिक पश्चिम सभ्यता है जो कि धीरे-धीरे भारत को जकड़ती जा रही थी। उनकी धारणा थी कि जो भारतीय पाश्चात्य पद्धति से शिक्षित हुए हैं, जैसे कि वकील, डाक्टर, अध्यापक और पूँजीपति, वे आधुनिक तौर तरीकों को फैला करके भारत की प्राचीन धरोहर को नष्ट कर रहे थे। इस पुस्तक में गांधी जी ने रेलगाड़ी की इस बात के लिए आलोचना की कि रेल खाद्य पदार्थों के निर्यात में सहायक है और अकाल फैलाने में सहायता देती है। स्वराज और स्वशासन को उन्होंने जीवन की एक ऐसी स्थिति माना जो कि तभी स्थाई रह सकती थी जबकि भारतीय अपनी परंपरागत सभ्यता का अनुकरण करें और आधुनिक सभ्यता से भ्रष्ट न हों। गांधी जी ने लिखा था कि "भारतीयों की मुक्ति इसी में है कि उन्होंने जो कुछ पिछले 50 वर्षों में सीखा है उसे भुला दें। रेलगाड़ियों, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और इसी प्रकार की सब आधुनिक वस्तुओं को भूल जाना होगा। और तथाकथित उच्च वर्ग को साधारण किसान जैसा जीवन व्यतीत करना सीखना होगा।"

20वी शताब्दी के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के विचार स्वप्नदर्शी और प्रगति विरोधी प्रतीत होते हैं। परंतु वास्तव में उनके विचार गरीब किसानों और कामगारों पर हो रहे बड़े आधुनिकीकरण के दुष्प्रभावों की व्याख्या करते थे। आगे चलकर गांधी जी ने अपने सामाजिक और आर्थिक विचारों को एक निश्चित दिशा देने का प्रयास किया और इसके लिए उन्होंने खादी, ग्रामीण पुनर्गठन और हरिजन कल्याण का कार्यक्रम रखा। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस कार्यक्रम से गाँव के लोगों की समस्याओं का पूर्णतः हल नहीं हो पाया लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस कार्यक्रम के द्वारा एक निश्चित सीमा तक गांधी जी उनकी स्थिति को सुधारने में सफल रहे। वास्तव में इस कार्यक्रम के माध्यम से गांधी जी ने देश में सामाजिक और आर्थिक सुधारों के लिए एक महत्वपूर्ण चेतना जागृत की।

16.6.5 स्वदेशी

गांधी जी ने स्वदेशी का प्रचार किया। स्वदेशी से अभिप्राय अपने देश में बनी हुई वस्तुओं के प्रयोग से था। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में मशीन से बने कपड़ों के स्थान पर खादी का इस्तेमाल करना। उनकी राय में स्वदेशी के द्वारा किसान अपनी गरीबी को हटा सकते थे क्योंकि वे कताई करके अपनी आय में वृद्धि कर सकते थे। विदेशी कपड़े के इस्तेमाल में कमी करके भारत से इंग्लैंड को हो रही धन की निकासी को भी रोका जा सकता था। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि गांधी जी पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता के कड़े विरोधी थे तथापि वे भारत में उभर रहे राष्ट्रीय उद्योगों के विरोधी नहीं थे। जैसा कि पहले ही जिक्र किया जा चुका है, अम्बालाल जैसे उद्योगपति के साथ गांधी जी के घनिष्ठ संबंध थे। 1922 से एक अन्य उद्योगपति जी.डी. बिरला भी गांधी जी के निकट सहयोगी रहे हैं। गांधी जी श्रम और पूँजी की परस्पर निर्भरता में विश्वास रखते थे। उनके अनुसार पूँजीपति को श्रमिकों के न्यासकर्ता (Trustee) के रूप में कार्य करना चाहिए। गांधी जी ने कभी भी वर्ग आधार पर श्रमिकों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया। वे वर्ग संघर्ष के विरोधी थे। वर्गीय भेदभाव के स्थान पर वे जनता की एकता में विश्वास करते थे।

बोध प्रश्न-5

1 गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह से आप क्या समझते हैं। लगभग 8 पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 अपनी पुस्तक "हिन्द स्वराज" के माध्यम से गाँधी जी ने क्या संदेश दिया। लगभग 5 पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

16.7 सारांश

इस इकाई में हमने यह देखा कि किस प्रकार गांधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका में रंग भेद की नीति के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा और किस प्रकार भारतीय राजनीति में उनके आगमन से जन आंदोलन

का युग प्रारंभ हुआ। प्रारंभ में गांधी जी ने स्थानीय समस्याओं को उठाया और इनके माध्यम से वे एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उभर कर सामने आये। यहाँ पर इस बात का जिक्र करना आवश्यक है कि गांधी जी की विचारधारा की सार्थकता को लेकर विद्वानों में मतभेद रहे हैं परंतु तथ्य यह है कि उनकी विचारधारा ने राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक रूप से प्रभावित किया और उसे एक निश्चित दिशा प्रदान की।

16.8 शब्दावली

अभियान : सैनिक कार्य के लिए होने वाली यात्रा, आक्रमण चढ़ाई
प्रार्दुभाव : आर्विभाव, सामने आना, प्रकट होना
सत्याग्रह : सत्य के लिए आग्रह, सत्य एवं अहिंसा पर आधारित गांधी जी द्वारा चलाया गया आंदोलन
पायदान : इक्के, टमटम आदि में लगी हुई लोहे की वस्तु जिस पर पांव रख कर यात्री चढ़ा उतरा करते हैं
पारित : (प्रस्ताव, विधेयक आदि) जो नियमानुसार ठीक मान लिया गया हो और जिसके अनुसार काम होने का हो
बाशिंदा : किसी देश में रहने वाले लोग
पंजीकृत : हिसाब या विवरण लिखने की वह पुस्तिका जिस पर नाम आदि लिखा या चढ़ाया गया हो
दमनकारी : दबाने या रोकने के लिए किया गया कार्य
जाहिर : प्रकट
पट्टेदारी : हिस्सेदारी बराबर का अधिकारी
रियायत : छूट
मध्यस्थता : बीच में पड़कर किसी प्रकार का विवाद या विरोध दूर करना
अवहेलना : तिरस्कार, ध्यान न देना, बेपरवाही
निष्क्रिय : जिसमें कोई क्रिया, चेष्टा या व्यापार हो

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1 देखें उपभाग 16.2.1
2 1 (×) 2 (√) 3 (×) 4 (×)

बोध प्रश्न-2

1 1 (×) 2 (√) 3 (×) 4 (×)
2 देखें उपभाग 16.2.3

बोध प्रश्न-3

1 देखें उपभाग 16.4.1
2 देखें उपभाग 16.4.3
3 1 (×) 2 (√) 3 (√) 4 (×)

बोध प्रश्न-4

1 देखें उपभाग 16.5.1
2 देखें उपभाग 16.5.2
3 देखें उपभाग 16.5.2

बोध प्रश्न-5

1 देखें उपभाग 16.6.1
2 देखें उपभाग 16.6.4

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

महात्मा गांधी, *आत्मकथा*
झारखण्डे राय, *भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन एक विश्लेषण*
सोहन सिंह जोश, कोमागाटामासा की दुखद गाथा
अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति- संग्राम
त्तारा चन्द, भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास, खंड-3
राहुल सांकृत्यायन, लेनिन, एक जीवनी
? एमिल बर्न्स, मार्क्सवाद क्या है
आर.एल. शुक्ला (सं), आधुनिक भारत

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGHY-01/CSSHY-01

इतिहास

आधुनिक भारत

1857–1964

खंड

4

राष्ट्रवाद : विश्वयुद्धों के दौरान–1

इकाई 17

संवैधानिक सुधार : 1892-1920 — 5

इकाई 18

असहयोग और ख़िलाफ़त आंदोलन : 1919-1922 — 24

इकाई 19

अकाली आंदोलन — 41

इकाई 20

पश्चिम और दक्षिण भारत में गैर ब्राह्मण आंदोलन — 56

इकाई 21

स्वराजवादी और रचनात्मक कार्य : 1922-1929 — 70

इकाई 22

सांप्रदायिकता का विकास : दूसरे विश्व युद्ध तक — 91

विशेषज्ञ समिति

प्रो० रवीन्द्र कुमार (अध्यक्ष)
निदेशक
नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
नयी दिल्ली

प्रो० एस. गोपाल
निदेशक
नेहरू स्मारक कोष
नयी दिल्ली

प्रो० सतीश चन्द्र (सी. एच. एस.)
प्रो० रोमिला थापर (सी. एच. एस.)
डॉ० मुजफ्फर आलम (सी. एच. एस)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

प्रो० सरोजिनी रेगानी
इतिहास विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो० बी. कानूनगो
इतिहास विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो० पी. एल. मेहरा
डॉ० आर. आई. मलहोत्रा
इतिहास विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

प्रो० बी. एस. शर्मा
समकुलपति (शैक्षिक)
प्रो० बहरीश सिंह (संयोजक)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

पाठ लेखक

डॉ० एस. के. बजाज
पंजाब विश्वविद्यालय
पटियाला

प्रो० ए. के. गुप्ता
नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय
नयी दिल्ली

प्रो० बी. सी. झा
इतिहास विभाग
पटना विश्वविद्यालय
पटना

प्रो० मोहिन्द्र सिंह
गुरु नानक फाउन्डेशन
नयी दिल्ली

डॉं० अतलूरी मुरली
पत्राचार पाठ्यक्रम एवं अनवरत शिक्षा
विद्यापीठ
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो० बी. एन. दत्त (पाठ-संपादक)
इतिहास विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

प्रो० एस. चट्टोपाध्याय (परामर्शदाता)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

सलाय सदस्य
इन्दिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली
डॉ० कपिल कुमार
डॉ० ए. आर. खान
श्री अजय माहरकर
श्री सलिल मिश्रा
श्री स्वराज बस
सश्री संगीता जोशी

प्रो० बी. एन. कौल
(संरचना संपादक)
निदेशक
दूर शिक्षा प्रभाग

अनुवाद

श्रीमती रेचु गुप्ता
डॉ० खरिशनी शर्मा
डॉ० खुर्शिद अनवर
डॉ० जी. एम. जायसवाल
श्री केवल कृष्ण शर्मा
श्री अरविंद आशडीर

संलय सदस्य
इन्दिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो० बी. रा. जगन्नाथन
डॉ० राजन कुमार

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर श्रवण कुमार सिंह
निदेशक
सामाजिकी विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1997 (पुनर्मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय 1989

ISBN-81-7091-343-8

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGHY-01/CSSHY-01(1)/230

खंड 4 राष्ट्रवाद : विश्वयुद्धों के दौरान–1

इस विषय के खंड 2 में हमने यह चर्चा की कि किस तरह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने एक संगठित रूप धारण किया। धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन की माँगें बढ़ती गई और खंड 3 में आपका परिचय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हुई कुछ घटनाओं से करवाया गया है जिनका प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर पड़ा। आपने यह भी देखा कि किस तरह गांधी जी के आगमन से, राष्ट्रीय आन्दोलन में धीरे-धीरे जनता को लामबंद करने का प्रयास प्रारंभ हुआ। इस खंड में हम दो विश्वयुद्धों के मध्य के काल में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न पहलुओं को लेंगे।

इकाई 17 सन् 1892-1920 के बीच हुए संवैधानिक सुधारों पर विचार करती है। यह इकाई आपका परिचय ऐसे अनेक अधिनियमों से करवाती है जो ब्रिटिश संसद द्वारा भारत में संवैधानिक परिवर्तन लाने के लिए पारित किए गए थे। इसके अन्तर्गत इन संवैधानिक सुधारों के लिए जिम्मेदार कारणों, अधिनियमों की मुख्य व्यवस्थाओं तथा इनके प्रभाव पर भी विचार किया गया है।

इकाई 18 असहयोग और खिलाफत आंदोलनों की चर्चा करती है। इसमें हम आपको इन दोनों आंदोलनों क लिए उत्तरदायी कारणों के बारे में बताएंगे। इसमें यह भी बताया गया है कि आंदोलनों ने क्या रूप लिया और इन आंदोलनों पर जनता की क्या प्रतिक्रिया थी तथा साथ-साथ यह भी चर्चा की गई है कि समग्र रूप से राष्ट्रीय आंदोलन पर इनका क्या प्रभाव पड़ा।

इकाइयाँ 19 तथा 20 क्षेत्रीय स्तर पर हुए सुधार आन्दोलनों में सम्बन्धित हैं। किन्तु इसके साथ-साथ वह यह भी दिखाती है कि किस तरह से कुछ क्षेत्रीय आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गए। इकाई 19 में अकाली आंदोलन पर चर्चा की गयी है। वह सिक्ख समुदाय में मौजूद सामाजिक बुराईयों को दूर कर सुधार लाने के लिए किए गए संघर्ष को मद्देनजर रखती है। इसके साथ ही यह अकाली आंदोलन की चर्चा करती है जो कि ब्रिटिश शासन के खिलाफ था व जो राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ा हुआ था। इकाई 20 पश्चिमी तथा दक्षिणी पूर्वी भारत के अब्राह्मण आंदोलन (Non-Brahmin Movement) की चर्चा करती है। यह ब्रिटिश विचारों को थोपने के विरूद्ध हुए सामाजिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष के साथ-साथ भारतीय समाज के पारंपरिक सामाजिक ढाँचे को दी गई चुनौती की विवेचना करती है।

असहयोग आंदोलन की वापसी के बाद, राष्ट्रीय राजनीति में एक नई प्रवृत्ति उभरी जिसने स्वराज पार्टी के निर्माण में योगदान दिया।

इकाई 21 इस पार्टी के बनने, इसके उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा कार्यक्रमों, स्वराजवादियों द्वारा अपनाये गये तरीकों, विधायिका में उनके काम तथा अंतत स्वराज पार्टी के पतन के लिए उत्तरदायी कारणों की चर्चा करती है। इस इकाई में हमने स्वराजवादियों द्वारा किए गए रचनात्मक कार्यों पर भी प्रकाश डाला है। इसमें उनके द्वारा किए गए खादी के प्रचार तथा छुआछूत के खिलाफ लड़ाई इत्यादि से सम्बन्धित कार्य शामिल है। अन्त में इकाई 22 में आपको 1939 तक की सांप्रदायिक समस्याओं से भी अवगत कराने का प्रयास किया गया है। यह इकाई सांप्रदायिकतावाद के अर्थ तथा इसके घटकों पर सैद्धान्तिक चर्चा से शुरू होती है। इसके बाद यह राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान सांप्रदायिकतावाद के लिए उत्तरदायी तत्वों और उसके प्रभाव से सम्बन्धित समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करती है।

इकाई 17 संवैधानिक सुधार 1892-1920

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 पृष्ठभूमि
17.3 सन् 1892 का इण्डियन काउंसिल्स अधिनियम
  17.3.1 संवैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता
  17.3.2 अधिनियम की मुख्य धाराएँ
17.4 मोर्ले-मिन्टो "सुधार"
  17.4.1 संवैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता
  17.4.2 वैधानिक संस्थाओं के संगठन में परिवर्तन
  17.4.3 कार्यों में परिवर्तन
17.5 मोन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड "सुधार"
  17.5.1 मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियाँ
  17.5.2 केंद्रीय सरकार में परिवर्तन
  17.5.3 प्रांतीय सरकार में परिवर्तन
  17.5.4 मोन्टेफोर्ड सुधारों का अवलोकन
17.6 सारांश
17.7 शब्दावली
17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य, आपको भारत में सन् 1892 और 1919 के मध्य वैधानिक संस्थाओं के विकास के मुख्य चरणों से अवगत कराना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- वैधानिक संस्थाओं के आकार और कार्य में, इस काल में हुई वृद्धि के विषय में जान सकेंगे,
- उन कारणों को जान सकेंगे जिन्होंने अंग्रेज़ों को इन सुधारों को लागू करने के लिए प्रेरित किया, तथा
- स्वतन्त्रता संग्राम और इन संस्थाओं के विकास के मध्य सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

अंग्रेज़ों ने कुछ संवैधानिक सुधार किए थे। इस इकाई में उन कारणों पर विचार किया जा रहा है जिनकी वजह से सन् 1892 का इण्डियन काउंसिल्स अधिनियम पारित हुआ। यहाँ इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ, इसकी उपलब्धियां तथा इनकी कमियों पर विचार किया गया है। साथ ही साथ इसमें मोर्ले-मिन्टो तथा मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की पृष्ठभूमि का अवलोकन किया गया है और इन सुधारों द्वारा सरकार के विभिन्न अंगों में किये जाने वाले

परिवर्तनों पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में सुधारों की उपलब्धियों तथा कमियों को दर्शाया गया है। ताकि आप इनका वस्तुनिष्ठ विश्लेषण कर सकें।

17.2 पृष्ठभूमि

सन् 1833 के चार्टर अधिनियम में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में चौथे सदस्य को विधि सचिव के रूप में शामिल किया गया। वह केवल वैधानिक मामलों में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में वोट दे सकने का तथा बैठ सकने का अधिकारी था। इस प्रकार पहली बार केंद्रीय सरकार के वैधानिक तथा प्रशासनिक कार्यों में अन्तर किया गया। इस अधिनियम के द्वारा एक और परिवर्तन यह था कि प्रेसीडेन्सी (कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास प्रेसीडेंसी) सरकारों, को स्वतन्त्र वैधानिक शक्तियों से वंचित कर दिया गया।

बीस वर्ष बाद सन् 1853 में एक और चार्टर अधिनियम पारित किया गया जिसके अंतर्गत गवर्नर जनरल की काउंसिल में विधि सचिव को पूर्ण सदस्य के अधिकार प्रदान कर दिए गए। इसके साथ ही, गवर्नर जनरल की काउंसिल की कार्यकारी तथा वैधानिक शक्तियों के बीच का अन्तर बढ़ा दिया गया, क्योंकि वैधानिक कार्यों के लिए इस काउंसिल में छह अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति की गई। ये सभी वेतनभोगी सरकारी अधिकारी थे जिनमें से चार, तीन प्रेसीडेंसियों तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्रॉविन्सेज़ (मौटे तौर पर आज के उत्तर भारत का पश्चिमी अधांश) का प्रतिनिधित्व करते थे और दो जज थे अधिनियम में ऐसे सदस्यों को लेजिसलेटिव काउंसलर (विधान पार्षद्) कहा गया। गैर सरकारी, यूरोपीय या भारतीय सदस्यों को शामिल किए जाने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया।

सन् 1854 में विधान परिषद् ने कार्य संचालन के लिए एक विस्तृत प्रणाली प्रस्तुत की। कानून बनाने के साथ-साथ तमाम शिकायतों की जाँच पड़ताल करने का काम भी इसे सौंप दिया गया। इसके अलावा, प्रांतीय सरकारों ने विधि निर्माण प्रक्रिया के केन्द्रीकरण का विरोध किया।

हालांकि सन् 1857 के विद्रोह ने, अंग्रेज़ी सरकार को इस व्यवस्था में और भी परिवर्तन करने के लिए एक तात्कालिक कारण प्रदान कर दिया। यह अनुभव किया गया कि विद्रोह का एक मुख्य कारण शासक वर्ग और भारतीयों के मध्य सम्पर्क और तालमेल की कमी थी। सन् 1861 में इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट के रूप में एक ऐक्ट पारित किया गया जिसमें इस विचारधारा का प्रतिबिंब था। विधि निर्माण के उद्देश्य से गवर्नर जनरल की काउंसिल में अतिरिक्त सदस्यों की वृद्धि की गई जिनकी संख्या कम-से-कम छह और अधिक से अधिक बारह होनी थी और जिन्हें गवर्नर जनरल द्वारा दो वर्ष के कार्यकाल के लिए मनोनीत किया जाना था। एक महत्वपूर्ण नया प्रयोग यह किया गया कि अतिरिक्त सदस्यों में से कम-से-कम आधे गैर सरकारी होने थे (अर्थात् ऐसे लोग जो कि ब्रिटिश शासन की नागरिक सेवा या सैनिक सेवा में कार्यरत नहीं थे)। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आमतौर पर तीन भारतीयों को मनोनीत किया जाता था। साथ ही साथ वैधानिक क्षेत्र में काउंसिल का काम केवल विधि निर्माण तक सीमित था। इस ऐक्ट ने बंबई और मद्रास की सरकारों की विधि निर्माण की शक्तियों को पुनर्स्थापित किया तथा अन्य प्रान्तों में भी विधान परिषदों की स्थापना की व्यवस्था की। बंगाल में सन् 1862, पंजाब में सन् 1886 तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़ में सन् 1887 में विधान परिषदों की स्थापना की गई।

पहले बीस सालों में गैर सरकारी सदस्यों के मनोनयन की शक्ति को सरकारी अनुग्रह के एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया गया। मनोनीत किए जाने वाले गैर सरकारी सदस्य राजाओं, उनके दीवानों और बड़े ज़मींदारों में से ही होते थे और उनमें भी सिर्फ़ वे लोग मनोनीत किए गए जिन्होंने सन् 1857-58 के विद्रोह में अंग्रेज़ों की मदद की थी। फिर भी गैर सरकारी सदस्यों को मनोनीत किए जाने का निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यह भारतीय जनमत की महत्ता की मौन स्वीकृति थी और इस बात की भी कि अंग्रेज़ अधिकारी भारतीयों की आकांक्षाओं के सबसे अच्छे व्याख्याकार नहीं हो सकते थे। यह भी मालूम हो गया था कि एक तानाशाह औपनिवेशिक सरकार भी नितांत एकाकी होकर कार्य नहीं कर सकती थी।

17.3 सन् 1892 का इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट

अब हम उन कारणों पर विचार करेंगे जिन्होंने ब्रिटिश सरकार को 1892 के इंडियन काउंसिल ऐक्ट पारित करने के लिए प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त इस ऐक्ट की मुख्य विशेषताओं, कमियों तथा उपलब्धियों की भी विवेचना की जाएगी।

17.3.1 संवैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता

सरकार के दृष्टिकोण से सन् 1861 के ऐक्ट ने संतोषजनक ढंग से कार्य किया था। परन्तु परवर्तीकाल में भारत में राष्ट्रीय चेतना का अद्भुत विकास हुआ। शीघ्र ही इस भावना का विकास हुआ कि देशवासियों के बहुत से हित, आकांक्षाएँ और तकदीर एक समान हैं। खण्ड एक की इकाई 3 में आप इस भावना के उत्थान और विकास के कारणों का अध्ययन कर चुके हैं। आप यह भी जानते हैं कि अपने पहले ही अधिवेशन में कांग्रेस ने केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों में चुने हुए सदस्यों के सम्मिलन और उनके कार्यक्षेत्र में वृद्धि की माँग की थी। आगामी वर्षों में इन माँगों को दोहराया जाता रहा।

जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तब लॉर्ड डफ़रिन भारत के गवर्नर जनरल थे। उनके कार्यकाल में (1884-1888) भारत सरकार ने गृह सरकार से केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों के आकार तथा उसके कार्यक्षेत्र में वृद्धि किए जाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश की। स्वाभाविक रूप से यह सवाल उठता है कि, क्यों एक तानाशाह या एक निरंकुश सरकार विधान परिषदों में ज्यादा भारतीयों के सम्मिलन तथा उनके कार्यक्षेत्र में वृद्धि के विषय में विचार कर रही है? यह सवाल तब और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब यह मालूम होता है कि इस बात के लिए न तो जनता की ओर से कोई दबाव पड़ रहा था और न ही ब्रिटिश राज का तख्ता पलटने के लिए कोई क्रांतिकारी आंदोलन ही चल रहा था। सरकार साफ़ तौर पर यह मानती थी कि शिक्षित भारतीय समुदाय भारतीय जनमत का प्रतिनिधित्व नहीं करता है और वह उनकी माँगों को भी शक की नज़र से देखती थी।

जैसा कि आप पढ़ चुके हैं कि यद्यपि प्रारंभ में सरकार ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अंशतः मान्यता दी थी पर जल्दी ही इसने अपनी संरक्षण की नीति वापस ले ली थी। शायद सरकार ने अनुभव किया था कि राष्ट्रीयता की भावना का विकास ब्रिटिश राज्य के हित में नहीं होगा। इन राष्ट्रवादी नेताओं की माँगें मुख्य रूप से इस बात पर आधारित थीं कि, भारत का शासन भारतीयों के कल्याण को दृष्टि में रखकर ही किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ़ सरकार का प्राथमिक उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों का संरक्षण तथा उनका विकास करना था। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज़ों के लिए यह जरूरी था कि वे भारत में अपने समर्थन का आधार विस्तृत करें और ऐसा वे उन भारतीयों की आकांक्षाओं को पूरा करके कर सकते थे जो कि अपनी माँगों को एक संकुचित संवैधानिक ढाँचे के भीतर ही रखने को तैयार थे। संवैधानिक संरचना में परिवर्तन करके सरकार की सर्वग्राह्य तानाशाही को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना ही, शिक्षित भारतीयों के असंतोष को दूर किया जा सकता था। इसी उद्देश्य से सन् 1892 में एक नया इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट पारित किया गया।

17.3.2 अधिनियम की मुख्य धाराएँ

सन् 1892 का इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट एक संशोधनात्मक ऐक्ट था। परिणामस्वरूप आधारभूत संवैधानिक धाराएँ वही रहीं जो सन् 1861 के ऐक्ट में थीं। मुख्यतः दो प्रकार के परिवर्तन किए गए:

i) वैधानिक संस्थाओं के संगठन में परिवर्तन
ii) कार्यक्षेत्र में वृद्धि

केंद्रीय कार्यकारिणी परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाकर न्यूनतम दस और अधिकतम सोलह कर दी गई और 1861 के ऐक्ट की ही भाँति इसमें कम-से-कम आधे सदस्य गैर सरकारी होने थे। इस बात की भी आशा थी कि चुनाव की प्रक्रिया भी प्रारंभ की

जाएगी। लेकिन अन्ततः गवनर जनरल को इस बात के लिए अधिकृत कर दिया गया था कि वह विभिन्न भारतीय संस्थाओं को अपने-अपने प्रतिनिधि चुनने या भेजने का निमंत्रण दे और उनके मनोनयन के लिए नियम बनाए।

अन्तिम रूप से पारित नियमों के अधीन केंद्रीय विधान परिषद् में नौ अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी सदस्यों (गवर्नर जनरल, एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिल के छह सदस्य, सेनाध्यक्ष तथा उस प्रांत का प्रमुख जहाँ परिषद् की बैठक हो जैसे बंगाल या बिहार का लेफ्टिनेंट गवर्नर) के साथ-साथ छह अतिरिक्त सरकारी सदस्य और दस अतिरिक्त गैरसरकारी सदस्य थे। इन अतिरिक्त गैर सरकारी सदस्यों को बंगाल, बंबई, मद्रास तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज़ की विधान परिषदों के सदस्यों में से नामजद किया जाता था।

जब पंजाब और बर्मा में विधान परिषदों का गठन हो गया तब एक-एक सदस्य को वहाँ से भी केंद्रीय विधान परिषद् में शामिल किया गया। एक सदस्य की नियुक्ति कलकत्ता चैम्बर ऑफ कॉमर्स की सिफ़ारिश पर की गई। व्यवहार में ये संस्थाएँ अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनका नाम अग्रसारित कर देती थीं और ये नाम सदैव ही सरकार द्वारा स्वीकार कर लिए जाते थे। इस प्रकार वास्तव में ये प्रतिनिधि इन संस्थाओं द्वारा ही चुने जाते थे। यद्यपि इस चयन सिद्धान्त को बहुत सावधानी के साथ लागू किया गया था। इस प्रकार की प्रक्रिया अपनाने के पीछे जो उद्देश्य था वह यह था कि विधान परिषदों में सदस्यों का सम्मिलन, विशिष्ट संस्थाओं के प्रतिनिधियों के रूप में नहीं बल्कि गवर्नर जनरल द्वारा नामजद व्यक्तियों के रूप में देखा जाये। शेष नामजद गैर सरकारी सदस्य थे। सरकारी नामजद अधिकारी तथा अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी सदस्यों की संख्या मिलकर विधान परिषद् में सरकारी सदस्यों का बहुमत बनाती थी।

इसी प्रकार के परिवर्तन प्रांतीय विधान परिषदों के संगठन में भी किए गए। कुल मिलाकर सभी प्रांतों की विधान परिषदों में सरकारी सदस्यों का बहुमत बनाए रखा गया। जहाँ तक कार्यों का सम्बन्ध है, वैधानिक प्रस्तावों के अतिरिक्त, वार्षिक बजट पर भी सदस्यगण बहस कर सकते थे। हालांकि सरकार द्वारा प्रस्तुत बजट एक अपरिवर्तनीय दस्तावेज़ के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता था। सदस्यगण केवल अपनी टिप्पणी दे सकते थे जिसका प्रभाव आने वाले वर्षों के बजट पर पड़ सकता था परन्तु तत्कालीन बजट पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। प्रान्तों में बहस, राजस्व और व्यय के उन्हीं अनुभागों तक सीमित रखी गई, जो कि प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण में थे आंतरिक विषयों पर भी प्रश्न करने का अधिकार सदस्यों को था परन्तु पूरक प्रश्न करने की अनुमति उन्हें नहीं दी गई। इन नियंत्रणों के बावजूद यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग था क्योंकि उस समय तक ब्रिटिश हाउस ऑफ कामंस में भी "प्रश्नकाल" का प्रावधान साकार रूप नहीं ले सका था।

सन् 1892 और सन् 1893 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में इस ऐक्ट की आलोचना की गई क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष चुनाव की प्रणाली लागू नहीं की गई थी। लेकिन ये अधिनियम इतने उदार अवश्य थे कि गोपालकृष्ण गोखले, लालमोहन घोष, डब्ल्यू. सी. बनर्जी, सरेन्द्र नाथ बनर्जी और फीरोज़शाह मेहता जैसे अनेक राष्ट्रवादी नेतागण विधान परिषदों में प्रविष्ट हो सकें। गैर सरकारी सदस्यगणों ने बहस करने की कला और विधायक के रूप में योग्यता का भलीभांति प्रदर्शन किया और उन्होंने भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तत कर सकने के हर मौके का लाभ उठाया। कुल मिलाकर ऐक्ट की व्यवस्थाओं ने राष्ट्रवादी नेताओं की आकांक्षाओं को संतुष्ट किया क्योंकि सन् 1894 से 1900 तक के कांग्रेस कार्यक्रम में विधान परिषदों में सुधार किए जाने की माँग को अधिक महत्व दिया गया। हालांकि संतोष की यह भावना अधिक दिन नहीं रही क्योंकि इसी अवधि में विरोध की राजनीति उभर कर आई और सन् 1904 तक एक बार फिर से समवेत स्वरों में कांग्रेस और अधिक वैधानिक सुधारों की माँग करने लगीं थी।

बोध प्रश्न 1

1 निम्न कथनों में कौन-सा तथ्य सही (√) या गलत (×) है।

i) सरकार ने इन संवैधानिक सुधारों को इसलिए लागू किया क्योंकि वह भारतीयों को प्रशासनिक कला में प्रशिक्षण देना चाहती थी।

ii) सरकार भारतीयों में सामाजिक समर्थन के आधार को विस्तृत करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना चाहती थी।

iii) गैर सरकारी सदस्यों की भर्ती सीधे चुनाव के द्वारा होनी थी।

2 सन् 1892 के इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट पारित किए जाने की पृष्ठभूमि बताइए। अपना उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 सन् 1892 के ऐक्ट की मुख्य धाराएँ क्या थी? लगभग 100 शब्दों में अपना उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.4 मोर्ले-मिन्टो सुधार

1909 के मोर्ले-मिन्टो सुधार का पारित होना 1892 के इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट (Indian Councils Act) के उपरांत की राजनैतिक हलचल तथा तीव्र गतिविधियों के दौर की पृष्ठभूमि में देखी जानी चाहिये।

17.4.1 संवैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता

कांग्रेस के बाहर (सन् 1892 के बाद के पंद्रह सालों में) कांग्रेस के लक्ष्यों और प्रणाली के प्रति असंतोष की भावना पनप रही थी। सन् 1885 में हाईस्कूल (मैट्रिक) में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों की संख्या 1286 थी जो सन् 1906 में बढ़कर 8211 हो गई। यद्यपि आज के मापदण्ड से यह संख्या हास्यास्पद सीमा तक कम मालूम पड़ती है परंतु मात्रा की दृष्टि में इसमें सात गुनी वृद्धि हुई थी। यही प्रवृति समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के प्रकाशन और बिक्री के संबंध में देखी गयी । इससे यह संकेत मिलता है कि उन भारतीयों की संख्या में, जो कि नागरिक के रूप में अपने अधिकारों के प्रति सजग हो सकते थे और सरकार के कर्तव्यों के प्रति भी जागरूक हो सकते थे, साथ ही साथ लोगों की संख्या में, जो कि विदेशी शासन की हानियों को समझने लगे थे, बहुत अधिक वृद्धि हुई थी। इन्हीं वर्षों में उग्रवाद तथा क्रांतिकारी विचारधारा का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अंतर्गत उदय हुआ था, जिनके लिए अन्य बातों के अलावा कर्ज़न की नीतियाँ काफी हद तक जिम्मेदार थीं।

सन् 1898 से सन् 1905 तक के काल में गवर्नर जनरल के रूप में कार्य करने वाले लॉर्ड कर्जन में स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था, जो कि ग्रेट ब्रिटेन की सुदृढ़ अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को दर्शाता था। उसकी केंद्रीयकरण की नीति, शिक्षित भारतीयों की आकांक्षाओं तथा

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति उसकी प्रत्यक्ष अवमानना और सबसे ज्यादा उसका बंगाल विभाजन का निर्णय ऐसी बातें थीं जिनसे जनता का विरोध उभर कर सामने आ गया था। दिसंबर 1903 से, अर्थात् जब से विभाजन की योजना घोषित की गई थी, तब से बंगाल के निवासियों ने अपने असंतोष को खुले आम और स्पष्ट रूप से व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। बहुत सी वैकल्पिक योजनाएँ भी प्रस्तुत की गईं। फिर भी विभाजन की योजना कार्यान्वित की गई। यह अलोकप्रिय निर्णय शासक वर्ग के द्वारा शासित वर्ग की भावनाओं की पूर्ण अवहेलना का प्रतीक बन गया। कांग्रेस के नेता अपने संगठन के लक्ष्य पर पुनर्विचार करने लगे, और खासकर ब्रिटिश सरकार पर इस निर्णय को बदलने के लिए दबाव डालने के लिए कोई उपाय सोचने लगे। विभाजन के निर्णय के फलस्वरूप, ब्रिटिश शासन के खिलाफ उभरा कटु विरोध कलकत्ता तथा अन्य स्थानों में हुए विरोध प्रदर्शनों में व्यक्त हुआ और साथ ही साथ स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के नारे भी बुलंद किए गए।

कुछ नरम दलीय नेताओं ने भी, खासकर बंगाल में, उग्रवादियों के बहिष्कार और स्वदेशी कार्यक्रम का खुले आम समर्थन किया। लेकिन शीघ्र ही वे अपने पुराने ढर्रे, "प्रार्थना और याचिका" पर वापस आ गये। वे चाहते थे कि सरकार कुछ सुधार करके अपनी उदारता का परिचय दे। सन् 1905 के बनारस में हुए कांग्रेस अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा था, "कांग्रेस का लक्ष्य है कि भारत का शासन खुद भारतीयों के हित में किया जाये।" उनकी तात्कालिक माँगें थीं कि विधान परिषदों में सुधार किए जाएँ और कम-से-कम तीन भारतीयों को भारत सचिव की काउंसिल में नियुक्त किया जाये। नरम दल के नेता तब अधिक आशावान हो गए जब 1905 के अन्तिम दिनों में ब्रिटेन में सत्ता, लिबरल पार्टी के हाथ में आ गई और अपने उदार विचारों के लिए विख्यात मोर्ले भारत सचिव बनाए गए। कुछ समय पूर्व ही कंजरवेटिव लॉर्ड मिन्टों ने लॉर्ड कर्ज़न के उत्तराधिकारी के रूप में गवर्नर जनरल का कार्यभार संभाला था। मोर्ले और मिन्टो के नाम इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट, 1909 में किए गए परिवर्तनों के साथ जोड़ दिए गए, और यह ऐक्ट "मोर्ले-मिन्टो सुधार" के रूप में विख्यात हुआ।

मोर्ले तथा मिन्टो दोनों की पृष्ठभूमि, प्रतिष्ठा और अनुभव में बड़ा अन्तर था। परन्तु जहाँ तक भारत के प्रति नीति का सवाल है दोनों का दृष्टिकोण एक समान था। दोनों यह मानते थे कि बंगाल विभाजन एक भारी भूल थी और उसका परिणाम सरकार के प्रति विरोध की भावना का उग्र होना था। उन्हें यह भी भय था कि विरोध की भावना मुसलमानों में भी व्याप्त हो रही है। उनकी ये भावनाएं स्पष्ट रूप से सरकारी और गैर सरकारी पत्राचार में व्यक्त हुई। उदाहरण के लिए एक सार्वजनिक संदेश में भारत सरकार ने लिखा:

> "ऐसा लगता है कि अंग्रेज़ी बोलने वाले भारतीय समुदाय पर हमारी पकड़ धीरे-धीरे कमज़ोर होती जा रही है और इस बात के संकेत हैं कि इस समुदाय के एक बड़े हिस्से में दबी उनकी शत्रुता धीरे-धीरे समाज के निम्न वर्ग तक भी पहुँच रही है, जो कि इसकी वजह तो नहीं जानता है पर यह ज़रूर देखता है कि अंग्रेज़ अधिकारी का जो दबदबा पहले था वह अब नहीं है। अत: सरकारी नीति में परिवर्तन किए जाने की निहायत ज़रूरत है।"

नये बदलाव से उनका मतलब वैधानिक संस्थाओं के संगठन और कार्य में परिवर्तन से था। इससे वे नरम दल को ब्रिटिश साम्राज्य का पक्षधर बना सकते थे क्योंकि उनकी खास माँग ही संवैधानिक सुधारों की थी। हालाँकि अंग्रेज़ शासक यह जानते थे कि नरम दल की बुनियादी माँग, कि भारत का शासन भारतीयों के हित के लिए ही किया जाना चाहिए, साम्राज्यवादी ढाँचे में सही तौर पर बैठ नहीं सकती थी। राष्ट्रीय चेतना के लिए कार्य करना और साथ ही साथ ब्रिटिश शासन की वफ़ादारी का इज़हार, दोनों का एक साथ निभ पाना असंभव था। अत: इस वर्ग के लोगों को अपनी ओर मिलाने के प्रयास के अतिरिक्त अंग्रेज़ों ने भारत में अपने शासन के समर्थन के लिए नए सहारों की तलाश की। भारत पहुँचने के कुछ समय बाद ही लॉर्ड मिन्टो ने लिखा: "इधर कुछ दिनों से मैं कांग्रेस के लक्ष्यों के संभावित प्रति संतुलन के विषय में काफी सोच रहा हूँ।" पहले सरकार का विचार गण्यमानों की एक अलग परिषद् बनाने का था जिसमें अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान भारतीय रियासतों के शासक, ज़मींदार आदि शामिल किए जा सकते थे लेकिन बाद में उन्होंने जमींदारों को साम्राज्यिक विधान परिषद् में ही प्रतिनिधित्व देने का फैसला कर लिया।

इसी बीच (जैसा कि आप खंड सात की इकाई-36 में देखेंगे) अक्टूबर 1906 में मुसलमानों के नेताओं का एक शिष्टमंडल वाइसरॉय से शिमला में मिला। उन्होंने इस बात की माँग की कि किसी भी प्रकार का प्रतिनिधित्व दिए जाते समय मुसलमानों को उनकी संख्या के आधार पर नहीं बल्कि उनके राजनैतिक महत्व के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। अंग्रेजों ने इन माँगों में काँग्रेस का आशाजनक विकल्प देख लिया था। अब वे काँग्रेसी नेताओं की बढ़ती हुई माँगों के विरुद्ध मुसलमानों के इस वर्ग को अपना संरक्षण देकर प्रति संतुलन उत्पन्न कर सकते थे। जैसा कि हम देखेंगे कि मुसलमानों को महत्व भी दिया गया और उन्हें अलग से प्रतिनिधित्व भी मिला। राष्ट्रवादी नेताओं ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यह शिष्टमण्डल अंग्रेज़ों के इशारे पर ही काम कर रहा था। मोहम्मद अली ने इसे अंग्रेज़ों के निर्देशन में की गई प्रस्तुति कहा। मुस्लिम लीग के प्रशंसकों ने इस आरोप को निराधार बताया और स्पष्ट किया कि उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में ही सर सैयद अहमद और उनके अनुयायी मुस्लिम हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए मुसलमानों के मनोनयन की माँग करते आ रहे हैं, और अब जबकि चुनाव प्रणाली के लागू किए जाने की संभावनाएँ हैं, तब यह स्वाभाविक ही है कि मुसलमानों द्वारा अधिक संख्या में सीटों व पृथक निर्वाचक मण्डल की माँग की जाए। हालांकि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अपना शासन बनाए रखने के लिए अंग्रेज़ों ने साम्प्रदायिक पृथकत्व को बढ़ावा दिया था। यही कारण है कि, अपेक्षाकृत दुर्बल संगठन होने और दो दशको से कांग्रेस द्वारा अपनाई जा रही प्रार्थना और याचिका की पद्धति को अपनाने के बावजूद लीग को अपनी स्थापना के तुरंत बाद बड़ी सफलता मिली।

संवैधानिक सुधार किए जाने का पहला प्रस्ताव सन् 1906 की गर्मियों में किया गया और एक लंबी तथा कष्टसाध्य बहस के बाद मई, सन् 1909 में इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट पारित हुआ।

वैधानिक सुधारों के रूप में प्रतिबिंबित मेलमिलाप की इस नीति के साथ ही साथ सरकार ने उन सभी लोगों के निर्मम दमन की नीति अपनाई जो अब भी सरकार का विरोध कर रहे थे या उनकी भर्त्सना कर रहे थे। सन् 1907-1908 के दौरान प्रीवेन्शन ऑफ सेडिशस मीटिंग ऐक्ट के तहत निर्धारित क्षेत्रों में सभाओं के आयोजन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा न्यूज़पेपर्स ऐक्ट के तहत छापाखानों की कुर्की और इंडियन क्रिमिनल लॉ अमेन्डमेंट ऐक्ट के तहत बंगाल में समितियों पर प्रतिबंध लगाए जाने के कानून पारित किए गए।

ऐक्ट पारित होने से पहले ही, भारतीय नेताओं की एक महत्वपूर्ण माँग, बिना कोई विधिक परिवर्तन किए हुए ही मान ली गई। यह थी, भारत सचिव, गवर्नर जनरल तथा प्रांतीय गवर्नरों की परिषदों में दो-दो भारतीयों की नियुक्ति। यह कदम प्रशासनिक सक्षमता बढ़ाने के लिए नहीं था, बल्कि साफ़ तौर पर विद्यमान व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षित भारतीयों के लिए उन्नति का अवसर प्रदान करने के लिए उठाया गया था। इस प्रावधान के अन्तर्गत अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विभाग जैसे कानून या शिक्षा आदि भारतीयों को सौंप दिए गये थे। फिर भी यह कदम महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे दो तथ्यों की अप्रत्यक्ष स्वीकृति का संकेत मिलता था। पहला यह कि भारतीय उच्चतम पदों पर नियुक्त किए जाने के योग्य हैं और दूसरा यह कि ब्रिटिश अधिकारियों की तुलना में भारतीय ही अपने देशवासियों की आकांक्षाओं की बेहतर व्याख्या कर सकते हैं।

सन् 1892 के इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट की ही भांति सन् 1909 का ऐक्ट भी एक संशोधनात्मक ऐक्ट था। इंडियन काउंसिल ऐक्ट की ही भाँति इसमें भी कानून व अधिनियम बनाने के लिए गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों की परिषदों के आकार व कार्यों में परिवर्तन किए गए।

17.4.2 वैधानिक संस्थाओं के संगठन में परिवर्तन

इस ऐक्ट ने केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों का विस्तार किया। केन्द्रीय विधान पारषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 60 कर दी गई जबकि प्रांतीय विधान परिषदों में इनकी संख्या 30 से 50 के बीच रखी गई। इसमें अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्यों की संख्या शामिल नहीं है। अतिरिक्त सदस्य दो प्रकार के होते थे – सरकारी और गैर सरकारी। केंद्र में सरकारी सदस्यों (अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्य मिलाकर) का बहुमत होता था। प्रान्तीय विधान

सभाओं में गैर सरकारी बहुमत की माँग को मान लिया गया। ऐसा यह मानकर किया गया कि गैर सरकारी सदस्य एक दूसरे के इतने विपरीत हितों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करेंगे कि उनका एकजुट हो पाना कठिन होता। इसके अलावा यदि उनके द्वारा किसी अवांछित बिल को पारित किया भी जाता तो इस प्रकार के बिलों को आसानी से निषेधाधिकार का प्रयोग करके निरस्त किया जा सकता था।

केंद्रीय या इम्पीरियल विधान परिषद् में 37 सरकारी (9 अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्य + 2 अतिरिक्त सरकारी सदस्य) और 32 गैर सरकारी सदस्य थे। सन् 1909 का ऐक्ट गैर सरकारी स्थानों के वितरण और पूर्ति के तरीके के कारण महत्वपूर्ण बन गया। इन 32 स्थानों में से 5 सरकार द्वारा नामजद व्यक्तियों द्वारा भरे जाने थे। शेष 27 स्थानों का वितरण निम्न प्रकार से किया गया:

1	प्रांतीय विधान परिषदों के गैर सरकारी सदस्यों में से	13
2	प्रांतों के ज़मींदारों में से	6
3	प्रान्तों के मुसलमानों में से	5
4	संयुक्त प्रांत के मुस्लिम भूमिपति और बंगाल के मुसमानों का बारी-बारी से प्रतिनिधित्व	1
5	बबई और कलकत्ता के चैम्बर्स ऑफ कामर्स से	2

इसी प्रकार के प्रावधान प्रातीय दिधान परिषदों के गठन के लिए किए गए लेकिन उनमें उनकी विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप कुछ परिवर्तन भी किए गए। मुसलमान ज़मीदारों को जो महत्व प्रदान किया गया वह किसी ठोस एवं सत्यापित लाभदायक प्रथा के अनुसार नहीं था बल्कि उससे भविष्य में होने वाले लाभ की आशा में ही ऐसा किया गया था।

इन स्थानों की पूर्ति चुनाव द्वारा की जानी थी। तेरह सामान्य स्थानों के लिए दोहरी अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली अपनायी गयी। किसी शहर या गाँव के करदाता नागरिक नगर पालिकाओं या स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के लिए प्रतिनिधि चुनते थे और ये प्रतिनिधि फिर प्रांतीय विधान परिषदों के लिए प्रतिनिधि चुनते थे। प्रांतीय विधान परिषदों के ये गैर सरकारी सदस्य फिर सर्वोच्च विधान परिषद् के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करते थे। इस प्रकार प्रान्तीय विधान परिषदों के लगभग 200 गैर सरकारी सदस्यों में से केंद्रीय विधान परिषद् के तेरह सामान्य स्थान भरे गए थे। यह आकार हास्यास्पद सीमा तक छोटा था और यहाँ तक कि मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भी इसकी आलोचना की गई थी। जमींदारों और मुसलमानों के प्रतिनिधि केंद्रीय विधान परिषद् मे भी सीधे चुने जाते थे। इसने मुसलमानों और गैर मुसलमानों में किए गए भेदभाव को और भी अधिक विद्वेषपूर्ण और अन्यायपूर्ण बना दिया। जबकि मस्लिम जमींदारों, समृद्ध व्यापारियों, स्नातकों और पेशेवर लोगों को प्रान्तीय और यहाँ तक कि केन्द्रीय विधान परिषद् में मताधिकार प्रदान कर दिया गया था लेकिन गैर मस्लिम चाहे वे कितने ही समृद्ध और योग्यता प्राप्त क्यों न हों, उनको चुनाव में मताधिकार तब तक नहीं मिल सकता था जब तक कि वे नगरपालिका या जिला परिषद् के सदस्य न हों। इस भेदभाव की नीति से गैर मुस्लिमों की भावनाओं को चोट पहुँचती थी। इसके अलावा, मस्लिम सदस्यों का चुनाव पृथक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता था, अर्थात् उन्हें चुनने वाले सिर्फ मुसलमान ही थे। केवल मस्लिम मतदाताओं के नामों के पृथक रजिस्टर तैयार किए गए। मसलमानों को विशेष महत्व दिया गया अर्थात् उन्हें उनकी जनसंख्या की तुलना में अधिक स्थान प्रदान किए गये। उन्हें सामान्य स्थानों के लिए भी अन्य समुदायों के समान ही चनाव मे खडे होने का अधिकार प्रदान किया गया। सन् 1909 में केन्द्रीय विधान परिषद् के चुनाव मे मुसलमान चार असुरक्षित सामान्य स्थानों पर विजयी हुए थे और इस तरह कुल 30 गैर सरकारी स्थानों (दो स्थान जो कि चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स के लिए निश्चित थे और जिन्हें गैर भारतीयों द्वारा भरा जाना था, उन्हें इसमें शामिल नहीं किया गया है) मे से 11 स्थानों पर मुसलमानो का अधिकार था। हालांकि यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि अधिकारीगण और मस्लिम नेतागण हमेशा पूरे मुस्लिम समुदाय के परिप्रेक्ष्य में ही बात करते थे परन्त व्यवहार मे केवल कुछ विशिष्ट गण्यमान वर्ग जैसे ज़मींदार सरकारी, अधिकारीगण आदि को ही वरीयता दी गई। सरकार द्वारा मुसलमानों को तरजीह देने का उद्देश्य भारतीय समाज में सतलन बनाए रखना नहीं था बल्कि कुछ मुसलमान नेताओं को एहसान रूपी रेशमी धागे से बाँधे रखना था।

कुल मिलाकर चुनाव अधिनियम इतने उदार अवश्य थे कि उस समय संवैधानिक आन्दोलन की प्रणाली में विश्वास रखने वाले देश के प्रमुख नेतागण विधान परिषदों में प्रविष्ट हो सकें। केंद्रीय विधान परिषद् के सदस्यों में नवाब सैयद मोहम्मद बहादुर, श्री निवास शास्त्री गोपालकृष्ण गोखले, दिनशा वाचा, भूपेन्द्रनाथ बसु, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, मदन मोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, मोहम्मद अली जिन्ना, महमूदाबाद के राजा और मज़हर-उल-मुल्क सम्मिलित थे।

17.4.3 कार्यों में परिवर्तन

इस ऐक्ट ने काउंसिलों की वैधानिक शक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं किया। इसने केवल उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार किया। विधान परिषदों के सदस्यों को निश्चित सीमाओं के अंतर्गत सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रस्ताव पारित करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। ये प्रस्ताव संस्तुतियों के रूप में प्रस्तुत होने थे और यह सरकार की इच्छा पर था कि वह उन्हें अपनाए, या नहीं अपनाए। वित्त सचिव द्वारा बजट पर बहस करने के लिए विस्तृत नियमावली बनाई गई। बजट को अंतिम रूप में प्रस्तुत करने से पूर्व इस बात का अवसर प्रदान किया गया कि उस पर बहस हो और संस्तुतियाँ प्रस्तुत की जायें। प्रश्न करने के अधिकार को विस्तृत किया गया और जिस सदस्य ने मूल प्रश्न पूछा हो उसे पूरक प्रश्न करने का अधिकार भी दे दिया गया।

उपरोक्त विचार विमर्श से यह स्पष्ट है कि सरकार ने दो उद्देश्यों को लेकर तथाकथित संवैधानिक सुधार किए थे:

i) नरमदल को साम्राज्य का समर्थक बनाकर राज को सुदृढ़ करना।
ii) राजनैतिक रूप से सक्रिय हिंदू और मुसलमानों में मतभेदों को प्रोत्साहित करना दूसरे शब्दों में यह प्रयास किया गया कि फूट डालकर शासन करने की नीति के मार्ग में यह मील का पत्थर सिद्ध हो सके।

यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि भारत सरकार इन दोनों उद्देश्यों तक पहँचने में सफल नही हो सकी। प्रारंभ में नरमदल के नेता संतुष्ट थे और उन्होंने खद को उत्साहपर्वक काम मे लगाया। इससे पूर्व वे सन् 1907 में, सूरत में, कांग्रेस पर कब्ज़ा, कर चके थे फिर भी वास्तविकता यह थी कि कांग्रेस के भीतर उनकी भूमिका निश्चयात्मक रूप से कम महत्वपर्ण होती जा रही थी। कांग्रेस की कार्यवाहियाँ फीकी पड़ती जा रही थीं। नरमदल और गरमदल के बीच सन् 1916 में हुए समझौते के बाद नरमदल, स्वतन्त्रता आंदोलन से दूर हटता चला गया और उसकी इसमें मुख्य भूमिका क्षीण होती चली गई।

सरकार राजनैतिक रूप से सक्रिय हिन्दू और मुसलमानों में दूरी बढ़ाने में भी सफल नहीं हुई हालाँकि इस विषय में विभिन्न इतिहासकारों के विचार भिन्न-भिन्न हैं। मसलमानों को महत्ता प्रदान किए जाने और पृथक निर्वाचक मंडल दिए जाने के सिद्धान्त को लाग किए जाने का जो अविलम्ब परिणाम था उसने सरकार की आशाओ पर पानी फेर दिया। एक ऐसी संस्था में जहाँ विभिन्न वर्गों को ज़रूरत से ज्यादा सावधानी से छाँट कर एक दसरे के प्रति संतुलन के रूप में कार्य करने के उद्देश्य से रखा गया हो. यह स्वाभाविक था कि कछ सदस्य सरकार का समर्थन करते। परन्तु सदस्यों द्वारा सदन में किए गए व्यवहार से यह प्रदर्शित हुआ कि शायद ही किसी मामले में उन्होंने ऐक्ट के निर्माताओं के उद्देश्यों के अनरूप काय किया हो। उन्होंने साथ-साथ मिलकर वोट देने की प्रवृत्ति दिखाई, खासकर ऐसे विषयों में वे एकमत रहे जिनपर कुछ समय से देश में व्यापक रूप से बहस चल रही थी। यह बात भारत के लिए आर्थिक स्वायत्तता, रेलवे पर राज्य का नियंत्रण, कपास पर आबकारी कर की समाप्ति, बंधुआ मज़दूरी के रूप में उत्प्रवास का उन्मूलन तथा शिक्षा पर अधिक व्यय के मामलों में दिखाई दी। वास्तव में इन मामलों पर बहस ने जनता और एक विदेशी सरकार के आपसी हितों के टकराव को उजागर किया। यह बात सही है कि सरकार ने इन प्रस्तावों को केंद्र में सरकारी सदस्यों के बहुमत के बल पर और प्रांतों में सरकारी सदस्यो और नामजद गैर सरकारी सदस्यों के समर्थन के सहारे, नामंज़ूर कर दिया। लेकिन विधान सभाओं में हुई इन बहसों ने महत्वपूर्ण कार्य किया। बिलों और प्रस्तावों पर की गई बहस में सदस्यों ने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किए जिन्होंने अक्सर सरकारी सदस्यों को परेशानी में डाल दिया। प्रेस

के द्वारा इन तर्कों को देश के कोने-कोने में पहुँचाया गया। इस प्रकार इन बहसों ने अंग्रेज़ी राज की नैतिक आधारशिला को कमज़ोर किया।

हालांकि मुसलमानों को महत्त्व और पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान किए जाने का निर्णय, आगे चलकर साम्राज्यवादी रणनीति की एक बेहतर चाल साबित हुई। एक बार जब धर्म को राजनीति में शामिल कर लिया गया तो धार्मिक हितों के आधार पर राजनैतिक कार्यक्रमों को स्वत: मान्यता मिल गई और लोगों की धार्मिक भावनाओं को उभार कर चुनाव जीतना और अपनी राजनैतिक महत्ता बनाए रखना एक आम बात हो गई।

बोध प्रश्न 2

1 1909 के तथाकथित संवैधानिक सुधारों को लागू करने के सरकार के दो उद्देश्य क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 मोर्ले-मिन्टो सुधार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों की विवेचना करें। लगभग पाँच पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 मोर्ले-मिन्टो सुधार की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं? लगभग 10 पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

17.5 मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार

1916 तक भारत और ब्रिटेन के लगभग सारे महत्वपूर्ण राजनैतिक दल यह सोचने लगे थे कि सरकार की संरचना में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। इस समय तक भारतीयों की

आकांक्षाएं भी बढ़ चुकी थीं। विश्व युद्ध के दौरान भारत में राजनैतिक दबाव के कारण तथा भारतीय सहयोग को जीतने की इच्छा के परिणामस्वरूप, ब्रिटिश सरकार ने भारत में मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की शुरुआत की।

17.5.1 मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियाँ

मोर्ले और मिन्टो शायद ही यह कल्पना कर सकते थे कि जिन संवैधानिक सुधारों को, उन्होंने विभिन्न स्तरों पर साढ़े तीन साल के श्रमसाध्य विचार विमर्श के उपरान्त साकार रूप दिया था, वे सात वर्ष के उपरान्त ही किसी को भी संतुष्ट करने में असफल सिद्ध होंगे। सन् 1916 तक भारत के सभी राजनैतिक दलों ने, यहाँ तक कि ब्रिटेन के भी सभी राजनैतिक दलों ने यह महसूस कर लिया कि भारत सरकार की संरचना में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। यह मख्यतः, अगस्त 1914 में विश्व युद्ध छिड़ने से उत्पन्न परिस्थितियों का परिणाम था। युद्ध से भारत की सुरक्षा पर तत्काल कोई संकट नहीं आया था। चूँकि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था इसलिए स्वतः भारत को भी इसमें शामिल कर लिया गया था। इसके पश्चात् भारत ने युद्ध में अंग्रेजों की ओर से जन, धन तथा रसद के रूप में हर संभव योगदान दिया। चूँकि भारत ने ऐसे संकट के समय में ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता की थी, इसलिए भारतीयों की अपेक्षाएँ बढ़ चली थीं। ऐसा नहीं था कि वे अपने शासक को सेवाएँ प्रदान करने का इनाम चाहते थे। वास्तव में यूरोपीय सैनिकों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने से भारतीयों में एक नया आत्मविश्वास उपजा था। वे चाहते थे कि अपना शासन उन्हें खुद चलाने का अवसर देकर उनकी योग्यता को मान्यता प्रदान की जाये। इन आकांक्षाओं को विश्व युद्ध के दौरान विकसित आदर्शों ने नया बल प्रदान किया। अमरीका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने कहा था कि यह युद्ध विश्व में लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा था। एक आशा बंधी कि, इस कथन का यह आशय अवश्य होगा कि, भारत स्वशासन के मार्ग की ओर अग्रसर होगा।

बढ़ती हुई आकांक्षाओं की इस पृष्ठभूमि में संवैधानिक सुधारों की अनेक योजनाएँ सुझाई गई। स्वयं भारतीयों ने अनेक योजनाएँ पेश कीं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण योजना वह थी जो लखनऊ में सन् 1916 के कांग्रेस-मुस्लिम लीग के संयुक्त अधिवेशन में प्रस्तुत की गई थी। इसके महत्व को जानने के लिए यह जरूरी है कि हम कुछ पीछे जायें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कि मोर्ले-मिन्टो सुधारों के बाद मुसलमान सरकार के समर्थक नहीं बने, बल्कि वास्तविकता यह थी कि शासक वर्ग और प्रजा के बीच की खाई और भी गहरी हो गई थी। इसके लिए कई बातें ज़िम्मेदार थीं। सन् 1911 में बंगाल विभाजन रद्द कर दिया गया था। इससे मुसलमानों का सम्भ्रांत राजनैतिक दल नाराज़ हो गया था। सन् 1912 में लार्ड हार्डिंग की सरकार ने अलीगढ़ में विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव को नामंज़ूर कर दिया था। सन् 1913 में कानपुर में उस समय दंगा हो गया जब मस्जिद से लगे हुए एक चबूतरे को तोड़ा गया। भारत से बाहर, ब्रिटेन ने इटली और बालकन युद्धों में तुर्की की सहायता करने से इंकार कर दिया था। धीरे-धीरे मुहम्मद अली, शौकत अली, हसरत मोहानी और फज़लुलहक़ जैसे प्रगतिशील और उदार व्यक्तियों के नेतृत्व में, मुस्लिम लीग ने, भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप, अपना लक्ष्य–"भारत के लिए स्वशासन" मान लिया। मुसलमान विश्व युद्ध की परिस्थितियों के कारण उत्पन्न आकांक्षाओं से अछूते नहीं रह सकते थे। मुस्लिम लीग ने भारत की भावी सरकार की योजना बनाने के लिए कांग्रेस से गठबंधन किया। इसी समय श्रीमती एनी बेसेंट ने, जो कि अब तक सिर्फ धार्मिक क्षेत्र तक अपना कार्यक्रम सीमित किए हुए थीं, होमरूल लीग या होमरूल आंदोलन प्रारंभ किया। तिलक सन् 1914 में जेल से छूटे थे। उन्होंने पूना में एक अन्य होमरूल लीग की स्थापना की। युद्ध के बाद इन दोनों लीगों ने बड़े उत्साह से भारत के लिए होमरूल या स्वशासन प्रदान किए जाने की माँग का गोष्ठियों, देश में भ्रमण करके दिए गए भाषणों, तथा बड़े पैमाने पर ज्ञापनों की बिक्री कर प्रचार किया। इन दोनों लीगों की गतिविधियों ने सरकारी खेमे में हलचल मचा दी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि गवर्नर जनरल चेम्सफ़ोर्ड ने भारत सचिव से सरकारी नीति के विषय में एक आम वक्तव्य प्रसारित करने की माँग की। उसने होमरूल आंदोलन का उल्लेख किया और साथ ही साथ रूस में ज़ार के शासन का तख्ता पलट दिए जाने का भारतीय राजनीति पर पड़ने वाले असर का भी ज़िक्र किया। इसी बीच, लखनऊ में नरमदल, गरमदल, होमरूल आंदोलनकारी और मुस्लिम लीग एक जुट हुए और उन्होंने

सर्वसम्मति से एक समझौता किया जिसे लखनऊ समझौते (दिसम्बर 1916) के रूप में जाना जाता है। उन्होंने एक साथ मिलकर संवैधानिक सुधारों की एक योजना भी तैयार की। अंग्रेज़ों में एक प्रभावशाली दल ने जो कि अपने को "राउण्ड टेबिल" कहता था (इस वर्ग का यह दृष्टिकोण था कि सभी विवादों को मिल बैठकर हल किया जाना चाहिए), सरकार की संरचना के मुद्दे को उठाया। इसके सदस्यों (लियोनेल कर्टिस, विलियम ड्यूक आदि) ने यह अनुभव किया कि बिना कोई प्रशासनिक उत्तरदायित्व प्रदान किए हुए, विधान परिषदों में चुने हुए प्रतिनिधियों का बहुमत स्थापित करने से निरंतर विरोध की स्थिति उत्पन्न होगी। इसलिए उन्होंने प्रांतों में द्वैध शासन (Dyarchy) स्थापित किए जाने का प्रस्ताव रखा। "डाइआर्की" शब्द ग्रीक मूल का है और इसका शाब्दिक अर्थ है—एक ऐसी सरकार जिसमें सर्वोच्च शक्ति संयुक्त रूप से, दो व्यक्तियों, या दो राज्यों या दो संस्थाओं को प्रदान की गई हो।

इस पृष्ठभूमि में जब कि भारत सरकार से युद्ध कोश में दस लाख पौंड का योगदान माँगा गया, तो यह अनुभव किया गया कि जनमत को संतुष्ट करने के लिए कुछ कदम उठाने पड़ेंगे। सरकार को अपने खर्चे के लिए भी अतिरिक्त राजस्व की नितांत आवश्यकता थी। अंततः इसे आयात पर तटकर लगाने की अनुमति मिल गई। सूती कपड़े पर साढ़े सात प्रतिशत आयात कर लगा दिया गया जबकि आबकारी कर को साढ़े तीन प्रतिशत पर बरकरार रखा गया। इस कर को मुख्य रूप से आर्थिक कारणों से लगाया गया था। लेकिन इसने भारतीय कपड़ा उद्योग को कुछ संरक्षण प्रदान किया और इस तरह एक सीमा तक, भारतीय नेताओं की दीर्घकाल से की जाती रही माँग को स्वीकार कर लिया गया। यह भी निर्णय लिया गया कि ब्रिटिश सरकार को भारत में अपने संभावित लक्ष्य के विषय में भी एक वक्तव्य जारी करना चाहिए।

यह अनुभव किया गया कि थोड़ा-थोड़ा देने की या अनुमानित विकास संबंधी योजनाएँ अब भारतीयों को स्वीकार्य नहीं हैं। केवल अपने लक्ष्य की घोषणा करने में पहल करके ही अंग्रेज़ स्थिति पर नियंत्रण पा सकते हैं।

भारतीयों को अधिक राजनैतिक शक्ति और उत्तरदायित्व प्रदान किए जाने की नीति मुख्य रूप से भारत में राजनैतिक दबाव के कारण अपनाई गई थी। यह भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने की एक युक्ति थी। इन्हीं परिस्थितियों में 20 अगस्त, 1917 को लॉर्ड मोन्टेग्यू ने जो कि भारत के सचिव थे, ब्रिटिश संसद में निम्न वक्तव्य दिया:

> "महामहिम की सरकार की यह नीति है कि····प्रशासन की हर शाखा में भारतीयों का संयोजन बढ़ता जाये और स्वायत शासित संस्थाओं का इस बात को ध्यान में रखकर विकास किया जाये कि ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य अंग के रूप में भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना सरकार का लक्ष्य है।"

इस घोषणा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो प्रगति होगी वह क्रमिक चरणों में होगी और इस दिशा में प्रभावशाली कदम तुरंत उठाए जाएँगे। इस विषय में कब और कितनी प्रगति होगी, इसका निर्णय ब्रिटिश संसद द्वारा लिया जाएगा। इस प्रकार के मामलों में संसद का निर्णय भारतीयों द्वारा कार्यकुशलता के प्रदर्शन के आधार पर संचालित होना था। मोंटेग्यू ने स्वयं भारत आने और संवैधानिक परिवर्तन की एक योजना तैयार करने का निश्चय किया। नवंबर 1917 में, लॉर्ड मोन्टेग्यू भारत आए और उन्होंने वाइसरॉय लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड, केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के अधिकारियों तथा भारतीय नेताओं के साथ विचार विमर्श किया। इन विचार विमर्शों के आधार पर भारतीय संवैधानिक सुधारों पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई जिसे मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट या सिर्फ़ मोन्टफ़ोर्ड रिपोर्ट (जुलाई 1918) कहा गया। कुल मिलाकर अगस्त 1917 की घोषणा का भारत में स्वागत ही हुआ। लेकिन जो योजना इस रिपोर्ट में पेश की गई उसे नरमदल के कुछ नेताओं को छोड़कर, शेष भारतीय नेताओं ने अपनी आशाओं से बहुत कम पाया। श्रीमती एनी बेसेंट ने इस प्रावधान को कि सत्ता हस्तांतरण धीरे-धीरे किया जाये, अंग्रेज़ों द्वारा दिए जाने के, और भारतीयों द्वारा स्वीकार किए जाने के, सर्वथा अयोग्य मानकर अस्वीकृत कर दिया।

बंबई में अगस्त 1918 में इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में इस योजना को अपर्याप्त, असंतोषजनक, और निराशापूर्ण बताते हुए इसकी भर्त्सना का एक प्रस्ताव पारित किया गया।

दूसरी ओर नरमदल के नेता यह मान चुके थे कि यह प्रस्ताव विद्यमान परिस्थितियों की तुलना में काफी हद तक प्रगतिशील है और इसमें निहित सदविचारों का सम्मान करना चाहिए। मोंटेग्यु जो कि इस काल में अपनी योजना के लिए समर्थकों की तलाश में थे, ने अपनी डायरी में लिखा:

"सरकार की हर संभव मदद से, हमारे प्रस्तावों के प्रचार हेतु, भारतीयों का एक नया संगठन बनाया जाएगा और हमारी मदद करने के लिए शिष्ट मंडल इंग्लैंड भेजा जाएगा।" नरमदल ने बंबई के कांग्रेस अधिवेशन में भाग नहीं लिया और नवंबर, 1918 में बंबई में ही वे ऑल इंडिया कान्फ्रेंस में सम्मिलित हुए। अपने अध्यक्षीय भाषण में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने दल की इस प्रकार व्याख्या की – "सुधारों का मित्र और क्रांति का शत्रु।" मई, 1919 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने संयुक्त संसदीय समिति (ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमेटी) के समक्ष गवाही देने के लिए इंग्लैंड भेजे गए भारतीय शिष्ट मंडल का नेतृत्व किया। मोन्टफोर्ड रिपोर्ट के आधार पर ही गवर्नमेंट ऑफ इंडिया बिल तैयार किया गया और फिर उसे ब्रिटिश संसद में पेश किया गया। यह दिसम्बर, 1919 में ऐक्ट बन गया। इस ऐक्ट की प्रस्तावना अगस्त, 1917 की घोषणा पर आधारित थी।

17.5.2 केंद्रीय सरकार में परिवर्तन

मुख्य प्रशासनिक सत्ता गवर्नर जनरल के ही पास रही जो कि भारत सचिव के माध्यम से (न कि भारतीय विधान परिषद् के माध्यम से) ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का गठन किंचित परिवर्तन के साथ किया गया जबकि भारतीय विधान सभा के संगठन में काफी परिवर्तन किए गए। लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया कि इसका लक्ष्य, सदन की शक्ति में वृद्धि करना नहीं है बल्कि इसे और अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाना और सरकार पर प्रभाव डालने के और अवसर प्रदान करना है।

प्रशासन की हर शाखा में भारतीयों के बढ़ते हुए संयोजन की नीति को कार्यान्वित करने के लिए, यह व्यवस्था की गई कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के कुल छह सदस्यों में से तीन भारतीय होंगे। हालाँकि यह उल्लेखनीय है कि इन सदस्यों को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विभाग यथा कानून, शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य या उद्योग दिए गए। वे गवर्नर जनरल के प्रति जवाबदेह थे और उसके माध्यम से भारत सचिव को, न कि भारतीय विधान सभा (या परिषद्) को।

ऐक्ट ने केंद्र में द्विसदनीय विधान सभा की व्यवस्था की। ये दो सदन थे काउंसिल ऑफ स्टेट तथा लेजिसलेटिव एसेम्बली। काउंसिल ऑफ स्टेट में कुल 60 सदस्य थे जिनमें से कम-से-कम 33 निर्वाचित सदस्य होने थे। मनोनीत सदस्यों में से अधिक से अधिक 20 सरकारी हो सकते थे। लेजिसलेटिव एसेम्बली के कुल 145 सदस्यों में से 104 निर्वाचित सदस्य होने थे, 30 का चुनाव मुसलमानों में से, 2 का चुनाव सिक्खों में से, 7 का चुनाव ज़मींदारों में से, 9 का यूरोपियों में से तथा 4 का इंडियन कॉमर्शियल कम्युनिटी अर्थात् भारतीय व्यापारिक संघ में से होना था। सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल में सिक्खों को भी शामिल कर लिया गया था। यह उल्लेखनीय है कि प्रान्तों में इन स्थानों का वितरण उनकी जनसंख्या के आधार पर नहीं बल्कि उनके तथाकथित महत्व पर आधारित था। सदन का कार्यकाल तीन वर्ष का था परन्तु इसे गवर्नर जनरल द्वारा बढ़ाया जा सकता था।

विधान सभा की शक्तियाँ और कार्य करीब-करीब पहले की तरह ही रहे। केवल एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि प्रांतीय तालिका में उल्लिखित विषयों पर किसी विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक कर दी गई। गवर्नर ज़नरल की शक्ति का विस्तार किया गया। किसी भी विधेयक पर निषेधाधिकार का प्रयोग करने के अतिरिक्त गवर्नर जनरल को प्रमाणित करने की शक्ति (पॉवर ऑफ सर्टिफिकेशन) भी थी, अर्थात् वह किसी भी ऐसे विधेयक को कानून बना सकता था जो उसकी दृष्टि में आवश्यक था, भले ही उसे सदन ने नामंजूर कर दिया हो। वह ऐसा यह प्रमाणित करके कर सकता था कि यह विधेयक ब्रिटिश भारत की या उसके किसी भाग की सुरक्षा, शांति या हितों के लिए अत्यावश्यक है। सवाल पूछने के कार्यक्षेत्र को बढ़ाया गया और सभी सदस्यों को पूरक प्रश्न करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

मोंटफोर्ड योजना के अंतर्गत प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदायी सरकार बनाई गई। इसके कारण केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के कार्यक्षेत्रों का सीमा निर्धारण आवश्यक हो गया। इसलिए दो तालिकाएँ तैयार की गईं। यह विभाजन इस आधार पर किया गया कि जो विषय पूरे भारत से सम्बद्ध हैं या एक से अधिक प्रान्त से सम्बद्ध हैं उन्हें केंद्रीय तालिका में रखा जाना चाहिए जबकि उन विषयों को जोकि केवल प्रान्तों से सम्बद्ध हैं उन्हें प्रांतीय तालिका में रखा जाना चाहिए।

केंद्रीय विषयों में विदेश तथा राजनैतिक सम्बन्ध, सार्वजनिक ऋण, तटकर, सीमाशुल्क, राजकीय एकाधिकार पत्र, मुद्रा, संचार आदि सम्मिलित थे। प्रांतीय तालिका में स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ, स्वास्थ्य, सफ़ाई, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, कृषि, वन, कानून, शांति व्यवस्था आदि विषय थे। शेष शक्तियाँ गवर्नर जनरल-इन काउंसिल में सन्निहित थीं।

यह अनुभव किया गया कि भारतीयों को आंशिक उत्तरदायित्व दिया जाना भी तभी सार्थक हो सकता है जबकि प्रांतीय विकास के लिए प्रांत भारत सरकार पर आश्रित न हों। इसलिए इस ऐक्ट में केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के लिए पृथक-पृथक राजस्व स्रोतों की व्यवस्था की गई।

17.5.3 प्रांतीय सरकारों में परिवर्तन

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट 1919 के अंतर्गत प्रांतों में सरकार के कुछ कार्य भारतीयों को हस्तांतरित किए गए जबकि शेष ब्रिटिश नियंत्रण में सुरक्षित रखे गए। इस विभाजन के अधीन विषयों को दो समान भागों – "सुरक्षित" तथा "हस्तांतरित" में विभाजित किया गया। इसी के अनुरूप प्रांतीय सरकार भी दो समान भागों को मिलाकर गठित की गई थी। गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को सुरक्षित विषयों का प्रशासन करना था। हस्तांतरित विषयों को गवर्नर को मंत्रियों के साथ मिलकर प्रशासित करना था। प्रान्तों में प्रशासनिक शक्तियों का यह अभिनव वितरण द्वैध शासन के रूप में जाना गया। सरकार के दो पक्षों में एक दूसरे से संगठन के विषय में गवर्नर तथा विधान परिषद् के साथ उनके संवैधानिक सम्बन्धों के विषय में स्पष्ट रूप से अन्तर कर दिया गया।

मोटे तौर पर कहा जाये तो चार विषय, अर्थात् स्थानीय स्वायत्त शासन, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कृषि से संबन्धित कुछ विषय हस्तांतरित विषयों में शामिल किए गए। शेष सभी विषय सुरक्षित विषय थे। इनमें पुलिस, न्याय, छापेखानों पर नियंत्रण, सिंचाई, भू-राजस्व, कारखाने आदि विषय सम्मिलित थे।

गवर्नर और कार्यकारिणी के सदस्य ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे, और वे गवर्नर जनरल तथा भारत सचिव के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी होते थे। कार्यकारिणी पार्षदों की संख्या 4 से अधिक नहीं होती थी। मंत्रीगण जिनको कि हस्तांतरित विषय सौंपे गये थे, गवर्नर द्वारा नियुक्त किए गए। गवर्नर आमतौर पर मंत्रियों को विधान सभा के प्रमुख निर्वाचित सदस्यों में से ही चुनते थे। व्यवहार में, प्रत्येक प्रान्त में दो या तीन मंत्री होते थे। नियमानुसार मंत्रीगणों का कार्यकाल गवर्नर की इच्छा पर निर्भर था लेकिन व्यवहार में वे अपने पद पर तब तक बने रहते थे जब तक उन्हें विधान सभा का विश्वास प्राप्त रहता था। प्रांतीय गवर्नरों तथा मंत्रियों के मध्य सम्बन्ध का आधार निर्देशन लेखपत्र था जो कि गवर्नरों को जारी किया गया था और जिसमें कहा गया था: "किसी मंत्री की राय पर विचार करते समय और उसकी राय से असहमत होने के औचित्य और अनौचित्य पर विचार करते समय आपको उस मंत्री और विधान सभा से उसके सम्बन्धों तथा जनमत का (जो कि विधान सभा में लोगों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त है) ध्यान रखना पड़ेगा।"

इस निर्देशन लेखपत्र में गवर्नर के विशिष्ट उत्तरदायित्व की व्याख्या भी की गई थी जिसमें उसे मंत्रियों द्वारा लिए गए निर्णयों को अस्वीकार करने की विस्तृत शक्ति दी गई थी। यह विचार कि मंत्रीगण अपने कार्यों के लिए संयुक्त रूप से उत्तरदायी हों, उस समय बहस का विषय तो बना परन्तु अंततः इस सिद्धान्त का पालन करना अनिवार्य नहीं बनाया गया।

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट मूलतः आठ प्रान्तों, मद्रास, बंबई, बंगाल, संयुक्त प्रांत, पंजाब बिहार और उड़ीसा, मध्यप्रान्त और आसाम में लागू किया गया। सन् 1923 में इसकी

व्यवस्थाओं का विस्तार बर्मा और कुछ समय बाद उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत तक भी कर दिया गया।

इन सभी प्रान्तों में एक सदनी विधान सभा का, जिसे लेजिसलेटिव काउंसिल कहा जाता था, निर्माण किया गया। इसमें गवर्नर की कार्यकारिणी, निर्वाचित सदस्य और मनोनीत सदस्य होते थे। यह भी व्यवस्था की गई कि काउंसिल के कम-से-कम 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित हों और सरकारी सदस्य अधिक-से-अधिक 20 प्रतिशत। इन विधान सभाओं का आकार काफ़ी बढ़ा दिया गया और यह एक प्रांत से दूसरे प्रान्त में भिन्न-भिन्न था। अधिकतम सदस्य, बंगाल में कुल 140 थे तथा न्यूनतम, आसाम में कुल 53 थे।

निर्वाचित सदस्यों को सीधे चुनाव द्वारा चुना जाता था, अर्थात् प्राथमिक मतदाता ही सदस्यों को चुनते थे। मताधिकार मुख्य रूप से सम्पत्ति विषयक योग्यता पर आधारित था। सन् 1920 में कुल 24 करोड़ 17 लाख जनसंख्या में से केवल 53 लाख लोगों को अर्थात् 5 प्रतिशत (वयस्कों) से भी कम लोगों को मताधिकार मिला। महिलाओं को मताधिकार या चुनाव में खड़े होने का अधिकार प्रदान नहीं किया गया। मै यहाँ आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि ब्रिटेन में भी 1918 में महिलाओं को मताधिकार दिया गया था।

पृथक निर्वाचक मंडल के सवाल की जाँच करके मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट के समीक्षकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वे आत्मशासन या स्वशासन सिद्धान्त के विकास में गम्भीर बाधा हैं। उन्होंने इन निर्वाचक मंडलों को इतिहास से मिलने वाली शिक्षा के विरुद्ध बताया और यह भी कहा कि इनसे वर्ग विभाजन चिरस्थायी हो जाता है तथा विद्यमान सम्बन्धों में जड़ता आ जाती है। फिर भी उन्होंने इस पृथक निर्वाचक मंडल के उन्मूलन की संस्तुति नहीं की और उन्होंने इसे पंजाब में सिक्खों के लिए भी लागू कर दिया। बाद में जस्टिस पार्टी की गैर ब्राह्मणों के लिए स्थानों के आरक्षण की माँग को भी स्वीकार कर लिया गया। भारतीय ईसाइयों, एंग्लों इंडियनों और यूरोपीयों को भी पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान कर दिया गया।

17.5.4 मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार पर विचार

द्वैध शासन की संपूर्ण धारणा एक गलत सिद्धांत पर आधारित थी। किसी राज्य या सरकार के कार्यों को दो सर्वथा पृथक (एक दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र) खंडों में विभाजित कर पाना बहुत कठिन है। इस तर्कहीन विभाजन से समस्या और भी जटिल हो गई। जबकि कृषि हस्तांतरित विषय था, भू-राजस्व और सिंचाई सुरक्षित विषय थे। सी.वी. चिंतामणि ने जो संयुक्त प्रांत में एक मंत्री थे, एक दिलचस्प मामले का हवाला दिया है। सन् 1921 में कृषि विभाग में कृषि भूमि के विखण्डन के प्रश्न पर जाँच पड़ताल शुरू हुई। जब सन् 1922 में रिपोर्ट पेश की गई तो यह अनुभव किया गया कि इस प्रश्न को राजस्व विभाग को देखना चाहिए था अतः गवर्नर ने इस मामले को इस सुरक्षित विभाग को सौंप दिया। सन् 1924 में फिर यह पाया गया कि इस कार्य का एक अंश सहकारिता विभाग द्वारा किया जाना चाहिए। इसी प्रकार यूरोपीयों और एंग्लों इंडियनों की शिक्षा, शिक्षा मंत्री के अधिकार क्षेत्र से बाहर थी।

इस प्रकार की पद्धति तभी कारगर हो सकती थी जब दोनों ही भागों में परस्पर विश्वास होता। जबकि मंत्रीगण अपने देशवासियों के हितार्थ थे, तो कार्यकारिणी के सदस्य और सामान्यतः सिविल सेवाओं के सदस्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के रक्षार्थ थे। हस्तांतरित विभागों में भी मंत्रियों का सिविल सेवाओं के अधिकारियों पर कोई नियंत्रण नहीं था। विभागों के सचिवों की गवर्नर तक सीधी पहुँच थी जिसकी वजह से मंत्रियों की स्थिति प्रतिकूल हो गई थी। इसके अतिरिक्त मंत्रियों को दो मालिकों को खुश करना पड़ता था। उसकी नियुक्ति गवर्नर के द्वारा की जाती थी जो उन्हें बर्खास्त भी कर सकता था लेकिन वे विधान सभा के प्रति भी जवाबदेह थे। इनमें सबसे प्रमुख बात यह थी कि तथाकथित राष्ट्र निर्माण के विभाग जो कि मंत्रियों को सौंपे गए थे, वे तभी कुछ कारगुजारी दिखा सकते थे जबकि उन्हें धन उपलब्ध हो। मंत्रियों ने यह शिकायत की कि हस्तांतरित विषयों की ज़रूरतों पर विचार-विमर्श किए बिना ही सुरक्षित विभागों को इच्छानुसार धन प्राप्त हो जाता था।

भारत में परिस्थितियाँ, सुधार योजना का स्वागत करने के अनुकूल नहीं थी। सन् 1918-19 में अनावृष्टि और व्यापार में मंदी के फलस्वरूप जनता में असंतोष व्याप्त हुआ। रॉलट विधेयकों में से एक विधेयक मार्च, 1919 में भारतीयों के समवेत विरोध के बावजूद ऐक्ट बन गया। 6 अप्रैल 1919 को गांधी जी ने हड़ताल का आह्वान किया जो बहुत सफल रहा। 3 अप्रैल, 1919 को जलियाँवाला बाग हत्याकांड हुआ जिससे अन्य घटनाओं के साथ मिलकर सरकार और जनता के बीच का सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गया। धीरे-धीरे सुधार योजना के प्रति विरोध ने कठोर होकर अस्वीकरण का रूप ले लिया। मुसलमान अंग्रेज़ों के, तुर्की के शासक ख़लीफ़ा के प्रति अंग्रेज़ों के कठोर रवैये से क्षुब्ध थे। उन्होंने महात्मा गांधी के नेतृत्व में ख़िलाफ़त आन्दोलन प्रारंभ किया। 1 अगस्त 1920 को कांग्रेस ने प्रगतिशील, अहिंसक असहयोग की नीति अपनाने का निश्चय किया। इसी के साथ चुनावों का बहिष्कार भी शुरू हुआ। ये चुनाव नवंबर 1920 में होने थे। कॉंग्रेस के बहिष्कार से नए संविधान को गहरी क्षति पहुँची।

सन् 1919 में लागू की गई संवैधानिक सुधार की योजना इतनी अलोकप्रिय हुई कि इसकी निंदा करना एक आम बात हो गई। फिर भी भारत में संसदीय लोकतंत्र के विकास में इसका खास महत्व है। यह उल्लेखनीय है कि सन् 1919 में जो परिवर्तन किए गए वे सन् 1916 में सुझाई गई योजनाओं से भी बहुत पिछड़े हुए थे। इसके अलावा सरकार ने संवैधानिक परिवर्तनों के लक्ष्यों की घोषणा कर दी थी इसलिए बादे से फिर जाना नीति विरुद्ध बात थी। दूसरे शब्दों में इस घोषणा ने और अधिक रियायतों को अवश्यंभावी बना दिया था। इस ऐक्ट ने केन्द्र और प्रान्तों में निर्वाचित वैधानिक संस्थाओं का निर्माण किया। इन संस्थाओं द्वारा भारतीयों की राय निरन्तर और स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई। इन बहसों ने राज की पक्षधर आदर्शात्मक दलीलों को और कमज़ोर बना दिया तथा तेज़ी से बढ़ती साम्राज्यवाद विरोधी भावना को और तेज कर दिया। इसी समय चुनावों और संगोष्ठियों के आयोजन से भारतीय संसदीय शब्दावली और संस्थाओं से परिचित हुए और इस प्रकार इनके आयोजन ने भारत में संसदीय लोकतंत्र के सफल कार्यान्वयन में योगदान दिया।

आगामी वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन का विस्तार हुआ और किसानों, व्यापारियों और औद्योगिक श्रमिकों का एक बड़ा वर्ग इसमें सम्मिलित हुआ। यह आंशिक रूप से युद्धोपरांत आर्थिक संकट का परिणाम था और आंशिक रूप से यह विश्वव्यापी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध छेड़े जाने वाले आंदोलन का परिणाम था जिसका विकसित राष्ट्रों में पूँजीपति विरोधी तथा उपनिवेशों में साम्राज्यवाद विरोधी स्वरूप था। इसने शिकायतों और आकांक्षाओं का ऐसा समन्वय उत्पन्न किया कि यदि उसे सही दिशा दी जा सकती तो राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया बल मिलता और वह विकास के उच्च शिखर पर पहुँच जाता। ख़िलाफ़त के प्रश्न और पंजाब में हुए ब्रिटिश दमन चक्र को लेकर जो भावना और क्रोध का ग़बार उठा था वह इस अपूर्व समन्वय को और भी प्रखर और गतिशील बना गया। कुछ इतिहासकारों ने सन् 1919 के सुधारों को दोहरी साम्राज्यवादी ज़रूरतों-आर्थिक अवमूल्यन तथा भारतीयों की व्यापक सहभागिता की आवश्यकता, से जोड़ा है। हालांकि, अधिक विवादास्पद वह कारण-कार्य सम्बन्ध है जिसे कुछ इतिहासकारों ने सुधारों और जन-राजनीति के उदय के बीच खोजना चाहा है। यह तर्क दिया जाता है कि सन् 1919 के ऐक्ट ने चूँकि निर्वाचक मंडल को विस्तृत किया था, अतः राजनीतिज्ञ अपेक्षाकृत अधिक लोकतांत्रिक तरीके विकसित करने के लिए बाध्य हुए। हालांकि, सुमित सरकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। उनके अनुसार इस दृष्टिकोण से विशिष्ट प्रकार की राजनीति और राजनीतिज्ञों के कार्यों की व्याख्या तो की जा सकती है परन्तु यह युद्धोपरान्त जन जागरण की, जिसकी अभिव्यक्ति चुनावों के बहिष्कार तथा 1919 से 1922 तक हुए साम्राज्यवाद विरोधी जन आंदोलनों में हुई, व्याख्या करने में और उसके आधारभूत तत्वों को बताने में शायद ही सफल होगा।

बोध प्रश्न 3

1 किन बातों ने सरकार को अगस्त, 1917 की घोषणा करने के लिए प्रेरित किया? लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

. . . . . .

. . . . . .

2 मॉंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड योजना की आधारभूत विशेषताएँ क्या थीं? लगभग 10 पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

3 द्वैध शासन की कार्य प्रणाली में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ आईं। लगभग पाँच पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

17.6 सारांश

इस इकाई में हमने अंग्रेज़ों द्वारा भारत में सन् 1892 से लेकर सन् 1920 तक के काल में किए गए संवैधानिक परिवर्तनों पर विचार किया है। अंग्रेज़ों ने यह महसूस कर लिया था कि भारत में ब्रिटिश शासन की रक्षा के लिए उन्हें उन भारतीयों की, जो कि अपनी माँगों को संविधान के संकुचित दायरे में ही रखने को तैयार थे, आकांक्षाओं को संतुष्ट करना ज़रूरी हो गया था। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए सन् 1892 का इंडियन काउंसिल ऐक्ट पारित किया गया जिससे परिषदों का विस्तार हुआ परन्तु उनमें सरकारी बहुमत बनाए रखा गया। चुनाव सिद्धान्त (यद्यपि अप्रत्यक्ष) को लागू किया गया और परिषदों को बजट पर विचार-विमर्श करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

सन् 1895 से 1906 के दौरान अनेक कारणों से ब्रिटिश सरकार के प्रति असंतोष की भावना में वृद्धि हुई। इस पृष्ठभूमि में मोर्ले-मिन्टो सुधार प्रस्तुत किए गए जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई और पृथक निर्वाचक मंडल की प्रणाली, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व दिया गया, प्रचलित की गई। इसने आगे चलकर अलगाववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। प्रथम विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों ने गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1919 की पृष्ठभूमि तैयार की, यह ऐक्ट मोन्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार के रूप में जाना जाता है। इस ऐक्ट में किया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन द्वैध शासन था जिसके अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों को अपेक्षाकृत अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई थीं लेकिन गवर्नर का वित्तीय संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण बना रहा जबकि मंत्रियों को सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा आदि विभाग सौंपे गए। मंत्रीगण विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थे पर वे गवर्नर के प्रति भी जवाबदेह थे तथा गवर्नर को उनकी

नियुक्ति तथा उन्हें अपदस्थ करने का अधिकार था। केंद्रीय सरकार का प्रांतीय सरकारों पर पूर्ण अधिकार था और विधान सभा के सदस्यों को चुनने का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था अर्थात् मताधिकार बहुत सीमित था। समय-समय पर होने वाली सुधार नीतियाँ, साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन जो कि भारतीय राजनीति का व्यापक अंग बन चुका था, से निपटने तथा उसके दमन की अभिव्यक्ति मात्र थी।

17.7 शब्दावली

कार्यकारिणी समिति: सरकार का वह अंग जो निर्णयों तथा आदेशों के कार्यान्वयन से सम्बन्धित हो।

विधान सभा: सरकार का वह अवयव जो कानून बनाता हो तथा उन्हें पारित करता हो।

संसदीय लोकतंत्र: एक ऐसी राजनैतिक प्रणाली जिसमें संसद में विद्यमान निर्वाचित प्रतिनिधि विधि निर्माण की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हों। ये प्रतिनिधि वृहत् वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं।

पृथक निर्वाचन क्षेत्र: एक ऐसी प्रणाली जिसमें मतदाता प्रतिनिधित्व के उद्देश्य से संप्रदाय या धर्म के आधार पर विभाजित किए जाएँ।

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 i) ×
ii) √
iii) ×

2 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
प्रशासनिक (संवैधानिक) सुधारों की राष्ट्रवादियों में बढ़ती हुई माँग, संवैधानिक सुधारों आदि द्वारा राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करने की सरकार की नीति। देखिए उपभाग 17.3.1.

3 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
परिषदों का विस्तार किया गया, चुनाव का सिद्धान्त लागू किया गया और परिषदों को बजट पर बहस करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

बोध प्रश्न 2

1 i) राज को सुदृढ़ करने के लिए नरमदल को साम्राज्य का समर्थक बनाना
ii) हिंदुओं और मुसलमानों में फट डालना

2 आपके उत्तर में निम्न बातें शामिल होनी चाहिए:
अंग्रेज़ नरमदल को साम्राज्य का समर्थक बनाना चाहते थे इसलिए वे नरमदल की संवैधानिक सुधारों की माँग को स्वीकार कर लेना चाहते थे। अंग्रेज़ सन् 1909 के सुधार के माध्यम से मुसलमानों को, पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान करके अपनी ओर मिलाना चाहते थे। देखिए उपभाग 17.4.1.

3 आपकें उत्तर में निम्न बातें आनी चाहिए:
परिषदों में अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई और मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की प्रणाली प्रचलित की गई। देखिए उपभाग 17.4.2 तथा 17.4.3.

बोध प्रश्न 3

1 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
बंगाल विभाजन को रद्द करके अंग्रेज़ों ने मुसलमानों को रुष्ट कर दिया था। लखनऊ

समझौते के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य सहयोग एवं सद्भाव। इन तथ्यों ने अंग्रेजों को चिंतित कर दिया था। अंग्रेज़ युद्ध के प्रयासों में भारतीय सहयोग प्राप्त करने के लिए उसकी कीमत चुकाने को तैयार थे। देखिए उपभाग 17.5.1

2 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
द्वैध शासन का प्रचलन जिसके अंतर्गत प्रांतीय सरकारों को और अधिक अधिकार प्रदान किए गए परन्तु यह सुचारू रूप से कार्य नहीं कर सका। केन्द्रीय सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर असीमित नियंत्रण था। देखिए उपभाग 17.5.2 तथा 17.5.3.

3 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
द्वैध शासन के अंतर्गत राज्य के कार्यों का एक दूसरे से पूर्ण रूपेण पृथक तथा स्वतंत्र विभागों में विभाजन पूर्णतः अप्रभावकारी सिद्ध हुआ क्योंकि मंत्रियों और कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों में पारस्परिक आस्था नहीं थी और उनके हित प्रायः आपस में टकराते थे। देखिए उपभाग 17.5.4.

इकाई 18 असहयोग और ख़िलाफ़त आंदोलन, 1919-1922

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 पृष्ठभूमि
18.3 ख़िलाफ़त की समस्या
18.4 असहयोग की ओर: कलकत्ता से नागपुर
18.5 असहयोग आन्दोलन के प्रमुख पक्ष
18.6 आंदोलन पर जनता की प्रतिक्रिया
18.7 आंदोलन का फैलाव, क्षेत्रीय विभिन्नताएँ
18.8 अंतिम चरण
18.9 आंदोलन वापिस लेने के कारण
18.10 प्रभाव
18.11 सारांश
18.12 शब्दावली
18.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

यह इकाई पढ़ने के बाद आप:

- असहयोग तथा ख़िलाफ़त आंदोलनों को चलाने के कारणों को समझ पायेंगे,
- इन आंदोलनों में अपनाई गई कार्य-योजनाओं से सुपरिचित हो सकेंगे,
- इन आंदोलनों के प्रति भारतीय जनता की प्रतिक्रिया के बारे में जान पायेंगे,
- इन आंदोलनों के प्रभावों को समझ सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

सन् 1920-21 के दौरान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने एक नए दौर यानी, जन-राजनीति और जनता को लामबंद करने के दौर में प्रवेश किया। ब्रिटिश शासन का विरोध दो जन-आन्दोलनों ख़िलाफ़त तथा असहयोग, के द्वारा हुआ। अलग-अलग समस्याओं से उभरने के बावजूद दोनों आंदोलनों ने एक समान कार्य-योजना को अपनाया। अहिंसात्मक संघर्ष की तकनीक राष्ट्रीय स्तर तक अपनाई गई। इस इकाई में हम इन आन्दोलनों को चलाने के कारणों, आंदोलनों के पक्षों, जनता तथा नेतृत्व की भूमिका की चर्चा करेंगे। यह इकाई क्षेत्रीय विभिन्नताओं तथा आंदोलनों के प्रभाव का भी विश्लेषण करेगी।

18.2 पृष्ठभूमि

प्रथम विश्व युद्ध, रॉलट ऐक्ट, जलियाँवाला बाग हत्याकांड तथा मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के प्रभाव ने इन आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार की।

1 प्रथम विश्व युद्ध के बाद के समय में दैनिक जीवन की जरूरतों की चीजों के दाम तेजी से बढ़ गए थे जिससे आम जनता सबसे अधिक पीड़ित थी। आयात की मात्रा जो कि प्रथम विश्व युद्ध के दौरान घट गई थी युद्ध के अन्त तक फिर बढ़ गई। उत्पादन कम हो गया, बहुत-सी फैक्ट्रियाँ बंद हो गईं तथा इन सबका स्वाभाविक शिकार मजदूर बने। किसान भी लगान तथा करों के भारी बोझ से दबे हुए थे। अतः युद्ध के बाद के सालों में देश की आर्थिक स्थिति गंभीर हो गई। राजनीति के क्षेत्र में, जब अंग्रेजों ने लोकतंत्र के नए युग तथा जनता के आत्म निर्णय को लाने के वायदे को पूरा नहीं किया तो राष्ट्रवादियों का मोह भंग हुआ। इसने भारतीयों की ब्रिटिश शासन विरोधी प्रवृत्ति को मजबूत बनाया।

2 इस काल की दूसरी महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक घटना मार्च 1919 में रॉलट ऐक्ट का पारित होना था। इस अधिनियम ने सरकार को किसी भी व्यक्ति को बिना मुकदमा चलाये कैद रखने का अधिकार दिया। इसका आधारभूत लक्ष्य राष्ट्रवादियों को अपने बचाव का मौका दिए बिना ही कैद करना था। गांधी जी ने सत्याग्रह के द्वारा इसका विरोध करने का निर्णय लिया। मार्च व अप्रैल 1919 के महीने भारत में एक असाधारण *राजनैतिक जागरूकता का समय था। रॉलट ऐक्ट के विरुद्ध हड़ताल व प्रदर्शन हुए।*

3 इसी समय अमृतसर के जलियाँवाला बाग में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नग्न बर्बरता का भी अनुभव हुआ। 13 अप्रैल 1919 को अपने जनप्रिय नेताओं डॉ. सैफुद्दीन किचलू तथा डॉ. सत्यपाल की गिरफ्तारी के खिलाफ़ विरोध प्रकट करने के लिए निहत्थी मगर भारी भीड़ जलियाँवाला बाग में एकत्रित हुई थी। जलियाँवाला बाग एक बड़ा खुला हुआ स्थान था जो तीन ओर से इमारतों द्वारा घिरा हुआ था तथा उसमें एक ही निकास था। अमृतसर के कमाण्डर जनरल डायर ने अपनी सेना को उस निहत्थी भीड़ पर बिना चेतावनी दिए गोली चलाने का आदेश दे दिया। हजारों लोग मारे गए और घायल हुए। इस घटना ने पूरे विश्व को धक्का पहुँचाया। महान् कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने अंग्रेज़ों द्वारा दी गई सर की उपाधि उतार फेंकी।

4 1919 में भारत सरकार के अधिनियम के पारित होने से राष्ट्रवादियों का और भी अधिक मोह भंग हुआ। सुधार-सुझाव (इसकी चर्चा हम इकाई 17 में कर चुके हैं।) भारतीयों की अपनी सरकार की बढ़ती माँग को संतुष्ट करने में असफल रहे। ज्यादातर नेताओं ने यह कहते हुए इसकी निंदा की कि यह "निराशाजनक तथा असंतोषजनक" है।

1 खिलाफ़त और असहयोग आंदोलन की शुरुआत – एक रेखाचित्र

इन सभी विकासों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ लोकप्रिय जनांदोलन की पृष्ठभूमि तैयार की। ख़िलाफ़त के उद्भव ने मुसलमानों के समर्थन को इस आन्दोलन के साथ जोड़ने में मदद पहुँचाई। गाँधी जी के नेतृत्व में इसको अंतिम रूप दिया गया। अब हम ख़िलाफ़त समस्या की चर्चा करेंगे जिसने शीघ्र ही आंदोलन को पृष्ठभूमि प्रदान की।

18.3 ख़िलाफ़त की समस्या

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान तुर्की ब्रिटेन के ख़िलाफ़ जर्मनी व आस्ट्रिया के साथ मिल गया था। भारतीय मुसलमान तुर्की के सुल्तान को अपने धार्मिक नेता "ख़लीफ़ा" के रूप में मानते थे। अतः स्वाभाविक रूप से उनकी सहानुभूति तुर्की के साथ ही थी। युद्ध के बाद ब्रिटेन ने तुर्की में ख़लीफ़ा को सत्ता से हटा दिया। इस तरह ख़लीफ़ा को पुनर्स्थापित करने के लिए भारत में मुसलमानों ने ख़िलाफ़त आंदोलन शुरू किया। उनकी मुख्य माँगें निम्न थीं:

- मुसलमानी धार्मिक स्थानों पर ख़लीफ़ा के नियंत्रण को वापिस लाया जाए।
- युद्ध के बाद के क्षेत्रीय-समझौते में ख़लीफ़ा को पर्याप्त क्षेत्र मिलने चाहिए।

1919 के शुरू में, बंबई में एक ख़िलाफ़त कमेटी बनाई गई थी। पहल मुसलमान व्यापारियों द्वारा की गई और उनकी गतिविधियाँ सभाओं, ख़लीफ़ा के पक्ष में अर्जी देने व प्रतिनिधि मंडल ले जाने, तक सीमित थीं। फिर भी जल्दी ही आंदोलन के भीतर एक जुझारू प्रवृत्ति उभरी। इस जुझारू प्रवृत्ति के नेता संयमी विचारधारा से सन्तुष्ट नहीं थे। उसके विपरीत उन्होंने देश-व्यापक आन्दोलन चलाने का प्रचार किया। दिल्ली में 22-23 नवम्बर 1919 में हुई अखिल भारतीय ख़िलाफ़त कान्फ्रेंस में उन्होंने पहली बार भारत में ब्रिटिश सरकार से असहयोग का समर्थन किया। यह वही कांफ्रेंस थी जहाँ हसरत मोहनी ने ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार करने का आह्वान किया। ख़िलाफ़त के नेतृत्वकारियों ने यह स्पष्ट रूप से बता दिया कि यदि युद्ध के बाद की शांति-शर्तें मुसलमानों के अनुकूल न हुईं तो वे सरकार से सभी प्रकार के सहयोग को बंद कर देंगे। अप्रैल 1920 में, शौकत अली ने अंग्रेज़ों को चेतावनी दी कि यदि सरकार भारतीय मुसलमानों को संतुष्ट करने में असफल रही तो, "हम हिन्दू मुसलमानों का संयुक्त असहयोग आंदोलन शुरू करेंगे।" इसके अतिरिक्त शौकत अली ने इस बात पर भी जोर दिया कि आंदोलन "महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति जिन्हें हिन्दू तथा मुसलमानों दोनों का ही आदर प्राप्त है" के नेतृत्व में शुरू होगा।

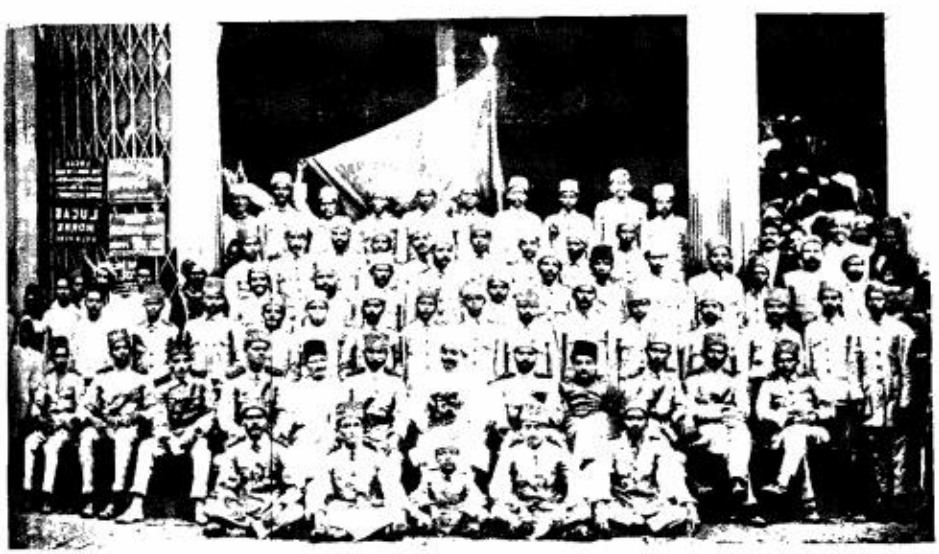

2 ख़िलाफ़त स्वयंसेवी

3 खिलाफ़त बैंड

4 मोहम्मद अली और एम.ए. अंसारी

खिलाफ़त की समस्या भारत की राजनीति से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं थी किन्तु खिलाफ़त आन्दोलन के नेता हिन्दुओं के समर्थन को प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। गाँधी जी ने इसमें अंग्रेजों के खिलाफ हिन्दू-मुसलमान एकता स्थापित करने का एक मौकर देखा

किन्तु ख़िलाफ़त समस्या को अपना समर्थन देने वाले अखिल भारतीय ख़िलाफ़त समिति के अध्यक्ष होने के बावजूद, मई 1920 तक गांधी जी एक संयमी रवैया अपनाये रहे। तुर्की समझौते की शर्तों, जोकि तुर्की के प्रति बेहद कठोर थीं, के प्रकाशन तथा मई 1920 में "पंजाब अशांति" पर हंटर कमेटी की रिपोर्ट के प्रकाशन ने भारतीयों को क्रोधोन्मत कर दिया और तब गांधी जी ने एक खुला दृष्टिकोण अपनाया।

इलाहाबाद में पहली से तीसरी जून 1920 को केंद्रीय ख़िलाफ़त कमेटी की बैठक हुई। इस सभा में अनेक कांग्रेस तथा ख़िलाफत नेता उपस्थित हुए। इस सभा में सरकार के प्रति असहयोग के कार्यक्रम को घोषित किया गया। जिसमें निम्न बातें शामिल थीं:

- सरकार द्वारा दी गई उपाधियों का बहिष्कार,
- लोक सेवाओं, सेना तथा पुलिस यानि सभी सरकारी नौकरियों का बहिष्कार, तथा
- सरकार को करों की अदायगी न करना।

पहली अगस्त 1920 को आंदोलन शुरू करने का निश्चय किया गया। गांधी जी ने जोर दिया कि जब तक पंजाब तथा ख़िलाफ़त की गलतियों को सुधारा न जाएगा, सरकार के साथ असहयोग जारी रहेगा। चूँकि इस आंदोलन की सफलता के लिए कांग्रेस का समर्थन जरूरी था। इसीलिए अब गांधी जी का यह प्रयास था कि कांग्रेस असहयोग कार्यक्रम को अपना ले।

बोध प्रश्न 1

1 निम्नलिखित में से कौन-से कथन सही हैं कौन-से गलत (सही √ या गलत × का निशान लगाएँ)।

1 प्रथम विश्व युद्ध का भारतीय अर्थव्यवस्था पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

2 रॉलट ऐक्ट प्रमुखत: भारतीय राष्ट्रवादियों को दबाने के लिए पारित किया गया था।

3 जलियाँवाला बाग हत्याकांड ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के, सही चरित्र का पर्दाफाश किया।

4 मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों ने भारतीय राष्ट्रवादियों की उम्मीदों को पूरा किया।

5 गांधी जी अखिल भारतीय ख़िलाफ़त कमेटी के अध्यक्ष बने।

2 ख़िलाफ़त समस्या क्या थी?

.....

.....

.....

.....

.....

18.4 असहयोग की ओर: कलकत्ता से नागपुर

गांधी जी के लिए पूरी कांग्रेस से राजनैतिक गतिविधियों के अपने कार्यक्रमों को सहमति दिलवाना कोई सरल कार्य नहीं था। प्रो० रविन्द्र कुमार के अनुसार "गांधी जी द्वारा तिलक को सत्याग्रह के सद्गुणों तथा ख़िलाफ़त के मुद्दे पर मुसलमान समुदाय के साथ मिलने के औचित्य को मनवाने के लिए काफी चेष्टा करनी पड़ी" फिर भी, तिलक को "सत्याग्रह के राजनैतिक हथियार के रूप पर संदेह था।" वह "मुसलमान नेताओं के साथ धार्मिक समस्या" पर सन्धि के पक्ष में भी नहीं थे। तिलक ने तर्क दिया कि हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच सहयोग का आधार लखनऊ पैक्ट (1916) की तरह धर्म निरपेक्ष होना चाहिए। तिलक इस मुद्दे पर क्या रुख अपनाते यह बहुत कुछ तिलक के दृष्टिकोण पर निर्भर था – चाहे वह विरोध में हो या पक्ष में – किन्तु ऐसा निर्णय लेने से पहले ही दुर्भाग्यवश पहली अगस्त 1920 को उनका देहांत हो गया। लाला लाजपतराय तथा सी.आर. दास ने गांधी जी के द्वारा परिषद्

चुनावों के बहिष्कार के विचार का जोरदार विरोध किया। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा कि कांग्रेस के लगभग सभी पुराने समर्थकों ने गांधी जी के असहयोग प्रस्ताव का विरोध किया।"

फिर असहयोग तथा बहिष्कार का कार्यक्रम प्रांतीय कांग्रेस समितियों (प्रां.कां.स.) के सामने उनके विचारों को जानने के लिए रखा गया। संयुक्त प्रान्तों की प्रां.कां.स. ने एक लम्बी बहस के बाद असहयोग के सिद्धांत तथा सरकारी स्कूलों और कालेजों, सरकारी दफ्तरों व ब्रिटिश वस्तुओं के धीरे-धीरे बहिष्कार की सहमति दे दी।

बंबई प्रां.कां.स. ने असहयोग को संघर्ष के वैधानिक तरीके के रूप में स्वीकृति दे दी किन्तु इसने परिषद् के बहिष्कार पर आपत्ति की तथा पहले कदम के रूप में सिर्फ ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार की सिफारिश की। बंगाल प्रां.कां.स. ने असहयोग के सिद्धांत को स्वीकार किया किन्तु यह परिषद् के बहिष्कार से असहमत था। मद्रास प्रां.कां.स. ने असहयोग की नीति का समर्थन किया, किन्तु गांधी जी के कार्यक्रम को अस्वीकृत कर दिया।

जब गांधी जी के कार्यक्रम के प्रति भारतीय राजनीति के "पारंपरिक" आधार क्षेत्र में यह प्रवृत्ति थी, उस समय भारतीय राजनीति के तुलनात्मक रूप से गैर-पारंपरिक क्षेत्रों जैसे गुजरात तथा बिहार ने गांधी जी के कार्यक्रम का पूरी तरह समर्थन किया। आंध्र और पंजाब प्रां.कां.स. असहयोग से सहमत थे किन्तु गाँधी जी के कार्यक्रम पर निर्णय को कांग्रेस की विशिष्ट बैठक तक टाल गए। कुछ प्रांतीय नेताओं का गांधी जी के कार्यक्रमों को समर्थन देने में दुविधा का कारण भविष्य में गांधी जी के आंदोलन की अनिश्चितता थी। इसी कारण परिषद् चुनावों के बहिष्कार के लिए तैयार नहीं थे।

यही वह परिस्थितियां थीं जिनके कारण सितंबर 1920 को कलकत्ता में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की विशिष्ट बैठक हुई। लाला लाजपतराय इसके अध्यक्ष थे। इस बैठक में गाँधी जी के कार्यक्रम के प्रति एक जोरदार विरोध की उम्मीद थी। किन्तु अधिकांश प्रतिष्ठा प्राप्त राजनीतिक नेताओं के इरादों के विपरीत बैठक शुरू होने से पहले ही गांधी जी कांग्रेस की खुली बैठक में अपने प्रस्ताव को 1000 वोटों की बढ़त से मंजूर करवाने में कामयाब हो गए।

गांधी जी के समर्थकों में मोती लाल नेहरू, सैफुद्दीन किचलु, जितेन्द्र लाल बनर्जी, शौकत अली, याकूब हसन तथा डॉ० अंसारी थे, जबकि उनके विरोधियों में पंडित मदन मोहन मालवीय, ऐनी बीसेंट इत्यादि शामिल थे। गाँधी जी को यह सफलता मुख्यत: व्यापारी समूहों तथा मुसलमानों के समर्थन के कारण मिल पाई।

कलकत्ता कांग्रेस ने निम्न कार्यक्रम को स्वीकृति दी:

- उपाधियों की वापसी
- विद्यालयों, अदालतों, विदेशी सामान तथा परिषदों का बहिष्कार, तथा
- राष्ट्रीय विद्यालयों, पंच-अदालतों तथा खादी को बढ़ावा।

कांग्रेस ने गांधी जी की इस योजना का समर्थन किया कि सरकार के साथ तब तक असहयोग किया जाएगा जब तक पंजाब तथा खिलाफ़त की गलतियों को सुधारा नहीं जाता और स्वराज की स्थापना नहीं हो जाती। अंतिम निर्णय कांग्रेस की दिसम्बर 1920 को नागपुर में होने वाली बैठक पर छोड़ दिया गया। हालांकि गांधी जी ने बताया कि यह "भारतीय जनता की इच्छाओं के अनुसार संसदीय स्वराज था।" नेहरू ने यह स्वीकार किया कि यह "बिना किसी स्पष्ट दृष्टिकोण के एक अस्पष्ट स्वराज था।" फिर भी स्वराज (जिसे गांधी जी लक्ष्य बना रहे थे) की सही प्रकृति उनके समकालिकों को स्पष्ट नहीं थी।

संशोधित मताधिकारों के अनुसार नवंबर 1920 में परिषद् चुनाव हुए। सभी कांग्रेस उम्मीदवारों ने चुनावों का बहिष्कार किया। गांधी जी के चुनावों का बहिष्कार करने के आह्वान पर विभिन्न प्रान्तों में बहुत अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। ब्रिटिश सरकार के लिए यह चेतावनी का संकेत था। शहरी क्षेत्रों में केवल 27.3 प्रतिशत हिन्दू मतदाताओं और 12.1 प्रतिशत मुसलमान निर्वाचकों ने मतदान में हिस्सा लिया। ग्रामीण क्षेत्रों में 41.8 प्रतिशत हिन्दू तथा 28.3 प्रतिशत मुसलमानों ने मतदान किया।

गांधी जी के कार्यक्रम पर अनेकों अंतर्विरोध तथा विवादों के बीच 26 दिसम्बर 1920 को नागपुर में कांग्रेस की बैठक शुरू हुई।

नागपुर बैठक में बंगाल के सी.आर. दास में एक नाटकीय परिवर्तन दिखाई पड़ा। गांधी जी के कार्यक्रमों की आलोचना करने वाले सी.आर. दास ने नागपुर में असहयोग प्रस्ताव को रखा। इसमें सिफारिश की गई कि असहयोग प्रस्ताव, जिसमें पूरी योजना घोषित की गई है कि, एक तरफ तो सरकार के साथ सभी स्वैच्छिक सहयोग का त्याग हो तथा दूसरी ओर, करों की अदायगी न की जाए। इस योजना को कांग्रेस द्वारा तय किए जाने वाले समय पर कार्यान्वित किया जाए। परिषदों से इस्तीफा, वकालत का त्याग, शिक्षा का राष्ट्रीयकरण, आर्थिक बहिष्कार, राष्ट्रीय सेवा के लिए मजदूरों को संगठित करना, राष्ट्रीय फंड को स्थापित करना तथा हिन्दू मुसलमान एकता को कार्यक्रम के कदमों के रूप में सुझाया गया। नागपुर बैठक में कांग्रेस संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी हुए। ये परिवर्तन निम्न थे:

- 15 सदस्यों की एक कार्यकारी समिति का गठन,
- 350 सदस्यों की एक अखिल भारतीय समिति का गठन,
- शहर से ग्रामीण स्तर तक कांग्रेस समितियों का गठन,
- प्रांतीय कांग्रेस समितियों का भाषीय आधार पर पुनर्गठन, तथा सभी स्त्री पुरुष जिनकी उम्र 18 वर्ष से अधिक है को चार आना वार्षिक शुल्क देने पर कांग्रेस की सदस्यता प्राप्त हुई।

कांग्रेस की ओर से इसे वास्तविक जन-आधारित राजनैतिक पार्टी बनाने के लिए यह पहला सकारात्मक कदम था। इस दौर में पार्टी के सामाजिक संयोजन के साथ-साथ इसके दृष्टिकोण तथा नीतियों में भी एक मूलभूत परिवर्तन दिखाई पड़ा। गांधी जी सत्याग्रह के अपने अपूर्व हथियार के साथ कांग्रेस पार्टी में एक जन नेता के रूप में उभर कर सामने आए।

ऊपर की गई चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम के दो मुख्य पहलू थे:

1) रचनात्मक
2) विध्वंसक

पहली श्रेणी में निम्नलिखित बातें आती हैं:

- शिक्षा का राष्ट्रीयकरण,
- स्वदेशी सामान को बढ़ावा,
- चरखे व खादी को लोकप्रिय बनाना, तथा
- स्वयंसेवी सेना की भरती।

दूसरी श्रेणी में निम्नलिखित का बहिष्कार घोषित हुआ:

- कानूनी अदालतें,
- शैक्षिक संस्थाएँ,
- विधायकों के चुनाव,
- दफ्तरी काम काज,
- ब्रिटिश सामान के साथ-साथ ब्रिटिश सरकार द्वारा दिए गए सम्मान तथा उपाधियाँ।

18.5 असहयोग आंदोलन के मुख्य चरण

1921 के शुरू में ही असहयोग तथा बहिष्कार के लिए जोर-शोर से प्रचार शुरू हो गया था। हालाँकि आन्दोलन के एक चरण से दूसरे चरण में केंद्रीय मुद्दे बदलते रहे। जनवरी से मार्च 1921 के प्रथम चरण में मुख्य बल विद्यालयों, कॉलेजों, कानूनी अदालतों के बहिष्कार तथा चरखे के प्रयोग पर था। छात्रों में व्यापक अशांति थी तथा वकीलों जैसे सी.आर. दास तथा मोतीलाल नेहरू ने वकालत को त्याग दिया। इस चरण के बाद अप्रैल 1921 में दूसरा चरण

प्रारम्भ हुआ। दूसरे चरण का मूलभूत लक्ष्य, तिलक स्वराज कोष के लिए अगस्त 1920 तक एक करोड़ रुपये तथा 30 जून तक 20 लाख चरखे लगाना था। जुलाई से शुरू होने वाले तीसरे चरण में निम्न बातों पर जोर दिया गया : विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, नवंबर 1921 में ब्रिटिश राजसिंहासन के उत्तराधिकारी प्रिंस ऑफ वेल्स की यात्रा का बहिष्कार, चरखे तथा खादी को लोकप्रिय बनाना, तथा कांग्रेस स्वयं सेवकों द्वारा जेल भरो आंदोलन।

अंतिम चरण में, नवंबर 1921 में उग्रता की ओर झुकाव दिखाई पड़ रहा था। कांग्रेस स्वयं सेवकों ने जनता को लामबंद किया और देश क्रांति की कगार पर था। गांधी जी ने बरदोली में लगान नहीं देने का प्रचार तथा, बोलने, प्रेस और संस्थाओं की स्वतंत्रता के लिए एक बड़ा नागरिक अवज्ञा आंदोलन भी शुरू करने का निश्चय किया। किन्तु 5 फरवरी 1922 को यू.पी. के गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा में कुछ किसानों द्वारा स्थानीय पुलिस थाने पर हुए हमले ने पूरी स्थिति को ही बदल दिया। गांधी जी ने इस घटना से स्तब्ध होकर असहयोग आंदोलन को वापिस ले लिया।

18.6 आंदोलन पर जनता की प्रतिक्रिया

इस आंदोलन के शुरू के दौर में नेतृत्व मध्यम वर्ग से आया। किन्तु मध्यम वर्ग को गांधी जी के कार्यक्रम के बारे में बहुत सी शंकाएं थीं। कलकत्ता, बंबई, मद्रास जैसी जगहों में, जो कि कुलीन राजनीतिज्ञों के केंद्र थे, गांधी जी के आंदोलन पर बहुत सीमित प्रतिक्रिया हुई। सरकारी नौकरियों से इस्तीफा देने, उपाधियों का त्याग करने इत्यादि के आह्वान पर हुई प्रतिक्रिया भी अधिक उत्साहवर्धक नहीं थी। यद्यपि आर्थिक बहिष्कार को भारतीय व्यापारिक समूह का समर्थन मिला क्योंकि राष्ट्रवादियों के स्वदेशी वस्त्र के प्रयोग पर जोर देने से कपड़ा उद्योग को फायदा हुआ। फिर भी बड़े व्यापारियों का एक भाग असहयोग आंदोलन का आलोचक ही रहा। उन्हें असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप खासकर फैक्ट्रियों में मजदूरों के असंतोष का डर था।

कुलीन राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त भारतीय राजनीति में तुलनात्मक रूप से नए आए हुए लोगों को गांधी जी के आंदोलन में अपने हितों तथा महत्त्वाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति मिली। बिहार में राजेन्द्र प्रसाद, गुजरात में सरदार बल्लभ भाई पटेल जैसे नेताओं ने गांधी जी के आंदोलन को व्यापक समर्थन दिया। वास्तव में, उन्हें औपनिवेशिक सरकार से लड़ने के लिए आतंकवाद के बदले असहयोग के रूप में एक प्रत्यक्ष राजनैतिक हल मिला।

विद्यार्थियों तथा महिलाओं की प्रतिक्रिया बहुत प्रभावशाली थी। हजारों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों व कालेजों को छोड़कर राष्ट्रीय स्कूलों व कालेजों में दाखिला लिया। नव स्थापित काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ तथा जामिया मिलिया इस्लामिया जैसे अन्य राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं ने बहुत से विद्यार्थियों को स्थान दिया जबकि अनेकों विद्यार्थियों को स्थान न मिलने के कारण निराश होना पड़ा। विद्यार्थी आंदोलन के गतिशील स्वयं सेवक बन गए। औरतें भी सामने आईं। उन्होंने पर्दा छोड़ दिया तथा अपने गहने तिलक फंड के लिए दे दिए। वे बड़ी संख्या में आंदोलन में शामिल हुईं और उन्होंने विदेशी कपड़ा व शराब बेचने वाली दुकानों के आगे होने वाले धरनों में सक्रिय रूप से भाग लिया।

इस आंदोलन के विकास का अत्यधिक महत्वपूर्ण बिन्दु इसमें किसानों तथा मजदूरों का शामिल होना था। इस आंदोलन के द्वारा मेहनती जनता को अंग्रेज़ों के साथ-साथ भारतीय मालिकों के विरुद्ध पुरानी शिकायतों तथा अपनी वास्तविक भावनाओं को अभिव्यक्त करने का मौका मिला। हालांकि कांग्रेस का नेतृत्व वर्ग-संघर्ष के खिलाफ़ था फिर भी जनता ने इस सीमा को तोड़ दिया। ग्रामीण इलाकों तथा कुछ अन्य स्थानों में, किसान जमींदारों व व्यापारियों के खिलाफ़ हो गए। इसने 1921-22 के आंदोलन को एक नया आयाम दिया।

18.7 आंदोलन का फैलाव, क्षेत्रीय विभिन्नताएँ

असहयोग तथा बहिष्कार के आह्वान को भारत के विभिन्न भागों से भारी समर्थन मिला। 1921 और 1922 का साल भारत में ब्रिटिश राज के खिलाफ़ लोकप्रिय विरोधों से अंकित है। फिर भी, आंदोलन अधिकतर स्थानों पर स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार ही ढला था। यह जनता की स्थानीय शिकायतें थी जिन्हें इस आंदोलन के द्वारा अभिव्यक्ति मिली, तथा कांग्रेस नेतृत्व के आदेशों का सदा पालन नहीं हुआ। आइये असहयोग आंदोलन के संदर्भ में विभिन्न क्षेत्रों पर एक सरसरी दृष्टि डालते हैं।

5 रवीन्द्रनाथ टैगोर

बंगाल : विरोध के गांधीवादी तरीकों की भारी हिस्सेदारी को बंगाल में कम प्रोत्साहन मिला। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने जनता में एक नई चेतना लाने के लिए गांधी जी की सराहना की। किन्तु उन्होंने गांधी जी की "संकीर्णता, रूढ़िवादिता" तथा चरखे पर आपत्ति की। कलकत्ता के कुलीनों ने कुछ गांधीवादी तरीकों की आलोचना की। किन्तु फिर भी असहयोग आंदोलन ग्रामीण तथा शहरी जनता में एक अलग तरह की एकता व जागरूकता लाया। हड़तालों, बन्द तथा जन-गिरफ़्तारियों ने ब्रिटिश सरकार पर भारत के प्रति रवैये को बदलने के लिए भारी दबाव डाला।

6 कलकत्ता में असहयोगियों का जुलूस

गाँवों में जोरदार प्रचार किया गया और जैसा कि एक सरकारी रिपोर्ट ने कहा कि "गाँधी जी के नाम पर जो कुछ कहा जा रहा है और किया जा रहा है यदि गांधी जी उसका एक अंश भी सुन लें, तो वह भद्रपुरुष काँप उठेगा।" मिदनापुर जिले के गाँवों में नई बनाई गई एकता समितियों तथा उनके द्वारा थोपे गए करों का विरोध किया गया। उत्तरी बंगाल के बाहरी जिलों की जनता ने सरकार या निजी ज़मींदारों को कर या कृषि लगान का भुगतान करने से इंकार कर दिया।

बिहार : बिहार में सार्वजनिक खाली पड़ी हुई सरकारी भूमि पर पशु चराने के अधिकार की माँग तथा निचली जातियों द्वारा जनेऊ धारण करने पर "निचली व ऊँची जातियों के बीच की लड़ाई" जैसी स्थानीय समस्याएँ असहयोग आंदोलन से जुड़ गईं। गोरक्षा तथा किसानों के अधिकारों के मामलों पर भी ध्यान दिया गया। इस मेल-जोल के कारण, उत्तरी भारत, खासकर चम्पारन, सारन, मुजफ्फरपुर, व पूर्णियाँ जिले नवंबर 1921 तक आंदोलन के केन्द्र बने रहे। हाट (गाँव का बाजार) लूटना तथा पुलिस के साथ लड़ाई प्रतिदिन की घटना हो गई।

यू.पी. : संयुक्त प्रांत गांधीवादी असहयोग आंदोलन का मजबूत आधार बन गया। संगठित रूप से असहयोग शहरों तथा छोटे कस्बों का काम था। गाँवों में इसने एक अलग रूप लिया। गाँवों में यह आंदोलन किसान आंदोलन के साथ मिल गया। कांग्रेस नेतृत्व की अहिंसा की निरंतर अपीलों के बावजूद, किसान न केवल ताल्लुकदारों बल्कि व्यापारियों का भी विरोध

करने के लिए उठ खड़े हुए। जनवरी व मार्च 1921 के बीच राय बरेली, प्रतापगढ़, फैजाबाद तथा सुल्तानपुर में बाबा राम चन्द्र के नेतृत्व में व्यापक किसान आंदोलन हुए। मुख्य माँगें निम्न थीं :

- कोई नजराना (लगान पर अतिरिक्त शुल्क) का भुगतान नहीं,
- जमीन से बेदखली नहीं, तथा
- बेगार (जबरदस्ती लिया हुआ काम) तथा रसद (जबरदस्ती लिया हुआ सामान), इत्यादि नहीं।

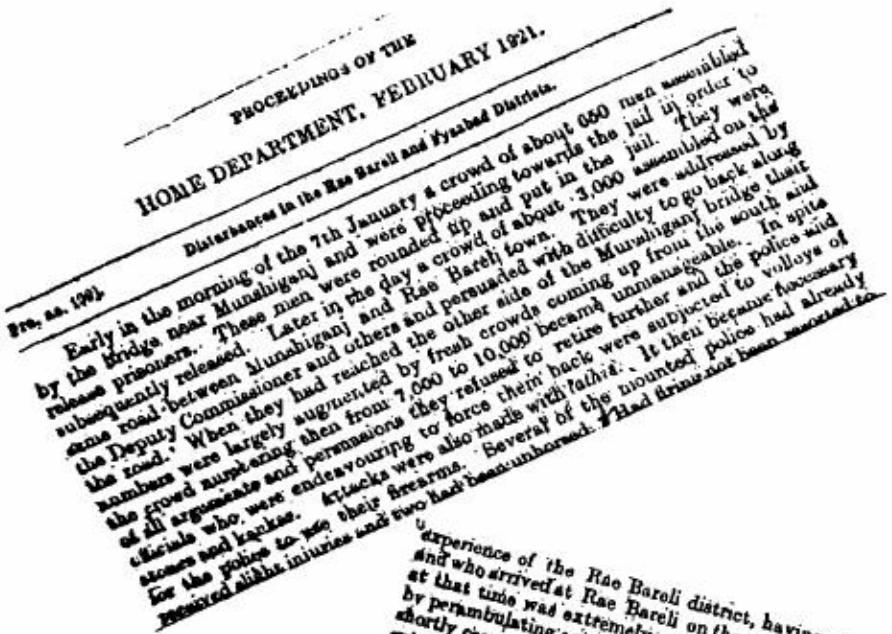

PROCEEDINGS OF THE

HOME DEPARTMENT, FEBRUARY 1921.

Disturbances in the Rae Bareli and Fyzabad Districts.

Early in the morning of the 7th January a crowd of about 600 men assembled by the bridge near Munshiganj and were proceeding towards the jail in order to release prisoners. These men were rounded up and put in the jail. They were subsequently released. Later in the day a crowd of about 3,000 assembled on the same road between Munshiganj and Rae Bareli town. They were addressed by the Deputy Commissioner and others and persuaded with difficulty to go back along the road. When they had reached the other side of the Munshiganj bridge their numbers were largely augmented by fresh crowds coming up from the south and the crowd numbering then from 7,000 to 10,000 became unmanageable. In spite of all arguments and persuasions they refused to retire further and the police said officials who were endeavouring to force their back were subjected to volleys of stones and kankas. Attacks were also made with lathis. It then became necessary for the police to use their firearms. Several of the mounted police had already received slight injuries and two had been unhorsed. Had firing not been resorted to

experience of the Rae Bareli district, having served there as Deputy Commissioner, and who arrived at Rae Bareli on the afternoon of the 7th, states that the situation at that time was extremely serious. The ignorant peasantry had been persuaded by perambulating agitators that not only the Talugdars but the British Raj would shortly cease to exist and that under the beneficent rule of Mr. Gandhi they would enter on a golden age of prosperity in which they would be able to buy good cloth at 0-4-0 a yard and other necessaries of life at similar cheap rates. This story about cloth accounts for the cases of looting cloth merchants mentioned above. The Commissioner, who has made full enquiry into these agrarian disturbances, reports that he is satisfied that but for the timely use of firearms as described above at Furatganj and subsequently at Munshiganj the whole of the south of the Rae Bareli district would rapidly have reached a state of anarchy. It is probable also that had the large crowd at Munshiganj not been dispersed on the 7th they would have entered the city with disastrous results. The Commissioner of

small parties to their villages.—*Ends.*

2. The agitation which has been carried on amongst villagers has been largely, if not wholly, the work of the non-co-operators, though there is no information to show how far the movement has been directly inspired or controlled by Gandhi himself. The Tenancy Act admittedly stands in need of amendment and genuine discontent of tenantry with working of existing law is main reasons of success attained by their propaganda. While we realize the possibility of similar disturbances breaking out in other parts of Oudh, we have every confidence in capacity of Governor to deal with situation. Opposition of Talugdars in the past has made amendment of Tenancy Law difficult but need for concession has now probably been brought home to them and it is anticipated that Governor should now be in a position to carry through legislature changes that will go far to remove grievances of tenantry. There is no reason for us to suppose that non-co-operation movement is itself, apart from economic grievances, is understood by, or has any effective appeal to, tenantry.—

UGHY-01/CSSHY-01(1)/261

7 किसान आंदोलन पर सरकारी रिपोर्ट

1921 के अंत में मदारी उग्र नेता पासी के नेतृत्व में एक अन्य मजबूत किसान आंदोलन हुआ जिसे "एका" के नाम से जाना जाता है। उत्पादित लगान को रुपये में बदलना इनकी मुख्य माँग थी। एक अन्य महत्वपूर्ण घटना थी जुलाई 1921 में, पहाड़ी-जनजातियों द्वारा कुमायुँ क्षेत्र के हजारों एकड़ सुरक्षित वन को नष्ट कर देना। इसका कारण जनजातियों का वन-नियम का विरोध था।

पंजाब : पंजाब के शहरों में इस आंदोलन के लिए अधिक अच्छा समर्थन नहीं था। किन्तु यहाँ के शक्तिशाली अकाली आंदोलन की गुरुद्वारों के सुधार तथा नियंत्रण की माँगें असहयोग आंदोलन से निकट रूप से जुड़ गईं। हालाँकि गांधी जी ने इसे सिर्फ नियंत्रित सहमति दी थी फिर भी अकालियों ने उनकी असहयोग की नीतियों का लगातार प्रयोग किया। इसने सिक्खों, मुसलमानों तथा हिन्दुओं के बीच एक विशेष सांप्रदायिक एकता प्रदर्शन की।

महाराष्ट्र : महाराष्ट्र में असहयोग तुलनात्मक रूप से कमजोर रहा क्योंकि तिलकवादी गांधी जी के प्रति प्रोत्साहित नहीं थे और गैर-ब्राह्मणों ने महसूस किया कि कांग्रेस चितपावन के नेतृत्व वाला मामला है। ऊँची जातियों ने उत्पीड़ित वर्ग के उत्थान के लिए गाँधी जी द्वारा किए गए प्रयत्न तथा असहयोग आंदोलन में उनकी हिस्सेदारी पर जोर देने को नापंसद किया। फिर भी कुछ छुट-पुट स्थानीय घटनाएँ हुईं। नासिक जिले के मालागाँव में कुछ स्थानीय नेताओं की गिरफ्तारी की प्रतिक्रिया में कुछ पुलिस के आदमियों को जिन्दा जला दिया गया। पुणे क्षेत्र में कुछ किसानों ने सत्याग्रह के द्वारा अपने जमीन के अधिकारों की रक्षा करने का प्रयास किया।

असम : असम के दूर के प्रांतों में असहयोग को भारी समर्थन मिला। असम के बागानों में मजदूर "गांधी महाराज की जय" के नारे के साथ ऊँचे वेतन तथा बेहतर कार्य परिस्थितियों के लिए संघर्ष में जुट गए। किसानों के बीच लगान अदा न करने के आंदोलन के संकेत भी थे।

राजस्थान : बिहार तथा यू.पी. की तरह राजस्थान के राजसी राज्यों में किसान आंदोलनों ने असहयोग आंदोलन को मजबूत बनाया। किसानों ने उपकर तथा बेगार के ख़िलाफ़ आवाज उठायी। मेवाड़ के बिजोलिया आंदोलन तथा मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में हुए भील आंदोलन ने असहयोग आंदोलन से ही प्रेरणा ली।

आन्ध्र : आन्ध्र में वन कानूनों के ख़िलाफ़ जनजातियों तथा अन्य किसानों की शिकायतें असहयोग आंदोलन से जुड़ गईं। इनमें से एक बड़ी संख्या में लोग अपने करों को कम कराने तथा वन संबंधी पाबंदियों को हटवाने के लिए सितंबर 1921 को कुडप्पा में गांधी जी से मिले। वन अधिकारियों का बहिष्कार हुआ। अपने अधिकारों को पक्का बनाने के लिए उन्होंने बिना चराई कर अदा किये अपने पशुओं को जबरदस्ती जंगल में भेजा। वनों की सीमा पर स्थित पालांद इलाके में **स्वराज** की घाषणा की गई तथा पुलिस के दस्तों पर हमले हुए। प्रदर्शनकारियों का विश्वास था कि **गांधी-राज** आने ही वाला है। दिसंबर 1921 तथा फरवरी 1922 के बीच भूमि-लगान की अदायगी न करने का मजबूत आंदोलन भी आन्ध्र में बढ़ा। आन्ध्र डेल्टा क्षेत्र में असहयोग आंदोलन को महान् सफलता मिली।

8 अलूरी सीताराम राजू

कर्नाटक : तुलनात्मक रूप से कर्नाटक के क्षेत्र आंदोलन से अप्रभावित रहे और मद्रास महाप्रांत के बहुत से इलाकों के उच्च व मध्यम वर्ग के पेशेवर समूह की आरंभिक प्रतिक्रिया सीमित थी। 682 उपाधि प्राप्त लोगों में से केवल 6 ने अपना सम्मान वापिस लौटाया तथा 36 वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ी। पूरे महाप्रांत में 5,000 छात्रों के साथ 92 राष्ट्रीय विद्यालय शुरू किए गए। जुलाई से अक्टूबर 1921 के बीच बकिंघम तथा कर्नाटक कपड़ा मिलों में मजदूरों ने हड़ताल किया। उन्हें स्थानीय असहयोग आंदोलन के नेताओं से नैतिक समर्थन मिला।

इस तरह की प्रतिक्रिया अन्य क्षेत्रों में भी हुई। उदाहरण के लिए उड़ीसा के कनिका राज्य के पट्टेधारी ने कर देने से इंकार कर दिया। किन्तु गुजरात में आंदोलन शुद्ध गांधीवादी विचारधारा पर चला।

बोध प्रश्न 2

1 असहयोग आंदोलन का कार्यक्रम क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 असहयोग आंदोलन पर किसानों की प्रतिक्रिया की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 निम्नलिखित कथनों में कौन-सा कथन सही है और कौन-सा गलत है।
(सही √ या गलत × का निशान लगाइये)

1) अ. भा. का. स. की नागपुर बैठक कांग्रेस संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाई।

2) गांधी जी के कार्यक्रमों पर शहर की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में कम प्रतिक्रिया हुई।

3) अधिकांश जगहों पर असहयोग आंदोलन स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार ढला।

18.8 अंतिम चरण

सरकार आंदोलन के विकास को बहुत ध्यानपूर्वक देख रही थी और प्रांतों से आंदोलन की प्रगति के बारे में खुफिया रिपोर्ट जमा कर रही थी। जब अंत में आंदोलन शुरू हुआ तो सरकार ने इसे दबाने का रास्ता अपनाया। कांग्रेस तथा ख़िलाफ़त स्वयं सेवक संगठनों को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। जन-सभाओं व प्रदर्शनों पर प्रतिबंध लग गया। अनेक स्थानों में पुलिस ने सत्याग्रहियों पर गोलियाँ चलाईं। गिरफ़्तारियाँ व लाठी चार्ज एक आम

9 चौरी-चौरा हिंसा पर गांधी जी की प्रतिक्रिया एक कार्टून

बात हो गई। 1921 के अंत तक गांधी जी को छोड़कर सभी महत्वपूर्ण नेता जेल में डाल दिए गए। हिन्दू-मुसलमान एकता से चौकस होकर सरकार ने कांग्रेस तथा ख़िलाफ़त समर्थकों में फूट डालने की भी कोशिश की। इस तरह सरकारी-तंत्र आंदोलन को तोड़ने में पूरी तरह जुटा हुआ था।

अंग्रेज़ों के अत्याचार ने भारतीयों को अधिक तेजी से आंदोलन जारी रखने के संकल्प को और मजबूत बनाया। इस बीच वायसराय ने मदन मोहन मालवीय के द्वारा कांग्रेस नेताओं से समझौता करने की कोशिश की और राष्ट्रीय स्वयं सेवकों को मान्यता देने तथा राजनैतिक कैदियों को रिहा करने का प्रस्ताव रखा। मध्य जनवरी 1922 को गांधी जी ने सभी पार्टियों की सभा में असहयोग आंदोलन की स्थिति को स्पष्ट किया और उनके मूल्यांकन को आम स्वीकृति मिली। पहली जनवरी को उन्होंने वायसराय के पास अंतिम चुनौती भेजी कि यदि राजनैतिक कैदियों को रिहा नहीं किया गया व अत्याचार के तरीकों को नहीं छोड़ा गया तो वे बड़े रूप में नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू करवा सकते हैं। चूंकि पूरा देश नागरिक अवज्ञा के लिए तैयार नहीं था, इसलिए उन्होंने इसे 5 फरवरी से शुरू करने का निश्चय किया। यू पी. के गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा में पुलिस ने कांग्रेस स्वयं सेवकों पर गोली चलाई जिससे उत्तेजित भीड़ ने 21 पुलिस कर्मियों को जान से मार दिया। इस हिसांत्मक घटना से गांधी जी को आघात पहुँचा और उन्होंने असहयोग आंदोलन को रोक दिया। उन्होंने बारदोली में प्रस्तावित नागरिक अवज्ञा-उल्लंघन को भी स्थगित कर दिया। अनेकों कांग्रेसी गांधी जी के निर्णय से चकित व हतप्रभ रह गये। उन्होंने इसका जोरदार विरोध किया। सुभाष चन्द्र बोस ने इसे "राष्ट्रीय संकट" कहा। जवाहरलाल नेहरू ने इस निर्णय पर अपना "विस्मय व आश्चर्य" प्रकट किया। अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए गांधी जी ने नेहरू को जवाब दिया:

> "अनजाने में आंदोलन अपने सही मार्ग से भटक गया था। हम अपने लंगर (डेरे) पर वापिस आ गए हैं और फिर से सीधे आगे जा सकते हैं।"

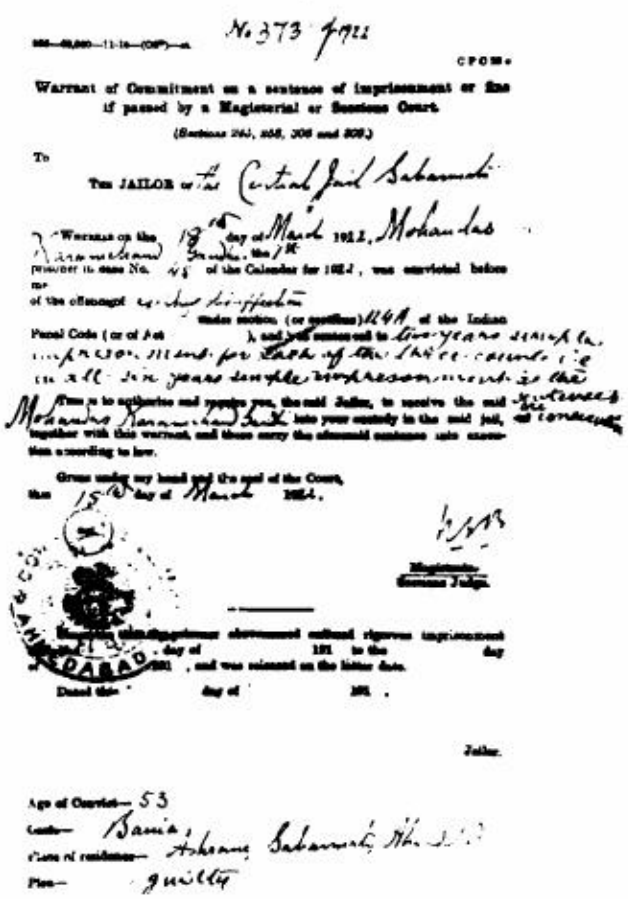

No. 373 of 1922

CPOM.

Warrant of Commitment on a sentence of imprisonment or fine if passed by a Magisterial or Sessions Court.

(Sections 264, 358, 386 and 388.)

To

The JAILOR of the Central Jail Sabarmati

Warrant on the 18th day of March 1922, Mohandas [illegible] prisoner in case No. 45 of the Calendar for 1922, was convicted before me of the offence of [illegible] under section (or sections) 124A of the Indian Penal Code (or of Act [illegible]) and was sentenced to six years simple imprisonment and fine Rs. 1000 for each of the three counts i/c in all six years simple imprisonment in the aggregate

These are to authorize and require you, the said Jailor, to receive the said Mohandas Karamchand Gandhi into your custody in the said jail, together with this warrant, and there carry the aforesaid sentence into execution according to law.

Given under my hand and the seal of the Court, this 18th day of March 1922.

Magistrate, Sessions Judge.

AHMEDABAD

[illegible] day of [illegible] 192[illegible] to the [illegible] day of [illegible] 192[illegible], and was released on the latter date.

Dated this [illegible] day of [illegible] 192[illegible].

Jailor.

Age of Convict— 53
Caste— Bania
Place of residence— Ashram Sabarmati
Plea— guilty

10 गाँधीजी की गिरफ्तारी का आदेश

12 फरवरी 1922 को बारदोली में कांग्रेस की कार्यकारी समिति की बैठक ने चौरी-चौरा में भीड़ के अमानवीय बर्ताव की निन्दा की। इसने नागरिक अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने का समर्थन किया। गांधी जी ने उसी दिन से इस घटना के विरोध में उपवास शुरू किया। इस तरह पहला असहयोग आंदोलन समाप्त हो गया। 10 मार्च 1922 को गांधी जी गिरफ़्तार हुए और उन्हें छह साल की कैद की सजा दी गयी।

11 महात्मा गांधी (1922)

तुर्की में कमाल पाशा के सत्ता में आने से ख़िलाफ़त समस्या की संदर्भता भी समाप्त हो गई। तुर्की के सुल्तान से सभी राजनैतिक शक्ति छीन ली गई। कमाल पाशा तुर्की का आधुनिकीकरण करना चाहता था और इसे एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाना चाहता था। ख़लीफ़ा के पद को समाप्त कर दिया गया जिससे ख़िलाफ़त आंदोलन का अंत हो गया।

18.9 आंदोलन वापिस लेने के कारण

असहयोग आंदोलन को वापिस लेने के कारणों को समझाते हुए गांधी जी ने कहा था कि चौरी-चौरा की घटना ने उन्हें आंदोलन वापिस लेने के लिए मजबूर किया। घटना ने यह सिद्ध किया कि देश ने अभी तक अंहिसा का पाठ नहीं सीखा है। गांधी जी के शब्दों में, "मैं आंदोलन को हिंसात्मक होने से बचाने के लिए हरेक अपमान, हरेक यातना, बहिष्कार यहाँ तक कि मृत्यु तक को झेल लूँगा।"

जहाँ तक किसानों का संबंध है, असहयोग आंदोलन धीरे-धीरे ज़मींदारों के ख़िलाफ़ लगान अदा न करने के आंदोलन के रूप में बदल रहा था। किन्तु कांग्रेस नेतृत्व किसी भी तरह

ज़मींदारों के कानूनी अधिकारों पर हमला करने में रुचि नहीं रखता था। गांधी जी का लक्ष्य विभिन्न भारतीय वर्गों को शामिल कर एक "नियंत्रित जन आंदोलन" चलाना था, न कि वर्ग क्रांति। इसीलिए वे उस आंदोलन के जारी रहने के विरुद्ध थे जो कि शायद वर्ग क्रांति में परिवर्तित हो सकता था। उन्होंने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया कि वे इस अवस्था में किसी भी किस्म की हिंसा या आंदोलन के ख़िलाफ़ हैं। भारत में क्रांतिकारी परिस्थितियों के रहते हुए भी कोई वैकल्पिक क्रांतिकारी नेतृत्व नहीं था। यदि आंदोलन को स्थगित न किया जाता तो शायद वह अव्यवस्थित हो जाता क्योंकि नेतृत्व का स्थानीय आंदोलनों पर कोई नियंत्रण नहीं था।

18.10 प्रभाव

असहयोग आंदोलन के असफल हो जाने के बावजूद यह भारतीय इतिहास में न केवल राजनैतिक पहलू से बल्कि सामाजिक पहलू से भी विशेष महत्व रखता है। गांधी जी ने जाति-बंधनों, सांप्रदायिकता, छुआ-छूत, इत्यादि जैसी कुप्रथाओं को हटाने की आवश्यकता पर जोर दिया था। प्रदर्शनों, बैठकों तथा जेलों में सभी जातियों व समुदायों के लोगों ने मिल-जुलकर काम किया तथा एक-साथ मिलकर खाना भी खाया जिससे जातीय पृथकता कमजोर पड़ गई तथा सामाजिक गतिशीलता व सुधार की गति में तेजी आयी। निम्न वर्ग बिना किसी डर के अपना सिर ऊँचा रख सकता था। इस आंदोलन ने हिंदू तथा मुसलमानों के बीच एक विशेष सद्भाव स्थापित किया। बहुत से स्थानों पर तो असहयोग, खिलाफ़त तथा किसान सभा की सभाओं में फर्क करना कठिन था।

बंगाल के विभाजन के बाद उत्पन्न हुए 1905-8 के आंदोलन की अपेक्षा 1920-22 का आर्थिक बहिष्कार ज़्यादा प्रभावशाली था। 1905-8 में आयात किए गए 129 करोड़ 20 लाख गज ब्रिटिश सूती कपड़ों की अपेक्षा 1921-22 में सिर्फ 95 करोड़ 50 लाख गज कपड़ा ही आयात हुआ जिससे ब्रिटिश पूँजीपतियों में घबराहट पैदा हो गई। भारतीय कपड़ा उद्योग को विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार से अत्यधिक फायदा हुआ। भारतीय मिल मालिकों का प्रभाव काफी बढ़ा। दूसरी ओर, 1921 की मज़दूर हड़ताल ने इन मिल-मालिकों में घबराहट फैला दी। **चर्खे** तथा **करघे** को लोकप्रिय बनाने, स्वयं सेवा **पंचायतों** द्वारा ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्यक्रम से आर्थिक क्षेत्र में पुनर्जीवन का संचार हुआ तथा हथकरघे पर बने कपड़ों का उत्पादन बढ़ गया।

राजनैतिक क्षेत्र में, असहयोग तथा ख़िलाफ़त आंदोलनों में सभी समुदायों तथा वर्गों के शामिल होने के राष्ट्रीय आंदोलन में एक नया आयाम जोड़ दिया। राष्ट्रीय आंदोलन एक से अधिक तरीकों से मजबूत बना। एक नई राष्ट्रवादी जागरूकता उत्पन्न की गई तथा राष्ट्रीय आंदोलन देश के कोने-कोने में पहुँचा। पहली बार आम जनता राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा का अभिन्न अंग बनी। भारतीय जनता में स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास बहुत अधिक बढ़ा। इससे कुंठा तथा असहायता की जगह स्वतंत्रता की एक सच्ची भावना ने ले ली। इसने लोगों के उत्साह को बढ़ावा दिया तथा राष्ट्रीय गौरव को ऊँचा उठाया।

बोध प्रश्न 3

1 भारतीय इतिहास में असहयोग आंदोलन के प्रभाव की चर्चा कीजिए। लगभग 100 शब्दों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 आंदोलन क्यों स्थगित किया गया? पाँच पंक्ति में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 निम्न कथनों में कौन-से सही हैं और कौन-से गलत। सही (√) या गलत (×) का चिन्ह लगाइये।

1 असहयोग आंदोलन पर नियंत्रण रखने के लिए ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस तथा ख़िलाफ़तवादियों के बीच फूट डालने की कोशिश की।
2 चौरी-चौरा घटना का गांधी जी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।
3 ख़िलाफ़त आंदोलन कांग्रेस के आह्वान पर वापिस लिया गया।
4 असहयोग आंदोलन पहली बार जनता को भारतीय राजनीति की मुख्य धारा में लाया।

18.11 सारांश

स्वतंत्रता के लिए भारतीय संघर्ष की इतिहास यात्रा में असहयोग आंदोलन निस्संदेह एक मील का पत्थर था। रॉलट ऐक्ट के लागू होने, मौंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों, जलियाँवाला बाग हत्याकांड तथा ख़िलाफ़त समस्या ने असहयोग आंदोलन के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

गांधी जी ख़िलाफ़त समस्या का उपयोग ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ एक संयुक्त हिन्दू मुसलमान आंदोलन के लिए करना चाहते थे। ख़िलाफ़त समस्या का राष्ट्रीय आंदोलन में विलय हो जाने से कुछ कांग्रेस नेताओं के आरंभिक आपत्ति के बावजूद अंत में गांधी ने उन्हें ब्रिटिश राज के ख़िलाफ़ असहयोग आंदोलन शुरू करने के लिए राजी कर लिया।

आंदोलन के कार्यक्रम में सरकारी तथा शैक्षिक संस्थाओं, कानूनी अदालतों, विधायिकाओं का बहिष्कार तथा **चरखे** व **खादी** का प्रयोग इत्यादि शामिल थे। आंदोलन को भारत के विभिन्न भागों से भारी समर्थन मिला। सबसे अधिक ध्यान देने वाली बात आम जनता का राष्ट्रीय आंदोलन में पहली बार एक बड़ी संख्या में हिस्सा लेना था।

फिर भी 1921 के अंत तक आंदोलन धीरे-धीरे कांग्रेस नेतृत्व के नियंत्रण से बाहर हो गया, खासकर ग्रामीण इलाकों में। अंत में चौरी-चौरा घटना ने गांधी जी को सदमा पहुँचाया और उन्होंने आंदोलन वापिस ले लिया।

यह सत्य है कि आंदोलन अपने मुख्य लक्ष्यों ख़िलाफ़त की स्थापना तथा स्वराज की प्राप्ति को पाने में असफल रहा। किन्तु गांधी जी के अनुसार "आत्मिक शक्ति" तथा "भौतिक शक्ति" के बीच के संघर्ष से जनता में उनके राजनैतिक अधिकारों के प्रति एक नई जागरूकता आई। गांधी जी ने यह सही कहा था कि इस आंदोलन ने वह कुछ एक साल में पा लिया है जो पुराने तरीकों से तीस सालों में भी नहीं हो पाता। हमें असहयोग आंदोलन के बारे में सीमित राय के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि ये दो साल भारतीय राष्ट्रवाद के तूफानी साल थे जब पूरा भारत पहली बार शक्तिशाली ब्रिटिश राज के ख़िलाफ़ उठ खड़ा हुआ।

18.12 शब्दावली

अ. भा. का. स. : अखिल भारतीय कांग्रेस समिति।

असहयोग: शैक्षिक संस्थाओं, अदालतों, परिषदों इत्यादि के बहिष्कार द्वारा प्रदर्शित अंग्रेज़ों के साथ असहयोग की नीति।

प्रां. कां. स.: प्रांतीय कांग्रेस समिति।

सत्याग्रह: सच्चाई तथा हिंसा के दर्शन पर आधारित आंदोलन का गांधीवादी तरीका।

स्वदेशी: अपने देश में बना हुआ।

स्वराज: अपना शासन।

18.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 1) × 2)√ 3)√ 4) × 5)√

2 आपके उत्तर में आना चाहिए कि ख़लीफ़ा को किस प्रकार अपमानित किया गया। आंदोलन की प्रमुख माँगें ख़लीफ़ा के नियंत्रण की पुनर्स्थापना, ख़लीफ़ा के इलाकों की वापसी आदि थीं।
भाग 18.3 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1 विद्यालयों, कालेजों, परिषदों इत्यादि का बहिष्कार तथा **चरखा, खादी**, इत्यादि का प्रयोग।

भाग 18.4 देखिए।

2 दो या तीन इलाकों जैसे यू.पी., बिहार इत्यादि का उदाहरण देते हुए आपको किसानों के आंदोलन में हिस्सा लेने के कारण बताते हुए उनकी सहज प्रतिक्रिया के बारे में लिखना है।

भाग 18.6 तथा 18.7 देखिए।

3 1)√ 2)× 3)√

बोध प्रश्न 3

1 आपका उत्तर इस आंदोलन के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रभाव के बारे में होना चाहिए।
भाग 18.11 देखिए।

2 आपको गांधी जी तथा अन्य नेताओं द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण के बारे में लिखना है।
भाग 18.10 देखिए।

3 1) √ 2)× 3)× 4) √

इकाई 19 अकाली आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 सिख समाज में कुरीतियाँ और प्रारंभिक सुधार
- 19.2.1 निरंकारी आंदोलन
- 19.2.2 नामधारी आंदोलन
- 19.2.3 सिंह सभा आंदोलन

19.3 अकाली आंदोलन
- 19.3.1 गुरुद्वारों के धन का दुरुपयोग
- 19.3.2 स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त पर नियंत्रण के लिए संघर्ष
- 19.3.3 ननकाना दुर्घटना
- 19.3.4 तोशाखाना कुंजी समस्या
- 19.3.5 गुरु-का-बाग मोर्चा
- 19.3.6 नाभा में अकाली आंदोलन

19.4 गुरुद्वारा बिल का पारित होना और अकाली आंदोलन की समाप्ति
19.5 सारांश
19.6 शब्दावली
19.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में सिख समुदाय में हुए सामाजिक सुधारों और विशेषत: अकाली आदोलन के बारे में बताया जाएगा। इस आंदोलन से सिख समुदाय में सामाजिक और बौद्धिक परिवर्तन आया और राष्ट्रीय भावना की स्थापना हुई। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- अकाली आंदोलन से पूर्व हुए विभिन्न सुधार आंदोलनों के बारे में जानकारी हासिल कर सकेंगे,
- अकाली आंदोलन के कारणों को स्पष्ट कर सकेंगे,
- अकाली आंदोलन के मुख्य तथ्यों के बारें में बता सकेंगे, और
- अकाली आंदोलन में गुरुद्वारा बिल के महत्व को बता सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

आपने इकाई 8 में पढ़ा है कि 18वीं और 19वीं शताब्दी का समय भारत में सामाजिक और धार्मिक जागृति तथा सुधारों का समय था। सामाजिक जीवन में इन सुधारों ने अंधविश्वास और जाति व्यवस्था पर आक्रमण किया। इन आंदोलनों ने सती प्रथा, स्त्री-शिशु हत्या और बाल विवाह उन्मूलन के कार्य किए। इन्होंने विधवा विवाह, स्त्रियों के लिए समान वेतन और आधुनिक शिक्षा का आह्वान किया। इन सुधार आंदोलनों ने मुख्य रूप से हिन्दू समुदाय में व्याप्त कुरीतियों पर ही ध्यान दिया। इसी समय, दूसरे समुदायों में जैसे मुसलमान और सिक्खों में भी सामाजिक और धार्मिक सुधार चल रहे थे। सिख जाति को भी, जो सिख गुरुओं के मार्ग से भटक गई थी, सामाजिक और धार्मिक सुधार की आवश्यकता थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों की चर्चा हो चुकी है इस इकाई में हम सिख समुदाय में हो रहे सामाजिक और धार्मिक सुधारों की चर्चा करेंगें—विशेष तौर से इसमें अकाली आंदोलन का योगदान। अकाली आंदोलन ने सिख समुदाय के सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और इसके साथ-साथ उसे राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा से भी जोड़ा। अकाली आंदोलन की पूर्ण रूप से चर्चा करने से पूर्व संक्षिप्त रूप से उन आंदोलनों की चर्चा करना भी संगत होगा जिनके द्वारा सामाजिक जागृति उत्पन्न हुई और गुरुद्वारा सुधार के लिए अकाली आंदोलन प्रारंभ हो सका।

19.2 सिख समाज में कुरीतियाँ और प्रारंभिक सुधार

जैसा कि आप पढ़ चुके हैं कि सिख धर्म जातिगत भेदभाव और धर्म के मूल तत्वों से हटकर कर्मकाण्डों की प्रतिष्ठा और धर्म पर पुरोहितों के स्वामित्व जैसी कुरीतियों के विरोध में प्रारंभ हुआ। इसके संस्थापक गुरु नानक देव, एक-ईश्वर और विश्व-बंधुत्व में विश्वास रखते थे। उन्होंने बेकार के धर्म कृत्यों और कर्मकाण्डों की निन्दा की और एक-ईश्वर में विश्वास का प्रचार किया। मध्यकालीन दूसरे संतों की तरह उन्होंने भी अच्छे कार्यों और सच्चे जीवन पर बल दिया। नानक जी ने कहा, "सत्य उच्च है, परन्तु सत्य जीवन उच्चतम है"। अपनी शिक्षाओं को मूर्त रूप देने के लिए गुरु नानक ने **संगत** (सभा) और **पंगत**, एक पंक्ति में बैठकर **लंगर** (निःशुल्क भोजन) करने जैसी संस्थाओं की स्थापना की। गुरु नानक ने नारी-समानता की वकालत भी की। नानक जी ने यह भी कहा, "नारियों का अपमान क्यों करें, ये तो राजाओं और महापुरुषों को जन्म देने वाली हैं"। उन्होंने समाज में व्याप्त कई प्रकार की कुरीतियों का विरोध किया और न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था का आह्वान किया। किन्तु गुरु नानक और उत्तरवर्ती सिख गुरुओं की ये साधारण-सी व्यावहारिक शिक्षाएँ लोगों ने ठीक से नहीं अपनाईं। कालान्तर में सिख धर्म ने अपने पाँव जमा लिये और अपने धर्मकृत्यों की स्थापना कर ली। रणजीत सिंह द्वारा सिख राज्य की स्थापना से धार्मिक स्थानों में आडंबर प्रारम्भ हुए। इन्हीं कुरीतियों की सिख गुरु और दूसरे सामाजिक सुधारकों ने निंदा की थी। उसी समय सिख समुदाय में कई सामाजिक और धार्मिक आंदोलन चल पड़े। हम यहाँ कुछ महत्वपूर्ण आंदोलनों का अध्ययन करेंगे।

19.2.1 निरंकारी आंदोलन

बाबा दयाल दास, जो एक सन्तवृत्ति के थे और महाराजा रणजीत सिंह के समकालीन थे, सिख धर्म सुधारकों में सर्वप्रथम आगे आए। उन्होंने सिख समाज में धीरे-धीरे आ रही सामाजिक कुरीतियों की निंदा की। बाबा दयाल ने मकबरों और कब्रों की पूजा का विरोध किया। उन्होंने **आनन्द कारज**, (विवाह) का सरलीकरण किया, जिसने 1909 में आनन्द विवाह अधिनियम के रूप में पारित होकर कानूनी मान्यता प्राप्त की। इस विवाह पद्धति में विवाह **गुरु ग्रन्थ** साहिब की उपस्थिति में ग्रंथी द्वारा, ग्रन्थ साहिब से चार उचित पदों के गायन द्वारा सम्पन्न होता है और कोई धार्मिक कृत्य नहीं होता। दहेज, बारात, शराब, नाचना-गाना वर्जित होता है।

बाबा दयाल का देहावसान 30 जनवरी, 1855 में हुआ और उनके पुत्र बाबा दरबारा सिंह ने अपने पिता की शिक्षाओं का प्रचार जारी रखा। दरबारा सिंह का काफी विरोध हुआ। स्वर्ण मंदिर के मुख्य ग्रन्थी ने उन्हें मंदिर में प्रवेश कर आनन्द कारज पद्धति के अनुसार विवाह नहीं करने दिया। बाबा दरबारा सिंह के देहावसान पर उनके भाई रत्न चन्द ने जिन्हें प्रेम से बाबा रता जी कहते थे, उनके कार्य को आगे बढ़ाया। यह जानकर आश्चर्य होता है कि सिख धर्म में प्रथम सामाजिक सुधारकों में आमतौर पर अमृत छके सिख नहीं थे, परन्तु वे लोग थे जो सिख परंपरा और सामाजिक जीवन की सादगी से प्रेम और उन मूल्यों का आदर करते थे। यह आंदोलन "निरंकार" (आकार रहित ईश्वर) के नाम से प्रसिद्ध है। बाबा दयाल ने मानव-गुरुओं की पूजा का विरोध किया और अपने अनुयायियों से आशा की कि वे आकार रहित ईश्वर की पूजा करें। "**जपो प्यारियो धन्न निरंकार, जो देह धारी सब खुवार**"—आकार रहित ईश्वर की उपासना करो, देहधारी से भ्रमित न हों।

19.2.2 नामधारी आंदोलन

नामधारी आंदोलन कूका आंदोलन के रूप में प्रसिद्ध है, इसके अनुयायी जब हर्षोन्माद में होते थे तो **कूका** (चीखते) करते थे। भगत, जवाहरमल और बाबा बालक सिंह ने इस आंदोलन का शुभारंभ किया और इस आंदोलन ने बाबा राम सिंह के नेतृत्व में सिखों में सामाजिक और धार्मिक जागृति पैदा की। राम सिंह ने अपने अनुयायियों को एक ईश्वर की उपासना, प्रार्थना और ध्यान द्वारा करने का उपदेश दिया। उन्होंने अपने अनुयायियों को सुझाव दिया कि वे सदा ईश्वर की आराधना में लगे रहें। उन्होंने जातिप्रथा, स्त्री शिशु हत्या, बाल विवाह और विवाह में कन्याओं की अदला-बदली जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरोध में प्रचार किया। उन्होंने आसान और सस्ती आनन्द विवाह पद्धति को प्रोत्साहन दिया। राम सिंह के उपदेशों का सिख जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। समकालीन यूरोपीय अधिकारियों ने बाबा राम सिंह की प्रसिद्धि और प्रचार कार्य को गंभीरता से लिया, जोकि सरकार के निम्न संसदीय पेपर से विदित होता है :

> "..... उस (राम सिंह) ने सिखों में जाति भेदभाव का उन्मूलन किया, सब जातियों में भेदभाव रहित विवाह की वकालत की, विधवा विवाह का उपदेश दिया, जो उसने स्वयं कराए, उसने कभी भिक्षा नहीं ली और अपने अनुयायियों को भी भिक्षा न लेने का और शराब के सेवन तथा नशे का निषेद्ध किया..... उसने अपने शिष्यों को स्वच्छता, सत्य बोलने और प्रत्येक को लाठी रखने का आह्वान किया और उन्होंने उसका पालन किया। ग्रंथ ही को उन्होंने अपना प्रेरणा स्रोत माना है। उनकी पगड़ी की गांठ **शीशपुष** – जोकि श्वेत ऊनी गांठों की कंठहार सी होती है, से उनका भ्रातृत्व झलकता है, वे सभी माला रखते हैं और माला फेरते भी हैं।"

यद्यपि बाबा राम सिंह का प्रचार कार्य सही जीवन-यापन, सहिष्णुता और क्षमा पर आधारित था, किन्तु उनके कुछ अनुयायी अनुशासनहीन थे और धार्मिक उन्माद में कुछ ऐसे कार्य कर गए, जिनसे उनकी सरकार से टक्कर हो गई। उनके कई कट्टर अनुयायी गो-हत्या पर भड़क उठे और उन्होंने अमृतसर, राजकोट और मलेरकोटला में कई कसाइयों का वध कर दिया। दण्ड-स्वरूप उनको तोपों के मुँह से बाँध कर उड़ा दिया गया। यह आंदोलन सामाजिक था अथवा राजनीतिक, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है, किन्तु कूकाओं के ऊपर सरकारी जुल्म ने जनता में ब्रिटिश सरकार के प्रति घृणा फैला दी। इसने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में होने वाले अकालियों के संघर्ष की पृष्ठभूमि बनाई।

19.2.3 सिंह सभा आंदोलन

आने वाले वर्षों में कूकाओं के उत्पीड़न और उनके आंदोलन के दमन के फलस्वरूप 1873 में सिंह सभा आंदोलन का जन्म हुआ। सिंह आंदोलन सभा के कार्यकलापों का सिख जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। सिंह सभा के संस्थापक, जिनमें बहुत से शिक्षक मध्यम वर्ग के थे, पंजाब के अन्य सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों से भी संबंधित थे। उन्हें देश के अन्य भागों में ऐसे ही अन्य आंदोलनों का ज्ञान था। उनका विश्वास था कि सिख समुदाय में ये कुरीतियाँ अशिक्षा के कारण हैं। उन्होंने समझा कि सामाजिक और धार्मिक सुधार तभी सम्भव है जबकि जनता को अपनी प्राचीन परंपरा की जानकारी हो।

सिंह सभा ने सामाजिक और धार्मिक सुधार के लिए शिक्षा का प्रसार किया और जानबूझकर राजनीतिक प्रश्नों से बचने का प्रयास किया, ताकि ब्रिटिश शासकों के कोप-भाजन से बचा जा सके।

सिंह सभा के नेताओं ने, जोकि बड़े ज़मींदार थे अथवा "सिख जनता के हितों" को समझते थे, ब्रिटिश शासकों को अप्रसन्न नहीं किया। इस आंदोलन के प्रचारक ब्रिटिश सरकार को सभी सामाजिक और धार्मिक बुराइयों के लिए सीधे उत्तरदायक नहीं मानते। फिर भी वे प्रचारक ब्रिटिश सरकार को उस समय गिरती हुई स्थिति के लिए दोषी ठहराने से पूर्णरूपेण न बचा सके। पंजाब में रणजीत सिंह राज्य की खुशहाली की चर्चा करते हुए उन्होंने वर्तमान में सिखों के अधःपतन को मुगल काल के समतुल्य बताया। उनका मानना था कि मुगल और ब्रिटिश की समतुल्यता "कारणों की समतुल्यता" के कारण है।

फिर भी सिंह सभा की महत्वपूर्ण देन खालसा कॉलेज, विद्यालय और दूसरे शिक्षण केंद्रों की शृंखलाबद्ध स्थापना है। सिंह सभा के नेता अनुभव करते थे कि सिखों में शिक्षा प्रसार हेत्

ब्रिटिश शासकों का सहयोग अनिवार्य है। अतः उन्होंने वायसराय और अन्य ब्रिटिश अधिकारियों की संरक्षता प्राप्त की। लाहौर में खालसा दीवान की स्थापना के तुरन्त बाद एक आंदोलन प्रारंभ हुआ कि सिखों के लिए केंद्रीय कॉलेज स्थापित किया जाए, जिसके साथ बाहरी जिलों के विद्यालय संबंधित किए जाएँ। सिंह सभा के शैक्षणिक कार्यों को भारत सरकार, ब्रिटिश अधिकारियों और शासकों तथा सिख राजाओं का प्रोत्साहन और संरक्षण मिला। सिंह सभा ने अमृतसर में 1892 में खालसा कॉलेज की स्थापना की।

यद्यपि खालसा कॉलेज को संस्थापकों और ब्रिटिश संरक्षकों ने शुद्ध शैक्षणिक विकास के लिए स्थापित किया था, किन्तु इसके कुछ विद्यार्थी और शिक्षक उस समय प्रान्त में चल रही राजनीतिक अस्थिरता और बढ़ती राष्ट्रीयता से अपने को अलग न रख सके। 1907 में गुप्तचर विभाग ने अधिकारियों को सूचित किया कि खालसा कॉलेज "छात्रों में राष्ट्रीय भावना के विकास का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया है।" राजनीतिक रूप से सचेत शिक्षकों और गोपालकृष्ण गोखले एवं महात्मा गांधी सरीखे राष्ट्रीय नेताओं से प्रेरणा लेकर छात्रों ने दो बार यूरोपीय अधिकारियों के समक्ष, जब वे कॉलेज में राष्ट्रीयता को दबाने के उपाय सुझाने आए, प्रदर्शन किया। सिख-शिक्षा कान्फ्रेंस के माध्यम से सिंह सभा ने खालसा विद्यालयों की शृंखला स्थापित की, जिन्होंने अपरोक्ष रूप से सामाजिक चेतना और सुधार के केन्द्रों का कार्य किया। सिख समुदाय में हुए सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों ने सिखों के जीवन में धीरे-धीरे जड़ पकड़ती बुराइयों की ओर संकेत किया और उन्हें सुधार के लिए प्रेरित किया। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में, पंजाब में राजनीतिक अस्थिरता, राष्ट्रीय समाचारपत्रों के प्रभाव और देश में राष्ट्रीय जागृति से सिखों में असंतोष फैला और आने वाले अकाली आंदोलन की पृष्ठभूमि बना, जोकि एक ओर तो सिख गुरुद्वारों में **महन्तों** और दूसरे **स्वार्थी लोगों के विरुद्ध था, दूसरी ओर पंजाब में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध था।** इसके बारे में हम अगले भाग में पढ़ेंगे।

बोध प्रश्न 1

1 उन मुख्य बुराइयों को लिखें, जिनके विरुद्ध सिख समाज सुधारक लड़े।

.....

.....

.....

.....

.....

2 आनन्द कारज विवाह क्या है? किसने इस पद्धति का समर्थन किया।

.....

.....

.....

.....

.....

3 कूका आन्दोलन का क्या महत्व है?

.....

.....

.....

.....

.....

4 शिक्षा के क्षेत्र में सिंह सभा आंदोलन का क्या योगदान है?

.....

19.3 अकाली आंदोलन

सिख सुधारकों ने अकाली आंदोलन को अपने धार्मिक स्थानों में धीरे-धीरे फैल रही सामाजिक कुरीतियों को हटा कर उन्हें पवित्र रखने के लिए प्रारंभ किया। सिख मंदिर, जिन्हें **गुरुद्वारा** अथवा **धर्मशाला** कहते हैं, सिख गुरुओं ने सामाजिक, धार्मिक और नैतिक शिक्षा के केन्द्र के रूप में और निर्धन तथा दुखी लोगों को भोजन व आवास देने के लिए स्थापित किए। वहाँ सिख धर्म की मानव समानता की शिक्षाओं पर अमल किया जाता था। सभी व्यक्ति बिना किसी जाति, रंग और लिंग भेद के प्रत्येक गुरुद्वारे से संबंधित **लंगर** (सामाजिक भोजन) में प्रवेश कर निःशुल्क भोजन प्राप्त कर सकते थे। समकालीन लेखकों का मत है कि सिख सामाजिक और धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को नहीं मानते थे। चारों **वर्णों** के लोग सिख गुरुद्वारों में बिना रोकटोक प्रवेश पाकर पवित्र **प्रसाद** और **लंगर** में निःशुल्क भोजन कर सकते थे।

सिखों की पवित्र परंपरा के अनुसार गुरुद्वारा प्रबंधक गुरुद्वारों के मुख्य दान को अपने निजी काम में नहीं लाते थे, बल्कि उसे लंगर और दूसरे सामाजिक हित के कार्य में लगाते थे। दसवें गुरु गोविंद सिंह के देहावसान के बाद, सिखों के उत्पीड़न के समय सिख गुरुद्वारों का प्रबन्ध **उदासियों** ने संभाला। ये सिख धर्म को तो मानते थे, किन्तु उनके बाहरी चिह्नों को अक्षरशः नहीं मानते थे। अतः वे उत्पीड़न से बच गए। उस समय कई गुरुद्वारों के उदासी प्रमुखों ने गुरुद्वारों को चलाने में सिख धर्म की महत्वपूर्ण सेवा की। उनका उच्च नैतिक चरित्र और ईमानदारी के लिए काफी आदर था। बहुत से **उदासी** किसी भी गुरुद्वारे और उसकी सम्पत्ति से संबंधित नहीं थे, परन्तु स्थान-स्थान पर घूमते रहते थे। कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने स्थायी संस्थाएँ और अपने अनुयायी भी बना लिये, उन्हें **महन्त** कहते हैं। प्रारम्भ में इन **महन्तों** का अपने क्षेत्र की संगत में विश्वास और आदर था। उन्होंने गुरु नानक के इस उपदेश का पालन किया कि दान की लालसा नहीं होनी चाहिए। अधिकांश महंतों ने शुद्धता और सादगी की इस परंपरा को छोड़ दिया क्योंकि उनमें से अधिकांश महंतों की आमदनी काफी बढ़ गई थी। इस आय का मुख्य स्रोत महाराजा रणजीत सिंह और अन्य सिख सरदारों से प्राप्त कर मुक्त जागीर थीं।

19.3.1 गुरुद्वारों के धन का दुरुपयोग

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शक्तिशाली सिख सरदारों के उदय और 1799 में रणजीत सिंह द्वारा राज्य स्थापना से सिख धर्म में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। धार्मिक स्थानों के साथ जुड़ी सम्पत्ति और विशेषाधिकारों के कारण कई जटिल धर्मकृत्य और कर्मकाण्डों का आरम्भ हुआ तथा धनिक और शक्तिशाली **महन्तों** का उदय हुआ। लगभग सभी प्रसिद्ध गुरुद्वारों को महाराजा रणजीत सिंह और दूसरे सिख सरदारों ने करमुक्त जागीरें प्रदान की थीं। सहसा पैसे आने से कई महत्वपूर्ण गुरुद्वारों के **महन्तों** के जीवन-स्तर में परिवर्तन आ गया। वे अपने गुरुद्वारे की न्यास सम्पत्ति को अपनी निजी सम्पत्ति में बदलने लगे। यह सिख गुरुओं और सिख धर्मशास्त्रों के उपदेशों के बिल्कुल प्रतिकूल था। धीरे-धीरे **महन्त** और उनके अनुयायी विलासपूर्ण जीवन-यापन करने लगे और कई सामाजिक कृत्यों में भी पड़ गए। सिख धर्म के अनुयायियों ने **महन्तों** की इन कुरीतियों को हटाने के लिए सामाजिक विरोध किया और सिख गुरुद्वारों को वंशानुगत **महन्तों** से मुक्त कराने के लिए एक सामाजिक आंदोलन चलाया। इस आंदोलन को अकाली आंदोलन कहते हैं, क्योंकि इस सुधार का नेतृत्व अकाली **जत्थों** (स्वयंसेवकों का समूह) ने किया।

19.3.2 स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त पर नियंत्रण के लिए संघर्ष

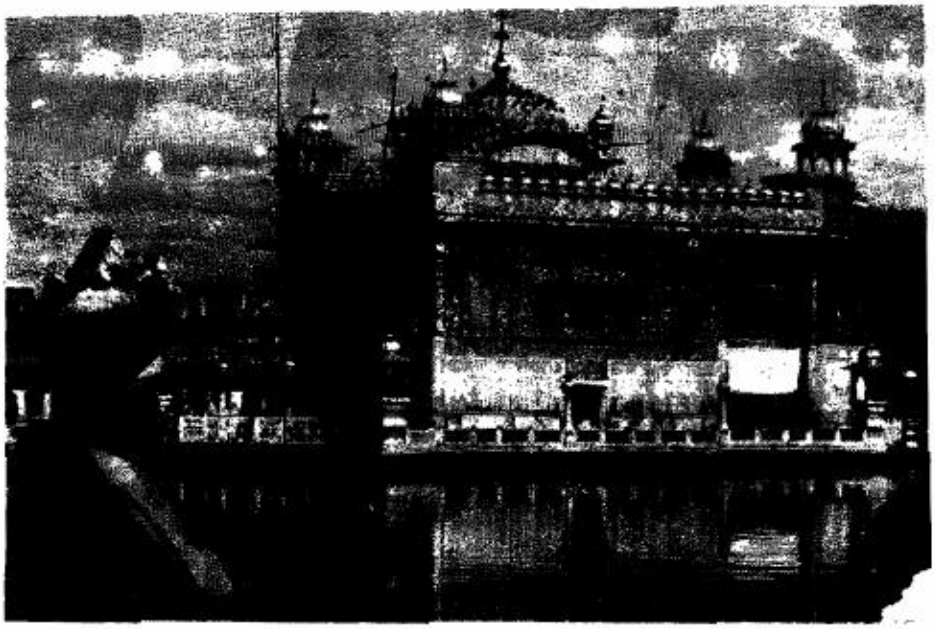

12 स्वर्ण मंदिर, अमृतसर

अमृतसर को, जिसे पहले रामदासपुर और गुरु का चक कहते थे, चौथे गुरु रामदास जी ने 1577 में बसाया। पाँचवें गुरु अर्जनदेव जी ने 1589 में मंदिर की स्थापना की, जोकि स्वर्ण मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। छठे गुरु हरगोविन्द ने अकाल तख्त का निर्माण किया और उसे ऐहिक सिख पीठ घोषित किया। प्रारंभ में स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त की देख-रेख भाई मनी सिंह जैसे सक्षम और पवित्र ग्रन्थी करते थे। किन्तु पंजाब के मुगल गवर्नरों के हाथों सिखों के उत्पीड़न और बाद में अब्दाली आक्रमक – अहमदशाह अब्दाली के समय में इन दो महत्वपूर्ण सिख केन्द्रों का प्रबन्ध उदासी महन्तों पर आ पड़ा। महाराजा रणजीत सिंह के शासनकाल में मंदिर को संगमरमर और स्वर्ण जड़ित फलकों से खूब सजाया गया। अत: यह स्वर्ण मंदिर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन मंदिरों के साथ करमक्त जागीर भी लगा दी गई। 1849 में पंजाब के ब्रिटिश भारत में विलय के बाद ब्रिटिश सरकार ने इन दोनों स्थानों का प्रबन्ध सम्भाल लिया और उनके कार्यों की प्रतिदिन देख-रेख के लिए एक दस सदस्य कमेटी का एक "**सर्बराह**" की अध्यक्षता में गठन किया। (देखें जान मेनार्ड "पंजाब में सिख समस्या" कन्टेम्प्रेरी रिव्यू, सितम्बर 1923, पृष्ठ 295)।

कुप्रबन्ध और भ्रष्टाचार

सरकार द्वारा सर्बराह की नियुक्ति ने कई समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। सर्बराह लोगों का ध्यान नहीं रखता था, परन्तु अपने नियोजक – अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर को प्रसन्न करने में लगा रहता था। ग्रन्थी कई प्रकार की करीतियों, जैसे दान और दसरी वस्तुओं के दरुपयोग में लग गए। इन स्थानों की पवित्रता का हनन हुआ। वहाँ वेश्यालय चलने लगे, अश्लील साहित्य बिकने लगा और मंदिर में आने वाली निर्दोष महिलाओं के साथ बलात्कार होने लगा (देखें – जीवन भाई, मोहन सिंह वैद, पृष्ठ 121)।

अमृतसर के स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त में भ्रष्टाचार और इनके प्रबंधों पर सरकारी नियंत्रण को लेकर सिख समुदाय में सुधार आंदोलन से पूर्व ही काफी असंतोष था। सुधारक इन केन्द्र स्थानों को शीघ्रातिशीघ्र इन बुराइयों और सरकारी नियंत्रण से मक्त करना चाहते थे। पंजाब के ब्रिटिश अधिकारियों ने किसी प्रकार के सुधार और चल रहे प्रबन्ध में परिवर्तन का विरोध किया। उनका मानना था कि इससे वे धार्मिक स्थानों का प्रयोग अपनी

शक्ति बनाये रखने और अपने राजनीतिक विरोधियों को कमजोर करने से वंचित हो जाएंगे। सामान्यत: स्वर्ण मंदिर पर सरकार द्वारा नियुक्त सर्बराहों को ब्रिटिश शासन और उसके कार्यकलापों के गुणगान के लिए उपयोग किया जाता था।

प्रबन्ध में सिख नियंत्रण के कमजोर होने और सरकारी नियंत्रण बढ़ने से मंदिर के दैनिक कार्यों में प्रबन्धक और ग्रन्थी डिप्टी कमिश्नर से आदेश लेने लगे और सिख परम्परा तथा भावनाओं की अनदेखी करने लगे। सरकार द्वारा नियुक्त सर्बराह, अपने नियोजक को प्रसन्न करने के पश्चात् अपना समय मंदिर की सम्पत्ति के दुरुपयोग में व्यतीत करने लगा और अपने धार्मिक कार्यों की अवहेलना करने लगा। मंदिर की बहुमूल्य भेंटें धीरे-धीरे सर्बराहों और ग्रन्थियों के घर जाने लगीं। मंदिर क्षेत्र पुरोहितों और ज्योतिषियों द्वारा प्रयोग होने लगा तथा गुरुद्वारों के अन्दर खुले आम मूर्ति पूजा होने लगी। समकालीन लेखों के अनुसार, **बसंत** और **होली** त्योहारों पर सभी स्थान स्थानीय बदमाशों, चोरों और दूसरे दुश्चरित्र लोगों के अड्डे बन जाते। अश्लील साहित्य खुले आम बिकता और पड़ोस के घरों में वेश्यालय खुलते, जहाँ पर पवित्र मंदिर में आने वाली महिलाएँ कामुक साधु, महन्त और उनके मित्रों की शिकार बनतीं।

जाति के आधार पर भेदभाव

सिख धर्म में जाति के आधार पर भेदभाव नहीं है, फिर भी स्वर्ण मंदिर के मुख्य ग्रन्थी ने नीची जाति वाले मजहबी सिखों को सीधे स्वर्ण मंदिर में प्रसाद नहीं चढ़ाने दिया। उनको मंदिर में **प्रसाद** चढ़ाने के लिए एक उच्च जाति का सेवादार किराये पर लेना पड़ा। सिख जाति में कई सुधार आंदोलनों और सामाजिक धार्मिक जागृति के परिणामस्वरूप अमृतसर की सिख बिरादरी ने नीची जाति के लोगों के साथ मेल-मिलाप, अंतर्विवाह और सामाजिक भोजन की वकालत की। जब स्वर्ण मंदिर के ग्रन्थियों ने नीची जाति के लोगों को अन्दर आकर स्वयं **प्रसाद** नहीं चढ़ाने दिया तो खालसा बिरादरी ने इस विषय पर जन-जागरण कर ग्रन्थियों के अधिकार को चुनौती देने का निश्चय किया। उन्होंने 12 अक्तूबर, 1920 में, अमृतसर के जलियांवाला बाग में एक **दीवान** का आयोजन किया, जिसमें प्रो० तेजा सिंह, बाबा हरकिशन सिंह और जत्थेदार करतार सिंह झाब्बार तथा अन्य सुधार आंदोलन के प्रमुख नेताओं ने भाग लिया। **दीवान** में उन अछूतों को, जिन्होंने सिख धर्म पर आस्था जताई, अमृत छकाया गया। तत्पश्चात् प्रमुख सिख नेताओं ने उनके साथ भोजन किया और धार्मिक जुलूस के रूप में स्वर्ण मंदिर की ओर चल पड़े जब वह मंदिर में पहुँचे तो ड्यूटी वाले ग्रन्थी भाई गुरवचन सिंह ने नीची जाति वालों से प्रसाद लेने से और उनके लिए प्रार्थना करने से इनकार कर दिया। काफी विवाद के बाद निर्णय गुरु ग्रन्थ साहिब के पाठ से सुझाया गया। निर्णय सुधारवादियों के हक में गया। ग्रन्थियों ने स्थिति परिवर्तन को नहीं माना और विरोध में मंदिर से चले गये। पवित्र पुस्तक गुरु ग्रन्थ को ग्रन्थी बिना किसी को सौंपे छोड़ गए थे, सुधारको ने स्थिति पर नियंत्रण कर स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त के प्रबन्ध के लिए एक समिति बनाई।

अत: आपने देखा कि सुधारक :

- मंदिर प्रबन्धकों द्वारा चन्दे का दुरुपयोग
- मंदिर परिसर का असामाजिक और भ्रष्ट लोगों द्वारा प्रयोग, और
- नीची जाति वालों के पवित्र मंदिर में प्रवेश की मनाही के बारे में बहुत अधिक चिंतित थे।

बोध प्रश्न 2

1 सर्बराहों के अधीन सिख मंदिरों में हो रही मुख्य कुरीतियों को लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2 धार्मिक मामलों में नीची जाति वाले लोगों से किस प्रकार भेदभाव किया गया ?

.....

.....

.....

.....

.....

3 मंदिरों के प्रबन्ध में सर्बराह सिख समाज के विचारों पर ध्यान क्यों नहीं देते थे ?

.....

.....

.....

.....

.....

19.3.3 ननकाना दुर्घटना

अमृतसर के स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त का प्रबन्ध संभालने के पश्चात् सुधारकों ने दूसरे सिख गुरुद्वारों की ओर ध्यान दिया। ननकाना में गुरु नानक देव के जन्म स्थान पर गुरुद्वारा जन्म स्थान और दूसरे मंदिरों पर वंशानुगत महन्तों का प्रभुत्व था। ननकाना के गुरुद्वारा जन्म स्थान का प्रमुख नारायण दास कई सामाजिक और धार्मिक बुराइयों, जैसे वेश्या रखना, गुरुद्वारे में नाचने वाली लड़कियों को बुलाना तथा पवित्र स्थान पर गन्दे गाने गाना आदि करने लगा। कई सिख नेताओं के विरोध के बाद भी महन्त ने उन बुराइयों को नही छोड़ा। परिणामस्वरूप 130 सुधारकों ने, जिसमें महिलाएँ भी थीं, गुरुद्वारा जन्म स्थान की ओर भाई लछमन सिंह के नेतृत्व में प्रस्थान किया। 20 फरवरी, 1921 को प्रातः जब जत्था गुरुद्वारे पर पहुँचा तो निहत्थे और शान्तिप्रिय सुधारकों पर महन्त के भाड़े के सैनिकों ने आक्रमण किया। कई सुधारक मारे गए और घायलों को वृक्षों के साथ बाँध कर जला दिया गया। साक्ष्य को नष्ट करने के लिए महन्त के आदमियों ने सभी शवों को एकत्र कर भस्म कर दिया। महन्त द्वारा जत्थे के सभी 130 व्यक्तियों की मार्मिक हत्या से देश में शोक और क्रोध की लहर दौड़ गई। महन्त के इस जघन्य कार्य की महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने निन्दा की। महात्मा गांधी 3 मार्च को ननकाना में अकाली सुधारकों के साथ सहानुभूति प्रकट करने आये। अपने भाषण में महात्मा गांधी ने महन्त के कार्य की निंदा की और अकाली सुधारकों को सरकारी जाँच आयोग से असहयोग का सुझाव दिया। महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रीय नेताओं के सुझाव पर अकाली सुधारकों ने अपने आंदोलन को और व्यापक बनाया उन्होंने दोनों ओर आक्रमण किया। एक ओर उन्होंने महन्त के भ्रष्टाचार का और दूसरी ओर पंजाब सरकार का विरोध किया । इस परिवर्तन के कारण अकाली आन्दोलनकारियों ने **तोशखाने** की कुंजी और बाद में शान्तिपूर्ण गुरु-का-बाग संघर्ष में भाग लिया।

19.3.4 तोशखाना कुंजियों की समस्या

जैसे पहले कहा गया है कि जब ग्रन्थी अमृतसर के स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त को छोड़ गए तो अकाली सुधारकों ने इनका प्रबन्ध सम्भाल कर इनके लिए एक समिति का गठन किया। समिति ने सरकार द्वारा नियुक्त प्रबन्धक को तोशखाना (कोष) की कुंजियाँ देने को कहा। इससे पहले कि प्रबन्धक कुंजियाँ दे पाता तभी ब्रिटिश डिप्टी कमिश्नर उससे कुंजियाँ लेकर चला गया। सरकार के इस कार्य ने सिख जाति में गहरा असंतोष उत्पन्न किया। कुंजियों को वापस लेने के लिए अकाली सुधारकों ने एक शक्तिशाली आंदोलन प्रारम्भ किया जो "कुंजियों की समस्या" के नाम से प्रसिद्ध है। इस आंदोलन में सिख सुधारकों का साथ

पंजाब में कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने भी दिया। महात्मा गांधी का असहयोग आंदोलन चल रहा था, तभी पंजाब सरकार ने कांग्रेस कार्य से अकाली सुधारकों को अलग करने के लिए "कुंजी समस्या" के सम्बन्ध में गिरफ्तार सभी अकाली स्वयंसेवकों को छोड़ दिया और स्वर्ण मंदिर के कोष की कुंजियाँ सभा के प्रधान को सौंप दीं। राष्ट्र ने अकाली सुधारकों की इस विजय को राष्ट्रीय शक्तियों की विजय माना। इस अवसर पर महात्मा गांधी ने बाबा खड़क सिंह, अध्यक्ष शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी को निम्न तार दिया:

"भारत की स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध में विजय हुई। मुबारक हो।"

फरवरी, 1922 में चौरी-चौरा हिंसा तथा महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी के परिणामस्वरूप असहयोग आंदोलन स्थगित हुआ। इसके बाद पंजाब सरकार ने अकाली सधारकों को "पाठ" पढ़ाने की सोची। इसने एक और आंदोलन को जन्म दिया, जोकि **गुरु-का-बाग** मोर्चा के नाम से प्रसिद्ध है।

बोध प्रश्न 3

1 ननकाना दर्घटना क्यों हुई?

.....
.....
.....
.....
.....

2 अकाली आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन के सम्पर्क में कैसे आया?

.....
.....
.....
.....
.....

3 कंजियों की समस्या क्या थी? ब्रिटिश सरकार ने इस विषय में क्यों घटने टेक दिए?

.....
.....
.....
.....
.....

19.3.5 गुरु-का-बाग मोर्चा

जैसे पूर्व कहा गया है कि कुंजियों की समस्या के सम्बन्ध में पकड़े गए अकाली कैदियों की बिना शर्त रिहाई और सभा को कुंजियों की वापसी से पंजाब सरकार की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। पंजाब सरकार के अधिकारियों ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पनः प्राप्त करने के लिए गुरु-का-बाग गुरुद्वारे के सुखे कीकर वृक्षों की लकड़ी काट रहे अकाली स्वयंसेवकों को गिरफ्तार कर लिया। पुलिस का तर्क था कि सूखी लकड़ी गुरुद्वारे के महन्त की निजी सम्पत्ति है और अकाली सुधारक इनको लंगर के लिए ले जाकर "चोरी" कर रहे हैं। सूखी लकड़ियों को लंगर के लिए काटने के अधिकार के समर्थन में अकाली जत्थे गुरु-का-बाग की ओर चल पड़े, जहाँ पुलिस ने इन सुधारकों को गिरफ्तार कर लिया।

13 गुरु-का-बाग की तरफ बढ़ते हुए स्वयंसेवक

5,000 सुधारकों को गिरफ्तार करने के पश्चात् पंजाब सरकार की जेलों में इन सुधारकों के लिए स्थान न रहा। वे उनकी निष्ठुरता से पिटाई, जब तक वे बेहोश न हों, करने लगे। पिटाई के बाद उन्हें रिहा कर दिया जाता। गुरु-का-बाग के इस दमन से अकाली सुधारकों ने राष्ट्रीय नेताओं और समाचारपत्रों की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त किया। आदरणीय सी.एफ. एड्रयूज – एक ब्रिटिश मिशनरी, जोकि भारतीय राजनीतिक चेतना के प्रति सहानुभूति रखते थे, गुरु-का-बाग में अकालियों की पिटाई देखकर और निर्दोष अकाली स्वयंसेवकों के कष्टों को देखकर इतना द्रवित हुए कि उन्होंने "पुलिस के कार्य को अमानवीय, पाशविक, बुरा और कायराना, एक अंग्रेज़ के लिए अविश्वसनीय और इंग्लैंड की नैतिक हार कहा।"

इस सरकारी कार्य की राष्ट्रीय नेताओं द्वारा आलोचना और उसे समाचारपत्रों के खूब उछालने पर पंजाब के गवर्नर ने गुरु-का-बाग अकाली जत्थों की पिटाई रोकने का पुलिस को आदेश दिया। गुरु-का-बाग आंदोलन में सभी गिरफ्तार व्यक्तियों को बिना शर्त छोड़ दिया गया तथा स्वयंसेवकों को बाग से लकड़ी काटकर गुरु-का-बाग गुरुद्वारे के लंगर में ले जाने की अनुमति दे दी गई।

14 गुरु-का-बाग में हुई गिरफ्तारियाँ

19.3.6 नाभा में अकाली आंदोलन

''कृजियों की समस्या'' और गुरु-का-बाग के दोनों आंदोलनों में अकाली सुधारकों की जीत से अकाली नेताओं की शक्ति, प्रतिष्ठा और मनोबल को बहुत बल मिला। अपनी इस जीत की घड़ी में उन्होंने एक और आंदोलन का सूत्रपात किया। उन्होंने नाभा के महाराजा रिपदमन सिंह, जिसे ब्रिटिश सरकार ने बलपूर्वक सिंहासन से हटा दिया था, पुन: स्थापना की माँग की। इस विषय का अकाली आंदोलनों से सीधा सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि अभी तक इन आंदोलनों के मुख्य विषय सामाजिक और धार्मिक सुधार ही थे। अकाली सुधारकों का प्रान्त में एक शक्तिशाली राष्ट्रीय विरोध के रूप में उदय होने के कारण कांग्रेस नेतृत्व ने उनके नाभा आंदोलन का समर्थन किया। नई दिल्ली में सितम्बर, 1923 में कांग्रेस कार्यसमिति के विशेष अधिवेशन ने जवाहरलाल नेहरू, ए. टी. गिडवानी और के. सन्थानम को नाभा में पर्यवेक्षक के रूप में भेज कर स्थिति की सूचना कार्यसमिति को देने का निर्णय लिया। नेहरू और उसके सहयोगियों को नाभा के क्षेत्र में प्रवेश करते ही गिरफ्तार कर लिया गया और उनको मनगढ़त अपराधों के अधीन जेल भेज दिया गया। अपने नाभा जेल के प्रवास में कांग्रेस पर्यवेक्षकों को अकाली संघर्ष का आंतरिक ज्ञान ही नहीं हुआ, बल्कि ब्रिटिश प्रशासन के अधीन नाभा के सिख राज्य में न्याय व्यवस्था की मनमानी का भी पता चला। जवाहरलाल नेहरू ने 23 नवम्बर, 1923 में नाभा जेल में अपने लेख में नाभा की न्याय व्यवस्था की मनमानी और कुटिलता के कारण आलोचना की है और अकालियों के साहस और बलिदान की प्रशंसा की। (देखें एस. गोपाल द्वारा संपादित ''**सलेक्टिड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू**'', प्रथम खंड पृष्ठ 369-375)। मूल हस्तलिखित लेख का अन्तिम भाग इस प्रकार है:

> ''मुझे प्रसन्नता है कि मुझ पर उन कार्यों के लिये मकदमा चलाया जा रहा है, जिसे सिखों ने अपना लिया है। मैं जेल में था, जब सिख जनता गुरु-का-बाग आंदोलन में जी जान से जुझकर जीती। मैं अकालियों के साहस और बलिदान से प्रभावित था और चाहता था कि मुझे उनके किसी सेवा कार्य का सअवसर मिले, ताकि मैं उनके प्रति गहरी प्रशंसा व्यक्त कर सकूँ। वह अवसर अब मिल गया है और मैं पूर्ण आशा करता हूँ कि मैं उनकी उच्च परम्परा और अदम्य साहस के अनरूप बन सकूँगा। **सत् श्री अकाल।**''
>
> सेण्ट्रल जेल — जवाहरलाल नेहरू
> नाभा — सितम्बर 25, 1923

19.4 गुरुद्वारा बिल का पारित होना और अकाली आंदोलन की समाप्ति

नाभा में अकाली आंदोलन का नाभा के ब्रिटिश प्रशासक और पटियाला के सिख महाराजा भूपिन्दर सिंह ने कड़ा विरोध किया। फरवरी, 1924 में जैतो में शहीदी जत्थे पर गोली चलने से आंदोलन ने फिर गंभीर मोड़ ले लिया। अकाली आंदोलन से ब्रिटिश सेना में सिख सैनिक प्रभावित हो सकते थे। साथ ही अकाली आंदोलनों द्वारा कांग्रेस के आदर्श और कार्यक्रमों का पंजाब के सिख कृषकों पर प्रभाव पड़ रहा था। इन घटनाओं के कारण पंजाब सरकार ने मजबूर होकर अकाली समस्या सुलझाने के लिए जुलाई, 1925 में एक बिल पारित किया, जिससे सिख समाज को अपने गुरुद्वारों के प्रबन्ध के लिए कार्यकर्त्ताओं के चनाव का कानूनी अधिकार मिला। इस अधिनियम ने महन्तों के वंशानुगत अधिकार को समाप्त कर गुरुद्वारा प्रबन्ध के लिए लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना की। इसके साथ ही पंजाब में पाँच वर्षों से चल रहे अकाली आंदोलन की समाप्ति हुई इसमें 30,000 से अधिक अकाली स्वयंसेवक जेल गये और उनके समर्थकों ने नौकरियाँ, पेंशन गवाईं और बड़े हर्जाने भरे।

ੴ ਸਤਿਗੁਰਪ੍ਰਸਾਦਿ ॥

Press Communique No. 558.

Instead of redressing the legitimate grievances of the Sikh Community concerning the Nabha State affair, Government has embarked upon the cruel policy of gagging the mouths of the Sikhs. Since Monday, the 16th July, the delivery of the post of the "Akali-Te-Pardesi" has been stopped. For two days, 16th and 17th the private letters of the persons connected with the paper were also stopped. Today, the 18th, the private letters were delivered, but the mail of the newspaper continues to be detained. On enquiry from the Post office, it was found that the above action had been taken according to an order of the Government of India, an official Copy of which has not yet been supplied to the paper. Presumably this drastic measure has been taken against the paper because it raised the alarm in the matter of the virtual deposition of Maharaja Sahib of Nabha.

Last year the Government stopped the mail of the Shromani Committee, during the Guru-Ka-Bagh days, with what success the public knows. It is hoped that the sympathy of the Sikhs will once more defeat the purpose of this repressive measure by all possible means and keep the "Akali-Te-Pardesi" in complete touch with the happenings in the Panth.

mansingh.
for General Secretary
Shromani Gurdwara Committee

Amritsar,
18th July 1923.

इस आंदोलन से अकाली सुधारकों ने वंशानुगत महन्तों के प्रबन्ध से अपने ऐतिहासिक सिख मंदिरों को स्वतंत्र कराने में सफलता प्राप्त की। इससे निम्न सामाजिक बुराइयों का अंत हुआ:

- स्वर्ण मंदिर में नीची जाति वाले सिखों द्वारा भेंट देने तथा पूजा की मनाही
- गुरुद्वारों से प्राप्त आय का महन्तों द्वारा निजी उपयोग
- नाचने गाने वाली लड़कियों का गुरुद्वारा परिसर में आमंत्रण और अन्य सामाजिक बुराइयाँ।

आंदोलन ने लोगों में धार्मिक और राजनीतिक जागृति भी उत्पन्न की। उनको अनुभव कराया गया कि सिख परम्परा में जाति के आधार पर कोई धार्मिक बंधन नहीं। गुरुद्वारा अधिनियम के अनुसार, किसी भी जाति का सिख किसी भी पद के लिए, जिसमें शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का प्रधान पद भी सम्मिलित है, चुनाव लड़ सकता है। सिख महिलाओं को भी पुरुषों के समान मत देने का अधिकार मिला वे सिख मंदिरों में सभी धार्मिक और सामाजिक कर्त्तव्य कर सकती थीं। अकाली आंदोलन ने पटियाला, नाभा, जींद और फरीदकोट जैसे सिख राज्यों के लोगों, जो धार्मिक और सामाजिक शोषण से पीड़ित थे, को सामाजिक जागृति प्रदान की। सिख राज्यों के गाँवों में अकाली जत्थों ने लोगों को नैतिक समर्थन दिया, जिससे कि वे अपनी सामाजिक बुराइयों से लड़ सकें। यह विचारणीय है कि अकाली आंदोलन समाप्त होने के पश्चात् भी सिख राज्य के लोगों ने सरदार सेवा सिंह ठीकरीवाला के नेतृत्व में लड़ाई जारी रखी। प्रजा मंडल और राज्य लोक कान्फ्रेंस ने अपना संघर्ष तब तक जारी रखा, जब तक कि भारत स्वतंत्र नहीं हुआ और सभी राज्य भारत संघ राज्य में नहीं मिल गए।

बोध प्रश्न 4

1 नाभा में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अकाली आंदोलन के प्रति क्या दृष्टिकोण था?

.....
.....
.....
.....
.....

2 गुरुद्वारा अधिनियम, 1925 के पारित होने से सिख मंदिरों का प्रबन्ध कैसे लोकतान्त्रिक हुआ?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

3 अकाली आंदोलन की तीन उपलब्धियाँ लिखिए।

i) .....
.....
.....

ii) .....

.....

.....

iii) .....

.....

.....

19.5 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि कैसे सिख धर्म, जो कर्मकाण्ड और जातिवाद के विरोध में प्रारम्भ हुआ, शीघ्र स्वयं जातिवाद, धार्मिक कर्मकाण्ड और दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों में आ फँसा। उनके धार्मिक स्थानों में कुप्रबन्ध और भ्रष्टाचार फैल गए। कई आंदोलनों ने इन कुरीतियों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। फिर भी, इन सबमें अकाली आंदोलन ही शक्तिशाली और अधिक विस्तृत था। ब्रिटिश सरकार अकाली माँगों के प्रति बड़ी असहानुभूति रखती थी और उसे कुचलना चाहती थी। अत: अकाली आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन से सम्पर्क स्थापित किया। इसे राष्ट्रीय नेताओं से भरपूर सहायता मिली। लम्बे संघर्ष के बाद अकालियों ने अपने मंदिरों के प्रबन्ध को भ्रष्टाचार से मुक्त कराया। गुरुद्वारों को भ्रष्टाचार से मुक्त कर सभी जाति के लोगों के लिए उसके द्वार खोले। सरकार को मजबूर होकर गुरुद्वारा अधिनियम, 1925 पारित करना पड़ा, जिससे सिख मंदिरों के प्रबन्ध में लोकतंत्रता आई।

19.6 शब्दावली

आनन्द विवाह : साधारण विवाह पद्धति, जो दहेज, वैवाहिक कर्मकाण्ड और बारात आदि के बिना सम्पन्न होती है।

महन्त : अकाली आंदोलन से पहले गुरुद्वारों के प्रबन्धक। इन्होंने अपनी संस्थाएँ और चेले बना लिए।

मज़हबी : नीची जाति के सिख, जिनके लिए सिख मंदिरों में प्रवेश निषिद्ध था।

परिसर : बड़े भवन के आसपास का क्षेत्र। गुरुद्वारों की सीमा की दीवारों के अंदर का क्षेत्र।

ईश्वर विमुख : भगवान और पवित्र वस्तुओं का अनादर करना।

कर-मुक्त ज़ागीर : राज्य द्वारा व्यक्तियों और संस्थाओं को दी गई भूमि, जिस पर राज्य कर नहीं लेता।

सर्बराह : सरकार द्वारा नियुक्त गुरुद्वारों की देख-रेख करने वाला

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी : स्वर्ण मंदिर और अकाल तख्त के प्रबन्ध के लिए अकालियों ने, इसे स्थापित किया। बाद में इसने पंजाब के सभी गुरुद्वारों का प्रबंध सम्भाल लिया।

ऐहिक प्राधिकार : धार्मिक प्राधिकार के विपरीत, सांसारिक प्राधिकार।

उदासी : एक सिख मत, जो सिखों के मज़हब के बाह्य चिह्नों को जैसे लम्बे बाल और दाढ़ी बढ़ाना, कड़ा और कृपाण रखना, नहीं मानता।

19.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 मुख्य कुरीतियाँ, जिनके विरुद्ध सुधारक लड़े, जाति भेद, मकबरे और कब्रों की पूजा, कई ईश्वरों की पूजा, अशिक्षा, दहेज, विवाह में कन्याओं की अदला-बदली और स्त्री शिशु हत्या थीं।

2 आनन्द कारज विवाह साधारण विवाह पद्धति है (देखिए उपभाग 19.2.1) बाबा दयाल दास, उसका पुत्र दरबारा सिंह और बाबा राम सिंह।

3 कूका आंदोलन ने जनता का ध्यान सामाजिक बुराइयों की ओर दिलाया। देखिए उपभाग 19.2.2।

4 सिंह सभा आंदोलन ने निरक्षरता के विरुद्ध कार्य किया और शिक्षा तथा राष्ट्रीय भावनाओं के लिए खालसा कॉलेजों की शृंखलाओं की स्थापना की। देखिए उपभाग 19.2.3।

बोध प्रश्न 2

1 सिख मंदिरों में सर्बराहों द्वारा चन्दे की हेराफेरी, मंदिरों का असामाजिक तत्वों द्वारा दुरुपयोग, नीची जाति का प्रवेश निषेद्ध आदि कुरीतियाँ विद्यमान थीं। देखिए उपभाग 19.3.1 और 19.3.2।

2 नीची जाति के लोगों को मंदिर में प्रवेश कर भेंट चढ़ाने का निषेद्ध। देखिए उपभाग 19.3.2।

3 सर्बराहों को ब्रिटिश सरकार नियुक्त करती थी। अतः वे अपने मालिकों को प्रसन्न रखते थे और सिख समाज के विचारों की अवहेलना करते थे। देखिए उपभाग 19.3.2।

बोध प्रश्न 3

1 ननकाना में गुरुद्वारा जन्म स्थान का प्रबन्ध भ्रष्ट महन्त से लेने के लिए अकाली सुधारकों के शान्तिपूर्ण मार्च से यह दुर्घटना घटी। सुधारक इस गुरुद्वारे को क्यों लेना चाहते थे? उपभाग 19.3.3 पुनः देखिए।

2 ननकाना दुर्घटना के बाद महात्मा गांधी और कई अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने पंजाब का दौरा किया और अकाली उद्देश्य को पूर्ण समर्थन दिया। देखिए उपभाग 19.3.3 और 19.3.4।

3 स्वर्ण मंदिर को लेने के बाद अकालियों ने कोष की कुंजियाँ माँगी। ब्रिटिश सरकार ने समर्पण इस लिए किया कि वे अकालियों को काँग्रेस के असहयोग से अलग करना चाहते थे। देखिए उपभाग 19.3.4।

बोध प्रश्न 4

1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अकालियों की नाभा मांग का समर्थन किया और विशेष पर्यवेक्षक भेजे। देखिए उपभाग 19.3.6।

2 गुरुद्वारा अधिनियम, 1925 के पारित होने के पश्चात् प्रत्येक सिख बिना जाति भेद के शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का चुनाव जीत कर मंदिरों के प्रबन्ध में भाग ले सकता था। महिलाओं को भी मत देने का अधिकार मिला। देखिए भाग 19.4।

3 आपके उत्तर में जाति प्रतिबंध, जनता के धन का दुरुपयोग बन्द करना, गुरुद्वारों से असामाजिक तत्वों तथा वंशानुगत महन्ती व्यवस्था का अन्त और सामाजिक राजनीतिक जागृति का प्रारम्भ जैसी उपलब्धियों का उल्लेख होना चाहिए।

इकाई 20 पश्चिम और दक्षिण भारत में गैर ब्राह्मण आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 महाराष्ट्र में सांस्कृतिक संघर्ष
  20.2.1 जोतिराव गोविंदराव फुले (1827-1890)
  20.2.2 प्रारम्भिक बीसवीं सदी में गैर-ब्राहमण आंदोलन
  20.2.3 आन्दोलन का स्वरूप
20.3 दक्षिण भारत में गैर-ब्राहमण आंदोलन
  20.3.1 तमिलनाड़ में आत्म-सम्मान आंदोलन
  20.3.2 जस्टिस पार्टी और गैर-ब्राहमण आंदोलन
  20.3.3 ई.वी. रामास्वामी नायकर (1879-1973) और आत्म-सम्मान आंदोलन
  20.3.4 आंध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन
  20.3.5 कर्नाटक में गैर-ब्राहमण आंदोलन
20.4 आंदोलनों का तुलनात्मक विश्लेषण
20.5 सारांश
20.6 शब्दावली
20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातों के बारे में जानकारी पा सकेंगे:

- पश्चिम और दक्षिण भारत में ब्रिटिश विचारधाराओं के साथ-साथ पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष ।
- ब्रिटिश शासन और पारंपरिक समाज व्यवस्था के विरूद्ध पैदा हुई चुनौती का स्वरूप ।
- अलग-अलग क्षेत्रों में इन आंदोलनों का स्वरूप तथा इनकी प्रकृति में विभिन्नता ।
- इन आंदोलनों की मूल सीमाएँ ।

20.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं सदी में सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष ने न केवल ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के सैद्धान्तिक प्राधान्य के विरुद्ध बल्कि रूढ़ सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के विरुद्ध भी रूकावट पैदा की । क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर ''बुद्धिजीवियों के एक समुदाय'' के बनने के कारण पारंपरिक व्यवस्था की कमजोरियों के प्रति एक चेतना जागी । आधुनिक पश्चिम विचारधारा से ही इन कमजोरियों का सामना किया जा सकता था । फिर भी उपनिवेशवाद की भौतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का असर आधुनिक विचारधारा की उत्पत्ति पर पड़ा, और देश के विभिन्न भागों में ये विचारधाराएँ अलग-अलग आन्दोलनों के द्वारा सामने आईं । उन्नीसवीं सदी में ऐसे कई सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन हुए जिनका उद्देश्य भारतीय सांस्कृतिक और पारंपरिक संस्थाओं में सुधार करना तथा उनको नवजीवन प्रदान करना था । स्वतंत्रता के प्रति नए विचारों, तर्क, सहनशीलता और मानव प्रतिष्ठा के समर्थन के साथ-साथ जाति प्रथा की आलोचना की जाती थी क्योंकि इससे असमानताएँ और समाज में विभाजन तथा सती प्रथा, शिशु हत्या और बहुदेववाद जैसे अमानवीय आचार उत्पन्न होते थे । जातिगत असमानता और उनके साथ जुड़े श्रेणीबद्ध समाज के विरुद्ध सामाजिक और सांस्कृतिक लड़ाईयाँ लड़ने के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग एक जुट हो चुका था । इस वर्ग ने विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा और बराबर के सम्पत्ति अधिकारों जैसी

समस्याओं को लेकर नारी-समाज के सामान्य उद्धार के लिए भी काम किया । बुद्धिवाद (rationalism)और धार्मिक सार्वभौमवाद (religious universalism) निश्चय ही ऐसी दो महत्वपूर्ण विचारधाराएँ थीं जिनका उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवियों ने सहारा लिया और जिसने महाराष्ट्र में जोतिराव फुले जैसे अतिसुधारवादी सामाजिक समीक्षक को जन्म दिया । बुद्धिजीवियों का यह संघर्ष मोटे तौर पर निम्नलिखित विचारधारा या विश्व दृष्टिकोण पर आधारित था: "सामंती समाज के प्रमुख मूल्यों का विरोध करने पर भी वे बर्जुआ व्यवस्था के विशिष्ट मूल्यों को लागू और स्वीकार करने का समर्थन करते थे ।" जैसा कि हाल के कुछ अतिसुधारवादी सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों की विशेषताओं से स्पष्ट है कि पश्चिमी उदारतावाद से प्रभावित इस विश्व दृष्टि का नतीजा यह हुआ कि कई पुरानी विचारधाराओं को छोड़ देना पड़ा । इसके बारे में आगे विस्तार से बताया जाएगा ।

20.2 महाराष्ट्र में सांस्कृतिक संघर्ष

महाराष्ट्र में पारंपरिक सामाजिक स्तरीकरण वर्णाश्रम धर्म से नियंत्रित था, जिसके अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक वर्गों की असमान जातिक्रम व्यवस्था के आधार पर समाज का विभाजन किया गया था । इस स्तरीकरण से नियंत्रित विभिन्न जातियों के बीच आपसी सामाजिक सम्बन्धों को अपवित्रता और पवित्रता के सख्त नियमों के आधार पर बनाए रखा गया । इस जाति व्यवस्था में ब्राहमण जाति सबसे ऊपर थी जिसे बहुत से अधिकार और सुविधाएँ मिली हुई थीं । धार्मिक विचारधाराओं के विकास के जरिए वे समाज पर सामाजिक नियंत्रण बनाए रखते थे । इस विचारधारा ने बहुत से अंधविश्वासों और अमानवीय आचारों को वैधता दी हुई थी । इस जाति व्यवस्था में सबसे नीचे स्तर पर अतिशूद्र या अछूत रखे गये थे जो शिक्षा और दूसरे अधिकारों से वंचित रहे ।

महाराष्ट्र में हिन्दू कुल जनसंख्या के 74.8 प्रतिशत थे । 1881 की जनगणना के अनुसार कुन्बी अथवा मराठा मुख्य समुदाय था जो कुल जनसंख्या का लगभग 55.25 प्रतिशत था । ग्रामीण समाज में कुन्बी आर्थिक रूप से भी समर्थ थे । धनी किसान वर्ग होने के नाते कृषि उत्पादन पर उनका ही नियंत्रण था । फिर भी, पारंपरिक विचारधारा और जाति प्रथा के असर ने उन्हें ब्राहमणों का ताबेदार बनाए रखा । दूसरी तरफ ब्राहमणों ने अपनी कर्मकाण्डी शक्ति, शिक्षा तथा ज्ञान पर एकाधिकार के बलबूते पर दूसरी जातियों पर काफी असर बनाए रखा । ब्रिटिश काल के दौरान, ब्राहमणों ने नई अंग्रेजी शिक्षा को सफलतापूर्वक अपनाया और उपनिवेशी शासन में छाए रहे । इसलिए अधिकतर नया बुद्धिजीवी वर्ग पहले से ही प्रगतिशील ब्राहमण जाति में से उभरा और प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों, जैसे शासकीय, आचार्य, नीचे दर्जे के दफ्तर शाह, लेखक, संपादक या वकील आदि, पर वे ही बने रहे । इस प्रकार के माहौल ने गैर-ब्राहमण जातियों में डर पैदा कर दिया ।

इस प्रकार की रूढ़ सामाजिक व्यवस्था की ईसाई मिशनरी और राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों दोनों ने ही खुलकर आलोचना की और इन्होंने पश्चिमी उदार विचारधारा को अपना लिया था । सुधार आंदोलनों को हम दो भिन्न शाखाओं में बाँट सकते हैं । जोतिराव गोविंद राव फुले जैसे शुरू के आमूल सुधारकों ने समानता और तर्कबुद्धिता के सिद्धांतों के आधार पर पारंपरिक संस्कृति और समाज में क्रान्तिकारी पुनर्गठन की कोशिश की । फिर भी, महादेव गोविन्द राणाडे (1842-1901) जैसे बाद के मध्यमार्गी सुधारकों ने पुरानी परम्पराओं और संस्कृति में कुछ परिवर्तन करने के बाद उन्हें अपनाने की बात कही । फुले की अतिसुधारवादी परम्परा ने ही महाराष्ट्र में गैर-ब्राहमण आंदोलन को जन्म दिया ।

20.2.1 जोतिराव गोविन्दराव फुले (1827-1890)

व्यक्तित्व

जोतिबा फुले का जन्म सन् 1827 में पुणे में माली परिवार में हुआ था । उनके पिता माली या फूलों के सौदागर थे । चूँकि फुले का जन्म दलित शूद्र परिवार में हुआ था, इसलिए वे अतिशूद्र अर्थात् "महार" और "मांग" जैसी अछूत जातियों की समस्याओं को आसानी से

16 ज्योतिबा फुले

समझ सकते थे । उन्होंने अपने आप को भी उनमें से एक समझा । उनकी शुरू की शिक्षा एक मिशन स्कूल में हुई, लेकिन 1833 में उन्हें इसे बीच में स्थगित करना पड़ा ।

1848 की एक घटना ने फुले को सामाजिक क्रांतिकारी बना दिया । जब वे अपने एक ब्राहमण मित्र के विवाह में शामिल होने गए तब कुछ कट्टर ब्राहमणों ने उन्हें शूद्र कहकर उनका अपमान किया और उन्हें वहाँ से चले जाने को कहा । इस अपमान ने जोतिबा को जाति भेदभाव और छुआछूत जैसी अमानवीय व्यवहार की जड़ों का पता लगाने के लिए मजबूर किया ।

समाज और अर्थव्यवस्था के प्रति विचारधारा

समाज और अर्थव्यवस्था की असलियत जानने के लिए फुले ने वेदों, मनु संहिता, पुराण, बुद्ध के विचार, बसेश्वर और तीर्थांकर की विचारधारा और मध्ययुगीन भक्ति सन्तों के हिन्दू धर्मग्रंथों को पढ़ा । उसके साथ-साथ उन्होंने पश्चिमी विचारधारा और ईसाई तथा इस्लाम धर्म ग्रन्थों को भी पढ़ा । सम्पूर्ण संस्कृति और परम्परा को फुले ने तर्कबुद्धिता और समानता की भावना की दृष्टि से परखा । जबकि समानता के सिद्धान्त ने जाति प्रथा, सत्तावादी परिवार संरचना और स्त्रियों की आश्रितता को पूरी तरह नकारा है और तर्कबुद्धिता के सिद्धान्त ने अन्धविश्वासों, कर्मकाण्डवाद और सांस्कृतिक व्यवहार की पारंपरिक धारणा को समाप्त करने की माँग की है । इसने अनुचित संस्थाओं का समर्थन करने वाले सभी पवित्र हिन्दू धर्मग्रन्थों को पूरी तरह से न मानने की माँग की थी । डॉ. अम्बेडकर की तरह फुले ने भी धर्मग्रन्थों को आम पुस्तकों की तरह पढ़ा और दोनों व्यक्तियों का मकसद सच्चाई का पता लगाना था । सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक मामलों के बारे में उनका दृष्टिकोण अतिसुधारवादी था ।

जोतिबा फुले जाति व्यवस्था को मानव समानता के खिलाफ़ मानते थे । विद्यमान जाति व्यवस्था, शूद्रों विशेषकर अछूतों के लिए कभी न खत्म होने वाली दासता को सुरक्षित करती थी । अछूतों को दिन में सड़कों पर घूमने की मनाही थी क्योंकि ऐसा करने से उनकी लम्बी परछाइयाँ ब्राहमणों के घरों को अपवित्र कर सकती है । अतिशूद्रों के प्रति ब्राहमणों के इस अमानवीय व्यवहार और उनको सामान्य मानव अधिकार से वंचित करने की व्यवस्था ने फुले को जाति व्यवस्था का विद्रोही बना दिया ।

फुले ने इतिहास की व्याख्या करने के बाद कहा था कि विदेशी आर्य लोगों ने मूल निवासियों यथा द्रविड़ लोगों को हराकर असमान जाति व्यवस्था लागू की । फिर शूद्र कहे जाने वाले मूल निवासियों का हमेशा शोषण करने के लिए उन्होंने जाति विभाजन का तथाकथित दैवी उद्भव ढूंढ निकाला । संगठित शूद्रों के समानतावादी अतीत के बारे में बताकर फुले ने गैर-ब्राहमणों का मनोबल बढ़ाया और उन्हें सदियों पुरानी असमानता और सामाजिक अप्रतिष्ठा का विद्रोह करने के लिए संगठित किया ।

जब से हिन्दू धर्म ने जाति व्यवस्था को उचित ठहराया और उसे स्वीकृति दी, फुले ने इसे पूरी तरह से नकारा । वे मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते थे । अपने व्यंग्यात्मक लेखों द्वारा फुले ने हिंदू धर्म की असंगतियों को उजागर किया । उन्होंने मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड और पुरोहिताई, कर्म-सिद्धांत, पुनर्जन्म और स्वर्ग की आलोचना की । फुले के लिए ईश्वर एक है और अवैयक्तिक है । उनका धर्म पुरुषों और स्त्रियों की स्वतंत्रता और समानता तथा श्रम गरिमा जैसी वास्तविकता के तैतीस सिद्धांतो पर आधारित है । फुले ने लिखा, "ब्राहमण शूद्रों से वेदों को छिपाते हैं क्योंकि उनमें यह जानने के संकेत मिलते हैं कि आर्य लोगों ने किस प्रकार उनका दमन किया और उन्हें दास बनाया ।" निस्संदेह उन्होंने जनता की शिक्षा को मुक्तिदायक और क्रांतिकारी घटक के रूप में देखा । फुले के शब्दों में, "बिना किसी ताकत के समृद्धि नहीं, बिना नैतिकता के ताकत नहीं, बिना ज्ञान के नैतिकता नहीं और बिना शिक्षा के ज्ञान नहीं । जब तक शिक्षा द्वारा जनता के अज्ञान और निरक्षरता को खत्म नहीं किया जाएगा, तब तक वे अपनी मानसिक और शारीरिक दासता का विद्रोह नहीं कर सकेंगे । उन्होंने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि जनता को किसान-वर्ग से चुने गए शिक्षकों से प्राथमिक शिक्षा दिलवाई जाय ।

हिन्दू समाज में स्त्रियाँ और अछूत सबसे ज्यादा पीड़ित थे । फुले ने कहा था कि स्त्रियों की मुक्ति समाज के दूसरे वर्गों की मुक्ति के साथ जुड़ी हुई थी । उन्होंने स्त्रियों को अनपढ़ रखने

और पुरुषों की दासता में रहने के लिए ब्राहमणों को जिम्मेदार ठहराया । वे प्राधिकारवादी परिवार संरचना (authoritarian family structure) की जकड़ को तोड़ने की ओर बढ़े । फुले ने सब वर्गों की समानता के साथ-साथ पुरुष और स्त्रियों के बीच समानता की भी वकालत की । विवाहों के दौरान वे वर से यह वचन लेते थे कि वह वधु को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार देगा ।

1885 में प्रकाशित पैम्फलेट "इशारा" (warning) में किसान वर्ग की आर्थिक समस्याओं के बारे में फुले के विचार छपे थे । खेतिहर मजदूरों और छोटे किसान की समस्याओं के बारे में जानकारी रखने वाले फुले ने उनके संघर्ष में उनका साथ दिया । मिसाल के तौर पर कोंकण के बटाईदार काश्तकारों का समर्थन किया और उनका शोषण करने वाले "खोटों" की आलोचना की । सिंचाई सुविधाएँ, ऋणभार, महाजनों को भूमि हस्तांतरण, लगान का बोझ जैसे तात्कालिक मामलों से चिंतित फुले किसी सुसंगत आर्थिक विचारधारा को प्रतिपादित करने में असफल रहे ।

फुले ने ब्रिटिश शासन को शूद्रों की दासता खत्म करने का एक हथियार सा समझा और उनके शासन में समाज में और ज्यादा क्रांतिकारी तबदीली की आशा थी । राजनीति में किसान को एक वर्ग की तरह प्रवेश कराने वाले वे पहले व्यक्ति थे । उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध किया क्योंकि वह किसान वर्ग की समस्याओं को हल करने में असफल रही थी । राष्ट्र की उनकी संकल्पना स्वतंत्रता और समानता पर आधारित थी

सक्रिय कार्यकर्ता

अपने विचारों के प्रसार के लिए फुले ने पत्र-पत्रिकाओं, पैम्फलेटों और पुस्तकों के प्रकाशन तथा भाषण और लेखन में मराठी भाषा का प्रयोग किया । अपने विचारो के प्रचार और आर्य वैदिक परंपरा के दमनकारी पक्ष को उजागर करने के लिए फुले ने मराठी में दीनबंधु नामक पत्रिका संपादित एवं प्रकाशित की । 1873 में गुलामी (slavery) नाम से निकाली गई अपनी पुस्तक में फुले ने ब्राहमण शासन के अधीन शूद्रों की दासता के ऐतिहासिक कारणों की अपनी संकल्पना को स्पष्ट किया और इसकी तुलना अमरीकी नीग्रो दासता से की । उन्होंने शेतकार्यांचा आसुदा (the whip cord of the peasantry) में किसानों की दुर्दशा के बारे में विस्तार से लिखा था ।

1870 आते-आते उदारतावादियों द्वारा चर्चित सामाजिक सुधार फुले द्वारा प्रवर्तित विचारधारा के बिल्कुल विपरीत दिखाई दिये । उदारतावादियों के विपरीत, तर्कबुद्धिता, समानता और मानवतावाद के सिद्धांतों के आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का संपूर्ण पुनर्निर्माण करना फुले का लक्ष्य था । लोगों के दिमाग में असमानता के प्रति जागरूकता पैदा करना ही उनके संघर्ष का मूल उद्देश्य था । ब्राहमण साहित्य के आलोचनात्मक विश्लेषण और अभिव्यक्ति द्वारा फुले ने इस कार्य को पूरा किया ।

फुले ने अपनी विचारधारा को वास्तविक संघर्षों का रूप देने की भी कोशिश की थी । 1851 में उन्होंने एक स्कूल लड़कियों के लिए और एक शूद्रों के लिए खोला था । विधवाओं को संरक्षण और आश्रय दिया गया । उन्होंने अपने घर का पानी का हौदा शूद्रों के लिए खुलवा दिया, यहाँ से शूद्रों को पानी मिलता था । ब्राहमणवाद और उसकी विचारधाराओं से लड़ने के लिए 1875 में फुले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की । जमींदारों-महाजनों द्वारा अधिक किराए की वसूली का विरोध करने के लिए जुन्नार में फुले ने गरीब काश्तकारों को संगठित किया । इस संगठित समूह ने सरकार को किराए की उच्चतम सीमा निर्धारित करने के लिए मजबूर किया ।

इस प्रकार, फुले ने अपने पूरे जीवन काल मे दलित वर्ग का ही साथ दिया । उन्होंने असमान जाति व्यवस्था को हटाने और लोकतांत्रिक न्याय स्थापित करने के लिए काम किया । जातिगत असमानताओं और शूद्र जातियों की सामाजिक अधीनता तथा आर्थिक पिछड़ेपन के बीच संबंध के प्रति जोतिब फुले जागरूक थे । फिर भी, वे उपनिवेशी शासन की वास्तविक विशेषताओं को पहचानने में असफल रहे और अन्य उदारतावादियों की तरह वे भी इसकी ऐतिहासिक रूप से बढ़ती हुई भूमिका में विश्वास रखने लगे थे । कृषक संबंधों में आमूल परिवर्तन लाए बिना और उपनिवेशवाद को खत्म किए बिना फुले द्वारा कल्पित सामाजिक विद्रोह नहीं किया जा सकता था ।

20.2.2 प्रारंभिक बीसवीं सदी में गैर-ब्राह्मण आंदोलन

1890 में जोतिबा फुले का स्वर्गवास होते ही उनके द्वारा चलाए गए सत्यशोधक आंदोलन का जोर कम होता गया । जुलाई 1913 में कोल्हापुर में वहाँ के छत्रपति साहू महाराज (1874-1922) ने सत्यशोधक समाज की स्थापना करके इस आंदोलन को फिर से शुरू किया । लेकिन तब भी इसका जोर अधिक नहीं रहा । साहू महाराज ने दलित वर्ग के छात्रों के लिए शैक्षिक संस्थान तथा छात्रावास शुरू करवाकर और छात्रवृत्तियाँ देकर निश्चय रूप से गैर ब्राह्मण आंदोलन को आगे बढ़ाया । 1913 और 1922 के बीच गैर-ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के सम्मेलनों से वे सक्रिय रूप से जुड़े रहे ।

साहू महाराज का यह गैर-ब्राह्मण आंदोलन उन उच्च जाति के गैर-ब्राह्मण व्यापारियों और जमींदारों (सामंतो) के हाथो में चला गया जिन्होंने इसका प्रयोग अपने राजनैतिक लाभों के लिए किया । अपने तथा अपने समुदाय को वर्णाश्रम धर्म में क्षत्रिय दर्जा दिलाने के लिए साहू महाराज ने लड़ाई लड़ी । यह फुले की विचारधारा के साथ विश्वासघात के सिवाय और कुछ नहीं था । और इस लड़ाई ने निम्न शूद्र जाति को उनकी सामाजिक अवनति और गरीबी के हवाले छोड़ दिया ।

1918 के बाद मद्रास में जस्टिस पार्टी के साथ माँन्टेगू चेम्सफोर्ड सुधारों का सहारा लेकर साहू महाराज ने आंदोलन का प्रयोग पिछड़ी जातियों को परिषदों में विशेष राजनैतिक प्रतिनिधित्व दिलवाने के लिए किया । इस प्रकार सत्यशोधक आंदोलन अपने मुख्य उद्देश्य से हटकर उच्च जाति के गैर-ब्राह्मण जमींदारों के लाभ के आंदोलन में बदल गया ।

20.2.3 आंदोलन का स्वरूप

अनिल सील जैसे इतिहासकारों का तर्क है कि परंपरागत शिक्षित जाति ब्राह्मणों ने अपने आपको औपनिवेशिक प्रणाली में जल्दी ढाल लिया था। उन्होंने व्यवसायों और नौकरशाही के अवसरों पर एकाधिकार जमाना शुरू कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप गैर-ब्राह्मणों ने ब्राह्मणों के इस एकाधिकार के विरुद्ध आवाज उठाई। जोतिबा फुले के सामाजिक सुधारों का गहराई से विश्लेषण करने पर जाति व्यवस्था में असमानताओं के बारे में काफी जानकारी मिलती है। सामाजिक आश्रितता और शूद्रों के आर्थिक पिछड़ेपन के इस जाति व्यवस्था से संबंध के बारे में भी पता लगता है। फुले ने शूद्रों को अपनी जाति की आश्रितता के प्रति अपने व्यवहार में मौलिक परिवर्तन लाने पर जोर दिया। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक मूल्यों में क्रांति लाने के लिए एक सैद्धांतिक आधार स्थापित किया।

फिर भी, इस आंदोलन में निहित कमजोरियों के कारण कोल्हापुर के साहू ने धीरे-धीरे मूल उद्देश्य की दिशा बदल दी। फुले ने लोगों के भौतिक हालात और उनकी संस्कृति के बीच की आवश्यक कड़ी को नहीं देखा। ब्रिटिश शासन के प्रति फुले के समर्थन ने किसानों के औपनिवेशिक शोषण पर पर्दा डाल दिया। जाति असमानता को पैदा करने वाली पुरानी सामंती सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने की शासकों की रुचि का भी फुले ने समर्थन किया।

बोध प्रश्न 1

1 वर्णाश्रम धर्म क्या है? उसमें अति शूद्रों की क्या स्थिति थी ?

.....

.....

.....

.....

.....

2 जोतिबा फुले सामाजिक क्रांतिकारी क्यों बने?

.....

.....

.....
.....
.....
.....

3 जोतिबा फुले के मुख्य विचार क्या हैं?

.....
.....
.....
.....
.....

4 सत्यशोधक समाज क्या है?

.....
.....
.....
.....
.....

5 जोतिबा फुले की मूल विचारधारा से साहू महाराज की विचारधारा किस प्रकार भिन्न थी?

.....
.....
.....
.....
.....

20.3 दक्षिण भारत में गैर-ब्राह्मण आंदोलन

मद्रास प्रदेश में 3.3 प्रतिशत हिन्दू ब्राह्मण थे। परंतु अनुष्ठानों के प्रधानता वाले पारंपरिक अधिक्रम में उन्हें दूसरी जातियों से ऊँचा समझा जाता था। परंपरा से पढ़ी लिखी जाति होने के कारण ब्राह्मण अंग्रेजी शिक्षा जल्दी अपना लेते थे। ये व्यवसायों और औपनिवेशिक नौकरशाही के अवसरों पर एकाधिकार जमाने में समर्थ थे। इससे गैर-ब्राह्मण समुदाय में बैर और जलन पैदा होने लगी जिसके कारण गैर-ब्राह्मण आंदोलन शुरू हुआ। नौकरी के अवसरों ने ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण के बीच के झगड़े को बढ़ाया, परंतु इस झगड़े का असली कारण उनके सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक हालात थे।

20.3.1 तमिलनाडु में आत्म-सम्मान आंदोलन

हाल की ऐतिहासिक रचनाओं से पता लगता है कि तमिल के पुनर्जागरण की वजह से द्रविड़ चेतना विकसित हुई और उसका राजनैतिक प्रदर्शन गैर-ब्राह्मण आंदोलन के रूप में हुआ। 1887 और 1904 के बीच जो ग्रंथ प्रकाशित हुए वे तमिल क्लासिक कृत्तियों जैसे पत्तुप्पाट्टु, मणिमेखलाई, सिलप्पातिकारम् पर आधारित थे। तमिल विद्वानों ने इनके आधार पर एक ऐसी क्लासिकी द्रविड़ सभ्यता का चित्र प्रस्तुत किया जो आर्य और उनकी संस्कृति से बिल्कुल भिन्न था। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि सबसे पहले यूरोपीय विद्वान काल्डवैल ने तमिल संस्कृति के स्वतंत्र अस्तित्व की धारणा को विकसित किया था और बाद में तमिल विद्वानों ने इसका विस्तार किया। तमिल विद्वानों ने यह बताने की भी कोशिश की थी कि आर्यों ने शैव सिद्धांत दर्शन जैसी उच्च द्रविड़ धार्मिक पद्धति को तोड़-मरोड़ दिया था। आर्यों ने ही वेदों

की शिक्षा और जाति पद्धति को दक्षिण भारत के लोगों पर थोपा था। यही वह फिर से खोजा हुआ विशिष्ट सांस्कृतिक अस्तित्व था जो 1916 के बाद के गैर-ब्राहमण आंदोलन में दिखाई पड़ता था।

20.3.2 जस्टिस पार्टी और गैर-ब्राहमण आंदोलन

1916 में मद्रास में गैर-ब्राहमणों के रोष ने राजनैतिक रूप ले लिया और परिणामस्वरूप दक्षिण भारतीय उदारतावादी संघ का गठन हुआ। इसे जस्टिस पार्टी के नाम से जाना जाता था। इस पार्टी का दावा था कि इसमें मद्रास प्रेसीडेन्सी के मुसलमानों, इसाइयों और अछूतों सहित सभी गैर-ब्राहमणों के हितों का प्रतिनिधित्व था। टी. एन. नायर, पी. त्यागराया चेट्टी और सी. नटेश मुदालियार इस संगठन के संस्थापक थे। शिक्षा, लोक नियुक्तियों और स्थानीय बोर्डों में नामजदगी में छूट देने की माँगों को प्रांतीय विधान परिषद् में आरक्षित सीटों की मूल माँग के साथ शामिल करके जस्टिस पार्टी के नेताओं ने उन्हें धीरे-धीरे व्यापकता दी।

1930 के अंत में, व्यावसायिक मध्यवर्गीय गैर-ब्राहमण वर्ग का विकास और अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए जस्टिस पार्टी की रचना जैसी राजनैतिक गतिविधियों का बोलबाला था। फिर भी, जस्टिस पार्टी का सामाजिक आधार वे गैर-ब्राहमण थे जो प्रमुख जमींदार और शहरी व्यापारी थे, इसलिए इस पार्टी ने उन सामती और व्यापारिक वर्गों के राजनैतिक स्वार्थों के लिए काम किया।

1920 में जस्टिस पार्टी में भीतर ही विरोध पैदा हो गया जो कि स्वाभाविक था। कुछ लोगों ने महसूस किया कि पार्टी को गैर ब्राहमण समाज और संस्कृति के सुधार और उसके पुर्नजीवन के लिए काम करना चाहिए और अपने आपको नौकरियों और पदों की खोज तक सीमित नहीं रखना चाहिए। सांस्कृतिक सुधार के माध्यम से सामाजिक उत्थान की ललक सामंती और व्यापारिक नेतृत्व के संकीर्ण सामाजिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य द्वारा पूरी नहीं हो सकी। दूसरी ओर, 1920-22 के बाद राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते हुए स्वरूप ने अधिकांश गैर ब्राहमण कृषक समूहों को अपनी ओर खींचना शुरू कर दिया। विशेषकर 1927-28 के बाद व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन जस्टिस पार्टी के ऊपर छा गया। ऐसे समय में पार्टी का मोह भंग हो जाने की वजह से ई.वी.आर. नायकर जैसे गैर ब्राहमण बुद्धिजीवी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़ दिया और उन्होंने आत्म-सम्मान नाम से एक लोकप्रिय आंदोलन चलाया। इस आंदोलन ने मद्रास में गैर ब्राहमण आंदोलन को एक नया मोड़ और जीवन दिया।

20.3.3 ई. वी. रामास्वामी नायकर (1879-1973) और आत्म-सम्मान आंदोलन

व्यक्तित्व

17 रामास्वामी नायकर

आमतौर से पेरियार नाम से विख्यात ई. वी. रामास्वामी नायकर का जन्म 1879 में इरोड में हुआ था। उन्होंने कम उम्र में ही जाति पवित्रता के नियमों का विरोध किया और वे अंतर्जातीय भोजों में भाग लेते थे। गांधीवादी होने के नाते केरल में वेकोम में हुए सत्याग्रह के वे नायक बने। उन्होंने हरिजनों का जोरों से साथ दिया। 1922 तक जिस समय वे कांग्रेस के सदस्य थे, पेरियार ने हिंदू पुराण विद्या त्याग दी थी। उन्हें यह विश्वास था कि यह पुराण विद्या एक भ्रष्ट प्रभाव का प्रतिनिधित्व करता था। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि मनु धर्मशास्त्र और रामायण को जला दिया जाए। 1925 में कुडी अरासु नामक अखबार चलाकर वे एक अतिसुधारवादी समाज सुधारक बन गए। वास्तव में पेरियार के मद्रास प्रांतीय कांग्रेस समिति के सचिव पद से इस्तीफा दे देने का कारण कांग्रेस द्वारा चलाए गए एक गुरुकुल (स्कूल) में ब्राहमणों और गैर-ब्राहमणों के खाने की व्यवस्था अलग-अलग होना था। 1925 में जब उन्होंने कांग्रेस छोड़ी तब उन्होंने घोषित किया "अब से मेरा काम कांग्रेस को भंग करना है।" 1927 में वर्णाश्रम धर्म के मुद्दे पर उन्होंने गांधी जी से भी नाता तोड़ लिया था। सोवियत संघ से लौटने के बाद पेरियार ने अपनी द्रविड़ विचारधारा में मार्क्सवाद का कुछ अंश भी जोड़ दिया था। मई 1933 में कुडी अरसु नामक अपने आलेख में उन्होंने लिखा कि "आत्म-सम्मान आंदोलन का सही मार्ग है। पूँजीपतियों और धर्म की क्रूरताओं को खत्म करना ही अपनी समस्याओं को सुलझाने का एक मात्र रास्ता है।"

समाज संबंधी विचार

पेरियार ने धर्म और ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता पर प्रहार किया। महाराष्ट्र में फुले की तरह उन्होंने जाति व्यवस्था की आलोचना की। उन्होंने मानव जाति की मौलिक समानता और गरिमा की संकल्पना का प्रचार किया । वही एक ऐसे सुधारक थे जिन्होंने गरिमा और समानता की अपनी संकल्पना को समाज के सबसे अधिक असहाय वर्ग यथा स्त्रियों तक पहुँचाया। पेरियार के आत्म-सम्मान आंदोलन ने परिवार और समाज में स्त्रियों की अश्रितता की स्थिति को बदलने की कोशिश की। उन्होंने अपने कुडी अरास अखबार के जरिए अपनी इस विचारधारा को लोकप्रिय बनाने की कोशिश की तथा स्त्रियों को वह सम्मान दिया, जो उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में स्वतंत्रता और स्वायत्तता को मान्यता देने से मिल सकता था। अब हम पेरियार की क्रांतिकारी विचारधारा का बारीकी से अध्ययन करेंगे।

पेरियार का कहना था कि धर्म और शास्त्र बुद्धिवाद के विरोधी थे। उन्होंने धर्म को गैर-ब्राह्मणों और स्त्रियों के निम्न सामाजिक स्थिति का जिम्मेदार ठहराया। जन्म, मरण और विवाह समारोहों में पंडितों की सेवाएँ न लेने के लिए गैर ब्राहमणों को उत्साहित किया गया। बिना ब्राहमण पुरोहित के जो आत्म-सम्मान विवाह संपन्न हुए थे वे बहुत लोकप्रिय हुए। इस प्रकार के विवाहों में बर-वधु एक सीधा सादा वचन लेते थे कि वे जीवन भर एक दूसरे को बराबर का साथी मानेंगे, और फिर एक दूसरे को हार पहनाते थे। वहाँ पर उपस्थित बुजुर्ग उनको आशीर्वाद देते थे। यहाँ यह जानना रुचिकर होगा कि ऐसे कई विवाह अंतर्जातीय होते थे।

जोतिबा फुले की तरह पेरियार भी जाति और धर्म के बीच कोई भेद नहीं मानते थे। उनके विचार में धन पर आधारित असमानता की अपेक्षा जाति पद्धति से उत्पन्न सामाजिक असमानता हानिकारक अधिक थी ।

सक्रिय कार्यकर्त्ता

आत्म-सम्मान आंदोलन ने स्त्रियों की आश्रितता को प्रबल जाति पद्धति के संदर्भ में देखा था। सामाजिक संगठन के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में धर्म और धार्मिक ग्रंथों को अस्वीकार करते हुए पेरियार ने समानता और न्याय के आधार पर समाज की रचना करने की बात कही थी। उन्होंने स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए उनके व्यावसायिक प्रशिक्षण और शिक्षा पर बल दिया था।

विधवा विवाह और जन्म नियंत्रण जैसे मामलों में पेरियार के रुख से उनके सामाजिक अतिसुधारवाद के बारे में पता लगता था। वे मानव और शास्त्रों के इस अधिकार को चुनौती देते थे जो यह निर्णय करता था कि विधवा को विवाह करना चाहिए अथवा नहीं। पेरियार ने तलाक के अधिकार को स्त्री का विशेषाधिकार माना। पेरियार ने कहा, "हमारे सभी विवाह कानून स्त्रियों को दासी बनाने के लिए बनाये गये हैं। अनुष्ठान इस वास्तविकता को छिपाने के लिए किये जाते हैं"। पेरियार ने तलाक के अधिकार का बलपूर्वक समर्थन किया क्योंकि यह स्त्रियों को सुख, गरिमा और स्वतंत्रता दिलाने में सहायक था। पेरियार की नज़र में स्त्रियों की स्वतंत्रता जन्म नियंत्रण पर केंद्रित थी। सरकार का अनुमोदन न होते हुए भी उन्होंने लोगों से जन्म नियंत्रण के उचित तरीके अपनाने के लिए कहा जन्म नियंत्रण के पक्ष में जनमत बनाने के लिए आत्म-सम्मान आंदोलन के कार्यकर्त्ताओं ने इस विषय पर साहित्य बाँटा। स्त्रियों के सतीत्व या कर्पु की पैतृक धारणा पर भी पेरियार ने प्रहार किया।

सीमाएँ

पेरियार के आंदोलन का भौगोलिक विस्तार छोटे शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों में होते हुए भी उसका सामाजिक आधार उच्च गैर-ब्राहमण जातियों तक ही सीमित था। यही पेरियार के सामाजिक अतिसुधारवाद तथा धर्म, जाति पद्धति और स्त्रियों के उत्थान के प्रति उसकी लड़ाई में मूल रुकावट थी।

इस प्रकार, संस्कृति और समाज में संरचनात्मक परिवर्तन तथा द्रविड़ों की मानसिक दासता की स्वतंत्रता के लिए किए गए आत्म-सम्मान आंदोलन का व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पेरियार ने निश्चय किया कि इस सामाजिक संघर्ष को बढ़ाकर राजनैतिक क्षेत्र में ले जाया जाए। 1944 में द्रविड़ कषगम दल बनाने के उद्देश्य से उन्होंने

आत्म-सम्मान लीग को जस्टिस पार्टी के साथ मिला दिया। ऐसा करने से पेरियार के पहले के सामाजिक सुधार आंदोलन का स्वरूप बदल गया। इसके बाद से द्रविड़ या गैर-ब्राहमण आंदोलन संकीर्ण निर्वाचन राजनीति से ही ज्यादा से ज्यादा जुट गया। इससे ब्राहमण संस्कृति और जाति पद्धति के विरुद्ध चलाया गया पेरियार का सैद्धांतिक संघर्ष कमजोर पड़ गया।

20.3.4 आंध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन

आंध्र में गैर ब्राहमणों ने 'ब्राहमणेतर उदयम' शुरू किया जिसका मतलब आंदोलन था। यह आंदोलन मूल रूप से कम्मा, रेड्डी, बलीजा और वेलमा जैसे गैर-ब्राहमण समूहों के सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थान के लिए किया था। पर्याप्त जमींदारी और आर्थिक प्रभुत्व वाले इन कृषक समूहों में आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा या पारंपरिक आनुष्ठानिक हैसियत की कमी थी, जिसकी वजह से वे समाज में ऊँची सामाजिक हैसियत का दावा नहीं कर सकते थे। निस्संदेह उन्होंने आनुष्ठानिक हैसियत और सरकारी नौकरियों पर ब्राहमणों के एकाधिकार पर प्रहार किया।

उनके आंदोलन मूल कारण इस बात में निहित था कि वे सामाजिक और सांस्कृतिक लाभों से वंचित थे गैर-ब्राहमण जमींदारों और धनी उच्च वर्ग ने कष्ट झेला क्योंकि ब्राहमणों ने उन्हें शूद्र वर्ग के साथ मिला दिया था।

कुछ विशिष्ट घटनाओं ने आंदोलन के लिए प्रेरणा का काम किया। यह कहा जाता था कि ब्राहमण शिक्षकों ने कम्मा जाति के विद्यार्थियों को वेदों का अध्ययन करने के अधिकार से वंचित कर दिया था। कृष्णा जिले के कोत्तवरम गाँव में ब्राहमणों ने कम्मा जाति द्वारा अपने नाम के बाद "दास" के स्थान पर "चौधरी" का प्रयोग करने का विरोध किया। कृष्णा जिले के ब्राहमणों ने एक पंजीकृत नोटिस दायर किया कि कम्मा जाति को संस्कृत पढ़ने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। अमृतालूर में ब्राहमणों ने कम्मा जाति के विद्यार्थियों को भगा दिया था क्योंकि वे शूद्रों की उपस्थिति से भड़क उठे थे और वे सोचते थे कि शूद्रों को वेदों को सुनने का कोई अधिकार नहीं है। एक विख्यात गैर-ब्राहमण नेता त्रिपुरानेवी रामास्वामी चौधरी (1887-1943) ने ऐसी कई घटनाओं का उल्लेख किया है। एक घटना यह है कि उनकी साहित्य में रुचि होने के कारण एक ब्राहमण शिक्षक ने उन्हें झिड़क दिया था। उस शिक्षक ने कहा "तुम शूद्र हो। श्लोक लिखना तुम्हारे लिए पाप है संस्कृत ईश्वर की भाषा है। इसको पढ़ना शूद्रों के लिए महापाप है।" यही वह सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण था जिसने आत्म-सम्मान आंदोलन को मजबूत बनाया, विशेषकर उस घटना ने जो 1916 में कोल्लूर में घटी थी।

1916 में गुन्टूर जिले के कोल्लूर गाँव में 'शूद्र' शब्द का अर्थ निश्चित करने के लिए अंग्रेजी पढ़े हुए उच्च जाति के हिन्दू गैर ब्राहमणों ने एक अधिवेशन बुलाया। वे इस हद तक आगे बढ़ गये कि राम, कृष्ण और दूसरे धर्मग्रंथों के नायकों के प्रतीकों पर संदेह करने लगे। "शूद्र" वर्ग की परिभाषा करने की प्रक्रिया में उन्हे सामाजिक दृष्टि से ब्राहमणों से ऊँचे वर्ग का माना और महाकाव्यों की फिर से व्याख्या की। इस व्याख्या में इस बात पर प्रकाश डाला गया कि आर्यों की तुलना में द्रविड़ों ने सामाजिक और आनुष्ठानिक अन्याय को अधिक सहन किया था। त्रिपुरानेनी जैसे नेताओं द्वारा विकसित विचारधारा लगभग फुले और पेरियार द्वारा प्रस्तुत की गई मौलिक विचारधारा के समान थी। त्रिपुरानेनी ने पवित्र ग्रंथों की प्रामाणिकता को चुनौती दी। उन्होंने तर्क दिया कि विदेशियों की तरह आर्यों ने इस देश की द्रविड जाति पर अपनी सामाजिक सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्था थोप दी। जाति पद्धति आर्यों की देन थी जिसे धर्म ने बनाए रखा था। गैर ब्राहमण नेताओं ने इस तथ्य को भी उजागर किया कि अल्पसंख्यक होते हुए भी ब्राहमणों ने पश्चिमी शिक्षा, नौकरियों और व्यवसायों पर एकाधिकार कर रखा था। उन्होंने "सेवाओं के गैर ब्राहमणीकरण" की माँग की।

विख्यात विद्वान त्रिपुरानेनी ने अपना सारा जीवन तटीय आंध्रा में आत्म-सम्मान आंदोलन के प्रचार में लगाया था। उनका प्रहार "ब्राहमणवाद" पर था न कि ब्राहमणों पर था। उन्होंने पवित्र ग्रंथों और धर्मग्रंथों की व्याख्या यह दिखाने के लिए की थी कि प्रसिद्ध धर्मशास्त्रों के माध्यम से किस प्रकार शूद्रों को ब्राहमणों के अधीन रखा गया। "कुरूक्षेत्र संग्रामम" में

त्रिपुरानेनी ने यह कहा है कि वास्तव में पांडवों की तुलना में कौरव अधिक ईमानदार थे और पांडवों को शासन करने का कोई अधिकार नहीं था। उनकी कृति **शंबुक**-वध में शूद्रों के विरुद्ध आर्यों की बल प्रयोग की-राजनीति को उजागर किया गया है। वशिष्ठ के प्रेरित करने पर राजा श्री राम ने वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने के नाम पर शंबूक नामक शूद्र का वध किया था क्योंकि वह उस पवित्र ज्ञान का प्रचार कर रहा था जिससे ब्राहमणों ने शूद्रों को वंचित कर रखा था।

त्रिपुरानेनी ने अपने साहित्य के माध्यम से लोगों की जागरूकता को बदलने का प्रयास किया।वे स्त्रियों और शूद्रों को "शास्त्रों की दासता" से मुक्ति दिलाकर उनके उद्धार के पक्षपाती थे। वे उस समय के पुरोहित प्रधान हिंदू पंथ को एक उदारवादी, मुक्त समाज में बदलना चाहते थे। उनके द्वारा स्थापित पारंपरिक विवाह पद्धति ही उनका सबसे अधिक सफल सुधार था। कम्मा जाति ने स्वसनोहा पौरोहित्यम करना शुरू कर दिया था अथात् विवाह सम्बन्धी अनुष्ठान उनके समुदाय के पुरोहित ही करवाने लगे थे। त्रिपुरानेनी ने अपनी पुस्तक विवाह विधि में विवाह संस्कारों को तेलुगु भाषा में व्याख्या की है क्योंकि अधिकांश संस्कृत मंत्र शूद्रों की समझ के बाहर थे।

1920 और 30 के दशकों में किए गए आत्म-सम्मान आंदोलन ने अंतर्जातीय भोज (गैर-ब्राहमणों में), अंतर्जातीय विधवा विवाह और आधुनिक शिक्षा का विकास करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ब्राहमणों के सामाजिक और आनुष्ठानिक प्रभुत्व को तोड़ने के इस प्रयास से जातीय राजनीति और गैर-ब्राहमण राजनैतिक जागरूकता पैदा हुई। सामान्य स्तर पर गैर-ब्राहमण बुद्धिजीवियों तथा कृषक वर्ग के बड़े भाग ने राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किया। उदाहरण के लिए, त्रिपुरानेनी एक प्रतिष्ठित राष्ट्रवादी थे।

संक्षेप में, ब्राहमणों के सामाजिक और आध्यात्मिक प्रभुत्व के विरुद्ध गैर-ब्राहमण बुद्धिजीवियों की सांस्कृतिक प्रतिक्रिया स्वरूप ही आंध्र में आत्म-सम्मान आन्दोलन हुआ था। बुद्धिजीवी नेताओं ने पवित्र ग्रंथों की पुनर्व्याख्या करने पर बल दिया। फिर भी उसमें एक दोष यह था कि यह आंदोलन केवल उच्च जाति के गैर-ब्राहमणों की समस्याओं से संबंधित था और नीचे के तबके के हरिजनों को नज़रअंदाज़ कर दिया गया था। इसका उद्देश्य महाराष्ट्र की जाति व्यवस्था को पूरी तरह मिटाना नहीं था बल्कि उच्च जाति के गैर-ब्राहमणों को ऊपर रख कर जाति व्यवस्था का फिर से निर्माण करना था ।

20.3.5 कर्नाटक में गैर-ब्राहमण आंदोलन

1901 की जनगणना में एकीकृत जाति के रूप में गिने जाने से पहले ही कर्नाटक की प्रधान जाति वोक्कालिग का उपविभाजन हो गया था। एक इतिहासकार का कहना है, "इस वर्गीकरण से गैर-ब्राहमण आंदोलनकर्त्ताओं को सामूहिक रूप से संगठित होने का महत्त्वपूर्ण आधार मिला।" विभिन्न जाति संघों द्वारा अंदर ही अंदर एकता के गंभीर प्रयास किए गए। 1905 में लिंगायत जाति ने मैसूर लिंगायत शिक्षा निधि संघ की स्थापना की, जबकि 1906 में वोक्कालिग जाति ने कोक्कालिगार संघ बनाया। फिर भी, यही एक गैर-ब्राहमण आंदोलन था जिससे इन जाति संघों को एक सामान्य मंच दिया और इन्हें एक जुट रखा।

कर्नाटक में गैर-ब्राहमण आंदोलन का जन्म लगभग 1918 में हुआ। वोक्कालिग और लिंगायत जाति के लोगों ने इसे आगे बढ़ाया। 1918 में गैर-ब्राहमण नेताओं का एक शिष्टमंडल मैसूर के महाराजा से मिला और वहाँ उन्होंने गैर-ब्राहमणों के प्रति किए जाने वाले भेदभाव भरे व्यवहार का विरोध किया। इसके फलस्वरूप लेसली मिलर की अध्यक्षता में एक समिति का गठन हुआ और 1919 में उसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। मिलर की सिफारिश पर सरकार ने लोक सेवाओं में उचित साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिए एक आदेश निकाला।

मैसूर राज्य में कांग्रेस आंदोलन के शुरू हो जाने के साथ गैर-ब्राहमण आंदोलन धीरे-धीरे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की ओर बढ़ने लगा और 1938 के अंत में कांग्रेस के साथ मिल गया। धर्मनिरपेक्ष राजनीति ने भी जाति पर आधारित माँगों को मान्यता दी चाहे वे कितनी भी अनुचित रही हों। इसके बावजूद भी परिणाम यह होता कि धर्मनिरपेक्ष माँगों के लिए भी

जाति संघो का ही बोलबाला रहता। कर्नाटक में यही गैर-ब्राह्मण आंदोलन के साथ हुआ। 1930 और 40 के दशकों के दौरान गैर-ब्राह्मण आंदोलन अपनी शक्ति खोने लगा और प्रत्येक जाति वर्ग ने अपने लिए प्रतिनिधि सभा और सरकारी सेवाओं में अलग से प्रतिनिधित्व की माँग करना शुरू कर दिया। इस तरह, 1940 के दशक से गैर-ब्राह्मण आंदोलन एक पिछडी जातियों के आंदोलन में बदल गया विशेषकर 1950 के बाद दो प्रमुख समूह, बोक्कालिग और लिंगायत नई प्रतिनिधि राजनैतिक प्रणाली में शक्ति को बाँटने के लिए आपस में लड़ने लगे।

20.4 आंदोलनों का तुलनात्मक विश्लेषण

महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक के गैर-ब्राह्मणवादी आंदोलन की तुलना करने से विभिन्न दृष्टिकोण हमारे सामने उभर कर आते हैं। यह बात हम जाति-व्यवस्था से उत्पन्न असमानताओं तथा शूद्र जाति की सामाजिक-सांस्कृतिक अधीनता और उनके भौतिक पिछड़ेपन से समझ सकते हैं। वास्तव में कुछ ऐसे निर्णायक सामाजिक और धार्मिक तत्त्व थे जो इन सभी क्षेत्रों के गैर-ब्राह्मण समूहों के दमन में एकरूप में पाये गये अब हम इनकी एकरूपता और विभिन्नता के बारे में विचार करेंगे। यह अनुभव किया गया है कि उच्च जाति के ब्राह्मणों का धार्मिक रूढ़िवाद और जाति संरचना ही गैर-ब्राह्मण कृषक समूहों के सामाजिक सांस्कृतिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण थी और ये ही उनके आमूल सामाजिक सुधार के कार्यक्रम में मुख्य बाधक थे। दूसरे राज्यों से भिन्न, महाराष्ट्र में जोतिवा फुले ने सामाजिक असमानताओं का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया और उन्होंने शूद्रों की तरह माने जाने वाले गैर-ब्राह्मणों के व्यवहार में मौलिक परिवर्तन के लिए प्रभावशाली ढंग से कहा। उन्होंने विद्यमान धार्मिक विचारधारा और जाति पद्धति को पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया था। 19वीं सदी के सामाजिक सुधारकों से भिन्न, फुले ने उनको आंतरिक रूप से सुधारने की कोई गुंजाइश नहीं देखी। सामाजिक और धार्मिक मूल्यों में क्रांति लाने के लिए एक सैद्धांतिक आधार की स्थापना कर फुले ने अपनी महत्त्म योग्यता को प्रदर्शित किया। उन्होंने महाराष्ट्र की सभी निम्न जातियों के लिए एक सामूहिक पहचान को स्वरूप दिया। शूद्रो की पहचान का पता लगाने की कोशिश में, फुले ने महाराष्ट्र के योद्धाओं और कृषि परंपरा के प्रतीकों को लिया और उन्हें एक प्रभावशाली अर्थ दिया। फिर भी फुले में एक कमी थी कि वे ब्रिटिश शासन का समर्थन करते थे। उपनिवेशी शासन के वास्तविक स्वरूप को समझने में वे असफल रहे। कोल्हापुर के महाराजा के अधीन चलाये गए फुले के सामाजिक सुधार का स्वरूप भी बदल गया, क्योंकि महाराजा ने अपनी जाति के लिए क्षत्रीय हैसियत और चुनाव राजनीति पर जोर दिया था। मद्रास मे जस्टिस पार्टी और कर्नाटक में गैर-ब्राह्मण आन्दोलनों में अंग्रेजी शिक्षा, प्रांतीय विधान सभाओं और स्थानीय बोर्डों में ज्यादा प्रतिनिधित्व तथा सरकारी सेवाओं में आरक्षण पर बल दिया गया था। फिर भी आंध्र और तमिलनाडु में हुए आत्म-सम्मान आंदोलन में शिक्षा का विकास प्रमुख था।

तमिलनाडु में पेरियार ने ही स्त्रियों और गैर-ब्राह्मण समूहों के उत्थान के लिए अतिसुधारवादी विचारधारा को स्पष्ट किया था। दूसरे क्षेत्रों से भिन्न, पेरियार के नेतृत्व में हुए आत्म सम्मान आंदोलन ने विवाह पद्धति को सुधार कर जाति पद्धति को अस्वीकार कर शूद्रों और स्त्रियों के उद्धार को संघठित करने का प्रयास किया था। महाराष्ट्र के आंदोलन से तुलना करने पर हम देखते हैं कि पेरियार के आंदोलन का सामाजिक आधार ग्रामीण जमींदार वर्गों तथा नगर के व्यवसायिक समूहों तक ही सीमित था। इसलिए वे अछूतों को संघटित करने में असफल रहे।

इसी तरह तटीय आंध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन में उच्च जाति के गैर ब्राह्मणों-कम्मा, रेड्डी और वेलमा की प्रधानता थी। गैर ब्राह्मण वर्ग माला और मडिगा जैसे उन अछूतों को शामिल करने में असफल रहे जो खेतिहर मजदूरों के सबसे अधिक उत्पीड़ित हिस्से थे। आंदोलन का लक्ष्य केवल उच्च जाति के गैर ब्राह्मणों को सामाजिक रूप से ऊपर उठाना था। इसने जाति पद्धति के तर्काधार पर कभी कोई आपत्ति नहीं की। अधिश्रेणिक सिद्धांत को स्वयं अस्वीकार करने के बजाए वे अपनी स्थिति को पुनः अभिव्यक्त करने के लिए उस पर

और आश्रित होते गये। यह 19वीं सदी के महाराष्ट्र के आंदोलन के विपरीत था क्योंकि वहाँ फुले ने वर्णाश्रम धर्म को नकार दिया था। इसके फलस्वरूप गैर-ब्राह्मणों के बीच दरार पैदा हो गई और वे विभिन्न जाति समूहों में बँट गए और उन्होंने अच्छी शिक्षा, सरकारी नौकरियाँ और राजनीति में प्रतिनिधित्व जैसी अपनी तात्कालिक माँगों के बारे में आवाज उठानी शुरू कर दी। जैसा कि कर्नाटक में हुए आंदोलन में देखा गया कि धर्म निरपेक्ष माँगों को पेश करने के लिए भी जाति वर्ग का अधिक प्रयोग किया जाता था जो कि एक नकारात्मक प्रवृत्ति थी। 1947 में भारत को स्वतंत्रता मिलने के बाद यह नकारात्मक प्रवृत्ति और अधिक स्पष्ट हो गई।

बोध प्रश्न 2

1 पेरियार की विचारधारा किस प्रकार से आमूल सुधारवादी थी?

.....

.....

.....

.....

.....

2 आंध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन की मुख्य रूपरेखा क्या थी?

.....

.....

.....

.....

.....

3 कर्नाटक में गैर-ब्राह्मण आंदोलन पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4 निम्नलिखित का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

क) महाराष्ट्र और तमिलनाडु में गैर-ब्राह्मण आंदोलन।

.....

.....

.....

.....

.....

ख) तमिलनाडु और आंध्र में गैर-ब्राह्मण आंदोलन ।

.....

.....

.....

.....

.....

ग) तमिलनाडु की जस्टिस पार्टी और कर्नाटक का गैर-ब्राह्मण आंदोलन ।

.....

.....

20.5 सारांश

इस इकाई में आपने देखा कि :

- पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था (जैसे जाति, स्त्रियों का दमन आदि) में दमन और पिछड़ेपन की पृष्ठभूमि के कारण ब्राह्मणवादी आंदोलन उभरा।
- महाराष्ट्र में साहू की राजनीति या दक्षिण में द्रविड़ कषगम की राजनीति ने कैसे उसके परिवर्तन के विशिष्ट आमूल सुधारवादी वातावरण को कम कर दिया (जिससे जस्टिस पार्टी और आत्म-सम्मान आंदोलन का जन्म हुआ)।
- भूस्वामी गैर-ब्राह्मण जातियों के बढ़ते प्रभाव और जिस ढंग से उन्होंने इस आंदोलन को सामाजिक और आर्थिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया, इन दोनों की वजह से इस आंदोलन के प्रभाव में कमी आयी।
- फलस्वरूप, ब्रिटिश शासन को पारंपरिक व्यवस्था के दमनकर्त्ता के रूप में देखने वाले इस दृष्टिकोण कभी कोई तबदीली नहीं आई।
- गैर-ब्राह्मण आन्दोलन कभी स्वतंत्र राष्ट्रवादी रणनीति के रूप में विकसित नहीं हुआ।
- इन आंदोलनो की शक्ति विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न थी। उदाहरण के तौर पर मद्रास में यह अछूतों तक पहुँचा ही नहीं, जबकि महाराष्ट्र में फुले निम्न जातियों की एक नई सामूहिक पहचान बनाने में सफल हुए।

20.6 शब्दावली

वैचारिक प्रभुत्ता : कोई विशेष विश्व दृष्टिकोण और उसकी विचारधारा की प्रधानता।

विवेकवाद : जीवन के सभी पहलुओं में तर्क लागू करने में विश्वास। मुख्यत: पुनर्जागरण के बाद के काल में यह विचार काफी बढ़ा।

स्त्रियों की आश्रितता : स्त्रियों की ऐतिहासिक स्थिति, जिसमें वे स्त्री जाति होने के कारण अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में पुरूषों पर आश्रित होती हैं। इस तरह के व्यवहार की झलक हमारे रोजमर्रा की जिंदगी में मिलती है, जिसके कारण स्त्री एक वस्तु बन कर रह गई है।

सर्वाधिकारवादी परिवारिक ढाँचा : यहाँ इसका संदर्भ परिवार की उस व्यवस्था से है जिसमें स्त्रियों को "उनके स्थान पर" तथा आत्रित रखा गया। परिवार संरचना को विभिन्न आर्थिक सामाजिक और रिश्तेदारी के बंधनों से बनाए रखा जाता है। जब इन बंधनों को पुरूष सदस्यों का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयोग किया जाता है तब यह संरचना सर्वाधिकारवादी या तानाशाह बन जाती है। स्त्रियों को सम्पत्ति अधिकारों से वंचित करके या तलाक के कठोर नियमों को लागू करके इसे पूरा किया जाता है। इसके अलावा व्यवहारों और विश्वासों को इस प्रकार से बनाया गया है कि जिससे पुरुष का प्रभुत्व बना रहे और स्त्रियाँ मात्र खिलौना बन कर रह जाएँ।

20.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 20.2 भाग के पहले पैरा को पढ़े। आपका उत्तर समाज के चार वर्गों के विभाजन जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पर केंद्रित होना चाहिए इस पद्धति के कारण पवित्रता

और अपवित्रता के किस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध विकसित हुए, इसका वर्णन कीजिए।

2 20.2.1 उपभाग का पहला पैरा पढ़िए। फुले के वैयक्तिक अनुभवों का वर्णन कीजिए।

3 20.2.1 उपभाग में समाज और अर्थव्यवसथा सम्बन्धी विचारों को पढ़िए। निम्नलिखित पर फुले की विचारधारा पर टिप्पणी लिखें:
i) जाति, ii) स्त्रियाँ, iii) धर्म, iv) मूर्तिपूजा, v) अर्थव्यवस्था तथा कृषकों की समस्याएँ, vi) ब्रिटिश शासन

4 20.2.1 उपभाग पढ़िए। शब्द की परिभाषा लिखें।

5 20.2.2 उपभाग पढ़िए। i) साहू महाराज की भमिका ii) व्यावसायिक और भूस्वामी जातियों की भूमिका पर टिप्पणी लिखें।

बोध प्रश्न 2

1 उपभाग 20.3.3 पढ़िए। निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखें :
i) पेरियार पर मार्क्सवाद का प्रभाव, ii) स्त्रियों की अवस्था के प्रति उनका दृष्टिकोण, iii) धर्म की तुलना में तर्क बुद्धिवाद पर उनका बल. iv) जाति और धर्म के सम्बन्ध में पेरियार के विचार।

2 उपभाग 20.3.4 पढ़िए, विशेषकर पैरा 4 से 7 पवित्र ग्रन्थों को चुनौती, स्त्रियों के उद्धार और आनुष्ठानिक प्राभुत्व को तोड़ने के प्रयासों पर प्रकाश डालिए ।

3 उपभाग 20.3.5 पढ़िए। जाति संघों के बीच सम्बन्ध तथा कांग्रेस से उनके सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।

4 निम्नलिखित तीन प्रश्नों के लिए इकाई का 20.4 भाग पढ़िए। निम्नलिखित पर प्रकाश डालिए :

क) फुले द्वारा सामाजिक और धार्मिक मूल्यों में क्रांति लाने के लिए सैद्धांतिक आधार। स्त्रियों और शूद्रों के उद्धार पर पेरियार का विशेष दृष्टिकोण। केवल भूस्वामी वर्ग तक सीमित पेरियार का सामाजिक आधार। निम्न जातियों पर फुले का प्रभाव

ख) तमिलनाडु में पेरियार के आंदोलन की तुलना में आंध्र में अतिसुधारवाद के जोर की कमी।

ग) कर्नाटक में धर्मनिरपेक्ष माँगों को प्रस्तुत करने के लिए जाति वर्ग का उपयोग। जस्टिस पार्टी उच्च जाति तक ही सीमित रही परंतु जाति पद्धति की पुनर्संरचना करने और उसके लिए लड़ने का प्रयास किया गया।

इकाई 21 स्वराजवादी और रचनात्मक कार्य

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 पृष्ठभूमि
21.3 स्वराज पार्टी : गठन
- 21.3.1 स्वराजवादी और गांधी
- 21.3.2 उद्देश्य एवं लक्ष्य
- 21.3.3 कार्यक्रम
- 21.3.4 कार्य पद्धतियाँ

21.4 स्वराजवादी एवं चुनाव
21.5 विधान मण्डलों एवं परिषदों में कार्य
21.6 रचनात्मक कार्य
- 21.6.1 खादी
- 21.6.2 अस्पृश्यता
- 21.6.3 अन्य सामाजिक समस्याएँ

21.7 हतोत्साहन और पतन
- 21.7.1 सहयोग की ओर
- 21.7.2 विलय
- 21.7.3 विघटन

21.8 पतन के कारण
- 21.8.1 सांप्रदायिकता का उत्थान
- 21.8.2 पदों की लालसा
- 21.8.3 वर्ग चरित्र

21.9 सारांश
21.10 शब्दावली
21.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम आपको राष्ट्रवादी राजनीति में एक नए रूझान के रूप में स्वराजवादियों के उदय की जानकारी देंगे। इस नए रूझान का प्रतिफलन मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास के नेतृत्व में स्वराज पार्टी के गठन के रूप में हुआ।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- स्वराज पार्टी के उदय के प्रेरणा स्रोतों तथा पार्टी की विचारधारा से अवगत हो सकेंगे;
- इसके कार्यक्रमों तथा बिखराव के कारणों से अवगत हो सकेंगे;
- भारतवर्ष की राजनीति में इसके योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- असहयोग आंदोलन वापस लिए जाने के उपरांत के घटना चक्र का संक्षिप्त विवरण प्राप्त कर सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

सन् 1922-29 का काल कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस काल का आरम्भ असहयोग आंदोलन की समाप्ति तथा एक और आंदोलन के आरंभ के साथ हुआ। इस काल के अंतर्गत राजनैतिक गतिविधियों में नए झुकाव की शुरुआत से भारत के स्वाधीनता संघर्ष को भी बल मिला। इस काल में देश के समक्ष परिषदों में प्रवेश तथा रचनात्मक कार्यों के रूप में दुहरे कार्यक्रम प्रकट हुए। इन्हीं वर्षों में विभिन्न विचारों के प्रवर्तक नए नेताओं का उदय हुआ। इसके अतिरिक्त इस काल के दौरान भारतीय स्वाधीनता संग्राम में नयी समस्याएँ, नये तनाव, नयी दुविधाएँ एवं रुकावटें भी प्रकट हुई। इस इकाई के अंतर्गत आपको 1922-29 के वर्षों के इन तमाम पक्षों का परिचय दिया जायेगा।

21.2 पृष्ठभूमि

महात्मा गांधी के नेतृत्व में साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज उठाने वाले सभी प्रकार की विचारधाराओं से संबन्धित लोगों के लिए एक शक्तिशाली मंच के रूप में कांग्रेस का उदय हुआ। गाँधी जी के प्रथम आंदोलन (1920-22) के दौरान इस मंच की जड़ें सभी वर्गों के लोगों तक फैल गयीं। कांग्रेस द्वारा स्वराज्य को औपचारिक रूप में अपना लक्ष्य स्वीकार करने के साथ ही असहयोग आंदोलन जन आंदोलन में परिवर्तित हो गया। गांधी जी द्वारा दिए गए आकर्षक नारे "एक वर्ष में स्वराज्य" ने जनसमूहों को रणक्षेत्र में उतार दिया। फरवरी 1922 में असहयोग आंदोलन के स्थगन ने निराशा का वातावरण पैदा कर दिया और परिणामस्वरूप कांग्रेस के नेतृत्व में स्पष्ट मतभेद उभर आये। सरकार ने स्थिति का लाभ उठाते हुए तुरन्त ही दमन की नीति अपनायी। 1816 का बंगाल अधिनियम-III पुन: लागू किया गया और तुरंत गिरफ्तारी और विशेष आयुक्त के समक्ष मुकदमा चलाए जाने का अध्यादेश जारी किया गया। इंग्लैंड के प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज ने आई.सी.एस. काडरों की कार्यकुशलताओं की प्रशंसा करते हुए अपना "फौलादी शिकंजे" वाला भाषण दिया। ऐसा अंग्रेजी नीति में परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए किया गया था। इसने स्वराज्य के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए बर्तानवी साम्राज्य को मजबूत बनाने में योगदान दिया।

ऐसी परिस्थिति में संघर्ष के दौरान गांधीवादी तरीकों की उपयुक्तता के प्रश्न पर लोगों के अंदर मोहभंग की भावना घर करने लगी। क्या लाखों-करोड़ों लोगों को अहिंसा के दर्शन का पाठ पढ़ाना सम्भव था? यदि ऐसा सम्भव भी था तो इसमें समय कितना लगता? इस दौरान गांधी जी जेल में थे और देश के समक्ष कोई निश्चित राजनैतिक कार्यक्रम नहीं था। तथाकथित हिन्दू-मुस्लिम एकता तेजी से अदृश्य होती जा रही थी और दोनों सम्प्रदायों के बीच तनाव और साम्प्रदायिक झगड़ों के शुरू होने के कारण देश की सारी शक्ति, सारे प्रयास इस समस्या के समाधान में लग रहे थे। कांग्रेस के रचनात्मक कार्य जो बुनियादी तौर पर सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों में सुधार लाने से सम्बन्धित थे, उच्च मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को आकृष्ट करने में असफल रहे उन्होंने राजनीति में गांधी जी की भावनात्मक और अमूर्त पहुँच का कभी अनुमोदन नहीं किया। उनकी दृष्टि में राजनीति एक मूर्त यथार्थ थी और वे कांग्रेस तथा उसकी राजनीति को असहयोग आंदोलन के वापस लिए जाने के बाद उसमें पनपी हतोत्साहन की भावना से मुक्त करना चाहते थे।

21.3 स्वराज पार्टी : गठन

ऐसी परिस्थिति में चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने राजनीति में नई जान फूंकी। जब सविनय अवज्ञा पर गठित कमेटी ने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें यह कहा गया था, देश अभी भी सविनय अवज्ञा कार्यक्रम आरम्भ करने के लिए तैयार नहीं है तथा रचनात्मक

18 सी.आर. दास

कार्यक्रमों में बहुत सीमित संख्या में लोगों ने हिस्सा लिया है, तो इन नेताओं ने विधान मण्डलों का बहिष्कार करने के बजाय असहयोग आंदोलन को विधान मण्डलों में ले जाने का सुझाव रखा। इन्होंने परिषद् में प्रवेश द्वारा सुधारों को अन्दर से तोड़ने के विचार को आगे बढ़ाया। इस सुझाव का कांग्रेसियों ने स्वागत किया लेकिन राजगोपालाचारी, राजेन्द्र प्रसाद और सरदार वल्लभ भाई पटेल जैसे परंपरागत गांधीवादियों ने इसका जमकर विरोध किया। परिवर्तन के विरोधियों और परम्परागत गाँधीवादियों ने परिषदों में प्रवेश के कार्यक्रम का विरोध करते हुए गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने पर बल दिया। परिवर्तन के समर्थकों अथवा स्वराज्यवादियों ने रचनात्मक कार्यक्रम के विचार का विरोध तो नहीं किया लेकिन इस कार्यक्रम के साथ-साथ परिषदों में प्रवेश के राजनैतिक कार्यक्रम को भी साथ लेकर चलने का प्रस्ताव रखा। दिसंबर 1922 में कांग्रेस के गया अधिवेशन में यह मामला उभर कर सामने आया जहाँ राजगोपालाचारी ने परिषदों में प्रवेश के प्रस्ताव का विरोध करते हुए चितरंजन दास को कांग्रेस की अध्यक्षता से त्याग पत्र देने के लिए मजबूर किया। इसके बाद चितरंजन दास ने 31 दिसंबर 1922 को स्वराज पार्टी के गठन की घोषणा की जिसके वे स्वयं अध्यक्ष हुए और मोतीलाल नेहरू उसके सचिव नियुक्त किये गये।

लेकिन गया कांग्रेस में परिवर्तन विरोधियों की विजय अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी। 1923 में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों ने राजनैतिक माहौल को अंधकारमय कर दिया। यह भी स्पष्ट हो गया कि सविनय अवज्ञा को एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में पुनः आरम्भ नहीं किया जा सकता। सितंबर 1923 को दिल्ली में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में, जिसकी अध्यक्षता मौलाना आज़ाद ने की थी, कांग्रेसियों को आने वाले चुनावों में भाग लेने की अनुमति दे दी गई। कोकानाडा के वार्षिक अधिवेशन में इस बात को समर्थन देते हुए कि असहयोग आंदोलन का कार्यक्रम परिषदों के अंदर रहकर भी चलाया जा सकता है, परिषदों में प्रवेश को मान्यता दे दी गई। तमाम कांग्रेस समर्थकों और सदस्यों से गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए अपने प्रयास को दुगना कर देने का आह्वान किया गया। इस प्रकार कांग्रेस को टूटने से बचाया गया।

21.3.1 स्वराजवादी और गांधी

चुनाव हुए और उसमें कुछ प्रान्तों में स्वराजवादियों को भारी विजय मिली। कांग्रेस के अंदर उनके प्रभाव और शक्ति में काफी बढ़ोतरी हुई। फरवरी 1924 में गांधी जी जेल से रिहा किये गये। उनके जेल से बाहर आते ही पुराने झगड़ों को फिर से बल मिला और ऐसा प्रतीत हुआ कि कांग्रेस को टूटने से नहीं बचाया जा सकता। जून में गांधी जी ने "बहिष्कार" के मूल कार्यक्रम के पक्ष में घोषणा की, उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि वे लोग जो इस नीति का समर्थन नहीं करते हैं उन्हें अलग संगठन के रूप में कार्य करने की पूरी आजादी है। जून 1924 में अहमदाबाद में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा में उनके प्रस्ताव बुनियादी तौर पर स्वराजवादियों को कांग्रेस से बाहर निकालने के लक्ष्य को लेकर रखे गये थे। एक प्रस्ताव में प्रत्येक कांग्रेसी से दो हजार गज सूत कातने का आह्वान किया गया था और प्रादेशिक कांग्रेस कमेटियों को यह अधिकार दिया गया था कि ऐसा न करने वालों के विरुद्ध वे उचित कार्यवाही करे। परिषदों का बहिष्कार करने के विरोधियों को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से त्याग पत्र दे देने को कहा गया था—मतदाताओं को कांग्रेस की नीति का विरोध करने वालों से सचेत रहने का आग्रह किया गया। ऐसी स्थिति में स्वराजवादियों का परेशान होना स्वाभाविक ही था क्योंकि चुनाव में उनकी जीत का बहुत बड़ा कारण कांग्रेस का प्रभाव और उसके संसाधन थे। उन्होंने इन प्रस्तावों का जमकर विरोध किया। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू द्वारा विरोध के बाद गांधी जी ने प्रस्तावों में संशोधन किये और एक समझौते के द्वारा पदच्युत कर दिये जाने जैसे जुर्माने को प्रस्ताव से बाहर कर दिया। यह गांधी जी की प्रतिष्ठा के लिए बहुत बड़ा धक्का था। गांधी जी ने स्वयं खुलेआम यह माना कि यह उनकी हार थी और उन्हें नीचा देखना पड़ा। अब गांधी जी ने स्वराजवादियों को अपना सहयोग देना शुरू किया और उन्हें सरकार के साथ बातचीत करने में कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में इस्तेमाल किया।

19 मोतीलाल नेहरू

बेलगाम कांग्रेस ने, जिसकी अध्यक्षता स्वयं गांधी जी ने की थी, स्वराजवादियों और परिवर्तन विरोधियों अथवा परम्परावादियों के बीच आपसी विश्वास की बुनियाद रखी। गांधी जी ने असहयोग आंदोलन के स्थगन (केवल विदेशों में बने कपड़ों को पहनने से इंकार करने को छोड़कर) को शामिल करते हुए एक समझौता पेश किया जिसमें यह कहा गया था कि कांग्रेस के विभिन्न प्रकार के कार्य विभिन्न प्रकार के सदस्यों द्वारा किए जाने चाहिए। रचनात्मक कार्य, जिनमें चरखा चलाने और हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन और अस्पृश्यता तथा शराबखोरी समाप्त किये जाने पर बल था, कांग्रेसियों के लिए स्वराज्य प्राप्त करने का मुख्य साधन उद्घोषित किया गया।

21.3.2 उद्देश्य एवं लक्ष्य

फरवरी 1923 में प्रकाशित हुए अपने कार्यक्रम में स्वराज पार्टी ने अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों की ओर इशारा किया था। इसका तात्कालिक उद्देश्य "शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण प्रभुसत्ता का स्तर प्राप्त करना" था, जिसमें भारतीय परिस्थितियों और मानसिकता की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए संविधान तैयार करने का अधिकार शामिल था। 14 अक्टूबर, 1923 के इसके घोषणा पत्र और परिषदों में इसकी माँगों के स्वरूप से यह स्पष्ट हो गया कि स्वराज पार्टी पूरी प्रादेशिक स्वायत्तता चाहती है जिसमें संविधान तैयार करने के अधिकार की दृष्टि से नौकरशाही तंत्र पर नियंत्रण आधारभूत आवश्यकता है। इसका अन्य उद्देश्य इस सिद्धांत को मान्यता दिलाना था कि नौकरशाही अपनी शक्ति जनसमूहों से ही प्राप्त करती है। घोषणा पत्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि विधान मंडलों में प्रवेश करने पर इसके सदस्य सरकार से "सरकारी तंत्र और प्रणाली पर भारतीय जनता के अधिकार" की माँग स्वीकार करने के लिए दबाव डालेंगे। साथ ही यह भी स्पष्ट था कि यदि सरकार ने इन माँगों पर ध्यान नहीं दिया तो "एकरूपी, निरंतर और स्थायी व्यवधान" की नीति अपनाई जायेगी।

1923 में स्वराज पार्टी के तैयार किए गये संविधान में तब तक कई परिवर्तन सामने आते रहे जब तक कि दिसंबर 1924 में बेलगाम सम्मेलन में कांग्रेस के साथ स्वराज पार्टी के सम्बन्ध अन्ततः निश्चित नहीं हो गये। 1924 में पार्टी के संविधान में उसका उद्देश्य तमाम न्यायगत और शान्तिपूर्ण तरीकों से भारतीय जनता द्वारा स्वराज की प्राप्ति उल्लेखित किया गया। संविधान के अंतर्गत स्वराज के निश्चित स्वरूप की व्याख्या नहीं की गई।

21.3.3 कार्यक्रम

स्वराज पार्टी का निर्माण उन महत्वपूर्ण कांग्रेस नेताओं ने किया था, जिन्होंने गांधी जी के असहयोग आंदोलन की पद्धति को कभी भी समर्थन नहीं दिया। इन नेताओं ने गांधी जी के जन आंदोलन के कार्यक्रमों के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति का रवैया नहीं रखा लेकिन 1920 की परिस्थितियों के कारण वे इसका विरोध भी नहीं कर सके। कांग्रेस का एक अभिन्न हिस्सा होने और इसके एक विभाग के रूप में कार्य करने के कारण स्वराजवादियों के कार्यक्रम कांग्रेस के कार्यक्रमों से भिन्न नहीं रह सकते थे। कांग्रेस की छत्र-छाया में रहते हुए उसकी अनुमति से 1919 के संविधान को ध्वस्त करने की दृष्टि से स्वराज पार्टी ने अहिंसात्मक असहयोग के कार्यक्रम को परिषदों में ले जाने की घोषणा की। पार्टी ने निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाने की घोषणा की :

परिषदों के अंदर

पार्टी ने निश्चय किया कि जब कभी भी संभव होगा पार्टी,

- अपने अधिकारों को मान्यता दिलाने के लिए आपूर्ति और बजट को स्वीकार करने से इन्कार करेगी।
- अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए नौकरशाही द्वारा प्रस्तावित सभी कानूनी प्रस्तावों को मानने से इन्कार करेगी।
- स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के लिए आवश्यक प्रस्ताव पेश करेगी और साथ ही इससे संबंधित प्रावधानों और बिलों का प्रस्ताव और अनुमोदन भी करेगी।

- कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में सहायता करेगी।
- शोषण की ओर ले जाने वाली तमाम गतिविधियों पर कड़ी नजर रखते हुए एक निश्चित आर्थिक नीति अपनाएगी जिससे भारत से सार्वजनिक सम्पत्ति का इंग्लैण्ड की ओर बहाव रोका जा सके और राष्ट्रीय, आर्थिक, औद्योगिक और व्यापारिक हितों को बढ़ावा मिले।
- कृषि और औद्योगिक मजदूरों के अधिकारों पर ध्यान आकर्षित करने की दिशा में कार्य करेगी और भूस्वामियों और काश्तकारों, पूँजीपतियों और मजदूरों के संबंधों में तालमेल बिठाने की दिशा में कार्य करेगी।

परिषदों के बाहर

परिषदों के बाहर निम्न गतिविधियाँ निश्चित की गयी,

- हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, तथा ब्राहमणों एवं गैर ब्राहमणों के बीच एक दूसरे के प्रति पूर्ण सामंजस्य की भावना लाने के लिए सांप्रदायिक एकता लाने की दिशा में कार्य करना।
- अस्पृश्यता समाप्त करने और शोषित वर्गों के उत्थान के लिए कार्य करना।
- ग्रामीण संगठन तैयार करना।
- देश में औद्योगिक एवं कृषि मजदूरों, जिसमें रैयत एवं किसान भी शामिल थे, के संगठन तैयार करना जिससे इन वर्गों के हितों को सुरक्षित एवं प्रोत्साहित किया जा सके और स्वराज के लिए संघर्ष में इनकी उपयुक्त भूमिका सुनिश्चित की जा सके।
- व्यापारिक और औद्योगिक विकास सहित देश का आर्थिक नियंत्रण प्राप्त करना।
- स्थानीय एवं नगरपालिका संबंधी मामलों में नियंत्रण स्थापित करना।
- कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रमों में स्वदेशी, खद्दर, राष्ट्रीय शिक्षा और पंचायती बोर्डों के संबंध में आवश्यक पद्धति अपनाते हुए कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना।
- कमेटी की राय से भारत से बाहर बने कुछ ब्रिटिश उत्पादनों का बहिष्कार करना जिससे कि इसे स्वराज्य प्राप्ति में राजनैतिक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया जा सके।
- एशियायी सद्भावना तथा व्यापार के क्षेत्र में आपसी सहयोग प्राप्त करने के लिए एशियायी देशों की फेडरेशन का गठन करना। भारत से बाहर राष्ट्रीय कार्य के प्रचार के लिए प्रचार समितियों का गठन करना और स्वराज के लिए संघर्ष में विदेशों का सहयोग और समर्थन प्राप्त करने के लिए कार्य करना।

स्वराजवादियों के कार्यक्रमों पर सरसरी दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि इनके कार्यक्रमों में किसी प्रकार की नवीनता और मौलिकता नहीं थी बल्कि उनका उद्देश्य सभी वर्गों के लोगों को खुश करना था जिससे कि चुनावों में सफलता पायी जा सके। स्वराजवादी वर्ग संघर्ष की जगह वर्गों की सहिष्णुता में विश्वास रखते थे। उनके विचार में चूँकि हमारी सामाजिक व्यवस्था शताब्दियों पुरानी थी इसलिए यथास्थिति बनी रहनी चाहिए। यद्यपि वे किसानों के प्रति न्याय के समर्थक थे लेकिन साथ ही उनका यह भी विश्वास था कि भूस्वामियों के प्रति कोई अन्याय, न्याय की दरिद्रता का द्योतक है। स्वराजवादी समाज के धनी वर्गों को प्रसन्न रखना चाहते थे क्योंकि इनसे चुनावों में इन्हें काफी आर्थिक सहायता मिलती थी। रचनात्मक कार्यों के प्रति अपने समर्थन के दृष्टिकोण से स्वराजवादियों ने उनके क्रियान्वयन के साधन के रूप में विधान परिषदों की उपयोगिता स्वीकार की। तथापि विधान परिषदों से बाहर के उनके कार्यक्रम काफी स्थूल थे। एशियायी देशों की फेडरेशन और विदेशों में प्रचार की ऐजेंसियों के गठन के कार्यक्रमों की व्यापकता को देखते हुए उनके क्रियान्वयन की संभावना भी केवल वैचारिक स्तर तक रह सकती थी।

21.3.4 कार्य पद्धतियाँ

स्वराजवादियों की नीतियों की विशेषता सुधारों को अंदर से तोड़ने की कटिबद्धता में निहित थी। एक समय पंजाब के उपराज्यपाल के रूप में कार्यरत माइकल ओ डायर (Michael O'dyer) ने लिखा था कि खुले विद्रोह की तुलना में अप्रकट ध्वंसकारी शक्तियों से निपटना कहीं अधिक कठिन है। सरकार के सभी कानूनों में अवरोध डालने की नीति के पीछे परिषदों की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाना था जिन्होंने राष्ट्रीय स्वाभिमान का गला घोंट दिया था। 1926 में पार्टी द्वारा किए गए सदन त्याग के समय मोतीलाल नेहरू ने कहा, "हमारी समझ

में अब हमारे लिए इन पाखण्डी संस्थानों का कोई फायदा नहीं रहा और देश की गरिमा और स्वाभिमान को बनाये रखने में हम कम से कम इतना तो कर ही सकते हैं कि इन संस्थाओं का बहिष्कार करें"। हम उन्हीं साधनों का अनुमोदन करेंगे जो किसी सरकार को किसी राष्ट्र द्वारा उठायी गयी माँगों को मानने पर मजबूर करें। स्वराजवादी असहयोग आंदोलन को नौकरशाही तंत्र की जड़ों तक ले गये। उन्होंने परिषदों में अवरोध प्रस्तुत किया, प्रदेशों में द्वैध शासन को व्यवधान पद्धति द्वारा निष्क्रिय कर दिया। स्वराजवादियों की दृष्टि में इस अवरोध का अर्थ विदेशी सरकार द्वारा स्वराज के रास्ते में उत्पन्न किए गए अवरोध का प्रतिकार था। 1925 में बंगाल विधान मंडल में अपने भाषण में चितरंजन दास ने कहा:

> "हम उस व्यवस्था को ध्वस्त करना तथा उससे छुटकारा पाना चाहते हैं जिसने न तो कोई अच्छा कार्य किया है न ही कर सकती है। हम इसे इसलिए ध्वस्त करना चाहते हैं क्योंकि हम ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जिसे सफलतापूर्वक लागू किया जा सके और जो जनमानस की भलाई करने में हमारी सहायक हो।"

स्वराजवादियों की पद्धति का ध्वंसात्मक पक्ष बजट के मतदायी पक्षों एवं नौकरशाही द्वारा लाए जाने वाले प्रस्तावों को अस्वीकार करने पर बल देता था। वहीं दूसरी ओर रचनात्मक कार्य पक्ष के तहत स्वराजवादी स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन को प्रोत्साहन देने तथा नौकरशाही के विस्थापन को तेज करने के प्रस्तावों को आगे बढ़ाते थे।

स्वराज पार्टी की आम परिषद् ने विधान मंडलों में अपने सदस्यों की गतिविधियों से संबंधित विशिष्ट नियम तैयार किए थे। सदस्य सरकारी नामजदगी द्वारा किसी कमेटी के सदस्य नहीं हो सकते थे परिषदों के अंदर कार्य पद्धति की व्याख्या चितरंजन दास ने इस प्रकार की थी :

> "मैं चाहता हूँ कि आप परिषदों में पहुँचे, बहुमत प्राप्त करें और राष्ट्रीय माँगों को आगे बढ़ाएँ। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया तो मैं सरकार के हर कदम का विरोध करूँगा—भले ही वे अच्छे हों अथवा बुरे या उदासीन और परिषदों के कार्य को असंभव बना दूँगा।"

उन्होंने आगे कहा :

> "यदि सरकार ने अपना कार्य प्रमाणीकरण के द्वारा किया तो स्वराजवादी इसे राजनैतिक मुद्दा बनाते हुए इस्तीफा दे देंगे। पुनर्निर्वाचन के बाद सभी सरकारी कार्यों में अवरोध डालने का कार्य फिर शुरू करेंगे और यदि इसके बावजूद भी सरकार नहीं मानी तो मतदाताओं को यह सुझाव दिया जाएगा कि वे करों का भुगतान करना बंद कर दें और "सविनय अवज्ञा" आरंभ कर दें।"

इस प्रकार नौकरशाही की क्रूरता के विरुद्ध सविनय अवज्ञा अंतिम संभव कदम था।

बोध प्रश्न 1

नीचे दिए गए प्रश्नों से संबंधित प्रत्येक प्रश्न के साथ कुछ उत्तर दिए गए हैं सही उत्तर पर निशान लगाएँ।

1 स्वराज पार्टी की स्थापना किसने की?

क) महात्मा गांधी

ख) व्ही. जे. पटेल

ग) एस. बी. ताम्बे

घ) चितरंजन दास

2 पार्टी का मुख्य कार्यक्रम क्या था?

क) परिषदों में प्रवेश

ख) संवैधानिक विरोध

ग) रचनात्मक कार्य

घ) इनमें से कोई नहीं

3 पार्टी का कार्यक्रम सबसे पहले कब प्रकाशित हुआ?

क) दिसंबर 1922

ख) फरवरी 1923

ग) अक्तूबर 1923

घ) फरवरी 1922

4 स्वराज पार्टी द्वारा अपनाए गए पाँच कार्यक्रमों की सूची बनाएँ :
परिषदों के अंदर

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

v) .....

5 परिषदों के बाहर

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

v) .....

21.4 स्वराजवादी एवं चुनाव

1919 के अधिनियम के प्रावधानों के अंतर्गत क्रमशः 1920, 1923 और 1926 में कुल तीन चुनाव हुए। असहयोग आंदोलन के कारण कांग्रेस ने 1920 के चुनावों का बहिष्कार किया था और उदारवादियों तथा अन्य के समक्ष कांग्रेस की अनुपस्थिति में चुनाव क्षेत्र अपेक्षाकृत आसान था। 1923 में हुए चुनावों के समय तक असहयोग आंदोलन की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और परिषदों में प्रवेश के प्रश्न पर कांग्रेस में फूट स्पष्ट हो चुकी थी। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने स्वराज पार्टी के झंडे तले परिषदों में प्रवेश के प्रोग्राम के साथ चुनावों में हिस्सा लिया।

चुनावों में उदारवादी अकेले ही स्वराजवादियों के समक्ष सशक्त विपक्ष के रूप में सामने आए। स्वतंत्र उम्मीदवार भी चुनाव मैदान में थे जिनका स्थानीय महत्व तो था लेकिन उनके पास कोई राजनैतिक दिशा अथवा प्रतिष्ठा नहीं थी। उदारवादियों का पक्ष इसलिए कमजोर पड़ रहा था क्योंकि वे पार्षदीय सत्र में पहले से मौजूद थे। इन्हें नगण्य तथा महत्वहीन मुद्दों पर भी सरकार द्वारा महत्व नहीं दिया गया। विदेशी सरकार के साथ काम करने का कलंक उन पर लग चुका था। वहीं दूसरी ओर असहयोग आंदोलन के दौरान जेल जाने के कारण स्वराजवादियों को शहीद माना जा रहा था। उदारवादियों के पास मतदाताओं के समक्ष जाने के लिए ठोस उपलब्धियाँ भी नहीं थी जबकि स्वराजवादी "गांधी के साथी" और स्वराज्य के लिए कटिबद्ध समझे जा रहे थे। अब वे स्वराज की लड़ाई लड़ने के लिए परिषदों में जा रहे थे क्योंकि यह लड़ाई परिषदों के बाहर असफल परिणामों के साथ खत्म हुई थी। सरकार के साथ खुले टकराव की उनकी नीति मतदाताओं पर व्यापक प्रभाव डाल रही थी।

1923 के चुनावों में स्वराजवादियों की सफलता प्रभावशाली तो थी लेकिन उसे किसी भी रूप में उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता था। केवल मध्य प्रान्त (सेंट्रल प्रोविंसेज) की इसका अपवाद था।

12/4/23

From,
K.L.Ajmera Jain,
Secy,All-India Jain Association,
(Rajputana Province)

Tripolia bazar,
Jaipur City.
7th June 1923.

My Dear Panditji,

I have full sympathy with the Swarajya Party and want to become its member ,but before joining the party I want to know what is the programme and policy of your party regarding the Native States.Please let me know this per return of post fully.

If you can kindly send me a copy of the Rules,Regulations and other particulars etc. of the party.

Thanking you in anticipation and soliciting the favour of an early reply.

Yours Sincerely,
K. L. Ajmera. Jain

ALLAHABAD
17 MAY 23
2.30 P.M.

To
Pandit Motilal Nehru,
Anand Bhawan.
Allahabad.

Nursing Home
Kapadia Chambers
10. 6. 23.

Dear Sir,
I wish to be a member of Indian Swaraj Party. Please let me know the rules & regulations & terms. The form (if any) at your earliest convenience oblige.

Yours faithfully
Bankabihari Das
M. M. B.

Sjt.
Pandit Moti Lal Ji Nehru,
General Secretary,
Swarajya Party,
Anand Bhawan
Allahabad

[illegible]

Dear Sir,
I am in receipt of your circular letter dated 21st May 1923 & in reply thereto as soon as I find time. In the mean time may I request you to be good enough to send me a copy of the programme of the Swarajya party. I am glad to tell you that I am fully in sympathy with the party & its programme.
Thanking you in anticipation,
I am
Yours sincerely,
[illegible]

20 मोतीलाल नेहरू से स्वराज पार्टी के बारे में जानकारी मांगते हुए पत्र

तालिका (1) में विभिन्न विधान परिषदों में उनके द्वारा प्राप्त किए गए स्थान दर्शाए गए हैं।

तालिका 1

	कुल स्थान	स्वराजवादियों द्वारा प्राप्त किए गए स्थान
विधान मण्डल	105	42
विधान परिषद्		
मद्रास परिषद्	98	
बम्बई परिषद्	86	32
बंगाल परिषद्	111	36
उत्तर प्रदेश परिषद्	101	31
पंजाब परिषद्	71	9
बिहार एवं उड़ीसा परिषद्	73	13
केंद्रीय प्रांत परिषद्	54	40
आसाम परिषद्	39	13
कुल	633	174

केंद्रीय प्रांत, बंबई एवं बंगाल परिषदों में स्वराज पार्टी अकेली सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभर कर सामने आयी। जबकि उत्तर प्रदेश विधान परिषद् में भी उसकी संख्या महत्वहीन नहीं थी। स्वराजवादी उदारवादियों के विरुद्ध तो सफल रहे लेकिन स्वतंत्र उम्मीदवारों के विरुद्ध उन्हें बहुत अधिक सफलता नहीं मिली जो कि अपने स्थानीय प्रभावों के कारण काफी सफल रहे। चुनावों में स्वराजवादियों की सफलता के कारण कांग्रेस में उनकी स्थिति परिवर्तन विरोधियों की तुलना में काफी मजबूत हो गयी। परिणामस्वरूप स्वराजवादी कांग्रेस के संसदीय दल के रूप में जाने लगे।

अधिकतर निर्वाचित सदस्य वकील एवं व्यापारी थे। तालिका (2) में निर्वाचित सदस्यों को व्यवसाय के आधार पर श्रेणीबद्ध किया गया है। इस तालिका से निर्वाचित सदस्यों के वर्ग का पता चल सकेगा।

तालिका 2
विधान मण्डल

	1924	1927
वकील	42	38
जमींदार	26	30
व्यापारी	17	16
पत्रकार	8	9
डाक्टर	2	2
अन्य	9	9
कुल	104	104

CANDIDATES' PLEDGE

I being a member of the Indian National Congress do hereby offer myself as a candidate on behalf of the Congress for election to the Legislative Assembly (Provincial Legislative Council) for the constituency of Kolhapur (Rural) and declare that if my candidature is approved I shall fully conform to all the rules and directions regulating the conduct of election by members of the party which have been or may be issued by the All India Congress Committee or its Working Committee or the executive of the Provincial Congress Committee in accordance with the instructions and resolutions of the All India Congress Committee or its Working Committee. If my candidature is not approved I undertake not to contest the elections. I further agree that in case I am elected I shall faithfully carry out the policy and programme of work laid down in the resolutions of the Indian National Congress adopted at Cawnpore and the resolution of the All India Congress Committee (now adopted) and in the election manifesto issued by the Working Committee. I shall also faithfully observe all rules and carry out all instructions which may be issued from time to time by the All India Congress Committee and its Working Committee or by the Provincial Congress Committee and party in the Assembly (Council) that may not be inconsistent with the foresaid instructions for the guidance of the Legislative Assembly or Council. I pledge myself to vacate my seat in the Legislature in case I wilfully fail to carry out the policy and instructions of the Congress, of the All India Congress Committee or its Working Committee or of the Provincial Congress Committee and party in the Legislative Assembly or the Council.

Dr Kollipara Sreenivasa Choudhri

21. Congress Candidates Pledges.

The Tamil Nadu Congress Committee

Congress Party Candidate's Pledge

LEGISLATIVE COUNCIL / ASSEMBLY

"I, being a member of the Indian National Congress do hereby offer myself as a candidate on behalf of the Congress for election to the Legislative Assembly / ~~Provincial Legislative Council~~ from the constituency of Tanjore and Trichinopoly and declare that if my candidature is approved I shall fully conform to all rules and directions regulating the conduct of elections by members of the Party which have been or may be issued by the A. I. C. C. or its Working Committee or the Executive of the Provincial Congress Committee in accordance with the instructions and resolutions of the A. I. C. C. or its Working Committee. If my candidature is not approved I undertake not to contest the election.

I further agree that in case I am elected I shall faithfully carry out the policy and programme of work laid down in the resolutions of the Indian National Congress adopted at Cawnpore and the resolutions of the A. I. C. C. dated 6th and 7th March 1926 and in any election manifesto to be issued by the Working Committee.

I shall also faithfully observe all rules and carry out all instructions which may be issued from time to time by the A. I. C. C. or its Working Committee or by the Party in the Assembly / Council for the guidance of the elected members of the Legislative Assembly / Provincial Legislative Council.

I pledge myself to vacate my seat in the legislature in case I wilfully fail to carry out the policy and instructions of the Congress or the A. I. C. C. or its working Committee or the Party in the Legislative Assembly / Provincial Legislative Council."

Address
Editor, "Swadesamitran"
Mount Road,
Madras.

(Signature) (Sd) A. Rangaswamy Iyengar

Tamil Nadu Congress
E. L. III 708
29.3.56

Hindi Chamber Press, Triplicane, Madras.

(Application Form to be duly filled in and signed by the Congress Candidate who intends to stand for election to the several Legislatures in the coming Election.)

To

The Hon. Secretary,
The Karnataka Provincial Congress Committee,
GADAG.

Sir,

I beg to offer myself as a Congress candidate for the Bombay Legislative Council / ~~Legislative Assembly~~ in the coming General Elections. I am a member of the Belgaum Congress Committee and I do hereby declare that, if selected, I shall faithfully carry out the Congress Pledge (printed on the back) which was duly signed by me.

I have the honour to be
Sir,
Your most obedient servant.
Vaman Shanker Khaterpekar

Place,
Date,

1 Name in full ... Vaman Shanker Khaterpekar
2 Race & religion ... Maratha ... Hindu
3 Name of the place and the district in which the candidate resides ... Belgaum
4 The constituency for which the candidate intends to stand ... Belgaum

1926 के चुनाव में स्वराजवादियों को बहुत बड़ा धक्का लगा। केवल मद्रास को छोड़कर जहाँ उन्हें कुछ सफलता मिली, विधान परिषदों में स्वराजवादियों की संख्या में काफी कमी आयी। हर जगह उन्हें काफी बड़ा नुकसान पहुँचा। उत्तर प्रदेश, केंद्रीय प्रांत और पंजाब परिषदों में उन्हें केवल एक सीट प्राप्त हुई। उत्तर प्रदेश में उनकी संख्या 31 से घटकर 19 तक रह गयी। केंद्रीय विधान मंडल में भी ऐसा ही अनुभव रहा और उनकी संख्या 42 से 35 हो गयी।

दरअसल 1926 के आम चुनाव तक स्वराजवादियों का प्रभाव काफी कम हो गया था। 1925 में चितरंजन दास की आकस्मिक मृत्यु के कारण स्वराजवादियों की शक्ति क्षीण होने लगी थी और साथ ही उनमें संगठनात्मक फूट भी पनपने लगी थी। आपसी झगड़ों एवं अविश्वास की भावना उनकी प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचा रही थी। कुछ ऐसे स्वराजवादी जिन्हें चुनाव में पार्टी ने टिकट नहीं दिया, स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में चुनाव मैदान में उतर गए। लोगों में उनके प्रति यह आम राय बन गई थी कि वे अवसरवादी एवं स्वार्थी राजनीतिज्ञ हैं। स्वाराजवादियों की अवरोध नीति भी उन्हें एक सूत्र में बाँधे नहीं रख सकी और एक हिस्से द्वारा अनुक्रियाशील रुख अपनाने के कारण पार्टी की शक्ति में और कमी आयी और उक्त हिस्सा "अनुक्रियाशील स्वराजवादी" के रूप में उभरा। हिन्दू-मुस्लिम तनाव तथा दोनों ही समुदायों के प्रतिक्रियावादी तत्वों की पार्टी में मौजूदगी, जो कि स्वयं को प्रत्यक्ष रूप में धर्मनिरपेक्ष सिद्ध करना चाहते थे, पार्टी के समक्ष कठिन चुनौती पेश कर रही थी। हिन्दुओं का मानना था कि कांग्रेस के हाथ में उनके हितों का भविष्य अंधकारमय है। हिन्दू महासभा के कार्यकर्त्ताओं ने भी स्वराजवादियों की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाया। कांग्रेस के साथ मुसलमानों के बिलगाव की जड़ें इतनी गहरी हो गयी कि मुसलमानों ने स्वाराजवादियों के रूप में चुनाव लड़ने के बजाए मुस्लिम उम्मीदवारों के रूप में चुनाव लड़े।

21.5 विधान मंडल एवं परिषदों में कार्य

विधान मंडल में मोतीलाल नेहरू स्वराजवादियों के शक्तिशाली दल का नेतृत्व कर रहे थे, चूँकि स्वराजवादी बहुमत में नहीं थे इसलिए यह आवश्यक हो गया था कि अवरोध की नीति के प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन के लिए अन्य दलों का समर्थन प्राप्त किया जाय। 1924 में फरवरी के शुरू में सत्तर सदस्यों के साथ एक गठबंधन तैयार किया गया जिसने एकमत से यह स्वीकारा कि यदि सरकार तुरंत संवैधानिक प्रगति से संबंधित प्रस्तावों पर समुचित प्रतिक्रया नहीं दिखाती है तो अवरोध की नीति का सहारा लिया जाएगा। यह गठबंधन राष्ट्रवादी पार्टी के रूप में जाना गया किंतु इस गठबंधन के सभी सदस्य स्वराजवादियों के आमूल परिवर्तन से सहमत नहीं थे। यह गठबंधन 1924 में विधान मण्डल की प्रक्रिया का नियंत्रण अपने हाथ में लिए रहा। इसने बजट की प्रथम चार मांगों को अस्वीकार कर दिया और विधान मण्डल में वित्त विधेयक लाए जाने की अनुमति नहीं दी। रांगाचटियार ने कौंसिल में गर्वनर जनरल से भारत की प्रादेशिक स्वायत्तता एवं संप्रभुता की प्राप्ति हेतु 1919 के अधिनियम संशोधन की माँग करते हुए एक प्रस्ताव पेश किया। पूर्ण उत्तरदायी सरकार की योजना की सिफारिश हेतु मोतीलाल नेहरू ने गोलमेज कान्फ्रेंस के समर्थन में एक संशोधन पेश किया। यह संशोधन विधान मण्डल में बहुमत से पास हुआ। संशोधन का प्रारूप निम्न था।

> "यह परिषद् गर्वनर जनरल के समक्ष यह सिफारिश करती है कि वे पूर्ण उत्तरदायी भारतीय सरकार की स्थापना एवं निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार अधिनियम में संशोधन करें।"

क) महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं हितों की रक्षा तथा, भारत के लिए संविधान की सिफारिश को ध्यान में रखते हुए शीघ्रातिशीघ्र प्रतिनिधियों को गोलमेज कान्फ्रेंस के लिए आमंत्रित किया जाए, तथा

ख) केंद्रीय विधानमंडल भंग करके उक्त योजना को नवनिर्वाचित भारतीय विधान मण्डल के समक्ष रखा जाए तदोपरांत उसे बर्तानवी संसद के कानून में शामिल करने के लिए पेश किया जाए।

सर अलेक्जेंडर मडीमैन (Sir Alexandar Muddiman) गृह सदस्य की अध्यक्षता में भारत सरकार एक आयोग बिठाने पर मजबूर हो गयी। इस आयोग को 1919 के ऐक्ट की कमजोरियों एवं उनके निदान की जाँच पड़ताल करने को कहा गया। आयोग ने, जिसमें तेज बहादुर सप्रु, एम. ए. जिन्ना, आर. पी. परांजपे, सर शिवस्वामी अय्यर, मोतीलाल नेहरू जैसे लोग शामिल थे, स्वराजवादियों के चले आ रहे सिद्धान्तों के मुताबिक आयोग की मदद करने के सरकारी निवेदन को ठुकरा दिया। स्वराजवादियों ने वाइसराय के साथ भेंट के सारे निमंत्रणों को भारतीय समस्याओं के समाधान न होने के विरोध में अस्वीकार कर दिया। जब विस्काउंट की अध्यक्षता में गठित किये गये ली आयोग की जन सेवाओं की स्थिति और उनके गठन की जाँच पड़ताल से संबंधित रिपोर्ट विधान मंडल में स्वीकृति के लिए रखी गयी तो नेहरू ने उसमें एक संशोधन जोड़ा जो बहुमत से पास हुआ। इस अवसर पर मोतीलाल नेहरू ने सेवाओं के निवर्त्तमान संविधान की भर्त्सना करते हुए कहा कि सरकार भ्रष्ट प्रशासन की बुनियाद पर संविधान में सुधार लाने का असंभव प्रयास कर रही है। 1924-25 में विधान मंडल में स्वराजवादियों को कई सफलताएँ प्राप्त हुईं उन्होंने विधानमंडल में पेश किये गये बजट को खारिज करने में सफलता प्राप्त की, जिसके कारण सरकार को अपने प्रमाणन के अधिकार पर निर्भर होना पड़ा। विधानमंडल के अधिनियम द्वारा बंगाल अध्यादेश को भंग करने की माँग करने के लिए रखे गए सी. डी. अयांगर का प्रस्ताव 45 के मुकाबले 58 मतों से पारित हुआ। बी. जी. पटेल ने 1850 के राष्ट्रीय कैदी अधिनियम (स्टेट प्रिजनर ऐक्ट), 1867 के सीमांत अत्याचार अधिनियम तथा 1921 के राष्ट्रद्रोही गोष्ठी निरोधक अधिनियम (प्रिवेंशन ऑफ सेडिशस मीटिंग्स) भंग करने के लिए एक बिल प्रस्तुत किया। सीमांत अत्याचार अधिनियम बिल को छोड़कर सारे बिल पास हो गये। भारत में मिलिटरी कॉलेज की स्थापना की माँग से संबंधित प्रस्ताव पर भी सरकार को हार का सामना करना पड़ा। सुधार जाँच कमेटी पर बहुमत की रिपोर्ट मंजूर कराने के सरकारी प्रस्ताव का मोतीलाल नेहरू ने विरोध करते हुए उस पर संशोधन पेश किया जो कि 45 के मुकाबले 72 मतों से मान लिया गया। इस संशोधन में स्वराजवादियों ने अपना पुराना संवैधानिक मत ही सामने रखा था। संवैधानिक प्रगति के अंतर्गत भारतीय प्रतिनिधियों की गोलमेज कांफ्रेंस द्वारा तैयार की गयी योजना के तहत पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना का प्रस्ताव था।

सुधारों को अन्दर से तोड़ने की अपनी कटिबद्धता एवं प्रयासों में स्वराजवादी प्रायः सरकारी विधेयकों तथा अन्य योजनाओं में रुकावट डालने में सफल होते रहे। इन्होंने स्थगन प्रस्ताव लाने आरंभ कर दिए तथा विदेशी सरकार के कुकर्मों का पर्दाफाश करने की दृष्टि से उसके समक्ष अटपटे प्रश्न रखने आरंभ कर दिए। किंतु सुधारों को तोड़ने की पद्धति सरकारी क्रियाकलापों को कभी भी रोक नहीं सकी। स्वतंत्र विधायकों ने अपनी इस समझ के तहत स्वराजवादियों के साथ शामिल होने से इंकार कर दिया कि स्वराजवादी केवल अपने स्वार्थों के लिए अवरोध की नीति अपनाए हुए थे। राष्ट्रीय पार्टी सरकार के साथ अनुक्रियाशील सहयोगी की भूमिका निभा रही थी एवं स्वतंत्र उम्मीदवार स्वराजवादियों को पसन्द नहीं करते थे। अपने संसदीय दिनों में स्वराजवादी सरकारी नीतियों के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए समय-समय पर बहिष्कार करने लगे। यह सिलसिला इतना नियमपूर्वक चलने लगा कि स्वराजवादी "भ्रमणशील देशभक्त और संचलनशील देशभक्त आदि नामों से जाने, जाने लगे"।

केंद्रीय सरकार एवं बंगाल में स्वराजवादियों की सफलता प्रभावशाली थी। बंगाल की यह सबसे बड़ी पार्टी थी और 19 स्वतंत्र विधायकों के समर्थन के साथ स्वराजवादी "पूर्ण अवरोध" की स्थिति पैदा करने में सफल हो सके। बंगाल के गवर्नर लार्ड लिटन ने चितरंजन दास को "स्थानांतरण विभागों की जिम्मेदारी" स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया जिसे चितरंजन दास ने ठुकरा दिया और सरकार का विरोध करने के लिए एक प्रभावपूर्ण गठबंधन संगठित किया। 1924 और 1925 में दो बार मंत्रियों के वेतन अस्वीकार कर दिए गए तथा वेतन प्रत्यावर्तन के निरंतर प्रयास कोई सफलता अर्जित न कर सके। गवर्नर को मजबूर होकर स्थानांतरण विभाग स्वयं अपने और कार्यकारिणी परिषद् के बीच बाँटने पड़े। जे. एम. सेनगुप्त. द्वारा रखा गया राजनैतिक कैदियों की रिहाई से संबंधित प्रस्ताव 41 के मुकाबले 72 मतों से पारित हुआ। इसके उपरांत व्योमकेश चक्रवर्ती द्वारा बंगाल नियमन ऐक्ट 1818, भारतीय अपराध कानून संशोधन अधिनियम और राष्ट्रद्रोही गोष्ठी निरोधक अधिनियम आदि कानून को समाप्त करने से संबंधित प्रस्ताव रखा गया। इस

प्रस्ताव के पक्ष में 63 तथा विपक्ष में 43 मत पड़े। 1925 में चितरंजन दास के मृत्यु के साथ ही स्वराजवादियों ने अपना योग्यतम नेता खो दिया और उनकी स्थिति काफी कमजोर हो गयी। फिर भी सरकार मंत्रिमंडल का गठन न कर सकी। 1926 में स्वराजवादी यह घोषणा करते हुए कि द्वैध शासन अस्तित्व में नहीं रहा, कौंसिल से बाहर आ गए।

केंद्रीय प्रांत मे स्वराजवादी दल को पूर्ण बहुमत मिल गया जिसके कारण वे सरकार को अक्रियाशील स्थिति में पहुँचाने में सफल हो सके। उन्होंने मंत्रिमंडल में जाना स्वीकार नहीं किया। सरकार ने गैर स्वराजवादियों को मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया। स्वराजवादियों ने मंत्रियों से इस्तीफा दे देने का निवेदन करते हुए एक प्रस्ताव रखा जो कि कौंसिल में 24 के मुकाबले 44 मतों से पारित हुआ। गवर्नर के विशेषाधिकारों के बल पर केंद्रीय प्रांतों में, सरकार चल सकी। भारतीय सांविधिक आयोग ने, यद्यपि शिकायत पूर्ण लहजे में स्वराजवादियों की सफलता को निम्नलिखित रूप में स्वीकार किया।

> "केवल एक ही ऐसी पार्टी है जो कि उपयुक्त रूप से संगठित है, अनुशासित है और उसके पास एक निश्चित कार्यक्रम (जो कि वास्तविक रूप में नकारात्मक है) हैं। यह पार्टी स्वराजवादियों की पार्टी है। केवल बंगाल और केंद्रीय प्रांतों में थोड़े समय के लिए वे द्विपक्षीय शासन व्यवस्था को अक्रियाशील बनाने के अपने प्रारंभिक उद्देश्य में सफल हुए। अन्य सभी प्रांतों में थोड़े बहुत फर्क के साथ स्वराजवादी एक संवैधानिक स्वरूप में विपक्ष के रूप में कार्य करते रहे और एक सजग आलोचक के रूप में कोई लाभदायक भूमिका नहीं निभाई।"

स्वराजवादियों की गतिविधियों ने देश में उत्तेजना पैदा कर दी और संविधान के अंतर्गत अपनी कार्य नीति के जरिए जो कुछ भी अर्जित कर सकने की संभावना थी, उन्होंने अर्जित किया। बंगाल एवं केंद्रीय प्रांतो में द्विपक्षीय सरकार के अपदस्थ होते ही जनसाधारण में उत्साह की लहर दौड़ गयी। स्वराजवादियों की गतिविधियों ने नीरस राजनैतिक माहौल में नई जान फूँक दी। अवरोध की उनकी रणनीति ने सरकार की स्थिति काफी असमंजस पूर्ण बना दी। इस समय के संसदीय द्वंद्व संसदीय राजनीति के इतिहास में काफी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

21.6 रचनात्मक कार्य

यद्यपि सुधारों को अंदर से तोडने के लिए कौंसिलों में प्रवेश स्वराजवादियों का मुख्य उद्देश्य था किन्तु यह एकमात्र उद्देश्य न था। उनके पास सामाजिक-आर्थिक सुधारों अथवा उन्नतकारी गतिविधियों की समझ थी, जिसे गांधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रमों की संज्ञा दी थी। गांधी जी का मानना था कि स्वतंत्रता संग्राम के रथ के दो पहिये हैं : रचनात्मक कार्यक्रम और राजनैतिक प्रचार। उनके अनुसार रचनात्मक कार्यक्रम अठारह बिंदुओं पर आधारित था जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता उन्मूलन, मद्य निषेध, स्वदेशी एवं बहिष्कार मुख्य थे।

स्वराजवादी इन कार्यक्रमों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे क्योंकि वे जानते थे कि उन्हें कौंसिल छोड़कर कभी भी उन लोगो के साथ सविनय अवज्ञा में शामिल होना पड़ सकता है जो कौंसिलों में शामिल नही हुए। उनकी राजनैतिक शक्ति का श्रेय गांधी एवं कांग्रेस के साथ उनके निरंतर सहयोग को जाता था। रचनात्मक कार्य कांग्रेस के दोनों गुटों, परिवर्तन विरोधी एवं स्वराजवादियों के लिए एक सामान्य मंच के रूप में उभरा। फिर भी रचनात्मक कार्यों को क्रियान्वयन करने में परिवर्तन विरोधी दल के मुकाबले में स्वराजवादी जो कौंसिलों में प्रवेश एवं संसदीय राजनीति में अधिक व्यस्त थे, अधिक सफलता प्राप्त न कर सके।

स्वराजवादी स्वराज की प्राप्ति के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा राजनैतिक शिक्षा को अनिवार्य शर्त मानते थे। 1926 में कांग्रेस ने सांप्रदायिक एकता तथा स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के प्रति जनसाधारण को शिक्षित करने के लिए एक "स्थायी प्रचार ब्यूरो" की स्थापना की। मोतीलाल नेहरू, मौलाना आजाद तथा सरोजनी नायडू को इस दिशा में आवश्यक कार्यनीति तैयार करने के लिए अधिकृत किया गया। कांग्रेस के गोहाटी अधिवेशन में मोतीलाल नेहरू

ने लोगों को उनके राजनैतिक अधिकार के प्रति शिक्षा देने तथा रचनात्मक कार्यों द्वारा इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए आवश्यक कार्य शक्ति प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न करने के लिए कार्यक्रम आरंभ किए जाने पर अपनी सारी प्रभाव शक्ति लगा दी। भारतीय राजनीति में स्वराजवादियों का उदय उसी समय हुआ जब भारतीय समाज में हिन्दू-मुस्लिम तनाव की जड़ें फैल रही थी। आज़ादी, अखण्डता तथा सांप्रदायिकता विरोधी मूल्यों के समर्थकों के लिए सांप्रदायिक दंगे एक बड़ी चुनौती के रूप में उभरे। अन्य दलों की भाँति ही स्वराजवादी भी इस बदतर होती परिस्थिति को सुधारने के संबंध में केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रति भाषण देने के अलावा कुछ रचनात्मक कार्य न कर सके। गांधीवादी रचनात्मक कार्यक्रमों में स्वदेशी की संकल्पना एक महत्वपूर्ण स्थान बना चुकी थी। गांधी जी के विचार से स्वदेशी का अर्थ केवल चरखा और खादी नहीं था बल्कि स्वदेशी उद्योग से संबंधित सभी पक्ष इसमें शामिल थे। उनके अनुसार खादी का अर्थ था पूर्ण स्वदेशी मानसिकता तथा जीवन की सभी आवश्यकताओं को भारत के अंदर ही प्राप्त करने की कटिबद्धता जो केवल ग्रामीण जनता के श्रम एवं बुद्धि के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती थी। स्वयं स्वराजवादी भी स्वदेशी, चरखा एवं खादी के कार्यक्रमों का पालन करने को वचनबद्ध थे लेकिन गांधी जी तथा उनके परंपरागत समर्थकों की भाँति इन कार्यक्रमों के प्रति उनकी इतनी गहरी रुचि न थी। गांधी जी ने स्वराजवादियों पर इस बात के लिए आरोप लगाया कि वे खद्दर के प्रयोग के मामले में गंभीर न थे और केवल छिटपुट रूप से ही वे इसका प्रयोग करते थे एवं उनके घरों में विदेशी वस्त्रों का प्रयोग होता था।

21.6.1 खादी

स्वराजवादी गांधी जी के खद्दर तथा हाथ से कताई करने के विचार से पूर्ण रूप से सहमत नहीं थे। चितरंजन दास ने चरखा एवं खादी को भारतवासियों के आर्थिक जीवन में सुधार लाने के लिए उपयोगी माना किन्तु खादी की व्यापारिक उपयोगिता पर उनकी सहमति नहीं थी। उनके विचार में खादी का विश्व बाजार में कोई महत्व नहीं था। स्वराजवादी इस बात को मानने के लिए तैयार न थे कि केवल खादी चरखा एवं स्वदेशी उद्योग भारत को स्वतंत्रता दे सकेंगे। चितरंजन दास ने कहा, ''ऐसा विचार व्यक्त किया गया है कि केवल खद्दर हमारे लिए स्वराज्य लाएगा। मैं अपने देशवासियों से पूछता हूँ कि केवल खद्दर से स्वराज्य की प्राप्ति किस प्रकार संभव है? स्वराजवादी खद्दर के इस्तेमाल पर अतिरिक्त बल नहीं देते थे। किंतु साथ ही उसके प्रचारित करने का कोई अवसर भी नहीं छोड़ रहे थे। स्वराजवादियों ने अपने तमाम सदस्यों को खादी पहन कर ही केंद्रीय विधान सभा तथा प्रादेशिक परिषदों में जाने का आदेश दिया।

स्वराजवादियों ने परंपरावादी गांधीवादियों और परिवर्तन विरोधियों के खद्दर तथा हाथ से कताई करने से संबंधित उत्साह का केवल सतही तौर पर ही विरोध नहीं किया बल्कि कांग्रेस के अंदर गांधीवादियों द्वारा रखे गए इस प्रस्ताव का जमकर विरोध किया कि चरखा कातना अथवा खादी कांग्रेस की सदस्यता का आधार बने। स्वराजवादियों ने गांधी जी के इस प्रस्ताव का भी विरोध किया कि कांग्रेस के सभी निर्वाचित संगठनों के सदस्यों के लिए कताई अनिवार्य बना दी जाए। इस कठोर विरोध को देखते हुए गांधी जी ने हाथ से कताई करने से संबंधित प्रस्ताव में जुर्माने के प्रावधान को समाप्त करने की व्यवस्था रखी।

हाथ से कताई से संबंधित प्रस्ताव पर स्वराजवादियों के रवैये को स्पष्ट करते हुए चितरंजन दास ने कहा:

> ''स्वराजवादियों को कताई करने में कोई आपत्ति नहीं और वे रचनात्मक कार्यों में अपने विश्वास को लगातार स्पष्ट करते रहे हैं। किंतु स्वराजवादी किसी भी चीज को उन पर लादे जाने के कट्टर विरोधी रहे हैं और यह (कताई) असंवैधानिक रूप में उन्हें कांग्रेस की कार्यकारिणी से बाहर किए जाने का प्रयास है।''

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि स्वराजवादी खद्दर के इस्तेमाल को आगे बढ़ाने के लिए सदैव तैयार रहते थे लेकिन वे उस पर अतिरिक्त बल नहीं देते थे।

21.6.2 अस्पृश्यता

अस्पृश्यता भारतीय समाज पर कलंक थी। असहयोग आंदोलन प्रस्ताव में हाथ से कताई एवं

बुनाई करने की प्रक्रिया को पुनः व्यवहार में लाने के लिए देश में आह्वान किया गया क्योंकि इससे भारतीय समाज के लाखों बुनकर परिवारों को लाभ होता। गांधी जी के अनुसार, असहयोग आंदोलन अंग्रेजों के लिए ही नहीं बल्कि भारतीयों के लिये भी हृदय परिवर्तन का एक जरिया था। कांग्रेस के नागपुर सत्र में उन्होंने हिन्दू धर्म से अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए विशेष प्रयास किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया। दलित वर्गों के उत्थान के लिए कांग्रेस प्रतिबद्ध रही। स्वराजवादी भी इस प्रश्न पर लगभग वही समझ रखते थे जो कि गांधी जी की थी। वे 1924 में बेलगाम कांग्रेस में अस्पृश्यता से संबंधित पारित हुए प्रस्ताव से पूरी तरह सहमत थे। उनका दृढ़ मत था कि इस अभिशाप से भारत समाज को पूरी तरह छुटकारा दिलाना अत्यावश्यक है।

भारत के कुछ हिस्सों में अस्पृश्यता की अभिव्यक्ति भयावह रूप में हुई। इस दौरान अस्पृश्यता के अभिशाप से निपटने के लिए कई प्रकार के प्रयास किए गए। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में वाइकोम नामक स्थान में सुधारकों ने मंदिर की ओर जाने वाले आम मार्ग को "अछूतों" द्वारा इस्तेमाल किए जाने के उनके अधिकार के लिए सत्याग्रह आरंभ किया। इस पहल को गांधी जी तथा स्वराजवादी दोनों का ही पूर्ण समर्थन मिला।

स्वराजवादियों ने वाइकोम के सत्याग्रह के समर्थन में एक प्रस्ताव पारित किया। बेलगाम कांग्रेस ने सत्याग्रहियों की माँगों को मान्यता देते हुए सरकार से तुरंत सकारात्मक प्रतिक्रिया की माँग की। सरकार को यह मानने पर मजबूर किया गया कि हिंदू रूढ़िवादिता को सरकारी सहयोग देना अनुचित है। सत्याग्रहियों के दबाव के कारण सरकार ने मंदिर की ओर जाने वाले रास्तों से तमाम अवरोध हटा लिए हालाँकि इस प्रश्न पर जनमत में एकरूपता नहीं थी। तारकेश्वर की घटना में महंत निरंकुशता के विरुद्ध स्वराजवादियों ने काफी रुचि ली। दो धार्मिक सुधारकों, स्वामी सच्चिदानंद एवं स्वामी विश्वनाथ ने एक स्वयंसेवी दल संगठित करते हुए मंदिर को जनसंपत्ति घोषित कर दिया तथा महंत की क्रूरता के विरुद्ध सीधी कार्यवाही आरंभ की। महंत के समर्थकों एवं स्वयं सेवियों के बीच झगड़ा भी हुआ। चितरंजन दास ने इस मुद्दे पर सरकार की भूमिका की भर्त्सना करते हुए महंत की गिरफ्तारी की माँग की। चितरंजन दास द्वारा गठित कमेटी को मंदिर सौंप देने के लिए महंत पर दबाव डाला गया। तारकेश्वर के मुद्दे पर काफी उत्तेजना बनी हुई थी। काफी गिरफ्तारियाँ भी हुई और एक अवसर पर पुलिस को गोली भी चलानी पड़ी। स्वराजवादियों को अंततः अपनी शर्तों पर महंत के साथ एक समझौता करने में सफलता प्राप्त हुई। इस पूरी घटना से मंदिरों में पूजा से सम्बन्धित भेदभाव के विरुद्ध स्वराजवादियों की कटिबद्धता उभर कर सामने आयी। उन्होंने निचले वर्गों के लिए मंदिरों में प्रवेश पर अपना समर्थन जारी रखा। अंतर्जातीय भेदभाव समाप्त करने की दृष्टि से उन्होंने एक अंतर्जातीय भोज का भी आयोजन किया। स्वराजवादी विधानसभा तथा प्रांतीय परिषदों में निचले वर्गों के अधिकारों के समर्थन में आवाज़ उठाने का कोई भी अवसर नहीं गँवाते थे। उनके द्वारा की गई अस्पृश्यता विरोधी गतिविधियों ने सामाजिक जागरूकता तो पैदा की किन्तु शताब्दियों से चली आ रही इस कुरीति को दूर करने के लिए और अधिक प्रयास आवश्यक थे।

21.6.3 सामाजिक समस्याएँ

शराब एवं अन्य नशीले पदार्थों के सेवन की बुराइयों की ओर भी कांग्रेस का ध्यान गया। कांग्रेस ने इस बुराई को दूर करने की आवश्यकता पर बल दिया तथा नशाबन्दी में अपना विश्वास दर्शाया। नशीले पदार्थों का सेवन अंग्रेजी राज्य के पहले से चला आ रहा था। अंग्रेजों ने नशीले पदार्थों को अपनी आय का साधन बना लिया था तथा सरकार के लिए आय की कमी के डर से नशाबंदी लागू करने के लिए वे तैयार न थे। राष्ट्रवादियों के समक्ष स्थिति स्पष्ट थी कि विदेशी सरकार की रुचि पैसा बनाने में है न कि सामाजिक कल्याण में। देशभक्त नागरिक के रूप में यह उनका दायित्व बनता था कि वे सामाजिक उत्थान के लिए कार्य करें। अतः स्वराजवादियों ने अपने कार्यक्रम में नशाबंदी लागू करना भी शामिल कर लिया। राष्ट्रवादी यह भलीभाँति समझ रहे थे कि सरकार की वे नीतियाँ जो कि लोगों में शराब पीने तथा अन्य नशीले पदार्थों के सेवन की आदत को आय का साधन बना रही है, वे जनता की भलाई तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य के प्रति हानिकारक है। अतः वे इसे समाप्त करने के पक्षधर बने रहे।

1922 से लेकर 1929 तक कांग्रेस ने, जिसका स्वराजवादी अभिन्न अंग थे, रचनात्मक कार्यक्रमों को काफी महत्व दिया। महात्मा गांधी ने इसे जीवन के उद्देश्य का रूप दे दिया। उनके अनुसार वास्तविक आज़ादी रचनात्मक कार्यों से ही मिल सकती थी। स्वराजवादी रचनात्मक कार्यों को समर्थन देते रहे किन्तु रचनात्मक कार्यों में गांधी की पूर्ण आस्था और आदर्शवादिता से सहमत नहीं थे। किन्तु रचनात्मक कार्यों से कांग्रेस को अपेक्षित सफलता न मिल सकी। फिर भी कांग्रेस के अनुयायी सीमित रूप में ही सही, इस दिशा में कुछ सफलता जरूर अर्जित कर सके।

बोध प्रश्न 2

1 स्वराज्य पार्टी ने चुनाव में हिस्सा लिया

क) 1923, 1926 में

ख) 1919, 1923 में

ग) 1920, 1926 में

घ) 1919, 1920 में

2 चुनाव किस अधिनियम के तहत हुए?

क) 1920

ख) 1923

ग) 1926

घ) 1919

3 1924 के विधान मंडल में, अधिकतर सीटें किसको मिली?

क) जमींदारों को

ख) पत्रकारों को

ग) वकीलों को

घ) व्यापारियों को

4 निम्नलिखित में कौन सा स्वराजवादी नेता विधानसभा का अध्यक्ष बना?

क) मोतीलाल नेहरू

ख) वी.जे. पटेल

ग) चितरंजन दास

घ) जे.एम. सेनगुप्ता

5 1923 में स्वराज पार्टी ने निम्न में से किसमें पूर्ण बहुमत प्राप्त किया?

क) विधान मंडल

ख) उत्तर प्रदेश विधान परिषद्

ग) बंगाल विधान परिषद्

घ) केंद्रीय प्रांत विधान परिषद्

6 विधान मंडल एवं विधान परिषदों में स्वराजवादियों की गतिविधियों पर दस पंक्तियाँ लिखें।

.....

.....

.....

.....

21.7 हतोत्साहन और पतन

स्वराजवादियों में 1924 का उत्साह समाप्त हो चला था और 1925-27 के वर्षों में हतोत्साहन और अन्ततः पतन की प्रक्रिया शुरू हो चली थी। विधानमंडल और विधान परिषदों में स्वराजवादी सतत, निरंतर और एकरूपी अवरोध की नीति को आगे बढ़ाने में विफल रहे। स्वराजवादियों की नीति 1919 के संविधान के खोखलेपन का पर्दाफाश करने के उद्देश्य में सफल रही किन्तु वे उसे सुधारने अथवा समाप्त करने में विफल रहे। स्वराजवादियों के एक बड़े हिस्से ने यह महसूस करना शुरू कर दिया था कि सरकार की सभी नीतियों का ध्वंसात्मक विरोध सामाजिक रूप से लाभदायक सभी नीतियों को समाप्त कर देगा। अनुक्रियाशील सहयोग की भावना निरंतर मजबूत होती जा रही थी। यहाँ तक कि चितरंजन दास भी सहयोग में रुचि दिखाने लगे थे। 2 मई, 1925 को फरीदपुर में बंगाल की प्रांतीय सभा की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने बर्तानवी सरकार से एक उपयुक्त समझौता करने की अपील की। उन्होंने कहा कि सरकार के साथ सहयोग की संभावना इस रूप में बन सकती है कि कुछ वास्तविक जिम्मेदारियाँ जनता को हस्तांतरित कर दी जाएं। उन्होंने सभी राजनैतिक कैदियों के लिए आम माफी दिए जाने का आह्वान किया और हृदय परिवर्तन को व्यवहार में प्रदर्शित किए जाने पर बल दिया। उन्होंने सरकार को विश्वास दिलाया कि स्वराजवादी क्रांतिकारी प्रचार को निरुत्साहित करने के सभी प्रयास करेंगे।

21.7.1 सहयोग की ओर

फरीदपुर घोषणा ने सरकार के साथ सहयोग की ओर जाने वाली बहाव प्रक्रिया को और तेज कर दिया। लार्ड बर्केनहेड ने 7 जुलाई 1925 के अपने भाषण में स्वराज पार्टी को "भारत की सबसे संगठित राजनैतिक पार्टी" के रूप में व्याख्यायित किया। यह वाक्य संभवतः स्वराजवादियों को काफी प्रभावित कर गया और वे मात्र अवरोधक राजनीति से परे हटाने की दिशा में बढ़ने की सोच सके। वास्तव में काफी संख्या में स्वराजवादी असहयोग की नीति से सहमत नहीं थे। परिषदों में प्रवेश कर लेने के बाद वे इसके लाभों से हाथ नहीं धोना चाहते थे। स्वराजवादी नेताओं ने पदों पर आसीन होना स्वीकार किया और विभिन्न समितियों में भी रहे। मोतीलाल नेहरू जिन्होंने कुछ समय पूर्व मडीमैन समिति में पदासीन होना अस्वीकार कर दिया था, अब स्कीन समिति में जाने पर सहमत हो गये। विट्ठलभाई पटेल विधानमंडल के अध्यक्ष बने। रामास्वामी अयंगर ने पब्लिक एकाउंट्स कमेटी का नेतृत्व संभाला तथा सर बसिल ब्लैकेट ने विधानमंडल में मोतीलाल नेहरू के सहयोग की प्रशंसा की। उन्होंने पूछा, "इस्पात सुरक्षा बिल पारित करने, पिछले वर्ष का बजट पास करने एवं रेलवे वित्त को अलग करने के पीछे पंडित जी के सहयोग के अतिरिक्त और क्या उद्देश्य है, इस सदन की अध्यक्षता करते हुए पटेल और क्या कर रहे हैं। उन्होंने पब्लिक एकांउट्स कमेटी में अयंगर की सेवाओं की भी प्रशंसा की। सरकार स्वराजवादियों के साथ इस प्रकार की नीति अपनाकर उनसे सहयोग लेने में सफल रही।

केंद्रीय प्रांतों में सरकार दो स्वराजवादी नेताओं, ताम्बे एवं राघवेंद्र राव को अपने पक्ष में लाने में सफल रही, इससे न केवल प्रांत में पार्टी का दो भागों में विभाजन हो गया, जिसमें एक भाग अनुक्रियाशील तथा दूसरा भाग असहयोगियों का रहा, बल्कि समग्र पार्टी में भी विभाजन हो गया। एक अन्य स्वराजवादी ने ताम्बे द्वारा गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् की सदस्यता स्वीकार करने को उचित ठहराया। उनका प्रश्न था, "ताम्बे का यह कदम वी.जे.

पटेल की गतिविधि से किस प्रकार भिन्न है ? अनुक्रियाशील पक्ष ने पार्टी के कार्यक्रम पर पुनर्विचार की माँग को खुलेआम उठाया। मोतीलाल नेहरू के कठोर अनुशासन की नीति और इस कथन ने कि "स्वराज पार्टी के बीमार हाथ को काट दिया जाना चाहिए" अनुक्रियाशील दल को इस हद तक धक्का पहुँचाया कि वे केंद्रीय नेतृत्व के विरुद्ध खुलेआम विद्रोह करने लगे।

1926-27 के वर्षों में कौंसिल से सम्बन्धित कार्यों में और हतोत्साहन हुआ। हिन्दुओं और मुसलमानों में दरार आ जाने के कारण स्वराज पार्टी के बिखराव की स्थिति आ गयी मदनमोहन मालवीय और लाजपत राय ने स्वतंत्र कांग्रेसियों की एक नयी पार्टी संगठित की और अपने झंडे के नीचे हिन्दुओं को एकत्रित किया। उनका मानना था कि सरकार के विरोध ने हिन्दुओं के हितों को नुकसान पहुँचाया है। बम्बई के स्वराजवादियों ने खुले तौर पर अनुक्रियाशील पक्ष का समर्थन किया। अब स्वराज पार्टी के अंदर मतभेद और फूट का माहौल गर्म हो चुका था। 31 दिसंबर, 1925 को एक सामान्य कार्य नीति निर्धारण करने के लिए कलकत्ता में हुई नेताओं की एक सभा में अनेक स्वराजवादियों ने हिस्सा लिया। यह स्पष्ट हो गया कि अनुक्रियाशील, स्वतंत्रतावादियों और उदारवादियों के बीच कोई बुनियादी मतभेद नहीं है। अप्रैल 1926 में तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में हुए बम्बई सम्मेलन में स्वराजवादियों ने हिस्सा लिया। स्वराज पार्टी के अंदर संकट और गहरा हो गया तथा मोती लाल नेहरू ने दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया जिसके अंतर्गत उन्होंने साबरमती में एक सभा बुलाई। इस सभा में अनुक्रियाशीलता के सिद्धान्त लगभग तय कर लिये गये तथा पद ग्रहण करने की कुछ शर्तें भी तय कर ली गयीं। असहयोगियों ने समझौते पर कठोर प्रहार किया। अनुक्रियाशील पक्ष ने कांग्रेस के साथ अपने सम्बन्धों को कटु बना लिया जिसके कारण परिषदों के अंदर असहयोग की नीति तय हो गयी। साबरमती समझौता स्वराज पार्टी को एकजुट न रख सका। द्विपक्षी शासन जो कि बंगाल और केंद्रीय प्रान्त में ध्वस्त हो चुका था, 1927 में फिर बहाल हो गया। 1927 में मंत्रियों के वेतन की माँग बंगाल में 88 के मुकाबले 94 मतों से तथा केंद्रीय प्रांत में 16 के मुकाबले 55 मतों से पारित हो गयी। 1927 में यह लगभग स्पष्ट हो गया कि संसदीय राजनीति से बुरी तरह जुड़ने के कारण स्वराज पार्टी 1919 के संविधान को ध्वस्त करने के बजाय स्वयं को ही ध्वस्त कर गयी।

21.7.2 विलय

1927 के अन्तिम महीनों में साइमन कमीशन की घोषणा तथा लार्ड बर्केनहेड की इस चुनौती ने कि भारतीय स्वयं ऐसा संविधान तैयार करे जो भारत के सभी वर्गों के लिए स्वीकार्य हो, देश भर में नयी राजनैतिक संभावनाएँ पैदा कर दी। साइमन कमीशन की प्रतिक्रिया ने आम बहिष्कार को जन्म दिया जबकि मोतीलाल नेहरू ने बर्केनहेड की चुनौती को स्वीकार करते हुए एक संविधान तैयार किया जो कि नेहरू रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है। स्वराजवादी और परिवर्तन विरोधी एक दूसरे के निकट आने लगे। 1928 की कलकत्ता कांग्रेस ने यह तय किया कि यदि 31 दिसंबर, 1929 तक बर्तानवी सरकार ने नेहरू रिपोर्ट स्वीकार नहीं की तो कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता को अपना उद्देश्य घोषित कर देगी। बदली हुई राजनैतिक परिस्थितियों में कौंसिल में प्रवेश का महत्व समाप्त हो गया। पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए सीधे जन प्रयास के नये दौर की तैयारी के साथ ही स्वराज पार्टी का कांग्रेस के साथ विलय हो गया।

21.7.3 विघटन

1924 में अपनी सफलता के बाद स्वराज पार्टी का हतोत्साहन और पतन मुख्यत: विस्तृत वैचारिक आधार की अनुपस्थिति के कारण हुआ। राष्ट्रवादी पार्टी की एकता अधिक दिन न चल सकी। सहयोग के पूर्व शर्त के रूप में तात्कालिक संवैधानिक प्रगति का स्वीकार किया जाना विपरीत मत और स्वतंत्र विचारों के लोगों को एक साथ रखने की दृष्टि से एक बहुत सीमित उद्देश्य था। राष्ट्रवादी पार्टी के गैर स्वराजवादी घटकों ने यह महसूस किया कि स्वराजवादियों ने उनकी कीमत पर अपने हितों को बढ़ावा दिया है। इस मत के कारण राष्ट्रवादी पार्टी में फूट पैदा हुई और अन्तत: पार्टी टूट गयी। जिन्ना ने राष्ट्रीय गठजोड़ से अलग होकर स्वतंत्र पार्टी के नाम से एक नई पार्टी का गठन किया। 1926 के चुनावों से पूर्व राष्ट्रवादी पार्टी तीन स्पष्ट दलों में बँट गयी।

- स्वराजवादी अथवा कांग्रेस पार्टी।
- अनुक्रियाशील सहयोगी जिसमें कि हिन्दू महासभा और स्वतंत्र कांग्रेसी भी शामिल थे। इन लोगों ने लाजपत राय और मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में राष्ट्रवादी पार्टी का गठन किया।
- जिन्ना के नेतृत्व वाली स्वतंत्र पार्टी।

इसके बावजूद उनके राजनैतिक तथा मतदान के व्यवहार में विशेष अंतर नहीं आया।

21.8 पतन के कारण

यद्यपि स्वराजवादी कौंसिलों में जाने के अपने कार्यक्रम की पृष्ठभूमि में 1923 में काफी संभावनापूर्ण लगे और ऐसा लगा कि वे भारतीय राजनीति की दिशा बदल देंगे लेकिन वे बहुत जल्द ही पतन की और बढ़ते नजर आए और निश्चित रूप से 1929 तक उनका सारा प्रभाव समाप्त हो चुका था। इस पतन के कारण क्या थे? क्या पतन राजनैतिक परिस्थिति में निहित था अथवा ऐसा इनकी अपनी गलतियों के कारण हुआ? अथवा ऐसा परिषदों में प्रवेश के कार्यक्रम की सीमाओं के कारण हुआ? इसके पूर्व आपने स्वराजवादियों के बिखराव के विषय में पढ़ा है, आइए अब इसके कुछ कारणों पर चर्चा करें।

21.8.1 सांप्रदायिकता का उत्थान

देश में बढ़ती हुई सांप्रदायिकता घटनाचक्र का केंद्र बिंदु बन गयी। राजनीति के सांप्रदायिक रूप लेने के कारण स्वराजवादियों एवं हिन्दूसभा के बीच का वैचारिक मतभेद कम हो गया। चूँकि स्वराजवादियों ने कांग्रेस पर आधिपत्य जमा रखा था इसलिए कांग्रेस की एक धर्मनिरपेक्ष संगठन के रूप में बनी छवि धूमिल हो चली थी। कांग्रेस से मुसलमानों के अलगाव ने निश्चित रूप से कांग्रेस को कमज़ोर बनाया। भूतपूर्व मुसलमान स्वराजवादी मुसलमान उम्मीदवार के रूप में चुनाव भी लड़े। धर्म से भावनात्मक जुड़ाव धर्मनिरपेक्षता की कीमत पर मजबूत हुआ। दरअसल अधिकतर स्वराजवादी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादिता के प्रति उतने चिंतित न थे जितने कि छोटे-छोटे लाभों के प्रति इसके परिणामस्वरूप उन्होंने जनसेवाओं एवं विधान परिषदीय चुनावों में मुसलमानों के साथ सीटों के लिए गठजोड़ बनाए। जन आंदोलन का समाजवादी आधार ही भारत में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद का पुनर्निर्माण कर सकता था।

21.8.2 पदों की लालसा

स्वराजवादियों के पतन का अन्य कारण पदों की लालसा था। नौकरशाही के कठोर विरोध के घोषित उद्देश्य के आधार पर परिषदों में प्रवेश के साथ उनकी गतिविधियों की जोरदार शुरुआत हुई। शीघ्र ही विरोध की जगह सहयोग ने ले ली। वी.जे. पटेल विधानमण्डल के अध्यक्ष बन गए और मोतीलाल नेहरू ने स्कीन कमीशन की सदस्यता स्वीकार कर ली। निराधार अवरोध की नीति का प्रभाव धूमिल हो गया और पार्टी बिखराव की ओर बढ़ने लगी। पार्टी के अंदर मतभेद पैदा होने लगे तथा खुले विद्रोहों ने इसे और भी बुरी स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया।

21.8.3 वर्ग-चरित्र

स्वराजवादी कांग्रेस के अंदर उच्च मध्यवर्गीय तत्वों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जो सीधे जन आंदोलन का हमेशा ही विरोध करते रहे। उन्होंने राष्ट्रवादी संघर्ष में, संघर्ष को क्रांतिकारी जन आंदोलन न बनने देने के उद्देश्य से हिस्सा लिया था। वे असहयोग आंदोलन की धारा में स्वेच्छा के बजाए मजबूरी के कारण आए थे। आंदोलन की असफलता के साथ ही वे संसदीय राजनीति में आए और संवैधानिक विरोध निभाते हुए ही काफी संतुष्ट नजर आए। स्वराजी कम्युनिस्टों को छोड़कर देश के अंदर निवर्तमान सभी राजनैतिक पार्टियों एवं समूहों की तुलना में कहीं अधिक प्रगतिशील थे।

बोध प्रश्न 3

1 स्वराजवादियों के पतन के कारणों पर दस पंक्तियाँ लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित नामों एवं उनसे संबन्धित वाक्य को उनके उपयुक्त संदर्भ में रखें।

1 चितरंजन दास	अ) बेलगाम कांग्रेस अध्यक्ष
2 मोतीलाल नेहरू	ब) स्वराज्य पार्टी के भूतपूर्व अध्यक्ष
3 वी.जे. पटेल	स) स्वराज्य पार्टी के प्रथम सचिव
4 महात्मा गांधी	द) विधान मंडल के प्रथम भारतीय अध्यक्ष
5 मदन मोहन मालवीय	क) स्वतंत्र नेता
6 मुहम्मद अली जिन्ना	ख) हिन्दू महासभा के नेता
7 तेज बहादुर सप्रू	ग) भारतीय उदारवादी संघ के नेता

21.9 सारांश

स्वराज पार्टी का गठन कांग्रेस के उन उच्च मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों द्वारा किया गया था जो महात्मा गांधी की सीधी जन कार्यवाही में विश्वास नहीं रखते थे। असहयोग आंदोलन के पतन के साथ ही स्वराजवादी परिवर्तन विरोधियों जो बहिष्कार तथा रचनात्मक कार्यों के समर्थक थे के जबरदस्त विरोध के बावजूद, परिषदों में प्रवेश का नारा देने लगे। 1923 के चुनावों में स्वराजवादियों की सफलता ने उन्हें राजनैतिक रूप में काफी मजबूत बना दिया और इसे देखते हुए स्वयं गांधी जी को अपनी इच्छाओं के विरुद्ध उन्हें कांग्रेस के संसदीय दल के रूप में मान्यता देनी पड़ी। इसके बदले में स्वराजवादियों ने रचनात्मक कार्यों (खादी का प्रचार, अस्पृश्यता समाप्त करने, मद्यपान निषेध तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता) में विश्वास दर्शाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने के प्रयास करने की इच्छा व्यक्त की किंतु रचनात्मक कार्यों में उनकी न तो वैसी श्रद्धा थी और न वैसा आदर्श जो परिवर्तन विरोधियों में था।

बंगाल एवं केंद्रीय प्रांत कौंसिल तथा विधान मंडल में स्वराजवादी थोड़े समय के लिए रुकावट डालने में सफल रहे जिसके कारण सरकार को अपने विशेषाधिकार पर निर्भर होना पड़ा। बंगाल और केंद्रीय प्रांत में उन्होंने द्विपक्षीय शासन को मरणासन्न स्थिति में ला दिया। परिषदों में उन्होंने इस उद्देश्य से प्रवेश किया था कि या तो स्वराज्य के हित में उन्हें परिवर्तित करेंगे अथवा उन्हें सर्वथा समाप्त कर देंगे। न तो वे ऐसा कर सके और न हीं औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत इसकी संभावना थी। वे बर्तानवी उपनिवेशवादियों को उनकी साम्राज्यवादी नीति के क्रियान्वयन से भी न रोक सके। यद्यपि उनके भाषण तथा कार्यनीति के कारण साम्राज्यवादी नीतियों का खोखलापन एवं जनतंत्र की खोखली बर्तानवी नीति का कुछ हद तक पर्दाफाश हो सका।

शीघ्र ही स्वराज पार्टी में अधिकारियों के साथ समझौते के अपने झुकाव की प्रवृत्तियों के कारण दरार पड़ने लगी। चितरंजन दास के फरीदपुर के भाषण के साथ ही सहयोग की ओर

झुकाव आरम्भ हो गया। शीघ्र ही पार्टी अनुक्रियाशील स्वराजवादियों तथा असहयोगियों के दो गुटों में बँट गयी जिसमें से अनुक्रियाशील सहयोगियों ने पद भी स्वीकार किए। पार्टी के अंदर हतोत्साहन एवं पतन का दौर शुरू हो गया। 1926 के विधान परिषदीय चुनावों में पार्टी ने कई सीटें खो दी और उसकी स्थिति काफी कमज़ोर पड़ गयी।

इसके पतन के कई कारण थे। पार्टी का कार्यक्रम विरोधाभासों से ग्रस्त था तथा इसके पीछे कोई स्वस्थ वैचारिक आधार न था। स्वराजवादी जमींदार, किसान, पूँजीपति और मजदूर एकता की दुहाई दे रहे थे जिनके हित आपस में टकरा रहे थे। हिन्दू-मुस्लिम तनाव ने दोनों ही समुदायों को पार्टी से दूर ला खड़ा किया। पदों की लालसा ने पतन की प्रक्रिया को और तेज कर दिया। पार्टी राजनीति, परिषदों में कार्य तथा रचनात्मक कार्यों के प्रति अनमने सहयोग के इसके पूर्वाग्रहों के कारण स्वराज पार्टी तथा जनमानस के बीच एक लम्बी खाई खड़ी हो गयी।

साइमन कमीशन की घोषणा, और उसके बाद हुए राजनैतिक उतार चढ़ाव के परिणामस्वरूप पार्टी का कांग्रेस में विलय हो गया। कांग्रेस असहयोग तथा सविनय अवज्ञा की नीति के पालन के प्रति कटिबद्ध थी और स्वराज पार्टी के साथ जुड़े सारे कार्यक्रम रद्द कर दिए गए। तथापि स्वराज पार्टी ने 1922-29 के दौरान शुष्क राजनीतिक माहौल में गर्मी पैदा कर दी और इस दौर की राजनैतिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

21.10 शब्दावली

स्वतंत्र उम्मीदवार : बिना किसी पार्टी से जुड़े उम्मीदवार

विधान मंडल : केंद्र की विधानीय संस्था

विधान परिषद् : प्रांतों की विधानीय संस्था

उदारवादी : भारतीय राजनैतिक मत का वह वर्ग जो कि सरकार की कुछ नीतियों के प्रति तो असंतुष्ट था लेकिन उसके लिए संघर्ष से जुड़ी हुई पद्धतियों में उसका विश्वास न था। पूर्णतया संवैधानिक कार्यनीति में विश्वास रखने वाले इन उदारवादियों को कांग्रेसियों तथा सरकार समर्थक तत्वों के बीच रखा जा सकता है।

अनुक्रियाशीलता : स्वराजवादियों के अंतर्गत वह प्रवृत्ति जो सरकार के साथ सहयोग की वकालत करती थी।

साइमन कमीशन : 1927 में बर्तानवी सरकार द्वारा यह मालूम करने के लिए क्या भारतीय स्वतः शासन करने में समर्थ है, नियुक्त किया आयोग। इसके अध्यक्ष जॉन साइमन थे तथा सदस्य बर्तानवी सांसद थे। इसमें चूँकि भारतीय प्रतिनिधित्व नहीं था अतः भारत के पक्ष का कोई मत भी नहीं था।

21.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 घ
2 क
3 ख
4 उपभाग 21.3.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1 क
2 घ
3 ग
4 ख
5 घ
6 भाग 21.5 देखें।

बोध प्रश्न 3

1 भाग 21.7 देखें
2 1–ब, 2–स, 3–द, 4–अ, 5–ख, 6–क, 7–ग

इकाई 22 सांप्रदायिकता का विकास : दूसरे विश्व युद्ध तक

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 सांप्रदायिकता : अर्थ एवं अंगभूत
  22.2.1 सांप्रदायिकता का अर्थ
  22.2.2 अंगभूत
  22.2.3 सांप्रदायिकता के प्रति मिथकें
22.3 उत्पत्ति एवं विकास
  22.3.1 सामाजिक एवं आर्थिक कारण
  22.3.2 अंग्रेजी नीति की भूमिका
  22.3.3 उन्नीसवीं शताब्दी में पुनरुत्थानवाद
  22.3.4 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के राजनैतिक रवैये
  22.3.5 सांप्रदायिक संगठनों की भूमिका
  22.3.6 राष्ट्रीय आंदोलन की कमजोरियाँ
22.4 बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिकता
  22.4.1 बंगाल का विभाजन और मस्लिम लीग का गठन
  22.4.2 पृथक निर्वाचन मंडल
  22.4.3 लखनऊ समझौता
  22.4.4 खिलाफ़त
  22.4.5 भिन्न रास्ते
  22.4.6 जन आधार की ओर
22.5 सारांश
22.6 शब्दावली
22.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

आप सभी ''सांप्रदायिक'' शब्द से परिचित हैं। लेकिन क्या आपने कभी सोचा कि वास्तव में सांप्रदायिकता का क्या अर्थ है और हमारे समाज में इसकी इतनी गहरी जड़ें क्यों हैं? इस इकाई में भारत में सांप्रदायिकता से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- सांप्रदायिकता की व्याख्या कर सकते हैं और सांप्रदायिकता के विभिन्न प्रकारों के बीच फर्क कर सकते हैं;
- समझ सकते हैं कि भारतीय समाज एवं राजनैतिक सोच में सांप्रदायिकता का उदय कैसे हुआ;
- उन विभिन्न शक्तियों का मूल्यांकन कर सकते हैं जो इसे बढ़ावा देती हैं; और
- 20 वीं शताब्दी में इसके विकास को इंगित कर सकते हैं।

22.1 प्रस्तावना

किसी भी विकासशील देश की प्रमुख प्राथमिकताओं में देश के अंदर जनता में एकता बनाए रखना महत्वपूर्ण है। आधुनिक भारत के इतिहास में इस प्रकार की एकता के लिए भारतीय

जनता, समाज तथा राजनीति के सांप्रदायिकीकरण के कारण बहुत बड़ी चुनौती उठ खड़ी हुई। जहाँ एक ओर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का उद्देश्य सभी भारतीयों की एकता थी, वहीं धार्मिक संप्रदाय, धार्मिक हितों और अंततः धार्मिक राष्ट्र की कृत्रिम सीमाएँ तैयार करके लोगों में धार्मिक आधार पर फूट डालने के लिए सांप्रदायिकता प्रयत्नशील रही। इस इकाई में भारत में सांप्रदायिकता के उत्थान तथा विभिन्न शक्तियों के गठजोड़ तथा उनके विकास जिनके कारण सांप्रदायिकता को स्थायित्व मिला, के विषय में जानकारी दी जाएगी। उदाहरण के लिए 19वीं शताब्दी में भारत में सामाजिक-आर्थिक विकास की अपनी विशिष्टता, औपनिवेशिक शासन एवं कुछ औपनिवेशिक नीतियों का प्रभाव, सांप्रदायिकता विरोधी राष्ट्रीय शक्तियों की कमजोरी और अंततः मुस्लिम लीग एवं हिन्दू महासभा जैसी सांप्रदायिक शक्तियों की सक्रिय भूमिका इत्यादि इस इकाई में रेखांकित किए जायेंगे।

22.2 सांप्रदायिकता : अर्थ एवं अंगभूत

विभिन्न संस्था, संगठन, व्यक्ति एवं दल सांप्रदायिकता को भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं। साथ ही सांप्रदायिकता एक मान्यता, आस्था, सोचने का अपना एक ढंग, विचारधारा तथा मूल्य के रूप में देखी जा सकती है। सांप्रदायिकता एक अस्त्र के रूप में भी देखी जा सकती है। इसका इस्तेमाल विभिन्न रूपों में हो सकता है और विभिन्न वैचारिक स्तरों के आधार बिंदुओं से इसका अध्ययन हो सकता है। अतः सांप्रदायिकता को मूल रूप में जानना अति आवश्यक है।

22.2.1 सांप्रदायिकता का अर्थ

ऐसा माना जाता है कि सामान्यतया सांप्रदायिकता एक ऐसी धारणा है जिसके अनुसार समान धर्म वाले लोगों के बीच समान सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हित और अस्मिताएँ हों – दूसरे शब्दों में सांप्रदायिकता ऐसी मान्यता है जिसके अनुसार धर्म समाज का आधार तथा समाज के विभाजन की आधारभूत इकाई तैयार करता है। इसके अनुसार धर्म ही सभी अन्य मानवीय हितों का प्रतिपादन करता है। सांप्रदायिकता को बेहतर रूप में समझने के लिए आइए इसे एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए। मनुष्य एक बहुरूपी सामाजिक प्राणी है जो एक साथ कई पहचान रखता है। उसकी पहचान उसके देश, क्षेत्र, लिंग, व्यवसाय, परिवार के अंतर्गत उसके अपने स्तर, धर्म, जाति आदि के आधारों पर हो सकती है। संप्रदायवादी इन तमाम आधारों में से केवल धार्मिक पहचान को ही चुनता है और इसे आवश्यकता से कहीं अधिक महत्व देने का प्रयास करता है, परिणामतः सामाजिक संबंध, राजनैतिक समझ तथा आर्थिक संघर्ष धार्मिक पहचान के आधार पर व्याख्यायित किए जाते हैं। संक्षेप में तमाम महत्वपूर्ण पहलुओं को नजरअंदाज करके धर्म को अनावश्यक रूप से अत्यधिक महत्व देना संप्रदायवाद का आरंभ है। यहाँ दो अन्य मुद्दों पर स्पष्टता आवश्यक प्रतीत होती है।

प्रथमतः, स्वतंत्रतापूर्व भारतीय परिवेश में सांप्रदायिकता की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से हिन्दू और मुस्लिम संप्रदायों के कुछ वर्गों के बीच टकराव के रूप में हुई। इसी कारण से उस समय की राजनैतिक समझ एवं उसकी अभिव्यक्ति में सांप्रदायिकता को हिन्दू-मुस्लिम समस्या अथवा हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न के रूप में देखा गया। फिर भी इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उक्त समस्या केवल हिन्दू-मुस्लिम समस्या थी अथवा यह किसी भी रूप में धार्मिक समस्या थी।

इसके अलावा सांप्रदायिक विचारधारा तथा उसका प्रचार हमेशा समान स्तरीय नहीं रहा। दरअसल स्वतंत्रता संग्राम के तेज होने और समाज के राजनैतिकरण में तीव्रता आने के साथ ही सांप्रदायिकता ने भी अपनी गति तेज की और इसके प्रचार का स्तर और भी तेज हो गया। संक्षिप्त रूप में सांप्रदायिक प्रचार एवं तर्क निम्नलिखित तीन स्तरों पर थे :

1) किसी धार्मिक संप्रदाय के सभी सदस्यों के हित समान होते हैं। उदाहरण के लिए यह तर्क कि मुसलमान जमींदार एवं किसान के हित एक हैं क्योंकि दोनों एक ही संप्रदाय के सदस्य हैं (यही तर्क सिख अथवा हिन्दू संप्रदाय पर भी लागू होता है)।

2) किसी धार्मिक संप्रदाय के सदस्यों के हित दूसरे संप्रदाय के सदस्यों से भिन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि सभी हिन्दुओं के हित मुस्लिमों के हितों तथा इसी प्रकार मुस्लिमों के हित हिन्दुओं के हितों से भिन्न थे।

3) न केवल इन हितों में भिन्नता थी बल्कि ये हित आपस में टकरावपूर्ण एवं विपरीत भी थे। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर्विरोधी हितों के कारण हिन्दुओं एवं मुसलमानों का सह अस्तित्व संभव नहीं था।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह तर्क गलत थे, सामाजिक राजनैतिक हितों की गलत समझ पर आधारित थे और वास्तविकता से कहीं दूर थे पूरे मध्यकालीन भारतीय परिवेश में हिन्दुओं और मुसलमानों का एक काफी बड़ा भाग सांप्रदायिक सद्भाव के माहौल से सह अस्तित्वमान था। यद्यपि धार्मिक भिन्नता मौजूद थी फिर भी हिन्दू मुसलमान दोनों संप्रदायों के आम लोग निरंतर शांति के माहौल में रह रहे थे। और पारस्परिक सद्भाव बनाए रखते थे।

22.2.2 अंगभूत

सांप्रदायिक विचारधारा, सांप्रदायिक तनाव, सांप्रदायिक हिंसा, सांप्रदायिक राजनीति, सांप्रदायिक भावना जैसे शब्द अक्सर एक दूसरे के पूरक के रूप में इस्तेमाल किए जाते हैं। यह आवश्यक है कि इन शब्दों में फर्क किया जाय और सांप्रदायिकता के विभिन्न अंगभूतों को स्पष्ट किया जाय। सर्वप्रथम 1939 में के. बी. कृष्णा ने सांप्रदायिक तनाव एवं सांप्रदायिक राजनीति में भेद किया। सांप्रदायिक तनाव एक अस्थायी समस्या है जो अचानक घटित होती है और इसकी अभिव्यक्ति हिंसा में होती है तथा जन साधारण के निम्न वर्ग इसमें मुख्य रूप से शामिल होते हैं जबकि सांप्रदायिक राजनीति एक स्थायी समस्या है, जिसमें मुख्य रूप से मध्यम वर्ग जमींदार तथा नौकरशाही तत्व शामिल होते हैं । इनमें एक चीज सामान्य होती है और वह यह कि यह दोनों ही अपना आधार सांप्रदायिक विचारधारा से प्राप्त करते हैं।

सांप्रदायिकता को एक ''हथियार'' एवं एक ''मूल्य'' के रूप में भी देखा जा सकता है। यह उन लोगों के लिए हथियार है जो इससे लाभ उठाना चाहते हैं, जिनका इसके बने रहने में हित है अथवा जो इसका इस्तेमाल अपने राजनैतिक लाभों के लिए करते हैं।

सांप्रदायिकता उन लोगों के लिए ''मूल्य'' का स्तर रखती है जो इसे स्वीकारते हैं, इसमें आस्था रखते हैं, सांप्रदायिक विचारों को आत्मसात् कर चुके हैं और उन्हें अपनी जीवन शैली में शामिल कर चुके हैं। ऐसे लोग जो कि अत्यंत धार्मिक प्रकृति के होते हैं, सामान्यतः सांप्रदायिक विचारधारा तथा प्रचार का शिकार होते हैं न कि उससे लाभान्वित। वे सदैव सांप्रदायवादियों द्वारा जो इस विचारधारा में अपना स्वार्थ रखते हैं, शोषित किए जाते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि सांप्रदायिकता के अनेक अंगभूत अथवा तत्व हैं। सांप्रदायिकता को उसके पूरे तत्वों (सांप्रदायिक तनाव, सांप्रदायिक राजनीति, हथियार, मूल्य आदि) के साथ एक संरचना के रूप में देखा जाना चाहिए। ये तत्व इस संरचना में शामिल हैं और सांप्रदायिक विचारधारा के सूत्रों से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं जिससे कि इस संरचना को बल मिलता है।

22.2.3 सांप्रदायिकता के प्रति मिथकें

सांप्रदायिकता को अधिकतर गलत रूप में समझा जाता रहा है और परिणामस्वरूप इसके प्रति अनेक मिथकें बन चुकी हैं। इस दृष्टि से यह अति आवश्यक हो जाता है कि यह जाना जाय कि सांप्रदायिकता क्या नहीं है। सांप्रदायिकता को समझने की प्रक्रिया में इससे जुड़ी मिथकों को ध्यान में रखना जरूरी है।

1) प्रचलित दृष्टिकोण के विपरीत, सांप्रदायिकता केवल धर्म का राजनीति में प्रवेश मात्र अथवा केवल राजनीति की धार्मिक रूप में व्याख्या मात्र नहीं है। दूसरे शब्दों में धर्म के राजनीति में प्रवेश से आवश्यक रूप में सांप्रदायिकता का उदय नहीं हुआ। उदाहरण के लिए बीसवीं शताब्दी के दो महानतम धर्मनिरपेक्ष नेता महात्मा गांधी और मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद काफी धार्मिक थे और अपनी राजनीति को धार्मिक रूप में व्याख्यायित करते थे।

2) सांप्रदायिकता धार्मिक मतभेदों का परिणाम नहीं हैं। दूसरे शब्दों में धार्मिक मतभेद अपने आप में सांप्रदायिकता का सूत्रपात नहीं करते। उदाहरण के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच धार्मिक मतभेद शताब्दियों से चले आ रहे थे किन्तु केवल आधुनिक काल में पहुँच कर ही इन मतभेदों ने सांप्रदायिकता का रूप लिया। दरअसल सांप्रदायिकता धार्मिक समस्या है ही नहीं।

3) सांप्रदायिकता भारतीय समाज में अंतर्निहित नहीं थी, जैसा कि माना जाता रहा है। यह भारत के भूतकाल की निरंतरता नहीं बल्कि कुछ विशेष परिस्थितियों एवं विभिन्न शक्तियों के गठजोड़ का परिणाम थी। सांप्रदायिकता आधुनिक भारत में ही उपजी यह उतनी ही आधुनिक है जितना कि औपनिवेशिक शासन। सांप्रदायिकता की व्याख्या आधुनिक भारत में हुए राजनैतिक एवं आर्थिक विकासों के संदर्भ में की जानी चाहिए।

बोध प्रश्न 1

1 आप सांप्रदायिकता से क्या समझते हैं? दस पंक्तियों में लिखें

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित पर दो-दो पंक्तियाँ लिखें।

सांप्रदायिक तनाव

.....

.....

सांप्रदायिक राजनीति

.....

.....

सांप्रदायिकता मूल्य के रूप में

.....

.....

3 निम्न में से कौन से वक्तव्य सही ($\surd$) अथवा गलत ($\times$) हैं।

i) सांप्रदायिकता केवल धार्मिक मतभेदों का ही परिणाम नहीं हैं।

ii) सांप्रदायिकता भारतीय समाज में अंतर्निहित थी।

iii) सांप्रदायिकता एक आधुनिक समस्या है।

iv) सांप्रदायिक तर्क गलत समझ पर आधारित थे तथा भारतीय वास्तविकता से पूरे थे।

22.3 उत्पत्ति एवं विकास

सांप्रदायिकता की जड़ें तलाश करने के उद्देश्य से हमें इतिहास में कितना पीछे जाना चाहिए? यह एक विवादपूर्ण प्रश्न रहा है। कुछ विद्वानों ने इस समस्या की जड़ें मध्यकालीन भारत में ढूंढने का प्रयास किया है। उनके अनुसार सांप्रदायिकता की जड़े हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा अपने मतभेद समाप्त न कर पाने तथा एक समाज की स्थापना न करने में ढूँढी जा सकती है। उनका मानना है कि भारत में धार्मिक मतभेद हमेशा से रहे हैं और हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज के रूप में दो समाज सदैव अस्तित्वमान रहे हैं, भारतीय समाज जैसी कोई चीज नहीं रही। इस विचार का प्रभावपूर्ण खंडन उन विद्वानों द्वारा किया गया है जिनका मानना है कि भारतीय समाज में विघटनकारी शक्तियों की भूमिका को अतिशयोक्ति के रूप में नहीं पेश किया जाना चाहिए। भारतीय समाज में ऐसी शक्तियाँ मौजूद रही हैं जिन्होंने विभिन्न जातियों, संप्रदायों, उपसंप्रदायों आदि के लोगों को एकीकृत किया है।

फिर इस समस्या का आरंभ कहाँ से हुआ? सांप्रदायिकता की उत्पत्ति अंग्रेजी साम्राज्य के भारत में प्रवेश करने के साथ देखी जानी चाहिए जिसका प्रभाव भारतीय समाज और अर्थ-व्यवस्था पर अद्भुत रूप से पड़ा।

22.3.1 सामाजिक एवं आर्थिक कारण

भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के उदय ने शक्ति संरचना में भारी परिवर्तन किए जिसका प्रभाव भारतीय समाज के सभी वर्गों पर पड़ा । साम्राज्यवाद के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय मुसलमानों का पतन शुरू हुआ। बंगाल में, जहाँ कि उच्चवर्गीय मुसलमानों का सेना के उच्च पदों, प्रशासन एवं न्यायालयों में रोजगार पर अर्ध आधिपत्य था, इसका सबसे अधिक प्रभाव देखने में आया, धीरे-धीरे भूमि पर भी उनका आधिपत्य कम होने लगा। विशेष रूप से 1793 के स्थाई बन्दोबस्त तथा 1833 में अंग्रेजी के राज-भाषा बनने के साथ उच्च वर्गीय मुसलमानों की सम्पति, शक्ति तथा प्रभाव में कमी आ गयी। ऐसा होने के साथ ही भारतीय समाज की अपनी अलग विशेषता के कारण मुस्लिमों का नुकसान सामान्यतः हिन्दुओं के पक्ष में गया जिन्होंने शिक्षा एवं अन्य आधुनिकीकृत शक्तियों पर मुसलमानों की अपेक्षा अधिक सकारात्मक प्रतिक्रिया दिखायी। मुसलमान इस दौड़ में काफी पिछड़ गए दूसरे शब्दों में "अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत हुए आर्थिक विकासों ने जिन लोगों को लाभ पहुँचाया उनमें मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं की संख्या कहीं अधिक थी" (डब्लू. सी. स्मिथ माडर्न इस्लाम इन इंडिया-1946) हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों ने शिक्षा, संस्कृति, नए व्यवसाय तथा प्रशासन में पद जैसी सरकारी सुविधाओं को बाद में अपनाया। परिणामतः हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में पुरानी परंपराओं, रवैयों और मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन के लिए बौद्धिक जागरण भी बाद में हुआ। इस बिन्दु पर राम मोहन राय तथा सैयद अहमद खान के बीच अंतराल का उदाहरण कथन में स्पष्टता ला सकता है। इस अंतराल के कारण मुसलमानों के बीच कमजोरी तथा असुरक्षा की भावना ने परंपरागत विचार प्रक्रिया तथा धर्म पर उन्हें आश्रित बना दिया।

समकालीन इतिहासकार इस तर्क से पूरी तरह सहमत नही हैं कि मुसलमान हिन्दुओं से पिछड़ गए क्योंकि 19वीं शताब्दी के आधुनिकीकरण और सामाजिक आर्थिक विकास का अनुसरण उन्होंने देर से किया। अतः इसे इसी परिप्रेक्ष्य एवं संदर्भ में देखा जाना चाहिए। इसका एक मुख्य कारण भिन्न क्षेत्रों में इसकी भिन्न व्यावहारिकता है। यदि एक समूह के रूप में मुसलमानों ने बंगाल में अंग्रेजी शासन के कारण नुकसान उठाया तो उत्तर प्रदेश जैसे क्षेत्रों में लाभ भी उठाया। फिर भी अंतराल की संकल्पना का काफी महत्व है क्योंकि इससे हमें बीसवीं शताब्दी में मुसलमानों के राष्ट्रीय मुख्य धारा से कट जाने की पृष्ठभूमि का पता चल पाता है। 1939 में जवाहरलाल नेहरू द्वारा अपने एक मित्र को लिखे गए पत्र में अंतराल की संकल्पना तथा सांप्रदायिकता के आपसी संबंध का उत्कृष्ठ विवरण मिलता है : "1857 के भारतीय गदर के बाद दमन के कुचक्र का दौर चला जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रभावित हुए किंतु शायद मुसलमान अधिक प्रभावित हुए। धीरे-धीरे लोगों ने स्वयं को इस दमन से उभारा। हिन्दुओं ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करनी शुरू की, जिससे कि उन्हें सरकारी

सेवाओं में आने का मुसलमानों की अपेक्षा अधिक मौका मिल सका। हिन्दुओं ने व्यवसायों और उद्योगों में भी भारी संख्या में प्रवेश करना शुरू किया। मुसलमानों को प्रतिक्रियावादी तत्वों ने आधुनिक शिक्षा और उद्योग में उन्हें प्रवेश नहीं करने दिया। इस दौर में हिन्दुओं के बीच एक नए मध्य वर्ग का उदय आंरभ हुआ जबकि मुसलमान अधिकतर सामंती जाल में फँसे रहे। हिन्दू मध्य वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन की नींव रखी। लगभग एक पीढ़ी के बाद मुसलमानों ने भी वही रुख अपनाया और अंग्रेजी शिक्षा तथा सरकारी सेवाओं एवं व्यवसायों की ओर बढ़े और एक नए वर्ग का उदय हुआ। विभिन्न मध्यवर्गीय तत्वों के बीच सरकारी सेवाओं को लेकर टकराव पनपने लगा और यही दौर में सांप्रदायिकता की शुरुआत थी।''

इस प्रकार भारत में सांप्रदायकिता शैक्षिक, राजनैतिक एवं आर्थिक रूप में असमान विभिन्न संप्रदायों के बीच रोजगार के लिए संघर्ष थी। इतिहासकार के. बी. कृष्णा (प्राब्लमस ऑफ माइनौरिटीज-1939) उन पहले विद्वानों में से एक है जिन्होंने सांप्रदायिकता की समस्या पर कलम उठायी। उनका मानना है कि यह संघर्ष सामंतवादी माहौल में अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा उनकी प्रति संतुलन की नीति द्वारा भारतीय पूँजीवाद के विकास के दौर में पैदा हुए। अतः यह साम्राज्यवादी-पूँजीवादी-सामंतवादी ढाँचे की उत्पत्ति थी।

के. बी. कृष्णा के अनुसार ''सांप्रदायिकता का इतिहास भारत में ब्रिटिश नीति का इतिहास है साथ ही यह भारत में मध्यवर्गीय चेतना के विकास तथा अनेकता और राजनैतिक शक्ति के लिए मध्यवर्ग की बढ़ती हुई माँग का इतिहास है किंतु अंग्रेजी साम्राज्यवाद इसका केवल एक पक्ष है और देश की सामाजिक अर्थव्यवस्था इसका दूसरा पक्ष है।''

इस बिन्दु पर पहुँच कर सांप्रदायिकता के विकास में अंग्रेजी साम्राज्यवाद एवं राजनीति की भूमिका पर दृष्टि डालना उपयुक्त होगा।

22.3.2 अंग्रेजी नीति की भूमिका

सांप्रदायिकता के विकास के लिए अंग्रेजी नीति मुख्य रूप से जिम्मेदार है। यदि सांप्रदायिकता भारत में पनपी और इसने भयावह रूप धारण कर लिया जैसा कि 1947 के उदाहरण से स्पष्ट है, तो इसके लिए बहुत कुछ अंग्रेजी सरकार जिम्मेदार है जिसने कि सांप्रदायिकता को काफी बढ़ावा दिया। लेकिन इससे पूर्व कि हम अंग्रेजी नीति पर चर्चा करें, कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होते हैं। अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता को जन्म नहीं दिया। जैसा कि हमने देखा, कुछ सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक मतभेद पहले से ही मौजूद थे। अंग्रेजों ने इनका निर्माण नहीं किया बल्कि सिर्फ इन परिस्थितियों का लाभ उठाया था जिससे उनका राजनैतिक उद्देश्य पूरा हो सके। डब्लू. बी. स्मिथ (माडर्न इस्लाम इन इन्डिया-1946) ने इस बिन्दु को बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से उजागर किया है। ''सरकार की राजनैतिक नीति को उतनी सफलता नहीं मिलती, यदि इस नीति को बढ़ावा देने के लिए प्रभावशाली आर्थिक कारण पहले से मौजूद न होते। न तो सांप्रदायिकता इतनी प्रभावपूर्ण विघटनकारी शक्ति बन पाती और न ही उच्च वर्गीय मुसलमान इतने प्रभावपूर्ण ढंग से दमित किए जा सकते, यदि संबंधित वर्ग के हिन्दू और मुस्लिम लोग समान आर्थिक स्तर के होते। लेकिन ऐसा नहीं था। इसलिए यह स्पष्ट है कि ''फूट डालो और राज करो'' की अंग्रेजी नीति जिस पर हम चर्चा करने जा रहे हैं केवल इसलिए सफल हो सकी क्योंकि समाज की आंतरिक आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उस सफलता में भूमिका निभा रही थीं। यह समझना महत्वपूर्ण है कि सांप्रदायिकता के विकास एवं उसके इस्तेमाल तथा ''फूट डालो और राज करो'' की नीति के लिए परिस्थितियाँ अत्यंत अनुकूल थी। सांप्रदायिकता के उदय एवं विस्तार के पीछे मात्र यह ही कारण नहीं था कि यह ब्रिटिश शासन की राजनैतिक जरूरतें पूरा कर सकने में सक्षम थी बल्कि एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि भारतीय समाज के कुछ हिस्सों की सामाजिक जरूरतें भी इससे पूरी हो रही थी। सांप्रदायिकता का जन्म केवल अंग्रेजी सरकार ने नहीं किया। यह विभिन्न कारणों का संयुक्त परिणाम थी।

सांप्रदायिकता से संबंधित ब्रिटिश नीति का इतिहास आसानी से 1857 के विद्रोह के तुरन्त बाद के दौर से रेखांकित किया जा सकता है। 1857 के बाद शासकों के लिए यह आवश्यक हो गया कि ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में बनाए रखने के लिए नई नीतियों का प्रतिपादन किया जाए। इस प्रकार 1857 के बाद सरकारी नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए और

अंग्रेजी नीतियों का दोहरा चरित्र सामने आया। इसमें अब उदारवादी एवं साम्राज्यवादी नीतियों का समावेश हुआ। वे केवल इस हद तक उदारवादी थी कि जो वर्ग पनप रहे थे उनकी माँगों और इच्छाओं को मान्यता मिली तथा उनकी पूर्ति की गई ये साम्राज्यवादी इसलिए थी क्योंकि केवल उन माँगों की पूर्ति की गयी जिनमें साम्राज्यवादी हित प्रमुख थे। इन्हें इसलिए भी साम्राज्यवादी कहा जा सकता है क्योंकि इन विभिन्न वर्गों एवं हितों के टकराव का लाभ भी अंग्रोजों द्वारा उठाया गया। यह निति दोहरे उद्देश्य से तैयार की गयी थी। यह दोहरे उद्देश्य थे एक ओर नए उभरते हुए वर्गों को समर्थन देकर उन्हें मित्र बनाना और उसके बाद उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध ला खड़ा करना। एक वर्ग के वर्गीय हितों को दूसरे वर्ग के वर्गीय हितों से टकराना, एक वर्ग को दूसरे वर्ग के विरुद्ध ला खड़ा करना। संपेक्ष में यही ब्रिटिश नीति की भूमिका रही जो कि रियायत, प्रति संतुलन एवं बलप्रयोग की नीति थी।

एक बार इस नीति के व्यवहार में आ जाने के बाद इसका परिणाम सांप्रदायिकता के रूप में सामने आया। लेकिन इस नीति के पालन करते हुए भी सांप्रदायिक विचारधारा सरकार के राजनैतिक उद्देश्यों को पूरा करने में लाभप्रद सहयोगी रही। इस बिंदु पर पहुँच कर सरकार के समक्ष मुख्य रूप से दो उद्देश्य थे।

1 समाज में समर्थक बनाना, नियंत्रण एवं प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से कुछ वर्गों को सरंक्षण देना और इस प्रकार समाज में अपने आधार को मजबूत करना।

2 भारतीयों में एकता न होने देना। यदि समाज के सभी वर्ग एक विचार धारा के अंतर्गत हो जाते तो अंग्रेजी साम्राज्य के लिए खतरा पैदा कर सकते थे। इसलिए सांप्रदायिक विचार धारा का इस्तेमाल करके उसे बढ़ावा देते हुए भारतीयों में एकता नहीं होने दी गयी। बीसवीं शताब्दी में यह कार्य और प्रभावपूर्ण ढंग से किया गया और राष्ट्रीय विचारधारा, सगठन और माँगों के न्यायगत होने तथा उनकी प्रमाणिकता को नकारने के उद्देश्य से सांप्रदायिक माँगों और संगठनों को प्रोत्साहित किया गया। इस प्रकार एक ओर मुसलमानों को कांग्रेस से दूर करने का भरसक प्रयास किया गया और दूसरी ओर कांग्रेस के दावों को यह कह कर ठुकराया जाता रहा कि कांग्रेस मुसलमानों का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही है। सांप्रदायिकता ने सरकार को एक और लाभ पहुँचाया। सांप्रदायिक तनाव बने रहने तथा इसके और बदतर होने को अंग्रेजी शासन ने अपनी सरकार बनाए रखने के एक बहाने के रूप में इस्तेमाल किया। उनके तर्क कुछ इस प्रकार थे—मुख्य राजनैतिक दल जैसे कांग्रेस, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा आपस में कोई समझौता नहीं कर सके। भारतीय जनता आपस में विभाजित है अतः यदि ब्रिटिश शासन समाप्त भी हो जाए तो भी वे सरकार बनाने की स्थिति में नहीं है। इस प्रकार अंग्रेजी शासन के भारतीय विकल्प की असंभावना पर निरंतर जोर दिया गया। पहले सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन देना और बाद में इसी को अपने राजनैतिक लाभों के लिए इस्तेमाल करना अंग्रेजी नीति का हिस्सा था। आगे जब बीसवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों पर चर्चा होगी तो इस पर और विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा।

22.3.3 उन्नीसवीं शताब्दी में पुनरुत्थानवाद

उन्नीसवीं शताब्दी में पुनरुत्थान के रवैये ने सांप्रदायिकता के विकास में काफी योगदान दिया। विश्व भर में साम्राज्यवाद के अंतर्गत पुनरुत्थानवाद के रवैये सामान्य रूप से देखे जा सकते हैं। पुनरुत्थान उस स्वाभिमान की पुनर्प्राप्ति का प्रयास था जिसे राजनैतिक वशीकरण के कारण ठेस पहुँची थी। यह स्वाभिमान भारत के प्राचीन युग को गौरवान्वित करके प्राप्त करने का प्रयास किया गया। यह भारत के वर्तमान अपमान के संदर्भ में क्षतिपूर्ति के रूप में किया जा रहा था। यद्यपि पुनरुत्थान ने अतीत के गौरव को स्थापित किया लेकिन साथ ही कुछ अन्य समस्याएँ भी उत्पन्न कर दी। इसकी एक समस्या हिन्दुओं और मुसलमानों के भिन्न गौरवपूर्ण उद्गम का प्रस्तुतीकरण थी। इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण ने पूर्व अस्तित्वमान धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक-आर्थिक मतभेदों को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य दे दिया। हिन्दुओं के सुधारवादियों ने भारत के प्राचीन युग को गौरवान्वित करते हुए मध्ययुगीन भारत को बर्बरता का युग बताते हुए उसकी भर्त्सना की। इसी प्रकार मुसलमानों ने अपने गौरव और महानता की तलाश में अरब में इतिहास की शरण ली। इस प्रकार ऐसे समय में जबकि

22. सैयद अहमद खान

हिन्दू और मुसलमान हर रूप में एकबद्ध होने चाहिए थे ऐतिहासिक रूप से भिन्न-भिन्न इकाई के रूप में उभर कर सामने लाये गये। यह क्षति बीसवीं शताब्दी में और भी स्पष्ट रूप में सामने आयी जब मुहम्मद अली जिन्ना ने अपने द्विराष्ट्रीय नजरिए (टू नेशन थियोरी) के आधार पर यह कहा कि "भारत एक राष्ट्र नहीं बल्कि हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्र के रूप में दो राष्ट्र है" इसका एक कारण उन्होंने यह भी बताया कि दोनों का इतिहास अलग-अलग है और अक्सर एक राष्ट्रीयता का नायक दूसरे राष्ट्रीयता के लिए खलनायक सिद्ध होता रहा है।

22.3.4 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के राजनैतिक रवैये

पुनरुत्थान के प्रश्न से जुड़ा हुआ प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में मुसलमानों के कुछ वर्गों में इस प्रकार के राजनैतिक रवैयों का विकास था। यद्यपि यह रवैये सांप्रदायिकता से परे थे लेकिन इन रवैयों ने बाद में विकसित हुई सांप्रदायिक राजनीति के लिए पृष्ठभूमि तथा कुछ औचित्य अवश्य प्रदान कर दिया। इस संदर्भ में सैयद अहमद खान का उदाहरण लिया जा सकता है।

सैयद अहमद खान की राजनैतिक समझ और गतिविधियाँ हमेशा एक दोहरेपन से प्रभावित रही। उन्होंने अपनी गतिविधियों का आरंभ बिना किसी सांप्रदायिक भेदभाव के किया। उनका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों में सुधार लाने की प्रक्रिया आरंभ करना, उन्हें आधुनिक शिक्षा की आवश्यकता की ओर प्रेरित करना और उन्हें सरकारी संरक्षण दिलाना था। इसके लिए उन्होंने अलीगढ़ कालेज की स्थापना की जिसे बहुत से हिन्दुओं द्वारा आर्थिक सहायता मिली। उस कालेज में बहुत से हिन्दू छात्र और अध्यापक भी आये। स्वयं उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सद्भावना के समर्थन में आवाज उठायी।

लेकिन 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद उनकी राजनैतिक समझ में काफी परिवर्तन आया। मुसलमानों के लिए प्रशासनिक पद हासिल करने तथा अंग्रेजी शासन के प्रति समर्थन दर्शाने की उनकी प्राथमिकता कांग्रेस की साम्राज्यवाद विरोधी नीति के एकदम प्रतिकूल थी। यद्यपि उनका कांग्रेस के साथ बुनियादी मतभेद अंग्रेजी शासन के प्रति उसके रुख से था लेकिन उन्होंने साथ ही कांग्रेस को हिन्दू दल के रूप में आरोपित करते हुए मुसलमान विरोधी दल बताकर उसका विरोध किया। इस प्रकार उन्होंने सांप्रदायिकता के कुछ मूलभूत तर्कों की नींव रख दी। इन तर्कों में से एक तर्क यह था कि हिन्दू बहुसंख्यक हैं और यदि अंग्रेजों ने अपना शासन समाप्त करके शासन की बागडोर भारतीयों के हाथ में दे दी तो मुसलमानों के हितों को बहुसंख्यकों से नुकसान पहुँचेगा। यही वह आधार था जिसके कारण सैयद अहमद खान ने प्रतिनिधि जनतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना का विरोध किया। उनके अनुसार जनतंत्र का अर्थ होगा बहुसंख्यकों के हाथ में शक्ति एकत्रित होना क्योंकि "यह पासे के उस खेल जैसा होगा जिसमें एक आदमी के पास चार पासे हों और दूसरे के पास एक"। उनका यह भी विचार था कि चुनाव प्रणाली सारी शक्ति हिन्दुओं के पास पहुँचा देगी। इस प्रकार सैयद अहमद खान एवं उनके सहयोगियों की विचारधारा के परिणामस्वरूप सांप्रदायिकता के तीन निम्नलिखित तत्व स्पष्ट रूप से सामने आते हैं।

- राष्ट्रवादी शक्तियों का विरोध
- जनतांत्रिक प्रक्रियाओं और संस्थाओं का विरोध
- अंग्रेजी शासन की स्वामिभक्ति

कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह तर्क पूर्ण रूप से गलत थे। यद्यपि कांग्रेस के अंदर काफी हिन्दू थे लेकिन उसे किसी भी रूप में हिन्दू संगठन नहीं कहा जा सकता था। इसकी माँगों और कार्यक्रमों में हिन्दुत्व जैसा कुछ भी नहीं था। कांग्रेस के 1887 के अधिवेशन की अध्यक्षता एक मुसलमान बदरूद्दीन तैय्यबजी ने की और बाद के वर्षों में मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ती गयी। इसके अलावा एक आधुनिक प्रतिनिधि संस्थान के रूप में जनतंत्र ने मुसलमानों के लिए किसी प्रकार का खतरा नहीं पैदा किया। दरअसल इसने केवल मुसलमान (और साथ ही हिन्दू) राजाओं, सामंतों एवं जागीरदारों के लिए खतरा पैदा किया जिनके सैयद अहमद खान एक प्रतिनिधि थे।

22 .3.5 सांप्रदायिक संगठनों की भूमिका

सांप्रदायिकता के एक बार उभरने के बाद उसे सरकार का प्रोत्साहन मिल गया और फिर यह स्वयं ही पनपने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक ऐसी व्यवस्था थी जो बिना किसी सहारे के स्वयं मजबूत बन सकती थी। इस प्रक्रिया में सांप्रदायिक संगठनों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुख्य सांप्रदायिक संगठन मुस्लिम लीग 1906 में गठित और हिन्दू महासभा (1915 में गठित) एक दूसरे के विरोधी थे, लेकिन वे हमेशा एक दूसरे को औचित्य प्रदान करते हुए एक दूसरे को और भी सांप्रदायिक बनाते रहे। अपने प्रचार एवं राजनैतिक गतिविधियों द्वारा उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के नजदीक नही आने दिया। एक दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना फैलायी और इस प्रकार जनसाधारण में सांप्रदायिकता का प्रसार किया।

23. हिन्दू महासभा के संस्थापक मदन मोहन मालवीय

22.3.6 राष्ट्रीय आंदोलन की कमजोरियाँ

बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिकता के विकास को राष्ट्रवादी आंदोलन द्वारा ही रोका जा सकता था। सांप्रदायिक विचारधारा राष्ट्रवादी विचारधारा एवं शक्तियों के द्वारा ही परास्त की जा सकती थी। लेकिन एक राष्ट्रवादी विचारधारा एवं शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जनसाधारण में सांप्रदायिकता फैलने से न रोक सकी। कांग्रेस राष्ट्रवाद एवं धर्मनिरपेक्षता के प्रति कटिबद्ध थी और भारतीयों में एकता लाने की इच्छुक थी। उसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में सांप्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष भी किया लेकिन वह असफल रही। इसके कई कारण थे।

- कांग्रेस सांप्रदायिकता के स्वरूप को पूरी तरह नहीं समझ सकी जिसके कारण इससे लड़ने के लिए एक समग्र नीति तैयार करने में वह असफल रही। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस विभिन्न अस्थायी कार्यनीतियाँ अपनाती रही। साथ ही सांप्रदायिकता के तेजी से बदलते हुए स्वरूप के साथ कांग्रेस गति कायम नहीं रख सकी।
- राष्ट्रीय आंदोलन में कुछ हिन्दू पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ प्रवेश कर गयीं जिन्होंने कांग्रेस द्वारा मुसलमानों का विश्वास प्राप्त करने और उन्हें अपने साथ ले चलने के प्रयत्न में बाधा उत्पन्न की साथ ही कछ हिन्दू प्रतीकों (जैसे रामराज्य) के इस्तेमाल ने भी इसमें बाधा उत्पन्न की।
- सांप्रदायिक शक्तियों से निपटने में कांग्रेस ने क्रियान्वयन के स्तरों पर कभी-कभी गलत चुनाव किए। कांग्रेस ने सांप्रदायिक शक्तियों को रियायत देने का प्रयास किया और उनके साथ समझौता किया जिसके कारण सांप्रदायिक समूह को राजनैतिक प्रतिष्ठा मिलने लगी। कुछ अन्य अवसरों पर समझौते के मौके गँवा दिए गए और गत्यारोध की स्थिति पैदा हो गयी।

फिर भी इन सीमाओं को समस्या की जटिलता के संदर्भ में देखा जाना चाहिए विशेषकर सरकार के सांप्रदायिकता के प्रति रवैये को देखते हुए इस समस्या को सुलझाना अत्यंत कठिन कार्य हो गया था। अंग्रेजी सरकार ने विभिन्न राजनैतिक दलों के बीच समझौता न होने देने के हर संभव प्रयास किए। कांग्रेस मुसलमानों को जो भी सुविधायें देने की कोशिश करती अंग्रेजी सरकार उससे अधिक रियायतें दे देती थी और कांग्रेस एक बार फिर मुसलमानों का समर्थन पाने में असफल रह जाती थी। अगले खंड में कांग्रेस के एकीकरण एवं समझौतों के प्रयासों और सरकार के विभाजन के प्रयासों पर विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा।

बोध प्रश्न 2

1 सांप्रदायिकता के प्रति अंग्रेजी नीति पर दस पंक्तियाँ लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित पर पाँच-पाँच पंक्तियाँ लिखें।

i) अन्तराल संकल्पना

.....

.....

.....

.....

.....

ii) पुनरुत्थानवाद

.....

.....

.....

.....

.....

3 निम्नलिखित वक्तव्यों को पढ़े तथा सही (√) और गलत (×) का निशान लगाएँ

i) अंग्रेजी सरकार ने सांप्रदायिकता की नींव डाली।

ii) पुनरुत्थानवाद के प्रसार ने द्विराष्ट्रीय नज़रिए को बढ़ावा दिया।

iii) कांग्रेस सांप्रदायिकता के तेजी से बदलते हुए स्वरूप के साथ गति न बनाए रख सकी।

iv) सांप्रदायिकता संगठनों ने जनसाधारण में सांप्रदायिकता का प्रसार किया।

22.4 बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिकता

इस खण्ड में हम सांप्रदायिकता की समस्या से जुड़े हुए बीसवीं शताब्दी में हुए कुछ मुख्य गतिविधियों पर दृष्टिपात करेंगे। हम उन पर संक्षिप्त चर्चा करके यह जानने का प्रयास करेंगे कि उन्होंने सांप्रदायिकता की समस्या को कैसे प्रभावित किया। पिछले भाग में अंग्रेजी नीति एवं कांग्रेस से संबंधित बिंदुओं पर चर्चा की गयी है आगे के भाग में इन बिंदुओं पर और प्रकाश डाला जाएगा।

22.4.1 बंगाल का विभाजन और मुस्लिम लीग का गठन

संभवतया बंगाल का विभाजन (1905) प्रशासनिक कदम के रूप में किया गया, लेकिन इसने जल्दी ही अंग्रेजी सरकार को एक अन्य राजनैतिक लाभ प्रदान किया, क्योंकि इसने बंगाल को हिन्दू बाहुल्य और मस्लिम बाहुल्य क्षेत्रों में बाँट दिया। इस प्रकार यह बंगाल के राष्ट्रवाद को कमजोर बनाने और उसके विरुद्ध मुसलमानों को मजबूत करने की अंग्रेजो की इच्छा का परिणाम था। वाइसराय कर्जन के अनुसार "विभाजन पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को वह एकता प्रदान करेगा जो कि पुराने मुसलमान शासकों और राजाओं के शासन के काल के बाद उन्हें फिर से नहीं प्राप्त हो सकी थी।" विभाजन की योजना और स्वदेशी आंदोलन के साथ ही सरकारी संरक्षण मे 1906 के अन्त में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का गठन हुआ। इस दल में आगा खाँ, ढाका के नवाब और नवाब मुहसिन्नुल मुल्क जैसे बड़े जमींदार, भूतपूर्व नौकरशाह और उच्च वर्गीय मुसलमान शामिल थे। इसका उद्देश्य नौजवान मुसलमानों को कांग्रेस की ओर न जाने देने और फलतः राष्ट्रवादी मुख्यधारा में शामिल नहीं होने देना था।

मुस्लिम लीग का गठन पूर्ण रूप से सरकार के प्रति निष्ठा की भावना से प्रेरित था और इसका एक मात्र कारण समर्थन और संरक्षण के लिए सरकार का दामन पकड़ना था। इस उद्देश्य में उन्हें निराशा नहीं हुई।

इस काल का एक महत्वपूर्ण तथ्य मुस्लिम अलगाववाद का विकास था जिसके कारण थे–

- स्वदेशी आंदोलन के दौरान पुनरुत्थानवादी प्रवृतियों का फैलना।
- सरकार का यह प्रचार कि बंगाल के विभाजन से मुसलमानों को फायदा होगा।
- सांप्रदायिक दंगे भड़कना। स्वदेशी आंदोलन के दौर में पूर्वी बंगाल में कई सांप्रदायिक दंगे हुए, जिन्होंने अलगाववाद में योगदान किया।

22.4.2 पृथक निर्वाचन मंडल

1909 में विधान परिषदों के लिए निर्वाचन मोरले मिंटो सुधारों का एक महत्वपूर्ण अंग था। सांप्रदायिकता के इतिहास में यह महत्वपूर्ण कदम था। पृथक निर्वाचन मंडल का अर्थ चुनाव क्षेत्रों, मतदाताओं और निर्वाचित उम्मीदवारों को धर्म के आधार पर समूहों में बाँटना था। व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ भिन्न मुस्लिम चुनाव क्षेत्र, मुस्लिम मतदाता और मुस्लिम उम्मीदवार की प्रथा आरंभ करना था। इसका अर्थ यह भी था कि गैर-मुस्लिम मतदाता मुस्लिम उम्मीदवारों के लिए मतदान नहीं कर सकते थे। इस प्रकार चुनाव प्रचार और राजनैतिकरण को धार्मिक दीवार के बीच सीमाबद्ध कर दिया। इन सभी घटनाओं के खतरनाक परिणाम अवश्यंभावी थे।

पृथक निर्वाचक मंडल की प्रक्रिया आरंभ करने के पीछे सोच यह थी कि भारतीय समाज भिन्न हितों और समूहों का जमघट है और यह बुनियादी रूप में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच बँटा हुआ है। भारतीय मुसलमान एक भिन्न और मजबूत समुदाय के रूप में देखे गए। इसका उद्देश्य अपने संभावित सहयोगियों के हाथ मजबूत करना और हिन्दू-मुस्लिम एकता न होने देना था। संयुक्त निर्वाचक समूह के विरुद्ध तर्क देते हुए मिंटो ने मोरले को निम्न तर्क दिए।

"संयुक्त योजना के अंतर्गत न केवल हिन्दू अपने आदमी चुनने में सफल हो सकेंगे बल्कि ऐसे मुस्लिम उम्मीदवार भी चुन सकेंगे जो असली मुस्लिम हितों का प्रतिनिधित्व न करते हों।"

इस योजना के तहत मुसलमानों को आश्वासन दिया गया कि उन्हें कौंसिलों का प्रतिनिधित्व केवल उनकी संख्या के आधार पर ही नहीं बल्कि उनके "राजनैतिक महत्व" के आधार पर भी दिया जाएगा। इस प्रकार मिंटो ने एक मुस्लिम शिष्ट मण्डल को आश्वासन दिया कि :

> "जैसा कि मैं समझता हूँ कि आपकी माँग यह है कि प्रतिनिधित्व की किसी भी प्रणाली के अंतर्गत.....मुस्लिमों का एक समुदाय के रूप में प्रतिनिधित्व हो। आपकी यह माँग उचित है कि आपके समुदाय के राजनैतिक महत्व और साम्राज्य के लिए समुदाय द्वारा अर्पित की गयी सेवाओं को देखते हुए इस प्रकार विचार किया जाए। मैं पूरी तरह आपके समर्थन में हूँ। मैं आपसे केवल इतना कहूँगा कि मुस्लिम समुदाय को समुदाय के रूप में अपने अधिकारों और हितों की सुरक्षा के लिए मेरे प्रशासनिक क्षेत्र के किसी भी हिस्से में बिल्कुल निश्चित रहना चाहिए।

पृथक निर्वाचन मण्डल के प्रभाव निम्न रूप से श्रेणीबद्ध किए जा सकते हैं :

- इसने ऐसी संस्थागत संरचनाओं को जन्म दिया जिनसे अलगाववाद को बढ़ावा मिला।
- इससे कांग्रेस पर गंभीर दबाव आने वाला था तथा राष्ट्रवादी गतिविधियों के लिए इसके कारण क्षेत्र सीमित होने वाला था।
- इसके द्वारा सांप्रदायिक समूहों एवं सगंठनों की प्रक्रिया तेज होने वाली थी, तथा
- इसने भारतीय राजनैतिक दलों के बीच किसी भी समझौते की संभावना समाप्त कर दी।

पृथक निर्वाचक समूहों का प्रभाव भारतीय राजनैतिक माहौल में बाद के दिनों में प्रतिलक्षित हुआ था। डेविड पेज (प्रिल्यूड टु पार्टिशन, 1982) ने अपनी पुस्तक में बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से इसका वर्णन किया है।

> "भिन्न निर्वाचक समूह की प्रक्रिया आरंभ करने के पीछे संभवत: राज का यह प्रयास था कि अपनी नियंत्रण प्रणाली के महत्वपूर्ण हिस्से को मजबूत किया जाए। अपने परंपरागत सहयोगियों के आधार को विस्तृत बनाने के उद्देश्य के तहत ऐसा प्रयास किया गया था।"

22.4.3 लखनऊ समझौता

लखनऊ समझौता (1916) कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा एक समझौते पर पहुँचने का प्रयास था। मुस्लिम लीग का समर्थन प्राप्त करने के लिए एक अस्थायी प्रबन्ध के रूप में कांग्रेस ने पृथक निर्वाचन मंडल की माँग मान ली। लखनऊ समझौते से संबंधित दो बातें याद रखनी आवश्यक है :

- यह नेताओं के बीच का समझौता था न कि जनता के बीच का। कांग्रेस-लीग के समझौते को गलत रूप में हिन्दू-मुस्लिम समझौते का नाम दिया गया। इसके पीछे समझ यह थी कि लीग मुसलमानों की असली प्रतिनिधि है।
- गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट, 1919, जिसने मुसलमानों को लखनऊ समझौते की अपेक्षा कही अधिक रियायतें दी, के कारण लखनऊ समझौता अर्थहीन हो गया।

22.4.4 ख़िलाफ़त

ख़िलाफ़त आंदोलन जिसके विषय में आपने पहले अध्ययन किया है एक ऐसे विशिष्ट राजनैतिक माहौल की उपज था जिसमें भारतीय राष्ट्रवाद और इस्लामी विश्व बंधुत्व साथ साथ कदम बढ़ा रहे थे। इसके साथ राष्ट्रवादी आंदोलन में मुसलमानों की सहभागिता में अभूतपूर्व बढ़ोतरी हुई। चौरी-चौरा कांड के तुरंत बाद असहयोग आंदोलन के वापस लेने के साथ सांप्रदायिकता भारतीय राजनीति में प्रवेश करने लगी। 1922-27 के दौरान सांप्रदायिकता के उत्थान के कई लक्षण सामने आते हैं।

- सांप्रदायिक हिंसा अभूतपूर्व रूप से भड़की । केवल संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में 1923-27 के दौरान 91 सांप्रदायिक दंगे हुए। गो-हत्या और मस्जिदों के सामने संगीत के मुद्दे उभर कर सामने आए।
- हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिनिधित्व करने वाली ख़िलाफ़त समितियाँ धीरे-धीरे लुप्त होने लगी।
- 1922-23 के दौरान मुस्लिम लीग को पुनः जीवित किया गया और इसने खुलेआम अलगाववादी राजनीति के पक्ष में बोलना आरंभ कर दिया।
- 1915 में गठित हिन्दू महासभा जो कि अभी तक अक्रियाशील थी उसे ऐसा माहौल मिला पाया कि वह भी अपने को पुनर्जीवित कर सके।
- तबलीग (प्रचार) और तन्जीम (संगठन) जैसे आंदोलन मुसलमानों के बीच उठे जो कि हिन्दुओं के मध्य उठे शुद्धि और संगठन आन्दोलनों की प्रतिक्रिया स्वरूप थे। आंशिक रूप से ये (शुद्धि और संगठन) आंदोलन भी मापिला विद्रोह के दौरान हुए जबरन धर्म परिवर्तन की प्रतिक्रिया में हुए। इन तमाम घटनाओं ने राजनैतिक वातावरण को काफी प्रदूषित कर दिया।
- 1925 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना हुई।

इस बिगड़ती हुई सांप्रदायिक परिस्थिति के कई कारण थे।

- ख़िलाफ़त गठजोड़ ने धार्मिक नेताओं को राजनीति में खींच लिया लेकिन इन नेताओं ने राजनीति में प्रवेश अपनी शर्तों पर किया। आंदोलन वापिस लिए जाने के बाद भी राजनीति में इन धार्मिक नेताओं की सहभागिता समाप्त नहीं हुई। इसके कारण राजनीति की व्याख्या धार्मिक तौर पर आंरभ हो गई।
- राजनैतिक संरचना का स्वरूप अपने आप में पृथक निर्वाचन मंडल की प्रक्रिया आरंभ करने के साथ ही सांप्रदायिकता का बीज बन गया। इस संरचना का विस्तार 1919 में मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के आधार पर हुआ जिसमें सांप्रदायिक प्रचार और इसके आधार पर राजनैतिक गतिविधियों के पनपने का पथ प्रदर्शित किया गया।
- रोज़गार के अवसरों की भारी कमी के माहौल मे शिक्षा के विस्तार ने काफी बड़ी संख्या में शिक्षित बेरोज़गार पैदा कर दिये जो कि नौकरियों के लिए धर्म का इस्तेमाल करने के लिए तैयार थे।

1927 में राजनैतिक परिस्थिति काफी असंतोषजनक थी। राष्ट्रवादी शक्तियों में फूट पड़ गयी थी और वे बहुत सतही तौर पर कार्यरत थीं। सांप्रदायिकता इस दौरान काफी जोर पकड़ रही थी।

In Jail:—
Maulana Shaukat Ali,
Seth Yakub Hasan,
Dr. Saifuddin Kitchlew,
} Hon. Secretaries

Telegraphic Address.
"KHILAFAT"

الجمعية المركزية الهندية الخلافة السلامية (بمبئى)

The Central Khilafat Committee of India.

Dr. M. A. Ansari, President.
Dr. Saiyed Mahmud,
Maulvi Moazzamali,
Seth Osman Sobani,
} Hon. Secretaries.

Sultan Mansion,
Dongri,

Bombay, _____ 192

My Dear ~~Sir~~ Panditjee

The Khilafat Working Committee held at Nagpur decided that two days before the special sessions of the Congress(middle of August) a committee of responsible persons be held to consider the future policy and line of action for the Khilafat organisation As this a very important matter I earnestly request you to kindly attend the committee meeting at Bombay to help us in our delibration and to enable us to decide our future line of action.

I remain
Yours sincerely
Syed Mahmud
Hony. Secretary

24 ख़िलाफ़त बैठक की सूचना

22.4.5 भिन्न रास्ते

साइमन कमीशन (1927) के आने और लगभग सभी राजनैतिक विचारों द्वारा सर्वसम्मति से इसका बहिष्कार किये जाने के कारण एक बार फिर एकता का अवसर आया। मोहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग का एक हिस्सा पृथक निर्वाचन मंडल के स्थान पर संयुक्त निर्वाचक मंडल के समर्थन में जाने को तैयार था लेकिन उसके लिए निम्न शर्तें थीं :

25 मोहम्मद अली जिन्ना

- केंद्रीय विधान मण्डल में मुसलमानों का एक तिहाई प्रतिनिधित्व हो
- सिंध को बंबई से अलग करके एक अलग प्रदेश बनाया जाए।
- उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेशों में सुधार लाए जायें, तथा
- पंजाब और बंगाल में उनकी जनसंख्या के प्रतिशत के अनुसार मुसलमानों को विधान परिषदों में प्रतिनिधित्व मिले।

कांग्रेस ने ये माँगे स्वीकार कर ली जिससे कि एकता की संभावना बढ़ी, लेकिन हिन्दू महासभा द्वारा आल पार्टीज कांफ्रेन्स में इसके बिना शर्त नामंजूर किये जाने के कारण समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। लीग और महासभा की प्रतिद्वंद्विता ने एकता के सभी प्रयास असफल कर दिये। नेहरू रिपोर्ट (जो कि मोतीलाल नेहरू तथा तेज बहादुर सप्रू द्वारा तैयार की गई थी) मुस्लिम लीग द्वारा नामंजूर कर दी गई क्योंकि इसमें उनकी सभी माँगे शामिल नहीं की गई थीं। नेहरू रिपोर्ट की नामंजूरी का प्रभाव काफी महत्वपूर्ण रहा।

इसके कारण जिन्ना, जिन्होंने कि इसे अलग-अलग रास्तों पर जाना (Parting of the ways) बताया, का कांग्रेस के साथ संबंध टूट गया। जिन्ना ने फिर से पृथक निर्वाचन मंडल का रास्ता अपनाया और अपने प्रसिद्ध चौदह सूत्री कार्यक्रम (पृथक निर्वाचन मंडल, केन्द्र और प्रदेशों में सीटों का आरक्षण, रोज़गार में मुसलमानों के लिए आरक्षण, नयी मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेश की स्थापना आदि भी इसमें शामिल थे) की घोषणा की जो कि सांप्रदायिक माँगों का दस्तावेज बन गया।

26 तेज बहादर सप्रू

इसके कारण विभिन्न राजनैतिक दलों के बीच की दूरी बढ़ गई और जिन्ना सांप्रदायिकता के और निकट पहँच गये।

इसके कारण सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रति अधिकतर मुसलमान नेताओं के बीच उदासीनता और कभी-कभी शत्रुता का भाव प्रतिलक्षित होने लगा।

22.4.6 जन आधार की ओर

1928-29 की घटनाओं ने सांप्रदायिक शक्तियों को चारों ओर फैला दिया। धीरे-धीरे सांप्रदायिकता ऐसी जन शक्ति के रूप में परिवर्तित होने लगी जिसका सामना कठिन प्रतीत होने लगी। 1940 में मुसलमानो के लिए एक अलग देश के रूप में पाकिस्तान के गठन की उठने वाली नयी माँग ने सभी अन्य सांप्रदायिक माँगों को अर्थहीन बना दिया। यह माँग अन्ततः 1947 में पूरी हुई। आइये इन घटनाओं को और विस्तार से देखा जाए। गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 ने प्रादेशिक स्वायत्तता एवं पहले के मुकाबले अधिक मताधिकार उपलब्ध कराए। पृथक निर्वाचक मंडल के तहत 1937 के आरंभ में चुनाव हुए। परिणाम काफी स्पष्ट थे। आम चुनाव क्षेत्रों में कांग्रेस ने चुनावों में भारी विजय पाई और छह प्रदेशों में मंत्रिमंडल गठित करने में सफल रही तथा अन्य दो प्रदेशों में अकेली सबसे बड़ी पार्टी सिद्ध हुई। लेकिन मुस्लिम चुनाव क्षेत्रों में कांग्रेस को निराशा हाथ लगी। 482 मुस्लिम चुनाव क्षेत्रों में से कांग्रेस ने 58 स्थानों पर चुनाव लड़ा और जिनमें से केवल 26 स्थानों पर उसे सफलता मिल पायी। इतना ही नहीं अपने को मुसलमानों की प्रतिनिधि कहलाने वाली पार्टी, मुस्लिम लीग की स्थिति भी काफी बुरी रही। उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांतों में उसे एक भी सीट नहीं मिली। पंजाब में 84 सीटों में से केवल 2 तथा सिंध में 33 में से उसे केवल 3 सीटें ही प्राप्त हो सकी। मुस्लिम लीग कहीं भी मंत्रिमंडल गठित न कर सकी। बंगाल और पंजाब जैसे महत्वपूर्ण प्रांतों में क्षेत्रीय पार्टियों (पंजाब में सिकंदर हयात खान के नेतृत्व वाली यूनियनिस्ट पार्टी तथा बंगाल में फजलुलहक के नेतृत्व वाली प्रजा-कृषक पार्टी) ने मंत्रिमंडल गठित किए।

चनाव परिणाम कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सामने अलग-अलग चुनौतियां लेकर आए। कांग्रेस के लिए चुनौती काफी स्पष्ट थी। हिन्दुओं के बीच कांग्रेस ने मजबूत आधार तैयार कर रखा था। लेकिन मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने में यह अभी भी कामयाब नहीं हो सकी थी। कांग्रेस के लिए इस संदर्भ में केवल एक ही आशा बची हुई थी कि मुसलमानों के बीच इसकी प्रतिद्वंद्वी पार्टी मुस्लिम लीग भी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं कर सकती थी। इस प्रकार कांग्रेस के समक्ष निम्न चुनौतियाँ थीं।

- मुसलमानों के बीच जनसाधारण के लिए कार्य किया जाए और उन्हें कांग्रेस के नजदीक

लाया जाय। 1937 में यह कार्य बहुत कठिन प्रतीत नहीं हो रहा था क्योंकि मुसलमान जनता इस समय किसी भी प्रभावशाली सांप्रदायिक अथवा राष्ट्रवादी राजनीति के प्रभाव से मुक्त नजर आ रही थी।

- मुस्लिम लीग को पूरी तरह नजर अंदाज करना क्योंकि इसका आधार मजबूत नहीं था। चुनावों के नतीजे से इसका गैर प्रतिनिधि चरित्र खुल कर सामने आ चुका था और ऐसी परिस्थिति में इसके साथ कोई समझौता करने का औचित्य नहीं था। इसीलिए नेहरू ने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि देश के अंदर केवल दो ही शक्तियाँ हैं: राष्ट्रवादी शक्तियाँ, जिसका प्रतिनिधित्व कांग्रेस कर रही है, और साम्राज्यवादी शक्तियाँ, जिसका प्रतिनिधित्व सरकार कर रही है।

इस दोहरी चुनौतियों का मुकाबला करने के उद्देश्य से कांग्रेस ने "मुस्लिम जनसंपर्क अभियान" (Muslim Mass Contact Programme) शुरू करने का निर्णय लिया। यह प्रयास सभी संगठनों को नज़र अंदाज करते हुए प्रत्यक्ष रूप में मुसलमानों से कांग्रेस में शामिल होने की अपील करने के उद्देश्य से किया गया। कांग्रेस के इस कदम से जिन्ना काफी चिन्तित हो उठे और कांग्रेस को मुसलमानों से दूर रहने की चेतावनी दी क्योंकि उनके अनुसार केवल मुस्लिम लीग ही मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कर सकती थी।

मुस्लिम लीग के लिए भी चुनौतियाँ स्पष्ट थी :

- अभी तक मुस्लिम लीग रईसों का संगठन बना हुआ था जिसका नेतृत्व राजे और जमींदार कर रहे थे तथा उसके पास कोई जन आधार नहीं था। चुनावी राजनीति में सफलता प्राप्त करने की प्रक्रिया में अपना पक्ष मजबूत रखने के लिए कांग्रेस जैसा जन आधार हासिल करना और लोकप्रिय संगठन बनाना अत्यावश्यक हो चुका था।
- 1937 तक सरकार ने जिन्ना के सभी चौदह सूत्रीय कार्यक्रम स्वीकार कर लिए थे फिर भी जिन्ना लक्ष्य से बहुत दूर थे। वे स्वयं अथवा लीग, जिसके वे स्थायी अध्यक्ष बन चुके थे, को राजनैतिक सम्मान दिला पाने की स्थिति में नहीं ले जा पाए। इसलिए आवश्यक था कि लीग की सदस्यता में वृद्धि की जाय और चूँकि अन्य सभी माँगें पृथक निर्वाचन मंडल, सीटों में आरक्षण आदि मान ली गयी थी अत: कुछ और भी बड़ी माँगे प्रस्तुत की जायें।

इस दोहरी चुनौती के लिए जिन्ना ने निम्नलिखित कार्य किए।

- मुस्लिम लीग को लोकप्रिय बनाने के लिए एक बड़ा अभियान आरंभ किया गया। मुस्लिम लीग अपने रईसी शिकंजे से बाहर आकर जन आधार प्राप्त करने लगी (यद्यपि यह जन आधार केवल मुसलमानों के बीच था) सदस्यता शुल्क घटा दिया गया, प्रांतीय कमेटियाँ गठित की गयीं और कार्यक्रम को सामाजिक-आर्थिक आधार देने के लिए उसमें परिवर्तन किए गए।
- कांग्रेस मंत्रिमण्डलों की भर्त्सना करने के उद्देश्य से उतना ही बड़ा अभियान शुरू किया गया। उन्हें हिन्दू राज का प्रतिनिधि और मुस्लिम अल्पसंख्यक विरोधी बताया गया। हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का यह सबसे अच्छा तरीका था। चूँकि जिन्ना इसे हिन्दुओं का संगठन बताते थे, इसलिए कांग्रेस को केवल हिन्दुओं की ओर ध्यान देने को कहा गया।
- 1940 के लाहौर सत्र में जिन्ना ने द्विराष्ट्रीय नजरिया प्रस्तुत किया। इसके अनुसार मुस्लिम अल्पसंख्यक नहीं बल्कि वे एक राष्ट्र (Nation) थे। चूँकि हिन्दू और मुसलमान आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रूप में भिन्न थे इसलिए वे दो अलग-अलग राष्ट्र थे। अत: भारतीय मुसलमानों के लिए एक अलग स्वायत्त देश होना चाहिए। इस प्रकार मुस्लिम देश के रूप में पाकिस्तान के गठन का प्रस्ताव सामने आया।

ऊपर जिन परिणामों की चर्चा की गई है उसके फलस्वरूप सांप्रदायिकता जन शक्ति के रूप में उभरने लगी। हालाँकि 1940 तक सांप्रदायिकता पूरी शक्ति प्राप्त कर नहीं पाई थी लेकिन एक जन शक्ति के रूप में इसके परिवर्तित होने की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। यही प्रक्रिया 1947 में पाकिस्तान का जन्म देने वाली थी।

बोध प्रश्न 3

1 पृथक निर्वाचक मंडल से आप क्या समझते हैं। लगभग 100 शब्दों में लिखें

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 निम्नलिखित पर पाँच-पाँच पंक्तियाँ लिखें

i) लखनऊ समझौता

.....

.....

.....

.....

.....

ii) द्विराष्ट्रीय नजरिया (टू नेशन थियरी)

.....

.....

.....

.....

.....

3 निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखें

i) हिन्दू महासभा का गठन कब हुआ?

.....

.....

ii) तबलीग और तनज़ीम आंदोलन के हिन्दू प्रतिपक्ष क्या थे?

.....

.....

iii) भिन्न रास्ते (Parting of the ways) का नारा किसने दिया?

.....

.....

4 चुनाव परिणामों ने कांग्रेस के समक्ष क्या चुनौतियाँ खड़ी कीं?

.....

.....

22.5 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि विभिन्न कारणों के परिणाम क्रे रूप में सांप्रदायिकता भारत में किस प्रकार उभरी और पनपी। उन्नीसवीं शताब्दी के विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक विकास, औपनिवेशिक शासन की भूमिका, इसकी प्राथमिकताएँ और उन्हें पूरा करने के लिए इसके द्वारा उठाए गए कदम, सांप्रदायिकता विरोधी शक्तियों की कमजोरियाँ एवं सीमाएँ और बीसवीं शताब्दी में सांप्रदायिक शक्तियों का उत्थान इसके कारण हैं जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। यद्यपि हमारी कहानी 1940 तक पहुँच कर समाप्त हो जाती है लेकिन सांप्रदायिकता की कहानी अभी समाप्त नहीं होती। सांप्रदायिकता का प्रवाद बढ़ता रहा। 1940 में पाकिस्तान की घोषणा से लेकर 1947 में उसके बनने तक के घटनाचक्र पर आगे की एक इकाई में चर्चा की जायेगी। लेकिन कुछ बाते यहाँ उल्लेखित की जा सकती हैं। पाकिस्तान का गठन सांप्रदायिक माँगों की चरम सीमा और सांप्रदायिकता का तार्किक परिणाम था। यह निम्नलिखित दोहरी प्रक्रिया का परिणाम था।

- राजनीति की राष्ट्रीय मुख्य धारा से मुसलमानों का एक समूह के रूप में धीरे-धीरे कट जाना और,
- मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान के रूप में सामने आने वाली सांप्रदायिक माँग के लिए एक सांप्रदायिक मंच पर मुसलमानों का एकत्र होना।

यह दोहरी प्रक्रिया इस लिए संभव हो सकी क्योंकि 1940 के दशक में सांप्रदायिकता एक जन शक्ति और विचारधारा के रूप में जनसाधारण को आकृष्ट करने लगी थी। यह वह प्रक्रिया थी जो 1920 के दशक में आरंभ हुई, 1930 के दशक में इसमें तेजी आयी और इसके उपरांत 1940 के दशक में इस प्रक्रिया का और अधिक विकास हुआ। अगली इकाई में आप सांप्रदायिकता के सबसे महत्वपूर्ण दौर का बाकी भाग पढ़ सकेंगे।

22.6 शब्दावली

स्थाई बन्दोबस्त : बंगाल में 1793 में अंग्रेजी सरकार द्वारा आरंभ की गयी नई भू-व्यवस्था, इसके अनुसार धनी किसानों से जो कि अधिकतर मुसलमान थे, संपत्ति का अधिकार छिन गया और वे काश्तकार बन गए।

नेहरू रिपोर्ट : साइमन कमीशन पर भारतीय प्रतिक्रिया। यह 1928 में तैयार किया गया संविधान था जिसे इसके तैयार करने वालों में से एक (मोतीलाल नेहरू) के नाम से जोड़ा गया। यह संविधान कई रूपों में 1950 में भारत में लागू किए गए संविधान का पूर्वरूप था। नेहरू रिपोर्ट 1930 में कांग्रेस ने यह कहकर त्याग दी कि वह सभी राजनैतिक दलों को स्वीकार्य नहीं थी।

गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935 : मोरले मिंटो (1909) और मांतेग्यू चेम्सफोर्ड (1919) सुधारों के उपरांत अंग्रेजी सरकार द्वारा उठाया गया तीसरा संवैधानिक कदम। इसके अनुसार पृथक निर्वाचन मंडल के अंतर्गत चुनावों का प्रावधान और पहले से कहीं अधिक विस्तृत मताधिकार का प्रावधान लाया गया। इसी ऐक्ट के प्रावधान के अनुसार प्रांतीय स्वायत्तता लायी गयी जिसका अर्थ यह था कि विजयी पार्टी संबन्धित प्रान्त में सरकार बना सकती है। यद्यपि मुख्य अधिकार केंद्र में ही सुरक्षित थे।

22.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 देखें उपभाग 22.2.1

2 देखें उपभाग 22.2.2
3 i) (√) ii) (×) iii) (√) iv) (√)

बोध प्रश्न 2

1 देखें उपभाग 22.3.2
2 देखें उपभाग 22.3.1 और 22.3.3
3 i) (×) ii) (√) iii) (√) iv) (√)

बोध प्रश्न 3

1 देखें उपभाग 22.4.2
2 देखें उपभाग 22.4.3 और 22.4.6
3 i) 1915
ii) शुद्धि एवं संगठन
iii) मुहम्मद अली जिन्ना
4 देखें उपभाग 22.4.6

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

अयोध्या सिंह : *भारत का मुक्ति संग्राम*
ताराचन्द : *भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास (भाग–2)*
प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली
रजनीपाम दत्त : *आज का भारत*
वी.एन. दत्त : *जलियाँ वाला बाग,*
हरियाणा हिंदी ग्रंथ अकादमी
शांतिमय राय : *स्वाधीनता आंदोलन में भारतीय मुसलमानों की भूमिका.*
पी.पी.एच., नई दिल्ली।
सोहन सिंह जोश : *अकाली मोर्चों का इतिहास*
पी.पी.एच. दिल्ली